रामायण के
ज्योति-स्तम्भ

Translated from:

'Lectures on the Ramayana'

by The Rt. Hon. V.S. Srinivasa Sastri

Madras Samskrit Academy, 1949

रामायण के ज्योति-स्तम्भ

वाल्मीकिकृत 'रामायण' के पात्रों पर टीका

दि राइट ऑनरेबल वी. एस श्रीनिवास शास्त्री

अनुवादिका :

डॉ. श्रीमति सुशीला भटनागर

'रामायण के ज्योति-स्तम्भ'
मेरे दिवंगत पिता,
श्री गोकुल किशोर भटनागर
तथा माता सत्यवती,
विद्या-अनुरागिनी को सादर
समर्पित।

विषय—सूची

	अध्याय	विषय	पृष्ठ
	प्रस्तावना		7
1.	पहला अध्याय	भूमिका	9
2.	दूसरा अध्याय	बाल्यावस्था	21
3.	तीसरा अध्याय	लक्ष्मण	34
4.	चौथा अध्याय	लक्ष्मण	45
5.	पाँचवाँ अध्याय	राम	63
6.	छठा अध्याय	राम	78
7.	सातवाँ अध्याय	राम	93
8.	आठवाँ अध्याय	राम	106
9.	नवाँ अध्याय	राम	116
10.	दसवाँ अध्याय	राम	134
11.	ग्यारहवाँ अध्याय	राम	158
12.	बारहवाँ अध्याय	राम	180
13.	तेरहवाँ अध्याय	भरत	206
14.	चौदहवाँ अध्याय	सुग्रीव	230

15.	पन्द्रहवाँ अध्याय	विभीषण	247
16.	सोलहवाँ अध्याय	विभीषण	257
17.	सत्रहवाँ अध्याय	हनुमान	279
18.	अट्ठारहवाँ अध्याय	हनुमान	286
19.	उन्नीसवाँ अध्याय	हनुमान	298
20.	बीसवाँ अध्याय	हनुमान	310
21.	इक्कीसवाँ अध्याय	हनुमान	324
22.	बाईसवाँ अध्याय	रावण	341
23.	तेईसवाँ अध्याय	रावण	357
24.	चौबीसवाँ अध्याय	रावण	374
25.	पच्चीसवाँ अध्याय	सीता	401
26.	छब्बीसवाँ अध्याय	सीता	411
27.	सत्ताईसवाँ अध्याय	सीता	433
28.	अट्ठाईसवाँ अध्याय	कैकेयी	455
29.	उनत्तीसवाँ अध्याय	कौशल्या और सुमित्रा	484
30.	तीसवाँ अध्याय	———	507

प्रस्तावना

प्रस्तुत पुस्तक वाल्मीकिकृत 'रामायण' पर 30 व्याख्यानों का, जो 'रामायण' के मर्मज्ञ, प्रकांड पंडित, संस्कृत विद्वान कुशल राजनीतिज्ञ दिवंगत राइट ऑनरेबल श्री. वी. एस.श्रीनिवास शास्त्री जी द्वारा संस्कृत अकादमी मद्रास (चेन्नै) के तत्वावधान में सम्पन्न हुए थे, अंग्रेज़ी से हिन्दी में अनुवाद हैं। इन व्याख्यानों का शुभारम्भ सन् अप्रैल 1944 में और समापन सात महीने पश्चात् नवम्बर 1944 हुआ, किन्तु पुस्तक के रूप में इनका प्रकाशन सन् 1949 में ही संभव हो सका।

शास्त्री जी ने महसूस किया कि आधुनिक युग का युवा वर्ग भारतीय संस्कृति और सभ्यता के आदर्शों को भूलता जा रहा है, उसमें परम्पराओं के प्रति अभिरुचि कम होती जा रही है। अतएव, उनका पहला सन्देश यही था कि उनमें अपनी संस्कृति की जागृति लगाना बहुत आवश्यक है।

शास्त्री जी एक मनोवैज्ञानिक मर्मज्ञ थे। उन्होंने राम के प्रति वाल्मीकि का मानवतावादी दृष्टिकोण अपनाया, क्योंकि यही लोक कल्याण का अनुकरणीय कण है। मनुष्य में क्षमता है और वह अपनी आत्मशक्ति से अपने को ऊँचे से ऊँचा उठा सकता है। यह राम काव्य किसी एक सिद्धान्त को प्रतिपादित नहीं करता। यह तो समूचा जीवन दर्शन है।

महात्मा गाँधी ने जब उनके विचारों की चर्चा सुनी, वे शास्त्री जी से अस्पताल में, उनकी मृत्यु से कुछ समय पूर्व, मिले और अपनी इच्छा व्यक्त की कि इन विचारों को लिपिबद्ध होना चाहिये। किन्तु पुस्तक के प्रकाशन से पूर्व दोनों ही चले गए।

वस्तुतः शास्त्री जी की 'रामायण' केवल राम कथा नहीं, अपितु उसके पात्रों के चरित्र का मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी आलोचनात्मक विवेचन है। लक्ष्मण, राम, भरत, सुग्रीव, विभीषण, हनुमान, रावण, सीता, कैकेयी, कौशल्या और सुमित्रा आदि के चरित्र का। उन्होंने उनके केवल गुणों को ही नहीं, कमज़ोरियों को भी भलीभाँति पहचाना है। इस प्रकार महाकाव्य 'रामायण' के आलोचनात्मक विवेचन में शास्त्री जी का योगदान अक्षुण्ण है।

उत्तर भारत में तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस' सर्वाधिक लोकप्रिय है। अन्य प्रादेशिक भाषाओं में भी अनेक 'रामायण' प्रचलित हैं। प्रदेशों में अपेक्षाकृत 'वाल्मीकी रामायण 'की जानकारी कम हैं। हिन्दी क्षेत्र की जनता में वाल्मीकि रामायण में सन्निहित सम्पूर्ण मानव जीवन दर्शन को अवगत करने के विचार से शास्त्री जी के ग्रंथ का हिन्दी भाषा में सरल अनुवाद करने का प्रयास किया गया है।

सन् 1977 में जब लेखिका को 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा ' में डॉ. राघवन से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, तब उन्होंने बताया था कि गाँधी जी की इच्छा थी कि शास्त्री जी की इन पुस्तक का अनुवाद सभी भारतीय भाषाओं में होना चाहिये। अतएव यह पुस्तक बापू के प्रति भावभीनी श्रद्धांजलि भी है।

- डॉ. श्रीमति सुशीला भटनागर

◈◈◈

विशेष निवेदन

इस पुस्तक की अनुवादिका, मेरी माताश्री, डॉ. सुशीला भटनागर ने अपना डॉक्ट्रेट चेन्नै स्थित 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, ' जिसका गठन स्वंय गांधी जी की प्रेरणा से किया गया था, से किया था।

उनका देहान्त 5 जून, 2003 को हुआ। इससे दो दिवस पूर्व उन्हें उनके सत्गुरु, दयाल पुरुष संत दर्शनसिंह जी महाराज, अपने दिव्य–स्वरूप में, उन्हें लेने आये– जैसे कि मृत्यु के समय संत–मत के दीक्षितों को सदैव उनके पूर्ण गुरु लेने आते हैं, और उन्होंने पूरी रात्रि आह्लाद् की अवस्था में गुज़ारी। प्रातःकाल, उन्होंने मुझे बुलाकर इसका विवरण देते हुए अपने सत्गुरु की शान में एक कविता– शायद उनकी प्रथम व अन्तिम भी– लिखवायी। साथ–साथ इस पुस्तक का 'समर्पण' भी लिखवाया, जिस पर उन्होंने मेरे पिता, डॉ. सूर्य प्रकाश भटनागर की प्रेरणा से, अनथक मेहनत की थी। फिर वे दुनिया से पूर्णतयाः अनासक्त होकर एक प्रशान्त अवस्था में चली गईं।

- चैतन्य प्रदीप भटनागर

◈◈◈

पहला अध्याय

भूमिका

अपने जीवन में कभी वार्ता के पूर्व मुझे इतनी घबराहट नहीं हुई, जितनी कि आज। इसके कई कारण हैं। इनमें से एक–दो मैं अवश्य बताऊँगा। प्रथम, तो घोषित कार्यभार को निभाने के लिए मेरी नितान्त आत्मशंका। द्वितीय, मेरे समक्ष उपस्थित श्रोतागण का स्वरूप, जो मुझे भयभीत कर रहा है। तृतीय, प्रतिपाद्य विषय की उत्कृष्टता, जिस पर अत्यन्त मौलिक विचारकों के लिए भी कहना कठिन होगा, जो कुछ नया लगे। परन्तु इस परम्परागत विचार से मुझे ढाढ़स मिलता है कि जब कोई 'रामायण' जैसे विषयों पर बोलता है, तो इससे कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता कि वक्ता की योग्यता कितनी अपर्याप्त है। जो सुनने आते हैं, उनके हृदय रसानुभूति के लिए इतने तत्पर होते हैं कि कमियाँ और त्रुटियाँ, चाहे कितनी भी गम्भीर क्यों न हों, वे उन्हें नज़र–अन्दाज़ कर देते हैं। इसके अतिरिक्त मैं ऐसा भी अनुभव कर रहा हूँ कि मैं तो अपने चिरपरिचित मयिलापुरवासियों के समक्ष बोल रहा हूँ, जिसने न केवल मैं सहानुभूति की अपेक्षा कर सकता हूँ, वरन् अबाधित अनुग्रह की भी।

मैं 'रामायण' का विवेचन एक आलोचक पंडित की हैसियत से करने नहीं जा रहा हूँ। इसका रचना काल, श्री राम की ऐतिहासिकता, इसके कर्तृत्व का स्वरूप, एकांकी अथवा अनेकांकी, इस कथा की रूपरेखा और ब्योरे के लिए वाल्मीकि दूसरों के कितने ऋणी हैं, वर्तमान वृत्तान्त कितना प्रामाणिक है और क्या तत्त्वतः इसको वाल्मीकि की रचना माना जा सकता है, अथवा, जैसा कुछ अध्येताओं का मत है, इसके प्राप्त रूप के कुछ अंशों को प्रक्षिप्त मान कर हमें छोड़ देना चाहिए। ऐसे सभी प्रश्न मेरे प्रयोजन से बाहर हैं। इसके अतिरिक्त मेरी एक और असमर्थता है, जिसको मैं आरम्भ में ही आपके समक्ष स्वीकार करना चाहता हूँ, एक ऐसी विवशता है, जो कि मेरे प्रति आपके कथानुराग के नितान्त प्रतिकूल है। कृपया इस विषय में मुझे पूरे उदार भाव से सुनें। मैं आज के बाद सांकेतिक रूप के अतिरिक्त राम को भगवान मान कर नहीं चलूँगा। यह केवल इसीलिए ही नहीं कि अपने प्रशिक्षण के कारण देवत्व विषयक चर्चा के लिए मैं सर्वथा अयोग्य हूँ– जहाँ इस प्रकार की महान चर्चायें होती हैं, वहाँ मैं बड़ी विनम्रता से सरक जाता हूँ– मेरी मान्यता है कि 'रामायण' का अध्ययन सादर

श्रद्धापूर्वक, इसके नायक और नायिका के उन महान गुणों का पूरा–पूरा मूल्यांकन करते हुए किया जाना चाहिए, जिन्होंने युग–युगों से जन–जीवन पर अप्रतिम प्रभाव डाला है और जो भविष्य में भी उनके जीवन और आचरण को प्रभावित करते रहेंगे। इस महान काव्य को पढ़ने पर मेरी यह धारणा प्रबल होती जाती है कि 'रामायण' मानव रचित सर्वश्रेष्ठ महाकाव्यों में से एक है। मैं तो इसे सर्वथा महाकाव्य ही कहूँगा। परन्तु इस कथन में मुझे कुछ हिचकिचाहट है क्योंकि मुझे समकक्ष महाकाव्यों के मूल रूपों की जानकारी नहीं है। निस्सन्देह, यह उन ग्रन्थों में से एक है, जिन्होंने जन–मानस के भाव और विचारों को समग्र रूप से प्रभावित किया है, न केवल उनको जो इसको मौलिक या अनुवाद रूप में पढ़ सके हैं, बल्कि हमारे देश के उन लाखों लोगों को भी, जो कदाचित् हमारी सांस्कृतिक पराकाष्ठा के समय में भी निरक्षर रहे होंगे और जिन्होंने यह कथा अपने घर पर माता–पिता से सुनी होगी अथवा बाहर सार्वजनिक उत्सवों पर कथा–वाचकों द्वारा जो इस पुण्यभूमि की एक विशेषता रहे है।

इस महाकाव्य का कथानक इतना लोकप्रचलित है कि बच्चे भी इससे भलीभाँति परिचित हैं। अतएव इसकी बार–बार प्रस्तुति में न तो अलंकरण की गुंजाइश है और न ही किसी असाधारण ध्यानाकर्षण करने की अपेक्षा। मेरी कोई ऐसी अभिलाषा भी नहीं है। परन्तु क्या मैं एक घोर निराशावादी और अपने परिवेश को ग़लत समझने वाला माना जाऊँगा, यदि मैं बड़े शोक और दुःख से कहूँ कि सम्भवतः आज की पीढ़ी 'रामायण' से उतनी सुपरिचित नहीं है, जितनी पुरानी पीढ़ी थी। क्या यह सत्य नहीं है कि स्कूल और कॉलिज के असंख्य विद्यार्थियों की पढ़ाई–लिखाई हमारी सभ्यता और संस्कृति के मूल स्त्रोतों के सम्यक्ज्ञान के अभाव में हो रही है। क्या यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण होगा यदि यह आशंका व्यक्त की जाये कि नई पीढ़ी 'रामायण' के सविस्तार कथानक, पात्रों के उत्कृष्ट चरित्र, आख्यानों के महत्त्व और विभव जो प्रायः सभी भारत की प्रादेशिक भाषाओं एवं संस्कृत में उपलब्ध हैं, उनसे पर्याप्त रूप से परिचित नहीं है? क्या यह कहना अतिशयोक्ति होगी कि 'रामायण' का कोई अध्येता, जो इसकी पावनता और हमारी सभ्यता को समझने में इसके बेजोड़ महत्त्व से भलीभाँति परिचित हैं, एक अधिकांश नवयुवकों की सभा को कुछ लाभ पहुँचाने की आशा भी कर सकता है? मेरा विश्वास है कि आज भी और भविष्य में भी, साहित्य के इस सर्वोपरि सुन्दर एवं रसासक्ति कथानक की ओर आदर भाव से मुड़ने की आवश्यकता होगी। कदाचित् वक्ता और श्रोता के समय का कोई दुरुपयोग नहीं होगा, यदि वे साथ साथ राम और सीता के जीवनचरित्र पर प्रेम और अनुराग के साथ मनन करें और उस परिस्थिति परिवेश को भी समझें, जिसमें दशरथ की भूमिका इस महान कथानक का आरम्भबिन्दु बनी।

आज मैं केवल इस सुन्दर काव्य के प्रति अपना दृष्टिकोण बताना चाहूँगा। यदि अगली वार्ताओं में मुझे इसी प्रकार के श्रोतागण के समक्ष आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ,

तो मैं इस काव्य के उन पात्रों के जीवन व आचरण का मूल्यांकन करूँगा, जिन्होंने इस काव्य में विशिष्ट भूमिका अदा की है। स्वयं श्री राम का चरित्र पहले लूँगा। मैं स्वयं नहीं जानता कितने समय तक वे मुझे बाँधे रहेंगे, तात्पर्य यह है कि न जाने कितने व्याख्यानों में मैं इस बहुमुखी महान चरित्र को अनावृत कर सकूँगा। हमें उनके जीवन के विभिन्न पहलुओं पर विचार करना है– किस प्रकार उन्होंने आने वाले समय में अपनी विलक्षण भूमिका अदा करने के लिये अपने को तैयार किया, और किस प्रकार उनके इर्द–गिर्द के अन्य पात्रों में, जिनका महत्त्व कुछ कम नहीं है, उनके चरित्र को और भी ऊँचा उठाया, कभी उसको निर्देशित किया, कभी उसको महिमान्वित भी किया। तत्पश्चात् मैं समस्त साहित्य की अप्रतिम नायिका, सीता का चरित्र चित्रण करूँगा, जिसका नाम सब देशों और सब कालों में सदैव ही स्त्रियोचित समस्त गुणों का पर्याय रहा है। मुझे यह कहते खेद होता है कि हमारे बीच भी कभी–कभी इस चरित्र का सम्यक मूल्यांकन नहीं होता। इस विचार के कुप्रभाव के कारण की, मौलिक रूप में वे चाहे कितनी भी महान क्यों न थीं, बदनाम नारी जाति होने के कारण हमारे बीच अपने को 'श्रेष्ठ मानव' मानने वाले पुरुष समुदाय के किसी वर्ग द्वारा इस नारी जाति पर छोटे–मोटे लांछन लगा कर निंदा की जा सकती है। तत्पश्चात् इस महाकाव्य के सबसे महत्वपूर्ण पात्र, हनुमान, का वर्णन करेंगे; फिर अन्य पात्रों का।

एक क्षण के लिये भी मैं ऐसा नहीं मानता कि मैं आपको कोई ऐसी चीज़ सुनाऊँगा, जो आपको मालूम न हो या आपके दिमाग़ में न आई हो या किसी दूसरे के द्वारा आपको सुझाई न गई हो। मुझे बहुत सन्देह है कि जब तक कोई मौलिकता प्रदर्शन के लिये ही कोई मौलिक होना न चाहे, तब तक कोई भारतीय इस प्रकार की व्याख्या में कोई नई चीज़ दे सके, जिस पर पूर्व में पूर्णरूपेण विचार विमर्श न हो चुका हो। पुनः इस भूमिका को समाप्त करने के पूर्व मैं आपसे कहना चाहूँगा कि ये विचार आपके सम्मुख आपसे कोई जानकार व्यक्ति प्रकट नहीं कर रहा है। उसका तात्पर्य तो केवल इतना ही है कि थोड़े से समय के लिये वह आपको व्यस्त रखना चाहता है, एक ऐसे काम में जिससे मन और आत्मा के लिये अधिक लाभप्रद शायद ही कुछ और हो। ये सुनी सुनाई बातें आप फिर भी सुनना चाहेंगे। मैं कोई विशेष बात आपको न भी सुनाऊँ किन्तु फिर भी बाद में शायद आप कहेंगे, "आदमी तो भला है, यद्यपि ज़्यादा कुछ नहीं जानता। इतना भर ही सुनने के लिये क्या हमें यहाँ एकत्रित करना आवश्यक था? ख़ैर, कोई बात नहीं। आख़िर हमने अपने राम के ही विषय में कुछ चर्चा सुनी और ऐसे काम में लगा समय व्यर्थ गँवाया नहीं माना जाता।" मेरी ओर देखिए और जो कुछ भी मैं कहूँ उसे निष्कपट प्रेम भाव से ग्रहण कीजिए। आप सब तो यह सुपरिचित कहावत जानते ही होंगे, यदि हम पात्र को जल के एक महान भंडार में डालें, तो पात्र अपनी समाई के अनुकूल ही पानी ग्रहण करेगा। हम सब भी इसी समान हैं। कुछ बहुत बुद्धिमान हैं। जब वे इस प्रकार की पुस्तकों का अध्ययन करते

हैं, उनके विचार बहूत उच्च स्तर के होते हैं, जिनकी जड़ें शास्त्रों और पावन विधि–विधान में होती हैं और जो उन्हें कमोबेश उन मौलिक विचारकों के समकक्ष ले आते हैं, प्राचीन समय में जिन्होंने हमारी संस्कृति की नींव डाली थी। उस उच्च स्तर से लेकर साधारण विद्यार्थी के स्तर तक, जो कि केवल अपनी अनभिज्ञता ही प्रदर्शित कर सकता है, अनेक श्रेणियाँ हैं। प्रत्येक अपनी–अपनी क्षमता के अनुकूल ही ग्रहण करता है।

कुछ समय पूर्व अपने आत्मसंशय के सन्दर्भ में मैंने अपने एक मित्र को कुछ इस प्रकार लिखा था, "मान लो, तुम मद्रास के मरीना समुद्र तट गए हो, तुम्हारे सामने फैला हुआ अपार सागर, प्रकृति के वैभव और अबोध गम्यता का साक्षी। यदि ऐसे समुद्र तट पर कोई कवि बैठा होगा, तो तुम उसमें पाओगे उस भव्य दृश्य के प्रति भावोद्गार। यदि कोई दार्शनिक वहाँ होगा, तो वह उस महान संकल्प के विषय में चिन्तन करके उसकी संरचना को समझने का प्रयास करेगा, जिसके द्वारा ये चीज़ें अंतरिक्ष में विद्यमान हुईं। यदि वहाँ कोई धर्मनिष्ठ व्यक्ति होगा, तो वह केवल उस महान सत्ता का चिन्तन करता होगा, जिसने समुद्र, आकाश और इस संसारचक्र की अन्य वस्तुएँ बनाईं। इनके साथ–साथ तुम्हें ऐसे बच्चे भी दिखाई देंगे, जो केवल रेत को लेकर एक–दूसरे पर उछाल रहे होंगे। प्रत्येक व्यक्ति अपने–अपने ढंग से भूमिका अदा कर रहा है।" मैं भी एक बच्चे के ही समान हूँ, थोड़ी रेत आप पर उछाल रहा हूँ – बिल्कुल स्वाभाविक रूप से। इसीलिए कृपया मुझे भी मेरा स्थान दीजिए। मैं अपने स्वभाव के अनुरूप ही कुछ करने का हक़दार हूँ। विशालता पूर्ण रूपेण क्या समझ सकता हूँ? कृपया मुझ पर कोई दयाभाव न जताइये और न ही मेरा तिरस्कार कीजिए। मैं जो कुछ कर सकता हूँ वही कर रहा हूँ, इससे अधिक और कुछ नहीं कर सकता हूँ। असीम सागर की सब पूजा करते हैं, मैं भी उस असीम को ही श्रद्धांजलि अर्पित कर रहा हूँ।

अब मैं अपने व्याख्यान के विषय में अपना दृष्टिकोण बताना चाहूँगा। आप लोगों में जो इस कथा की उत्पत्ति को पारम्परिक रूप में मानते हैं– मैं जानता हूँ वे अधिक संख्या में हैं– वे अपनी इस मान्यता को बनाए रख सकते हैं कि रावण के घोर अत्याचारों के कारण, न केवल पृथ्वी पर वरन् सम्पूर्ण सृष्टि पर, देवताओं को सर्वशक्तिमान ईश्वर से सहायता माँगने पर विवश होना पड़ा। सर्वशक्तिमान ईश्वर ने दया कर सृष्टि का कष्ट निवारण करने हेतु मनुष्य रूप में अवतार लिया। आप विश्वास रखिये मैं ऐसी कोई बात नहीं कहूँगा, जिससे आपका श्रद्धाभाव ज़रा–सा भी विचलित हो। यह विश्वास केवल आपका ही नहीं है। यह भाव तो इस पुस्तक में सर्वत्र व्याप्त है। वाल्मीकि भी श्री राम को पूरी कथा में ईश्वर के अवतार रूप में प्रस्तुत करते हैं यद्यपि उनके अधीनस, उनके महान सहयोगीगण भी, अवतार ही थे। चाहे कितनी ही बार मैं इस कहानी को पढ़ूँ, मैं यह नहीं मान सकता कि उन अंशों को, जहाँ कवि राम को मानवीय सीमा बन्धनों सहित एक मानव मात्र के रूप में इंगित करता है, उन अंशों से

पृथक् किया जाना संभव है, जहाँ वह मनुष्यों के बीच अवतरित एक ईश्वर के रूप में उनका वर्णन करता है। जो लोग ऐसा सोचते हैं कि बीज रूप में तो कथा के राम केवल मनुष्य हैं और देवत्व का आरोप आगामी युगों की देन है, वे केवल अटकल लगा रहे हैं। वास्तव में वाल्मीकि के कथानक का यह श्रद्धाभाव है। इसमें लेशमात्र भी ग़लतफ़हमी की गुंजाइश नहीं है। मैं इसमें सन्देह करने की धृष्टता नहीं कर सकता क्योंकि अनेक स्थानों में यही भाव व्याप्त है। वाल्मीकि अनेक बार यह कहते हैं कि राम भगवान थे। परन्तु अपने को सीमाबद्ध करके वे मनुष्यों के बीच अवतरित हुए, एक विशेष प्रयोजन के लिये– दुःखी सृष्टि के दुःखनिवारण हेतु।

परन्तु इस महाकाव्य का अभिप्राय समझने के लिये इस विश्वास के आधार का वास्तविक महत्त्व क्या है? सर्वविदित है कि सभी साहित्यिक समालोचनाओं में, भारत में भी, यह मूलभूत स्वीकृत सिद्धान्त है कि कोई महाकाव्य एक कलात्मक रचना होती है, जिसका अभिप्राय होता है मनुष्य को ऊँचा उठाना। यह सब तो स्पष्ट है ही, यदि भगवान हमारे बीच मनुष्य रूप धारण करके आए, तो उन्होंने ऐसा हमें यह सिखाने के लिये किया कि कैसे रहना चाहिए और जीवन में अपनी भूमिकायें निभाने के लिये कैसे तैयारी करनी चाहिए और कैसे उसे निभाना चाहिए। यह महाकाव्य इस प्रकार की शिक्षा से लाभान्वित होने के लिये पढ़ा जाना चाहिए और जीवन के हर मोड़ पर नियमन के लिये, उससे उच्च कोटि की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। यह सब तो स्पष्ट है। भगवान ने राम के रूप में अयोध्या के राजकीय घराने में जन्म लिया, ताकि वे और विभिन्न नाते–रिश्ते द्वारा उनसे संबद्ध अन्य लोग अपनी–अपनी भूमिकाओं द्वारा लौकिक जीवन के सही स्वरूप का उदाहरण प्रस्तुत कर सकें, और उसे प्रमाणित कर सकें। यदि हम इस महाकाव्य को इस उद्देश्य से नहीं पढ़ते हैं, तो हमें उससे कोई लाभ नहीं होगा– बिल्कुल नहीं। महिलायें चाहे कितनी भी उच्च शिक्षित हों अथवा निराक्षर, सभी सीता की कहानी से शिक्षा ग्रहण करती हैं। इससे से अछूती कैसे सकती हैं? "सीता ने ऐसा किया, वैसा किया। चाहे मैं बिल्कुल तो वैसा न कर सकूँ, चाहे ऐसा करने में पूर्णतया असफल रहूँ, फिर भी मुझे अपने सामने उस आदर्श को अवश्य रखना चाहिए। क्या उचित है, क्या समीचीन है मेरे लिये, जिसका उदाहरण इस महान जीवन चरित्र में मिलता है। उसे मुझे कभी नज़र–अन्दाज़ नहीं करना चाहिए। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है, राम और सीता ने ऐसा जीवन व्यतीत किया, संघर्ष किया और घोर कष्ट सहे मेरे ही लिये, ताकि मैं अपने इस जीवन से कहीं बेहतर व्यक्ति बन सकूँ," उनमें से प्रत्येक स्वयं से ऐसा कहती है। यदि यह बात है, तो हमारे लिये यह उचित होगा कि हम इस पर ध्यान दें कि किस प्रकार कवि के हाथों में इन महान पात्रों का विकास हुआ है, प्रायः जन्म से ही और कैसे बाद में अपने दीर्घ जीवन में वे उच्च स्तर पर अनेकानेक परिस्थितियों और अनुभवों के बीच गुज़रे हमारी तुलना में कहीं अधिक। मेरे विचार में यदि कोई इस काव्य को अपनी आत्मा के उत्थान के निमित्त पढ़ता है, तो वह पायेगा

कि इस लक्ष्य की प्राप्ति का सबसे सुगम उपाय यह है कि मुख्य पात्रों पर उनको मनुष्य मानकर ध्यान दें, यथा कैसे उन्होंने मनुष्यों की भाँति अपनी भूमिकायें निभाईं, जिन्हें सामान्य परिस्थितियों में जीवन के प्रत्येक मोड़ पर जनसाधारण को करना पड़ता है। इसको पढ़ते समय या किसी स्थान विशेष पर, मूल तत्त्व को जानते हुए भी। यदि आप स्वयं से ऐसा कहें, "अरे वे तो भगवान थे, वे कुछ भी कर सकते थे। वे तो देवी थीं, कुछ भी कर सकती थीं। यह सब कुछ मुझ पर लागू नहीं होता," तो आप कथा के मूल अभिप्राय को समझने में असमर्थ रहेंगे। प्रत्येक कार्य, जो उन्होंने किया, प्रत्येक बात जो उन्होंने कही, यहाँ तक कि प्रत्येक हर्ष और प्रत्येक शोक, जिसका अनुभव उन्होंने किया, ये सब उन्होंने इसलिये किया, ताकि ये आपके निजी जीवन पर प्रकाश डाल सकें और आने वाली जीवन की परीक्षाओं के लिये एक स्थायी, सुदृढ़ और विश्वसनीय मार्गदर्शन प्रदान कर सकें। यदि कभी कोई ऐसा कहता है, "यह एक असम्भव बात है, केवल ईश्वर ही वह कुछ कर सकता है, जो उसकी इच्छा हो। वह सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वमर्मज्ञ है। इससे मुझे क्या फ़र्क पड़ता है, क्योंकि मैं तो उससे सर्वथा भिन्न हूँ," तो वह इस पूरी कथा को समझने में चूकता है। उसका पढ़ना व्यर्थ है, उसका सुनना बेकार है।

मेरे विचार में 'रामायण' को एक मनुष्य–संबंधित महाकाव्य मानकर उसका अध्ययन करना कोई अधार्मिकता नहीं है। इसके विपरीत, ऐसा करने से वाल्मीकि के प्रति पूरा न्याय होता है। यदि यह मान लें कि यह कथा उन्होंने ही लिखी, तो यह निश्चित हो जाता है कि वाल्मीकि एक ऐसे व्यक्ति थे, जिनके मस्तिष्क में उत्कृष्ट योग्यता, क्षमता तथा सदाचारी व्यक्तित्व वाले नर–नारियों की सुस्पष्ट, सर्वांगीन, ओजस्वी, अवधारणा विद्यमान थी, जो हमारे लिये बड़ी मूल्यवान है। मैं आप सबसे अनुरोध करूँगा कि आप इसी दृष्टिकोण से इस काव्य को पढ़ें।

अब ज़रा इस स्थिति के विषय में सोचें। एक अत्यन्त मनमोहक नाटक रंगमंच पर खेला जा रहा है। पात्र सुसज्जित हैं, सब कुछ पूर्णरूपेण सुव्यवस्थित है, अभिप्रेत भूमिकाओं का सुचारु चित्रण हो रहा है और पूरा नाटक उच्चतम स्तर पर खेला जा रहा है। फलस्वरूप दर्शक सब कुछ भूल कर कहानी में तल्लीन हो जाते हैं और उस क्षण नायक या नायिका से तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। कैसा लगेगा आपको यदि इस समय नायक मंच पर भड़क जाये और चिल्ला उठे, "मैं जो कह रहा हूँ, उसका एक भी शब्द न मानो। मैं तो पास के मकान वाला सुब्बू हूँ!" आप ऐसे पात्रों के लिये क्या कहेंगे, जो कथा के अत्यन्त रोचक भाग के बीच अकस्मात बाहर निकल कर इस प्रकार आपका स्वप्न भंग कर देते हैं, आपकी विचारधारा के तारतम्य में विघ्न डाल देते हैं और कहने लगते हैं, "आप तो केवल एक पात्र को सुन रहे हैं और मंच पर खेला जा रहा एक नाटक देख रहे हैं, यह कोई यथार्थ जीवनचर्या नहीं। इसलिए आप चिढ़े नहीं, परेशान न हों। यह केवल नाटक है, और जो व्यक्ति नायक का अभिनय

कर रहा है, वह तो अमुक घर का रसोइया है!" मान लो, कोई इस प्रकार आपकी तात्कालिक मानसिक स्थिति को अस्त व्यस्त कर दे अथवा पात्र स्वयं एक–दूसरे से रोज़मर्रा की भाँति बातचीत करने लगें, तो आप ऐसा अनुभव करेंगे कि किसी ने बलपूर्वक एक महान आध्यात्मिक सम्पदा आपसे छीन ली, और वह भी ऐसे समय में जब आप अपने सामने एक महान घटना के उभरते चित्र का अवलोकन कर रहे थे और घर–गृहस्थी की सब बातें भुलाकर, उससे समीकृत हो गये थे। जब तक आप वहाँ हैं, आपकी अपेक्षा रहती है कि यह भ्रान्ति पूर्णतया बनी रहे। इस समय कोई भी बेसुरापन आपमें असह्य क्षोभ पैदा कर देगा। मैं यह नहीं कहता कि ऐसे आलोचकों से आपको क्षोभ होगा जो अक्सर कह देते हैं, "श्री राम अपनी पत्नी के वियोग में विलाप का प्रदर्शन ज़रूरत से ज़्यादा ही कर रहे हैं। इसको सच न लें– वे तो केवल एक अभिनय रहे थे।" आलोचक तो कभी–कभी ऐसी बात कह देते हैं। यदा कदा देवी–देवता भी नीचे आकर खेले जा रहे दृश्यों को देखते हैं। मान लो, दृश्य में रावण सीता को हर कर ले जा रहा है। यदि देवताओं में से कोई कहने लगे, "यह उचित है। नाटक योजना के अनुसार आगे बढ़ रहा है। हम चाहते हैं ऐसा हो, ऐसा ही हो रहा है," तब आप क्या कहेंगे?

'रामायण' अनगिनत बार हमें सुनाई गई है। इसकी प्रत्येक पंक्ति की एक बार नहीं, सैंकड़ों, हज़ारों और लाखों बार बारीक़ी के साथ समीक्षा हुई है। इसकी छोटी से छोटी बात भी हमें ज़बानी याद है। फिर भी किसी कारण हमारे लिए मानव स्वभाव में एक प्रवृत्ति है, जिसको हम पुष्ट करते रहते हैं, जिसके फलस्वरूप हम बार–बार इस कथा पर आ जाते हैं– कभी नाश्ते के समय, कभी दोपहर के आराम के समय, कभी अर्धरात्रि में सोने के समय में। कथा के लिए किसी समय भी जायें, किसी जगह भी जायें, कथा–वाचक कोई भी हो, हमारे अन्दर कोई ऐसी बात है, जिसके कारण ऐसे अवसर पर हम दूर हटा देते हैं, सब विघ्नकारी चक्कर और सब ऐसी बातें, जो हमें कथा के वातावरण से दूर ले जाती हैं, चाहे परिस्थितियाँ कितनी भी ध्यानभंगी हों– कोई रोता हुआ बच्चा, कोई आपके ऊपर गिरकर सोने वाला और ऐसी अन्य बातें, जो आपके इर्द–गिर्द की तुच्छ दुनिया की ओर ध्यान बंटा रही हैं। इन सबके बावजूद यदि हम प्रशिक्षण और मनोवृत्ति से हिन्दू हैं, हम सबमें एक क्षमता है, जिसको मैं कहना चाहूँगा– एक अपौरुषेय क्षमता, ऐसे विघ्नों को एक तरफ़ रख कर इस भ्रान्ति के प्रभाव को बनाये रखने की मानो सम्पूर्ण कथानक रंगमंच पर पूर्णतया प्रशिक्षित पात्रों द्वारा प्रदर्शित किया जा रहा है। साथ ही, मानो श्रेष्ठ अभिनेताओं की भी नियुक्ति कर दी गई है, जो कि इस भ्रान्ति को उच्चतम स्तर पर बनाए रखेंगे। ऐसा कुछ हम लोगों में है। हममें से प्रत्येक में वह है। यह एक चमत्कार है कि हम इसे किस प्रकार बनाए रखे हुए हैं।

मेरा आपसे अनुरोध है कि जब भी इस महाकाव्य को आप पढ़ें, आप अपने को सदैव ऐसी ही परिस्थिति में रख कर पढ़ें, और पढ़ते समय पूरे उसी स्थिति में रहें। यह सब कुछ आपके सम्मुख एक निश्चित उद्देश्य के लिए किया जाता है। यदि इस उद्देश्य की पूर्ति में आपका सहयोग न होगा, तो आपका पढ़ना व्यर्थ है। अतएव, यह सब कुछ आपके पढ़ने के ढंग पर निर्भर है। मैं तो इस पुस्तक को कहीं से भी पढ़ने लगता हूँ। मेरे लिये श्री राम कोई दिव्य पुरुष नहीं लगते, फिर भी यह भ्रान्ति पूरी तरह विद्यमान रहती है। मैं कथा की गहराइयों में स्वयं को खो सकता हूँ। जब मैं इस पुस्तक को पढ़ने के लिए बैठता हूँ, अन्य कुछ नहीं करता; मेरा पूरा ध्यान उसी पर केन्द्रित होता है। मैं स्वभावतः कठोर हृदय हूँ, परन्तु आश्चर्य है कि उसका एक भी पृष्ठ ऐसा नहीं, जो मेरी आँखों में आँसू न ले आता हो। कोई सुन्दर भाव, कोई कोमल अनुभूति, भाई–भाई का पारस्परिक अनुराग, चिरकाल से बिछुड़े सुहृज्जनों का पुनर्मिलन, अथवा मित्रता, कृतज्ञता या अन्य शाश्वत मानव गुण के प्रति श्रद्धांजलि, ये सब मेरी आँखों में आँसू ले आते हैं! मैं रुक जाता हूँ, आगे नहीं बढ़ पाता हूँ, मुझे ठहरना पड़ता है और आँखें पौंछ कर ही आगे बढ़ता हूँ। ऐसा क्यों? मेरे जैसा निष्ठुर सांसारिक व्यक्ति भी ऐसा क्यों करता है? कदाचित् इसका मुझ पर ऐसा प्रभाव क्यों? इसका कारण है, मेरे अभ्यन्तर की गहराइओं में विद्यमान इन महामानव के प्रति परम श्रद्धा और प्रेम, जिन गहराइओं के स्तर को जाग्रतावस्था में मैं भी कभी छू न पाऊँगा। यदि राम और सीता इस देश के न भी होते वरन् विदेश के नायक–नायिका होते, तो कदाचित् तब मैं इतना प्रभावित न होता, किन्तु मेरी अनुभूति लगभग इतनी ही गहरी होती। मानव स्वभाव तो अन्ततः मानव स्वभाव ही है, चाहे वह यहाँ पल्लवित हुआ हो या किसी अन्य देश में, वह एक–सा ही होता है।

अब मैं इस व्याख्यान के मुख्य अभिप्राय पर आता हूँ, जो मैं चाहूँगा कि आप साथ लेकर जायें। श्री राम के देवत्व पर एक क्षण के लिए भी सन्देह करना आवश्यक नहीं, कदापि नहीं। मैं चाहता हूँ कि मैं भी इससे सहमत हो सकता किन्तु मेरे विचार में कथानक को समझने या इससे लाभान्वित होने के लिये वस्तुतः यह आवश्यक नहीं है। शेख़ी के बिना कह सकता हूँ कि श्रद्धा के अभाव में भी, अपनी निजी प्रकृति के निर्माण में मैंने 'रामायण' से बहुत कुछ लिया है, शायद कहीं अधिक। इस पुस्तक के बहुत से ऐसे अध्येताओं से, जो कि पात्रों के देवत्व में तो विश्वास रखते हैं, परन्तु किसी न किसी कारणवश उस वास्तविक मनोवृत्ति को आत्मसात् नहीं कर पाते, जिसको उन पात्रों ने अपने जीवन में अपनाया। यदि आप ध्यान दें सके, तो यथार्थ कुछ इस प्रकार लगता है। ऊपर महान आकाश विद्यमान है। हम सब उसके नीचे हैं, सब काम–काज भी इसके तले ही करते हैं, हमारी जीवनचर्या इसके तले व्यवस्थित होती है। हम लड़ते–झगड़ते हैं, परस्पर मारकाट करते हैं। हम अर्जित करते हैं और गँवाते हैं। हम क्या कुछ इस आकाशीय छतरी के तले नहीं करते! यदि इस प्रकार की यह आकाशीय

छतरी हमारे जीवन, हमारी करनी–कथनी में प्रविष्ट होती है, हमारे चरित्र का निर्माण करती है और जीवन में विभिन्न पहलुओं का नियमन करती है, यह सब कुछ करती है, तो कौन इस पर आपत्ति कर सकता है? चाहे मैं ऐसा कहूँ या न कहूँ, किन्तु होता ऐसा ही है। मेरे विश्वास का उस पर कोई प्रभाव नहीं। मेरा अविश्वास इसे खंडित नहीं कर सकता। यह आकाश सतत् बना रहता है– अव्यय, नित्य, किसी व्यक्ति विशेष की धारणा से अपरिवर्तनीय। मैं एक वैज्ञानिक, एक तार्किक, प्रकृतिववादी या यह, वह, या कुछ और भी हो सकता हूँ। यदि आकाश का प्रभाव मेरे जीवन पर पड़ता है, चाहे मैं इससे मैं अनभिज्ञ भी क्यों न हूँ, मैं इससे बच नहीं सकता। यह सदा विद्यमान है, मेरे सम्पूर्ण चिन्तन को प्रभावित करता है, मेरे प्रत्येक कार्य का रूप निर्धारित करता है चाहे बड़ा हो या छोटा, अथवा दूसरों के लिए अर्थवान हो या नितान्त मूल्यहीन। जो कुछ भी मेरे से होता है, वह इस शाश्वत अपरिवर्तनीय प्रभाव के अन्तर्गत होता है। इसी प्रकार यदि राम, सीता और हनुमान में देवत्व था, तो अवश्य था। हर जगह, हर कथानक में यह प्रभाव है और सदा रहेगा। यह संभव नहीं, वैज्ञानिक नहीं है, यथार्थ नहीं है, युक्तियुक्त नहीं है है कि राम कुछ कार्यों में दिव्य थे और अन्य में नहीं अथवा यह कहना कि केवल अपने जीवन के कुछ प्रसंगों में सीता का व्यवहार लक्ष्मी सदृश था, किन्तु कुछ अन्य प्रसंगों में उन्होंने अपने लक्ष्मीत्व को छोड़ दिया। यदि दिव्यता इन पात्रों में थी, निस्सन्देह थी और सदा के लिए थी। 'रामायण' की कुछ बातों को उसी ग्रन्थ की अन्य बातों से पृथक् करने का प्रयास, दिव्यता के आधार पर या विशेष रूप से दिव्यता–सूचक होने के आधार पर करना मेरे विचार में मूल सिद्धान्तों की अनभिज्ञता दर्शाना है। अतएव, दिव्यता को आधार बनाना इसके अभिप्राय को समझने के लिये सार्थक नहीं। आप भली भाँति इस काव्य को एक महाकाव्य, एक श्रेष्ठ महाकाव्य के रूप में पढ़ सकते हैं, जिसने पीढ़ी दर पीढ़ी लाखों के जीवन को प्रभावित किया है।

एक शब्द और। आप सब जानते हैं, इस प्रकार के श्रोतागणों के सम्मुख मुझे व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं। मैं केवल स्मरण करना चाहता हूँ कि अवतारवादी सिद्धान्त दार्शनिक रूप से सम्पूर्ण मानव जाति पर लागू होता है। चाहे वह कितना भी परोक्ष हो, जिसे हमारे साहित्य के गहन अध्येता ही समझ सकते हैं। इस प्रकार पृथ्वी के प्रत्येक प्राणी का उद्‌गम स्रोत केवल एक है, जो कि सृष्टि का एक मात्र कारण इस दृष्टि से हम सब भी अवतार हैं। केवल इतना है कि हममें दिव्य तत्त्व प्रायः इतना सुस्पष्ट नहीं, जितना कुछ अन्यों में। यह केवल मात्रा का अन्तर है, काल के अनुपात का या उन घटनाओं के अनुपात का, जिनमें देवत्व होता है। वस्तुतः यही सत्य एक आदमी को दूसरे से अलग करता है। किसी महापुरुष में इस दिव्य अलौकिक गुण की अभिव्यक्ति जितनी स्पष्ट रूप से होती है, उतनी अपेक्षाकृत अविकसित व्यक्ति में नहीं। इसीलिये बहुधा और आत्मा के विकास के विषय में कहा जाता है, कभी धरातल

पर कुछ आत्मायें दूसरी आत्माओं से अधिक विकसित होती हैं। श्री राम मानवीय गुणों के पुंज थे। उनके वचनों को सुनो, उनके कृत्यों को देखो, उनके प्रभाव के अन्तर्गत आओ, उनसे संबन्ध स्थापित करो तो उनकी दिव्यता से अछूते न रह सकोगे। अतएव आध्यात्मिक दृष्टि से रामचरित्र का अध्ययन अपेक्षाकृत अधिक लाभदायक है, शिक्षा से रहित अन्य नायकों के चरित्र की तुलना में।

अन्य पात्रों का जीवांकन भी शिक्षारहित नहीं होता। अल्पविकसित पात्र तो सदा ही हुए हैं। उदाहरणार्थ, कवि, उपन्यासकार और अन्य लेखक अपने श्रेष्ठ ज्ञान और उच्च सर्जनात्मक प्रतिभा द्वारा हमारे लिये ऐसे अल्पविकसित पात्रों का भी निर्माण करते हैं, उनको ऐसे घटना–मंच पर प्रस्तुत करते हैं, जहाँ मानवीय परिस्थितियाँ विद्यमान हों, जिससे वे अपने अपूर्ण जीवन द्वारा हमारी कल्पना में स्थान पा सकें। मैं तो यही कहता हूँ कि इन चरित्रों का पढ़ना भी व्यर्थ नहीं। महान लेखकों के उपन्यास ही लो– उनका लाभ भी कम नहीं होता, यदि हम उन्हें ताश के पत्तों की भाँति न खेलें। किन्तु महान जो ऐसी उत्कृष्ट एवं हृदयस्पर्शी पुस्तकों को पढ़ते हैं, तल्लीन हृदय और लवलीन मन से, और प्रत्येक मोड़ पर उसके शाश्वत मूल्यों से शिक्षा लेते हैं, उदाहरणार्थ उपन्यासकार Victor Hugo द्वारा लिखित 'Les Miserables' जैसी पुस्तकों से वे अत्यधिक शैक्षिक एवं आध्यात्मिक लाभ प्राप्त करते हैं। मैं यह सब चर्चा केवल इस बात पर बल देने के लिये कर रहा हूँ कि यदि निष्ठुर से निष्ठुर, परन्तु प्रशिक्षित बुद्धिजीवी, जिसमें आत्म सुधार भर की इच्छा हो, वह 'रामायण' पढ़े और उसे एक उत्कृष्ट काव्य, एक महान कवि द्वारा रचित काव्य, एक महान उद्देश्य से लिखा गया काव्यमात्र समझे, तो उसे अत्यधिक लाभ होगा। हमारे लिए तो इससे भी अधिक बहुत लाभप्रद है– 'रामायण' केवल एक काव्य ही नहीं, अपितु एक ऐसा महाकाव्य है, जिसने समस्त भारतवर्ष के इतिहास को ढाला है। इस महाकाव्य में, 'महाभारत' में और अन्य काव्यों में भी हमारे लिये गूढ़तम उपदेशात्मक शिक्षा भर दी है। अतः यह हमारे हित में होगा कि, इन आध्यात्मिक उपदेशों पर पूरा ध्यान देते हुए, हम उन महान पात्रों– श्री राम, हनुमान, तथा अन्यों– के क्रमिक विकास पर ध्यान केन्द्रित करें, क्योंकि यदि हम ध्यान दें, तो हम देखेंगे कि इन पात्रों का भी एक विकासक्रम है। ये जन्म से ही विकसित हों, ऐसा कुछ नहीं। श्री राम के भगवान होने में कोई सन्देह नहीं। किन्तु, बाल्य रूप में ही उन्होंने संसार में जन्म लिया, बाल्य रूप में ही उनका लालन–पालन हुआ, एक वरिष्ठ आचार्य द्वारा शिक्षा–दीक्षा मिली। आचार्य ने उन्हें धनुर्विद्या, युद्धविद्या सिखायी, लौकिक शिक्षा दी, पवर्ततों नदियों और पवित्र स्थलों का महान मर्म और उद्देश्य समझाया और यज्ञों के निगूढ़ अर्थ बताये। इस प्रकार राम विश्वामित्र की छत्रछाया में बड़े हुए। विश्वामित्र कोई साधारण व्यक्ति न थे। परन्तु मैं वाल्मीकि को दोष दिऐ बिना नहीं रह सकता कि उन्होंने विश्वामित्र को सहसा ऐसा विदा किया कि वे अन्त तक दिखाई ही नहीं देते। ज़रा कल्पना कीजिए, विश्वामित्र की भूमिका की! इस व्यक्ति ने राम के सम्पूर्ण चरित्र का निर्माण किया। उन्होंने राम को न केवल

तप, यज्ञ, दैनिक नित्यकर्म, आराधना आदि ही नहीं सिखाये, अपितु युद्धकला भी सिखाई। इसी व्यक्ति ने राम को वह बनाया, जो वे थे। उन्होंने लचीली बाल्यावस्था में ही राम को अपने हाथों में ले लिया, उन्हें एक विशेष आकार दिया और एक ऐसी महानतम भूमिका के लिये योग्य बना दिया, जो कि शायद ही किसी अन्य व्यक्ति ने कभी अदा की हो। ऐसे अनोखे व्यक्तित्व के धनी को इस काव्य में इतने सरसरी ढंग से विदा कर दिया गया! मैं कवि से पूछता हूँ– क्या यह उचित था? मेरे विचार में तो यह एक ऐसा आकस्मिक निर्गमन है, जो सर्वथा असहनीय है।

हमारी ही तरह राम भी एक पारिवारिक वातावरण में, माता–पिता और एक विमाता की छत्रछाया में पले। दुभार्गयवश विमाता में मानवीय दुर्बलतायें भी थीं। उनके सम्मुख एक संयुक्त परिवार की समस्यायें भी थी। अत्यन्त संवेदनशील करुण रस और हृदयस्पर्शी मनोभावों से परिपूर्ण इस कथा में हम देखेंगे कि उन्होंने इन सब कठिनाइयों का सामना कैसे किया। इसीलिए बड़े ध्यान से राम के चरित्र का अध्ययन करना चाहिए। सामान्यतः जब किसी रचना में एक अत्यन्त उन्नत उत्कृष्ट चरित्र विद्यमान होता है, जैसे श्री राम तो आधुनिक समालोचक यह कह कर उनका महत्त्व घटाने का प्रयास करते हैं, "ओह, श्री राम कोई प्रेरणादायक पात्र नहीं हैं, उनमें है ही क्या? उनकी परिपूर्णता तो एक विकृति मात्र है। सौवाँ पृष्ठ खोलने से पूर्व आप ठीक–ठीक कह सकते हैं कि अब वे आगे क्या कहेंगे अथवा क्या करेंगे। वे उचित ही करेंगे, न्यायसंगत ही करेंगे और जो करणीय है, वही करेंगे। वे हमारे समान नहीं, वे हमारी श्रेणी में नहीं आते।" जब किसी कृति में एक पात्र का लगभग एक परिपूर्ण आदर्श के रूप में चरित्र चित्रण होता है, तो छिद्रान्वेषी समालोचक बहुत अधीर हो जाता है। वह कहने लगता है, "मुझे तो अपने जैसा हाड़–माँस का पुतला चाहिए। एक ऐसा व्यक्ति, जो मेरी तरह वैसे ही प्रलोभनों से प्रभावित हो सकता है, जिसको अच्छा भोजन पसन्द हो और प्रातःकाल बढ़िया कॉफ़ी भी चाहिए। जिसका मेरे जैसा सतत् संघर्षमय जीवन हो, जो हममें से अधिकांश की तरह ही संत्रस्त भी हुआ हो। मैं जानना चाहता हूँ कि एक महामानव इन सबका सामना कैसे कर सकता है। महामानव तो वह है, जो जीवन की चक्की में पिसता है, मेरे जैसे अनुभवों को भोगता है, मेरे जैसे कष्टों को सहता है, मेरे जैसे हर्षों का आनन्द लेता है, सब अड़चनों और सीमाबद्धताओं के बावजूद भी उन पर विजय पाकर उच्च शिखर पर पहुँच जाता है, अपने अत्यन्त परिपूर्ण विकास के द्वारा मानव चरित्र की भव्यता प्रदर्शित करता है, और इस प्रकार वह उस दिव्यता के निकट पहुँच जाता है, जिससे वह आया, मैं आया और आप भी आये हैं। हमें तो ऐसा चाहिए," ऐसा समालोचक कहते हैं, "हमें मानव चाहिए, अतिमानव अपने दृष्टिकोण में ही, उसका हमारे निकट कोई मूल्य नहीं। हमें तो मनुष्य चाहिए, तत्त्वतः जो मानवीय हो, अपने मनोभावों में, अपने संघर्षों में, अपनी विजयों में। हमें तो वह मानवीय होना चाहिए और जो मानवीय होते हुए भी अपनी मानवीय

सीमाओं पर विजय प्राप्त करे, अपने देवत्व को विकसित करे, और अंततोगत्वा मानव हृदयों के सिंहासन पर स्वयं को एक अद्वितीय शासक के रूप में स्थापित कर सके।" श्री राम से बढ़कर दूसरा नहीं, श्री राम से अच्छा कोई दूसरा पति नहीं, बेटा नहीं, राजा नहीं, मनुष्य नहीं। मनुष्यों की भाँति हम उन्हें बड़ा होते, विकसित होते देखते हैं। 'रामायण' की यही सुन्दरता हैं। जो 'रामायण' को इस भाव से पढ़ता है कि वह शुरू से ईश्वर से संबद्ध है, उसके पल्ले कुछ नहीं पड़ेगा। आप इस कथा को एक मानवीय कथा, एक मनुष्य के मनुष्यों के बीच ही बिताये गये जीवन कथा समझ कर पढ़िये। तब देखिए, इसमें कितना ज्ञान के अमूल्य रत्नों का ख़ज़ाना छिपा है।

मैं नहीं जानता राम का चरित्र वर्णन करने में मुझे कितना समय लग जायेगा। चाहे कितनी भी बार हम उनकी चर्चा करें, चाहे कितने ही समय तक करें, किसी भी प्रकार उनको समझने का प्रयत्न करें, उनके चरित्र, उनका जीवन में अन्य सभी चरित्रों का समावेश हो जाता है और अन्य सभी घटनाचक्रों की दिशा निर्धारित करने में जिसकी अहम् भूमिका रहती है, सदा शिक्षाओं से भरपूर रहेगा। मैं आपसे अनुरोध करूँगा, आगे की पृष्ठभूमि बनाने के लिए, कि आप राम के प्रति यह दृष्टिकोण लेकर कदापि न चलें कि वे ऐसे व्यक्ति थे, जिनमें सम्पूर्ण ज्ञान, मर्यादा और सारे सद्गुण आरम्भ से ही विद्यमान थे और अन्त तक अक्षुण्ण रहे। उनके जीवन वृत्तान्त को समझने का यह ढंग नहीं। उन्होंने तो अनेक संघर्ष किए, प्रलोभनों ने भी उन्हें प्रभावित किया, उनमें कुछ कमज़ोरियाँ भी थीं। यह सुनकर आप चौंकें नहीं, मैं कोई निन्दा नहीं कर रहा हूँ। उनमें कमज़ोरियाँ अवश्य थीं, लेकिन उन्होंने उन कमज़ोरियों को दबा दिया, उन पर विजय प्राप्त की और उनको न्यूनप्रायः कर दिया। केवल इसी दृष्टिकोण से ही इस महान महाकाव्य का अध्ययन कर आप ज्ञान की अत्यन्त मूल्यवान निधि प्राप्त कर सकते हैं। आगामी वार्ताओं में मैं इस महाकाव्य का विश्लेषण करने का साहस करूँगा।

◈◈◈

दूसरा अध्याय

बाल्यावस्था

मेरे जैसे व्यक्ति के लिए जो वाल्मीकि के मूलपाठ के निकट रहना चाहता है, स्मरणशक्ति के आधार पर उद्धृत न कर सकना एक प्रकार की असुविधा है। अपने अनुभव में मैं कदाचित् ही कोई ऐसा 'रामायण' का व्याख्याकार पाया होगा, जो श्लोक के श्लोक, बिना किसी प्रकार की सहायता के धड़ाधड़ न दोहरा सकता हो। इस बात में मैं असमान्य हूँ। यदि किसी श्लोक का उल्लेख करना चाहूँगा, तो मुझे पढ़ना ही पड़ेगा।

चारों भाई एक–दूसरे से कुछ घंटों के अन्तर से ही पैदा हुए थे, अतएव उस दृष्टि से में भेद करना उचित नहीं है। किन्तु 'रामायण' में ज्येष्ठता बड़ी सावधानी से स्थापित की गई है, और भरत और लक्ष्मण के सन्दर्भ में तो यह एक छोटे से विवाद का विषय भी है। वाल्मीकि तो इतना तक कहते हैं– ये सब एक जैसे ही थे। केवल राम का रूप अन्यों से भिन्न था। कभी–कभी वे उन सबके लिये एक ही विशेषण का प्रयोग करते हैं। किन्तु आरम्भ से ही श्री राम की वरिष्ठता को किसी भी अनिश्चय की संभावना से परे रखा गया है। सभी प्रकार से वे भाइयों के लिये भी अगम्य थे।

प्रारम्भ में तो उस परिवार के विशेष गुणों का, रूप–रंग, आकृति, प्रकृति, शिक्षा–दीक्षा, आचरण और विभिन्न कौशलों आदि का विवरण मिलता है। इन सबका उल्लेख करना आवश्यक नहीं। थोड़े से पारस्परिक अन्तर के अतिरिक्त संसार भर में उनकी बराबरी का कोई जोड़ नहीं था। कवि उनके आचरण का विशेष रूप से उल्लेख करता है। वह उनके सत्य के प्रति और प्रजा हित के प्रति समर्पण का उल्लेख करता है। वह उनके गुरुजन और विशेषतः माता–पिता के प्रति निष्कपट प्रेम और सम्मान का उल्लेख करता है। यह सब बातें इस परिवार को एक असाधारण वैशिष्ट्य प्रदान करती हैं। भारतीय और सामान्य इतिहास के विद्यार्थी होने के नाते, जो राज दरबारों के रंग–ढंगों से परिचित हैं, हमें इसे इक्ष्वाकु कुल का एक अत्यन्त विशेष सौभाग्य मानना चाहिए कि चार भाई होने पर भी उनके बीच कोई अहम् भाव नहीं था, न कोई एक–दूसरे से आगे बढ़ जाने की होड़ थी और न ही था किसी प्रकार प्रतिस्पर्धा का कभी लेशमात्र अहसास भी। क्षण भर के लिए यदि हम जाने–पहचाने धनी परिवारों के

बच्चों के विषय में भी सोचें, तो इस कुल विशेष के अनुपम स्वरूप की सराहना किए बिना नहीं रह सकते।

इसके तुरन्त बाद कवि बढ़ती हुई आयु वाले नरेश का अपने पुत्रों के विवाह कराने से सम्बन्धित प्रयासों का वर्णन करता है, यद्यपि वे केवल पन्द्रह वर्ष के ही हुए थे। जिस समय राजा दशरथ अपने मंत्रियों और गुरुजनों से परामर्श ले ही रहे थे, तत्काल विख्यात ऋषि विश्वामित्र प्रवेश करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है, राजा दशरथ के स्वभाव में एक घातक दोष विद्यमान था– बिना सोचे–समझे वचन दे देना और पीछे पछताना। उन्होंने हार्दिक स्वामगत के पश्चात् विश्वामित्र के लिये श्रद्धा भाव से यथासाध्य करने का वचन दिया, बिना अपने लिये बचाव का कोई रास्ता छोड़े। विश्वामित्र जब विश्वस्त हो गए, तो अविलम्ब ही उन्होंने अपनी अभियाचना प्रस्तुत की। उन्होंने कहा, वे यज्ञ कर रहे हैं, और इस अनुष्ठान में मारीच और सुबाहु तथा उनके अनेक अनुचर बहुत विघ्न–बाधा पहुँचाने की धमकी दे रहे हैं। उन्होंने विशेष रूप से स्पष्ट किया कि वे दोनों राक्षस लंका के राजा रावण के उपकरण हैं। क्योंकि रावण स्वयं आकर विघ्न–बाधा नहीं कर पाता, इसीलिये उसने अपने अधीन इन दो राक्षसों को नियुक्त किया होगा। "अतएव आप अपने ज्येष्ठ पुत्र राम को मुझे दे दें।" तत्क्षण राजा दशरथ स्वयं सेवा के लिये प्रस्तुत हो गये और बोले, "मैं युद्ध के दाँव–पेचों से अनभिज्ञ नहीं हूँ। पुत्र के बजाय मैं स्वयं आपकी सहायता के लिये तत्पर हूँ।" जब रावण का नाम आया, तो दशरथ एकदम काँपने लगे, पीछे हटने लगे और बोले, "वह उन व्यक्तियों में से नहीं है, जिससे मैं कोई वास्ता रखना चाहूँगा।" कवि राजा के मुख से, जो निस्सन्देह भय और हिचक से प्रभावित है, ऐसे वाक्य कहलवाता है, जो आलंकारिक एवं अत्यन्त सराहनीय है। पुराने नवकाव्य शास्त्रियों की एक पद्धति है– ऐसे वाक्यांशों की पुनरावृत्ति, जो कि रचना की दृष्टि से या तो मंगलसूचक या गुंजायमान होते हैं। दो वाक्यांशों का प्रयोग मुक्त दशरथ भाव से करते हैं। *"न रामं नेतुमर्हसि, नैव दास्यामि पुत्रकम्,"* कृपया राम को न ले जायें, मैं अपने पुत्र को नहीं दूँगा। यह वे पाँच या छह बार दोहराते हैं। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे यह उनके टूटे हुए हृदय की वाणी हो। वह निस्सन्देह अपने स्वभावानुकूल विश्वामित्र नितान्त रुष्ट और उत्तेजित होकर बोले, "नरेश्वर! यदि तुम्हें ऐसे ही उचित प्रतीत होता है, तो मैं जैसे आया था, वैसे ही लौट जाऊँगा," और फिर व्यंग्यात्मक वाणी में बोले, "तुम अपनी सुविख्यात वचन परायणता के साथ यहीं अपने राज्य पर शासन करते रहो।" इस कुछ व्यंग्यपूर्ण चोट के साथ जब वे चलने को तत्पर हुए, तभी अपने महान अधिकार से वसिष्ठ जी ने हस्तक्षेप किया। वे आगन्तुक के विलक्षण गुणों का विचरण दशरथ को देते हैं। बड़ी गम्भीरतापूर्वक उनको विश्वामित्र का मन रखने का परामर्श देते हैं। दशरथ सहमत हो जाते हैं। उनकी अभियाचना पूर्त्ति के लिये श्री राम और लक्ष्मण को बुलाया जाता है। ध्यान दें, विश्वामित्र ने लक्ष्मण को नहीं माँगा था। उन्होंने लक्ष्मण

का नाम भी नहीं लिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि उस परिवार में बिना लक्ष्मण के राम का विचार तक भी सम्भव नहीं था। दशरथ ने ऐसा किसी विशेष सोच से नहीं किया था। जब उन्होंने राम को भेजने का निर्णय किया, वे जानते थे कि लक्ष्मण साथ जाये बिना नहीं रह सकते। इसलिए वे दोनों को ही बुला भेजते हैं।

यहाँ मैं आपका ध्यान एक ऐसे वाक्यांश पर दिलाना चाहूँगा, जो अपनी सुन्दरता अभिव्यञ्जना के लिए शायद अद्वितीय है। श्री राम और लक्ष्मण के पारस्परिक संबन्धों का विवरण कवि इस प्रकार करता है, "लक्ष्मण राम के *'द्वितीय जीवितम्,'* दूसरे अस्तित्व की भाँति थे। केवल उनका कर्मक्षेत्र श्री राम के शरीर से बाहर था।" कभी–कभी वे दोनों वाक्यांश साथ–साथ प्रयोग करते हैं और यह असाधारण है। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वंय कवि की इसमें विशेष अभिरुचि है, और वह इसका प्रयोग बारंबार करता है।

बाल्यात्प्रभृति सुस्निग्धो लक्ष्मणो लक्ष्मिवर्धनः।
रामस्य लोकरामस्य भ्रातुर्ज्येष्ठस्य नित्यशः।।
सर्वप्रियकरस्तस्य रामस्यापि शरीरतः।
लक्ष्मणो लक्ष्मिसंपन्नो बहिः प्राण इवापरः।।
न च तेन विना निद्रां लभते पुरुषोत्तमः।
मृष्टमन्नमुपानीतमश्नाति न हि तं विना।। I.18.27-29

"श्री राम लक्ष्मण के बिना नहीं सो पाते, न ही कोई मिष्ठान ग्रहण करते, जब तक लक्ष्मण भी उसमें साथ नहीं देते थे।"

यदा हि हयमारूढो मृगयां याति राघवः।
तदैनं पृष्ठतोऽभ्येति सधनुः परिपालयन्।। I.18.31

"यदि कभी श्री राम आखेट के लिये बाहर जाते, तो लक्ष्मण प्रत्यंचा चढ़ाये धनुष के साथ पीछे–पीछे जाते थे।"

अरण्य कांड में शूर्पणखा दोनों भाइयों के साथ, अपने अपूर्व अनुभव का वर्णन रावण को सुनाते समय, इन्हीं शब्दों का प्रयोग करती है। सचमुच शूर्पणखा का आचरण आश्चर्यजनक है। जब वह इन दोनों भाइयों के सामने थी, उसका आचरण कोई विशेष सत्यनिष्ठ या शीलयुक्त न था। किन्तु जब वह अपने भाई और अधिपति को उन भाइयों और पत्नी का वर्णन सुनती है, वह अत्यन्त सत्यनिष्ठ है। वह निष्कपट प्रशंसात्मक भाषा में बिना काँट–छाँट के उनका वर्णन करती है। सीता तक को अद्वितीय सुन्दरी बताती है। जबकि राम के समक्ष वह "उस विरूप नारी" सीता का स्थान लेने की पेशकश करती है। लक्ष्मण के विषय में वह कहती है :

रामस्य दक्षिणो बाहुः III.34.13

युद्ध कांड में, जब रावण का गुप्तचर शुक लक्ष्मण का वर्णन करता है, वह भी इसी प्रकार कहता है :

रामस्य दक्षिणो बाहुः नित्यं प्राणो बहिश्चरः। VI.28.25

श्री राम जब रावण के शक्ति–प्रयोग के कारण आहत धरती पर संज्ञाहीन निर्जीव पड़े लक्ष्मण पर विलाप करते हैं, तो कवि कहता है :

राघवो भ्रातरं दृष्ट्वा प्रियं प्राणं बहिश्चरम्।
दुःखेन महताविष्टो ध्यानशोकपरायणः।। VI.102.9

इस वाक्य के विभिन्न प्रयोगों का उल्लेख मैं केवल यह दिखाने के लिये कर रहा हूँ कि अन्य कवियों की भाँति, वाल्मीकी को भी ऐसे वाक्यों की पुनरावृत्ति प्रिय है।

श्री राम स्वयं एक अन्य स्थान पर, जब उनको युवराज रूप में अपने अभिषेक की सम्भावना थी, लक्ष्मण से कहते हैं :

लक्ष्मणेमां मया सार्धम् प्रशाधि त्वं वसुन्धराम्।
द्वितीयं मेऽन्तरात्मानं त्वामियं श्रीरुपस्थिता।। II.4.43

वे कहते हैं, "जिसको एक बार सुन्दर रूप दे दिया गया हो, यह विपुल भाग्यलक्ष्मी, जो मुझे प्राप्त हो रही है, उसका उपभोग मैं तुम्हारे साथ करूँगा। यह केवल मेरे अकेले के लिए नहीं है, वह तुम्हारी भी है। मेरे लिये तो तुम द्वितीय अन्तरात्मा हो।"

पुनः श्री राम कहते हैं :

सौमित्रे भुंङ्क्ष्व भोगांस्तवमिष्टान् राज्यफलानि च।
जीवितं च हि राज्यं च त्वदर्थमभिकामये।। II.4.44

"सुमित्रानन्दन! तुम अभीष्ट भोगों और राज्य के श्रेष्ठ फलों का उपभोग करो। यदि कभी मैं जीवन की ओर राज्य की अभिलाषा करता हूँ, तो वह इतनी अपने लिये नहीं, जितनी कि इसलिये कि मेरे साथ तुम भी उनका उपभोग कर सको।"

एक राज परिवार में दो भाइयों के बीच इस प्रकार की एकात्मीयता का होना निश्चय ही एक असामान्य स्थिति है, जबकि सामान्य जीवन में उनके प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में परस्पर संघर्षी होने की सम्भावना है। वस्तुतः इन दो भाइयों के पारस्परिक प्रेमबन्धन की तुलना केवल अन्य दो भाइयों की जोड़ी के प्रेमबन्धन से हो ही सकती है। ऐसा प्रेमबन्धन किसी भी कहानी या काल्पनिक आख्यान में नहीं पाया जाता। अतएव इसकी चर्चा के लिये तो एक अलग ही गोष्ठी की आवश्यकता होगी। यहाँ तो मैं केवल इतना ही कहूँगा कि बन्धन है और यह कई कारणों से हमारे लिये लाभकर भी होगा, क्योंकि इसी की चर्चा आगे भी की जाएगी, जिसमें विविध रूपों में भी इस सम्बंध का इस कथा में प्रदर्शन हुआ है। ध्यान देने योग्य है कि इस समय तो

मैं एक–दूसरे अद्वितीय प्रसंग पर आता हूँ। मैं वाल्मीकि के मूलपाठ का अनुसरण कर रहा हूँ, समय–समय पर कवि की विशेषताओं का उल्लेख करता रहूँगा, जब वे मानो पृष्ठ से ऊपर उठकर बरबस हमारा ध्यान खींच लेते हैं।

यह बात कि लक्ष्मण राम के इतने अधिक अंतरंग अंश थे, सर्वविदित थी। कथानक का जैसे–जैसे एक सर्ग से दूसरे सर्ग तक विकास होता है। हम देखते हैं कि विश्वामित्र के मार्गदर्शन में राम और लक्ष्मण, महान व्रतों और विपुल ज्ञानार्जन अनुशासन के कठोर नियमों का पालन करते हुए, अनेकों साहसी कार्य करते हैं। किन्तु विचित्र बात यह है कि विश्वामित्र, जिन्होंने लक्ष्मण को आमन्त्रित नहीं किया था, उनकी ओर विरले ही ध्यान देते हैं। यदि वे उनको संबोधित भी करते हैं, तो 'राम', 'राघव' कहकर बड़े भाई को ही संबोधित करते हैं। यह कहना तो अशिष्टता होगी कि उनको लक्ष्मण की उपस्थिति अच्छी नहीं लगती थी या जानबूझ कर वे उनकी अवज्ञा करना चाहते थे। मेरे विचार में तो, औरों की भाँति, उनके मस्तिष्क में भी यही धारणा थी कि राम से बात करना दूसरे भाई से भी बात करना था। इसके लिये अलग से विशेष संबोधन आवश्यक नहीं था। विविध विषयों की शिक्षा देते समय वे केवल राम का ही नाम लेते हैं, लक्ष्मण का नहीं। वे केवल एक या दो बार ही द्विवचन का प्रयोग करते हैं। बल और अतिबल मन्त्रयुग्म की शिक्षा भी केवल राम को ही दी। एक व्याख्याकार इसकी सफ़ाई में कहता है कि 'राम' शब्द में 'लक्ष्मण' का उपलक्ष्य रूप समाहित है। जब श्री राम का उल्लेख किया जाता है, लक्ष्मण भी उसके अन्तर्गत आ जाते हैं। एक अन्य व्याख्याकार स्पष्टीकरण देते हुए एक दूसरा विकल्प प्रस्तुत करता है, जो कदाचित् कुछ भी अप्रिय लगे, विश्वामित्र से प्रत्यक्ष रूप से सीखी हुई विद्या को राम ने बाद में व्यक्तिगत रूप से लक्ष्मण को सिखाया। उल्लेखनीय है, कथा में लक्ष्मण का व्यक्तित्व, जो स्वयं में कोई निकृष्ट व्यक्ति न थे, इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है, मानो शारीरिक रूप व कर्मों और गुणों में वे केवल राम के एक अंश थे।

अब मैं कथा के विकास में राम चरित्र से सम्बन्धित एक–दूसरे प्रसंग पर आता हूँ। इस सन्दर्भ में मुझे ज़रा विस्तार में जाना पड़ेगा और मूलपाठ से उद्धरण देने होंगे। श्री राम और लक्ष्मण की पहली अग्निपरीक्षा ताड़का का सामना करते हुए हुई। एक रक्तरंजित युद्ध में, उसके अपने ही वन में हुई, जिसका नाम ताड़का–वन था। यहाँ फिर यह बात ध्यान देने योग्य है कि जब विश्वामित्र ने राजा दशरथ से अपनी परेशानियों का वर्णन किया, उस समय उन्होंने केवल मारीच और सुबाहु को ही अपना उत्पीड़क बताया था, किन्तु ताड़का का नाम जानबूझ कर नहीं लिया था। उन्होंने ऐसा क्यों किया? इसके लिये, यदि एक क्षण ध्यान दें, तो वह केवल अनुमान मात्र ही होगा। ऐसी बात नहीं थी कि ताड़का यज्ञ में बाधा उपस्थित नहीं करती थी क्योंकि आगे चलकर (I.26.22) विश्वामित्र भी उसे *'यज्ञ–विध्वंसकारी'* संज्ञा देते हैं। वह भी सताने में कम न थी, किन्तु राजा के समक्ष उन्होंने ताड़का का ज़िक्र करना उचित नहीं

समझा। विश्वामित्र जानते थे कि राजा दशरथ राम को भेजने के लिये एकदम सहमत न होंगे। अतएव उन्होंने अपनी बात को कम से कम जोखिम वाली बनाने का प्रयत्न किया। दशरथ से आरम्भ में ही ऐसा कहना, "इन दो के अतिरिक्त ताड़का नामक राक्षसी का भी उन्मूलन श्री राम को करना होगा," उनकी कठिनाइयों में कदाचित् और वृद्धि कर देता क्योंकि उन दिनों भी, आज की ही भाँति, एक कठोर से कठोर सैनिक भी एक स्त्री के प्राण लेने में संकोच करता था। विश्वामित्र यह भी भलीभाँति समझते थे कि ताड़का को समाप्त किए बिना, उस स्त्री को निष्क्रिय नहीं किया जा सकता था। यदि राजा से यह कहा जाता, "अच्छा, मैं आपके पुत्र को ले जा रहा हूँ, और उसके सैनिक जीवन का पहला कार्य जो मैं सौपूंगा– वह होगा एक स्त्री का वध," कदाचित् यह एक असम्भव आवेदन पत्र के समान होता। निस्सन्देह, मेरा अनुमान है कि इसीलिए उन्होंने यह तथ्य दशरथ से छिपाया, यद्यपि वृद्ध नरेश से वार्तालाप करते समय यह उत्कण्ठा प्रतिक्षण उनके मन में उभरती रही होगी।

ताड़का से सामना होने से पूर्व विश्वामित्र श्री राम को सावधान करते हुए कहते हैं, "यह मायावी स्त्री है, इसके प्रति कोई दयाभाव दिखाने की आवश्यकता नहीं। बस मार दो, ज़रा सा भी संकोच न करो कि यह स्त्री जाति की है।" विश्वामित्र आगे कहते हैं, "तुम्हारे जैसे राजकुमारों का पहला कर्त्तव्य है, प्रजा के दुःख का निवारण करना, उनकी रक्षा करना। उन्हें ऐसे छोटे–मोटे नैतिक संकोचों के कारण दुविधा में नहीं पड़ना चाहिए। यदि एक स्त्री को मारना आवश्यक है, तो उसे मार देना ही चाहिए, और यह इसी योग्य है। मैं पहले से ही चेतावनी देता हूँ, इसको मारने में किसी प्रकार की घृणा न करें।"

नृशंसमनृशंसं वा प्रजारक्षणकारणात्।
पातकं वा सदोषं वा कर्त्तव्यं रक्षता सता।।
राज्यभारनियुक्तानामेष धर्मः सनातनः।
अधर्म्यां जहि काकुत्स्थ धर्मो ह्यस्यां न विद्यते।। I.25.18,19

श्री राम ने इस आदेश का बुरा न माना, क्योंकि ऋषि ने पहले से ही पूर्वोदाहरणों का हवाला दे दिया था। उनका कहना था, "ऐसा न सोचो कि पृथ्वी पर मैं तुम्हें वह प्रथम राजा बनने को कह रहा हूँ, जिसने जाकर एक स्त्री का वध किया हो। बड़ी–बड़ी हस्तियों ने तुमसे पहले भी ऐसा किया है। इन्द्र ने मन्थरा को मारा था, महाविष्णु ने स्वयं भृगुपत्नी की हत्या की। और फिर परशुराम को ही लो– उन्होंने अपनी माता की ही हत्या की। ऐसे और अन्य पूर्वोदाहरणों के होते हुए तुम्हें किसी प्रकार की शंका नहीं होनी चाहिए।" ध्यान देने योग्य बात है कि तत्काल तो इन दृष्टान्तों की श्री राम पर कोई प्रतिकूल प्रक्रिया नहीं हुई। "मेरे पिता जी ने मुझे आपको सौंपा है और कहा है, मैं आपका अनुसरण करूँ और आपकी आज्ञा का पालन करूँ

और जो भी आप कहें, उसको निस्संकोच करूँ। मेरे पिता जी एक चक्रवर्ती राजा हैं और आप महर्षि एवं मेरे गुरु। मैं 'ना' क्यों कहूँगा?

सोऽहं पितुर्वचः श्रुत्वा शासनाद् ब्रह्मवादिनः।
करिष्यामि न सन्देहस्ताटकावधमुत्तमम्।। I.26.4

श्री राम कहते हैं कि यह उनका एक महान कर्त्तव्य है, और वे ताड़का का वध अवश्य करेंगे : *'न सन्देहः,'* यह कह ही रहे थे, पर जब कुछ क्षण उपरान्त ताड़का सचमुच उनके सामने प्रकट हुई, उनकी अन्तरात्मा ने उन्हें कचोटा। उनकी जन्मजात नैसर्गिक प्रकृति पुनः सामने आई। वे लक्ष्मण से बोले, "इस कराला भयंकर स्त्री को देखो, कमज़ोर मनुष्य तो जिसे देखने मात्र से मर जायेंगे। किन्तु है तो आख़िर एक स्त्री ही। मैं इस तथ्य को कैसे भूल सकता हूँ! आवश्यकता केवल इस बात की है कि विश्वामित्र जी को इसके उत्पातों से छुटकारा मिल जाये। मेरा प्रयास यह होगा कि इसकी गतिशीलता नष्ट हो जाये। मैं इसके द्वारा महर्षि को कोई क्षति पहुँचाने नहीं दूँगा। ऐसा करते हैं कि इसके हाथ और काम काट डालें। इस प्रकार विरूपित करके भगा दें। इस प्रकार यह निरुपद्रवी हो जायेगी।" अतएव एक बाण से राम ने उसकी भुजायें काट दीं। लक्ष्मण कब पीछे रहने वाले थे। उन्होंने दूसरा बाण चला कर उसके कान और नासाग्र को काट दिया। परन्तु वह स्त्री विविध रूप धारण करके, पत्थरों की अनवरत वर्षा करने लगी। वह ओझल हो गई, विविध रूप धारण करने और अदृश्य हो जाने की क्षमता का उपयोग कर, उसने बहुत उत्पात मचाया। इससे बेचारे दोनों भाई बड़े परेशान हुए। जिस दिशा से आवाज़ आती, उसी दिशा की ओर तीर चलाते, किन्तु उनके प्रयास पूर्णतया सफल नहीं होते थे। उसमें अभी भी शरारत की भारी क्षमता थी। उन्हें परेशानी में देखकर विश्वामित्र ने पुनः राम को स्मरण कराया, "मैंने कहा था न, यह ऐसी स्त्री नहीं, जिसके प्रति कोई दयाभाव प्रदर्शित किया जाये। यह इस प्रकार के व्यवहार के योग्य नहीं है। इसे मार ही डालो। सूर्यास्त होने वाला है, यदि पाँच क्षण भी विलम्ब करोगे, तो बहुत देर हो जायेगी, सूर्यास्त होने के पश्चात् ये राक्षस दिन से दस गुणा अधिक हो जाते हैं। अभी इसको ख़त्म करो।" श्री राम ने ऐसा ही किया, उसे मार दिया।

हमें इस विषय पर नितान्त अनुशासनिक दृष्टिकोण से विचार करना है। इस पर विचार के लिये कुछ समय लगाना उचित ही होगा। श्री राम की निश्छल सोच एवं निश्छल कर्म के विषय में किसी को ज़रा सा भी सन्देह नहीं होना चाहिए। *'न सन्देहः'* कह कर क्यों उन्होंने थोड़ी ही देर बाद विलम्ब किया, ऋषि की अवज्ञा की और ताड़का को तुरन्त ही नहीं मारा? और क्यों लक्ष्मण से कहा कि वे उसे केवल असमर्थ कर देंगे उत्पात के लिये? यहाँ राम का मूल्यांकन करने में हमें थोड़ी सी सावधानी बरतनी होगी। यद्यपि मुझे टीकाकारों से कोई सहायता नहीं मिलती और न ही पूर्ववर्ती

व्याख्याताओं से, मैं इस प्रकार सोचता हूँ : श्री राम सब बड़े कार्यो मेंअपनी बुद्धि–विवेक पर अधिक भरोसा करते थे और दूसरों का अनुकरण नहीं करते थे, जब तक कि दूसरों का मत उनकी अपनी राय से तालमेल नहीं खाता था। यदि कहीं कोई चिरकालिक शंका भी होती, तो ऐसी स्थिति में वे अपनी सहजबुद्धि के अनुकूल कार्य करना उचित समझते थे। उन्होंने बिना सोचे–विचारे विश्वामित्र को वचन दे दिया था कि वे ताड़का का वध तुरन्त करेंगे। किन्तु अन्तिम क्षणों में, वास्तविक परीक्षा के समय, जैसा प्रायः सबके साथ होता है, कार्य करने में संकोच व्याप्त हो जाता है। वे सोचने लगे, "यदि तत्त्वरूप में विश्वामित्र का आदेश मान लिया जाये, तो यह पर्याप्त होगा, उसका अक्षरशः पालन आवश्यक नहीं। मैं ताड़का को सर्वथा शक्तिहीन बना दूँगा।" मुझे ज़रा–सा भी संकोच न होगा श्री राम को इस आरोप से दोषमुक्त करने में कि उनका उद्देश्य महर्षि की आज्ञा का उल्लंघन करना था, न कि अपने वचन से विमुख होने का। इस प्रकार के संकोच और सन्देह मनुष्य जीवन के प्रत्येक मोड़ पर आक्रमण करते हैं। आपकी धारणा कोई भी हो, आपका निश्चय कितना भी दृढ़ क्यों न हो, जब कार्य करने का अन्तिम क्षण उपस्थित होता है, तो कहा नहीं जा सकता कि कोई मनोभाव जो पहले दबा दिया गया था, वह अपनी पूरी शक्ति से पुनः उपस्थित न होगा और अपने सम्मान का दावा नहीं करे। मैं तो इसको इस प्रकार व्यक्त करता हूँ की उन्होंने एक समुचित नियम और युक्तियुक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जैसा कि वृद्ध ऋषि ने कहा था। उससे भी सर्वोच्च थी, अनिवार्यता सुरक्षा के प्रति कर्त्तव्य की। विश्वामित्र एक महान यज्ञ का अनुष्ठान कर रहे हैं और राजा का सर्वोच्च कर्त्तव्य है और सर्वोपरि माँग है, रक्षणीय व्यक्तियों की सुरक्षा करना। अन्य गौण कर्त्तव्य तो पृष्ठभूमि में हैं। अतः एक स्त्री के प्रति आपका कितना भी लिहाज़ क्यों न हो। परन्तु मैं सोचता हूँ, इस छोटी सी घटना से हम इस प्रकार की शिक्षा ले सकते हैं। आप एक महान यज्ञ और उससे प्राप्त होने वाले परिणामों को इस नैतिक शंका के कारण बिगड़ने नही दे सकते।

अब बाल कांड में मैं एक महत्वपूर्ण मोड़ पर आता हूँ, जहाँ विश्वामित्र और अन्य ऋषि राम और लक्ष्मण को मिथिला जाने का सुझाव देते हैं। वे बताते हैं कि वहाँ आकर्षण दोहरा है। राजा जनक एक बड़े यज्ञ का अनुष्ठान कर रहे हैं, और मैं विशेष रूप से आपका ध्यान इस बात की ओर दिलाना चाहता हूँ कि उन दिनों यह सर्वविदित था कि वह देखने योग्य है। दूसरी आकर्षणीय बात यह है कि राजा के पास एक दिव्य धनुष है, वही जिससे भगवान शिव ने त्रिपुरों का संहार किया था। यह धनुष अब राजा जनक के अधिकार में आ गया है। धनुष वस्तुतः शिव से किस प्रकार व किन चरणों में जनक के अधिकार में आया, इसका कोई सही उल्लेख ग्रंथ में नहीं है, न ही हमारे लिए इसके विषय में वाद–विवाद में पड़ना आवश्यक है। अतः ये ऋषि, विश्वामित्र सहित, राम लक्ष्मण से बोले, "हम मिथिला चलें, जिससे हम यज्ञ में सम्मिलित हो

सकें। इसके अतिरिक्त तुम उस धनुष को देख भी सकोगे, जिसको महादेव जी ने एक महायुद्ध में प्रयोग किया था। वह अब सब प्रकार के लोगों के लिए एक आकर्षण बन गया है, क्योंकि उसको अनेकों ने उठाने और डोरी चढ़ाने का प्रयास किया, पर कोई भी इसमें सफल न हो सका। अच्छा तो यही होगा कि तुम भी आओ और इसे देखो।" वाल्मीकि के विलोप बड़े ध्यान देने योग्य हैं। यह सर्वविदित था कि जनक ने इस बात की घोषणा कराई कि जो वीर इस धनुष की प्रत्यंचा चढ़ा सकेगा, उनकी पुत्री सीता उसे वधू रूप में दे दी जायेगी। अतः वह वीर्य शुल्का (शक्ति के बल पर प्राप्त होने वाली) थी। विश्वामित्र तथा ऋषिगण इस तथ्य से अनभिज्ञ न रहे होंगे। फिर भी उन्होंने राम से इसकी चर्चा नहीं की। उन्होंने तो केवल यही कहा कि मिथिला में जनक के पास एक ऐसा धनुष है, जिसमें लोगों को दिलचस्पी है। इस प्रकार की अर्थपूर्ण चुप्पी का प्रयोग हमारे गुरुजन आज भी दैनिक जीवन में करते हैं। वे अल्पव्यस्कों को इस बात प्रत्यक्ष रूप से बताना नहीं चाहते, कुछ तथ्य गुप्त रखना पसन्द करते हैं, ताकि अप्रत्याशित परिस्थिति उन्हें आश्चर्यचकित कर सकें या पूर्वज्ञान के कारण वे स्वयं उस बड़े कर्त्तव्य के निष्पादन में कोई टालमटोल न कर सकें। उनका उद्देश्य कुछ भी रहा हो, उसके कारण अनेक हो सकते हैं। विश्वामित्र ने सोचा होगा, "मैं राम को धनुष चढ़ाने के लिए स्वयं नहीं कहूँगा।" जब वे वहाँ पहुँचे और राजा जनक पूछते हैं, "ये सुन्दर राजकुमार कौन हैं?", वे उनका परिचय देते हैं और बताते हैं कि वे धनुष के दर्शन के लिये आए हैं। जनक तब पहली बार कहते हैं, "अरे, धनुष! यह तो आपको मालूम ही होगा ही कि मैंने यह प्रण किया है, जो वीर धनुष को डोरी चढ़ाने में सफल होगा, वही मेरी पुत्री का पति होगा। यदि राम के भाग्य ने साथ दिया, तो ये मेरे जामाता बन सकते हैं।" आप समझ सकते हैं कि राम की प्रतिक्रिया मर्यादित होगी, उन्होंने एक शब्द भी नहीं कहा। धनुष वहाँ लाया गया। ऐसा कहा गया है कि यह आठ पहियों वाली एक गाड़ी में पाँच हज़ार आदमियों द्वारा खींच कर लाया गया था। धनुष के आने के पश्चात् जनक ने प्रोत्साहन रूप में कहा, "न जाने कितने आए कितने और गए, किन्तु धनुष किसी से उठाया तक भी नहीं गया। जब यह पन्द्रह वर्षीय बालक उस धनुष के सामने खड़ा कुछ लज्जाता सा खड़ा था, तो उपस्थित गण ने तो यही सोचा होगा, "लो, एक और असफलता देखो।" विश्वामित्र ने तो केवल इतना ही कहा, "इन बालकों को भी दिखाओ, इन्हें भी देखने दो।" वह विशाल सन्दूक सामने आया, राम ने ढक्कन उठा कर धनुष पर दृष्टि डाली। और बड़े स्पष्ट विनम्र से स्वर में पूछा, "मैं इसे छू लूँ?" उन दोनों ने कहा, "हाँ, हाँ, अवश्य।" "क्या मैं उसे उठाकर प्रत्यंचा चढ़ाने का प्रयास भी कर सकता हूँ?" बिना किसी प्रत्यक्ष प्रयत्न के उन्होंने धनुष को उठा लिया और मोड़कर उस पर प्रत्यंचा चढ़ा दी। परन्तु वह उनके हाथों में दो टुकड़े हो गया। जैसे ही वह टूटा, पृथ्वी काँप उठी, कवि वर्णन करता है, और जितने लोग वहाँ खड़े थे भयभीत होकर गिर पड़े, पशु–पक्षी सब

भयाकुल हो गए। केवल राजा जनक, दोनों भाई और विश्वामित्र अपनी संस्थिति बनाए रख सके। लोक में शेष सब अस्तव्यस्त हो गया। जैसे ही धनुष टूटा, ऐसी घटनाओं के बीच, जनक ने कहा, "मेरी मनोकामना पूर्ण हुई। मुझे सयोग्य वर मिल गया है। अब मैं तुरन्त अब मैं विश्वसनीय दूतों को राजा दशरथ के पास भेजूँगा और उन्हें आकर इस जोड़े को वर–वधू बनने का आशीर्वाद देने को कहूँगा।"

प्रसंग का विवरण करते समय सीता अनुसूया को ज़रा दूसरा विवरण देती है। यह भी इस काव्य की विशेषताओं में से एक है। कोई भी घटना की उसी भाषा में या उसी क्रम विस्तार से पुनरुक्ति नहीं की गई है, कुछ थोड़ा बहुत अंतर प्रायः रहता है। इस सन्दर्भ में मैं तो कहूँगा कि क्योंकि अर्थ–निरूपण का यह एक सिद्धान्त है, मैं यह कहना आवश्यक है कि नहीं समझता कि इसमें किसी प्रकार की असंगति है। सीता कहती है, "जैसे ही धनुष टूटा और मैं विजेता की सम्पत्ति हो गई, और मेरे पिता जी एक पात्र में जल लेकर तुरन्त मुझे राम को समर्पित करना चाहते थे। किन्तु राम ने कहा, 'नहीं, मैं अपने पिता की स्वीकृति बिना पत्नी स्वीकार नहीं कर सकता।' अतएव, राजा जनक को दूत भेजने पड़े।" यह सीता का विवरण है। सीता का संस्मरण ठीक ही होगा। इन दो विवरणों में और भी असंगतियाँ हैं, परन्तु इनमें हमारी दिलचस्पी नहीं है। यथा, इस समय, वैसे इसका भी कुछ महत्त्व है, जिसका मैं उल्लेख आगे करूँगा।

दीयमानां न तु तदा प्रतिजग्राह राघवः।
अविज्ञाय पितुश्छन्दमयोध्याधिपतेः प्रभो।। II.118.51

"राम तुरन्त ही मुझ जीती हुई सम्पत्ति को ग्रहण करने के लिये तैयार नहीं थे क्योंकि वे अपने पिता जी की इच्छा जानना चाहते थे।"

जैसे ही राजा दशरथ को जनक का सन्देश मिला, वे अत्यन्त प्रसन्न हुए, मुदित मन से वे महान गुरुजनों और सेना सहित मिथिला के लिए रवाना हुए। यहाँ तक एक बात उल्लेखनीय है, और जैसे आप कथा पढ़ेंगे, आपको विदित हो जायेगा कि सीता का स्थान उनकी अन्य बहनों, उर्मिला, मांडवी तथा श्रुतकीर्ति के स्थान से कुछ भिन्न है। सीता तो पहले से ही जीती जा चुकी थी, वह श्री राम के अधिकार में आ गयी थी। किन्तु, जैसा कि सब जानते हैं, उसी समय वहाँ तीन विवाह और भी सम्पन्न हुए। यह कैसे हुआ? इसका उत्तर ग्रंथ में ढूँढने योग्य है। अहम् बात यह है कि जनक ने उर्मिला को लक्ष्मण के लिये देने का प्रस्ताव नहीं किया था और न ही माण्डवी को भरत के लिये और शत्रुघ्न के लिये श्रुतकीर्ति को। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने ब्रह्मविवाह (कन्यादान) पद्धति का अनुसरण करते हुए इस प्रश्न का उत्तर दिया है। महर्षि वसिष्ठ ने इक्ष्वाकु कुल की वंशावली देते हुए नामों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत की और तत्पश्चात् अपना वक्तव्य इस प्रकार समाप्त किया : "राजन्, अब मैं सीता का हाथ राम के लिए और उर्मिला का हाथ लक्ष्मण के लिये माँगता हूँ।" यहाँ पहली बार अन्य विवाहों का

ज़िक्र किया जाता है। ऐसा कुछ नहीं हुआ कि जनक ने सैंकड़ों जन्मपत्रियाँ मिलवाई हों या वे अपनी पुत्री का प्रस्ताव लेकर कभी एक के पास कभी दूसरे के पास दौड़े फिरे हों और पूछते फिरे हों, "क्या आपको 20,000 रुपये स्वीकार्य हैं या इससे अधिक चाहियें?" प्राचीन विधि की परम्परा थी कि वरपक्ष की ओर से विद्वान, जो 'वैदिक' कहलाते थे, इस काम के लिये नियुक्त किए जाते थे, जिनका काम उपयुक्त कन्या की खोज करना होता था। ऐसा ही यहाँ भी किया गया। वसिष्ठ द्वारा लक्ष्मण के लिये उर्मिला का हाथ माँगने के पश्चात् इस दूसरे विवाह का प्रस्ताव किया जाना एक स्वाभाविक बात थी और यह लोकाचार के अनुसार था। इसके पश्चात् विश्वामित्र ने बात को आये बढ़ाया। "अब मानव इतिहास में एक असाधारण घटना घटी है। कभी किसी ने जनक और दशरथ जैसे दो नरेशों का एक ही मंच पर इकट्ठा सुना है? शतानन्द यहाँ और वसिष्ठ वहाँ, इक्ष्वाकु तथा विदेह, अब जब हम सब यहाँ है, हे राजा जनक, मैं आपसे अनुरोध करता हूँ कि आप अपने भाई की पुत्रियों को भी अयोध्या नरेश के अन्य दो पुत्रों के लिये दे दें।" यह प्रस्ताव वरपक्ष की ओर से आया। अनुरोध सदा वरपक्ष की ओर से ही होता था। जब संस्कार का समय आया, वह प्रसिद्ध श्लोक, जो मांगलिक अवसरों पर कितनी भी बार पढ़ा जा सकता है, जनक द्वारा बोला गया। उन्होंने पुत्री सीता का हाथ पकड़ा और अग्नि के समक्ष राम को के सम्मुख स्थित कर कहा :

इयं सीता मम सुता सहधर्मचरी तव।
प्रतीच्छ चैनां भद्रं ते पाणिं गृहणीष्व पाणिना।।
पतिव्रता महाभागा छायेवानुगता सदा।
इत्युक्त्वा प्राक्षिपद्राजा मन्त्रपूतं जलं तदा।। I.73.27,28

"इसको ग्रहण करो, यह है मेरी पुत्री सीता, जो जीवन के सभी धार्मिक कर्त्तव्यों में तुम्हारी सहचरी बनने वाली है। सौभाग्यशाली रहो। इसका सीधा हाथ अपने हाथ में लो। यह तुम्हारे लिए धर्मनिष्ठा एवं पतिव्रता तथा सौभाग्यशाली सिद्ध होगी तथा छाया समान तुम्हारा अनुसरण करेगी, सदा–सदा।" इस प्रकार यह विवाह सम्पत्र हुआ। अन्य जोड़े भी इसी प्रकार पवित्र बन्धन में संयुक्त।

परशुराम संबन्धित भयानक घटना को छोड़ते हुए, आपकी अनुमति से, अब मैं बाल कांड के अन्तिम भाग पर आता हूँ, जहाँ कवि परम आनन्दमय वातावरण का वर्णन करता है, जिसमें ये चारों जोड़े साथ–साथ दशरथ की छत्रछाया में जीवन बिता रहे थे। पारस्परिक संबन्धों की घनिष्ठता का वर्णन करने के लिये कवि को उपयुक्त शब्द नहीं मिलते, किस प्रकार पति पत्नी को प्रसन्न रखते, पत्नी पति को संतुष्ट रखती थी। मुख्यतः कवि राम–सीता की जोड़ी का उल्लेख करता है। जैसा कि नियति इस कथा को मोड़ देगी, उसी के अनुरूप भरत और शत्रुघ्न को पहले ही मामा युधाजित अपने साथ ले गए थे। कवि इसका कोई उल्लेख नहीं करता कि माण्डवी

तथा श्रुतकीर्ति भी उनके साथ गईं थी या नहीं। हमारा कवि भी निराला है, उसकी रुचि तो केवल सीता के लिये ही है, उन्ही का वर्णन करने से ही उसे फुर्सत नहीं। वह उनके कृत्यों का सांगोपांग वर्णन करना है। अन्य तीन कोई वधुओं का उल्लेख नहीं मिलता। वस्तुतः माण्डवी और श्रुतकीर्ति के नामों का उल्लेख केवल एक बार ही किया गया है। यह भी ज्ञात नहीं की कैकेय गई भी या नहीं। जब भरत अयोध्या लौटे, वे लौटे थे दशरथ की मृत्यु के पश्चात्, जिसके विषय में वे अनभिज्ञ थे– यहाँ भी माण्डवी और श्रुतकीर्ति का कोई ज़िक्र नहीं है। यदि कवि ने उनके विषय में कुछ कहना आवश्यक नहीं समझा, तो हमारे लिए भी उचित है कि हम भी उन पर कोई ध्यान न दें। यही मान लिया जाये, उनके विषय में सब कुछ ठीक–ठाक था।

किन्तु एक छोटा सा कुछ विवाद का विषय बन गया है। जब कवि सीता का राम के प्रति और राम का सीता के प्रति प्रेम का वर्णन करता है, वह अत्यन्त काव्यात्मक और अभिव्यंजक भाषा का प्रयोग करता है। वह कहता है कि वे एक–दूसरे के विचारों को बड़ी सहजता से पढ़ सकते थे। जिह्वा और औष्ठों की शायद कोई भूमिका नहीं थी, नयनों की भी नहीं। भावनाओं का संप्रेषण हृदय–हृदय के बीच होता था। दोनों हृदय एकमेक थे। एक की इच्छा दूसरे की अभिलाषा थी। यह तो कहना सम्भव नहीं कौन किससे अधिक प्रेम करता था। आगे एक श्लोक में कवि कहता है :

प्रिया तु सीता रामस्य दाराः पितृकृता इति।। I.77.27

इस वाक्य की व्याख्या यहाँ एक बार सुविज्ञ विद्वान साहिती वल्लभ टी. सुन्दराचार्य द्वारा की गई थी। श्री राम सीता को आँख की पुतली मानते थे। यह सोचकर की उनका चुनाव या दान पिता द्वारा किया गया था। विचित्र बात तो यह है कि कवि ने इस बात को मांडवी, उर्मिला और श्रुतकीर्ति के लिए लागू नहीं किया क्योंकि उनके पतियों का चुनाव पिताओं द्वारा हुआ था। कवि ने ऐसा केवल श्री राम के लिये ही कहा है, क्योंकि उन्होंने सीता को पिता के चुनाव द्वारा नहीं पाया था, बल्कि निजी शौर्य, भुजबल से प्राप्त किया था। कुशल कवि इस बिन्दु का उल्लेख शायद इसलिये करता है, क्योंकि उसे ध्यान आ गया कि आगे चलकर सीता कहती हैं कि श्री राम पिता की अनुमति के बिना विवाह के लिए सहमत नहीं हुए थे। पाणिग्रहण से पूर्व पिता को आकर 'हाँ' कहना पड़ा। कदाचित् छोटे से एक प्रसंग पर बल देने के लिए कवि ने इस प्रकार का प्रयोग किया है। मैंने उस विचित्र टीका को नहीं देखा है, जिसमें यह कहा गया है कि *'पितृ'* शब्द यहाँ दशरथ को नहीं, बल्कि जनक को संकेत करता है, अनुसार *'पितृकृता'* (जनक) को *'पितृदत्ता'* के अर्थ में माना जाना चाहिए, क्योंकि वास्तविक रूप में चाहे यह स्वयंवर ही हुआ हो, परन्तु ब्रह्म–रूप विधान का पालन किया गया था। जनक ने सीता को श्री राम के हाथों सौंपा था। चाहे कुछ भी हो, देखने योग्य बात यह है कि श्री राम के लिये, चाहे यह पिता का चुनाव हो या केवल उनकी अनुमति, यह भी दाम्पत्य पारस्परिक प्रेम को बढ़ाने का एक कारण था।

"निस्सन्देह मुझे पत्नी इसलिये मिली है कि मैं बलवान था और अपने शौर्य से उस धनुष को मोड़ सका। परन्तु मेरे पिता जी ने इस सम्बन्ध के लिए हार्दिक अनुमति दी। सीता मुझे इस कारण से और भी अधिक प्रिय है।" इस बात को इस प्रकार मान्ना ही उचित होगा। इस सन्दर्भ में हम राम को एक और महान गुण का श्रेय दे सकते हैं कि अपने जीवन में उन्होंने कभी भी किसी बड़े कार्य करने से पूर्व अपने पिता की पूर्ण अनुमति के लेने के महत्त्व को नहीं भूला। पत्नी का चुनाव हिन्दू धारणाओं के अनुसार जीवन की उन अत्यावश्यक बातों में से एक है, जिसमें वर के पिता की एक अहम् भूमिका होती है। अब यह धारणायें मिटती जा रही हैं। इस सन्दर्भ में यद्यपि इस कथा में दशरथ का आगमन देर से होता है, फिर भी यह बात कि वे विवाह में उपस्थित हुए और उन्होंने अपनी पूर्ण अनुमति दी, राम के लिये भी उतनी ही मंगलप्रद थी, जितनी कि उनके भाइयों के लिये, जिनके लिये प्राचीन हिन्दू विधि का पालन पूर्णतया किया गया।

◈◈◈

तीसरा अध्याय

लक्ष्मण

अन्यत्र एक पूर्व व्याख्यान में मैंने कहा था कि मानवीय सम्बन्धों में राम और लक्ष्मण का पारस्परिक सम्बन्ध अनुपम था। इसका प्रचुर स्पष्ट साक्ष्य इस महाकाव्य में मिलता है। प्रेम का कोई परिमाण नहीं होता, उसकी थाह का कोई अनुमान नहीं, एक प्रेम और दूसरे प्रेम की गहराई का अन्तर व्यक्तिगत अनुभव द्वारा ही जाना जा सकता है। यह तो हम पूर्व में देख चुके हैं कि राम और सीता को जिस प्रेम ने एक–दूसरे के प्रति आकर्षित किया, वह अपूर्व था। जब सीता उनसे बिछुड़ गई, राम की व्यथा की कोई सीमा रही, उन्होंने उनकी पुनः प्राप्ति के निमित्त प्रयत्नों में भी किसी कोई क़सर न छोड़ी। वस्तुतः सम्पूर्ण 'रामायण' में विषय यही है। सीता से बिछुड़ कर उनका सुख चैन उजड़ गया। वे पागल से हो गए। वनों में इधर–उधर घूमते फिरे, प्रलाप करने लगे। वे वृक्षों, पर्वतों, नदियों से अनुनय–विनय करने लगे। उन्होंने देवताओं को सृष्टि–विनाश की भी धमकी दी। वे आत्महत्या की भी धमकी देने लगे। बेचारे लक्ष्मण को भी इस घोर व्यथा के समय उन्हें सान्त्वना देना कठिन हो गया। राम ये असाधारण प्रयत्न सीता की प्राप्ति हेतु नहीं, वरन् मर्यादा की रक्षा के लिए कर रहे थे। इसका संकेत कथा के चर्मोत्कर्ष तक नहीं मिलता अर्थात् रावण के वध और सीता का राम के सम्मुख बुलाये जाने तक कोई ऐसा कोई संकेत नहीं है, जिससे जाना जा सके कि उस नाजुक क्षण वे किस प्रकार से के मनोभाव से पराभूत थे। कदाचित् वे सोच रहे थे कि सीता के चरित्र पर एक कलंक है या ऐसा माना जा सकता है। अतः उनको अयोध्या की सम्राज्ञी के रूप में वापस लेना अपनी और अपने कुल की प्रतिष्ठा पर बट्टा लगाना होगा। रावण वध के पूर्व प्रतिक्षण मानो वे सीता को अपने प्राण सदृश मानते रहे। अक्सर उन्हें लगता कि सीता के बिना उनका जीना असम्भव है। किन्तु जब उन्होंने सीता को देखा अपने मित्रों की उपस्थिति में, यह मनहूस सन्देह उनके मन में उदित हुआ और उन्होंने निष्ठुर वचन कहे, जिनका पढ़ना आज भी हमारे लिए अत्यन्त दुःखदायी है, और जो सबकी अश्रुओं में जल भर लाते हैं।

फिर भी इस अतिशय प्रेम से भी, जिसको उन्होंने उस क्षण इतनी दृढ़ता के साथ एक किनारे रख दिया और जिसकी अभिव्यंजना इस काव्य में अनेक स्थानों पर मिलती है, कहीं अधिक था उनका लक्ष्मण के प्रति प्रेम। उसकी तो श्रेणी ही निराली थी। इस काव्य में तीन स्थलों पर उन्होंने स्पष्ट घोषित किया है कि लक्ष्मण के प्रति

उनका प्रेम सीता के प्रति प्रेम से भी अधिक था। मैं दो या तीन बड़े प्रभावशाली अंश प्रस्तुत करूँगा, जहाँ उन्होंने स्वयं ही यह तुलना की है। ये अंश अतीव सुंदर और कारुणिक हैं। युद्ध कांड में जब राम और लक्ष्मण दोनों ही इन्द्रजित के नागबाणों द्वारा धराशायी हो गए थे, राम लक्ष्मण से कुछ पहले होश में आ गए। प्राण शून्यवत् लक्ष्मण को प्राण कई अतीव आकर्षक श्लोकों में वे अपनी मार्मिक शोक व्यक्त करते हैं। इनमें से तीन मैं प्रस्तुत करता हूँ।

किं नु में सीतया कार्यं जीवितेन वा।
शयानं योऽद्य पश्यामि भ्रातरं युधि निर्जितम्।। VI.49.5

"हाय! यदि सीता मिल भी जाये, तो उसे लेकर मैं क्या करूँगा? अथवा इस जीवन को ही रखकर क्या करना है, जबकि आज मैं अपने पराजित हुए भाई को युद्ध स्थल में पड़ा हुआ देख रहा हूँ?"

शक्या सीतासमा नारी प्राप्तुंलोके विचिन्वता।
न लक्ष्मणसमो भ्राता सचिवः सांपरायिकः।। VI.49.6

"कदाचित् पृथिवी पर खोज करने के उपरान्त सीतासदृश पत्नी मिल भी जाये। किन्तु, लक्ष्मण सदृश सहायक युद्ध कुशल भाई नहीं मिल सकता।"

परित्यक्ष्याम्यहं प्राणान् वानाराणां तु पश्यताम्।
यदि पञ्चत्वमापन्नः सुमत्रानन्दवर्धनः।। VI.49.7

"यदि सुमित्रा का आनन्द वर्धन करने वाले लक्ष्मण जीवित न रहे, तो मैं मित्र वानरों के समक्ष अपने प्राणों का परित्याग कर दूँगा।"

फिर दूसरी बार जब लक्ष्मण पर रावण के 'शक्ति' बाण का प्रहार हुआ, तो वे मृतवत् हो गए। फिर,

राघवो भ्रातरं दृष्ट्वा प्रियं प्राणं बहिश्चरम्।
दुःखेन महताविष्टो ध्यानशोकपरायणः।। VI.102.9

श्री राम बाहर विचरने वाले प्राणों के समान प्रिय भाई लक्ष्मण को इस अवस्था में देखकर दुःख से व्याकुल हो गए, चिन्ता और शोक में डूब गए। दुःखार्त राम आक्रोश करने लगे :

यथैव मां वनं यान्तमनुयातो महाद्युतिः।
अहमप्यनुयास्यामि तथैवेनं यमक्षयम्।। VI.49.17 (मुम्बई संस्करण)

"जिस प्रकार वन को प्रस्थान करते समय वन के कष्टों और आतंकों पर ध्यान न देते हुए महातेजस्वी लक्ष्मण मेरे पीछे–पीछे चले आये थे, उसी प्रकार मैं भी यमलोक में भी उनका अनुसरण करूँगा।"

देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः।

तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राताः सहोदरः।। VI.102.12,13

यह वस्तुतः पूर्व विचार की ही पुनरुक्ति है। "अनेक देशों में सुलभ है, प्रिय बान्धव भी सर्वत्र मिल सकते हैं, किन्तु इस धरती पर ऐसा कोई देश मुझे दिखाई नहीं देता, जहाँ लक्ष्मण जैसा सहोदर मिल सके।"

इहैव मरणं श्रेयो न तु बन्धुविगर्हणम्।
किं मया दुष्कृतं कर्म कृतमन्यत्र जन्मनि।। VI.101.18,19 (मुम्बई सं.)

"अतः मेरे लिये मर जाना अच्छा है। भाई बन्धुओं के बीच खरी खोटी सुनना अच्छा नहीं। मैंने पूर्वजन्म में कौन सा पाप किया था?"

श्री राम के सन्दर्भ में किसी पूर्वजन्म का संकेत केवल इसी स्थान पर मिलता है और कहीं नहीं मिलता अन्यत्र भी कही है, यह मुझे मालूम नहीं।* कवि के अनुसार राम विष्णु के अवतार थे। अतः उनके विषय में पूर्वजन्म की कल्पना अचिन्त्य है, उनका यह कहना कि उनका दुर्भाग्य किसी पूर्व जन्म के दुष्कर्म का फल है, हमारी समझ से बाहर है।

जब हनुमान द्वारा विशेष रूप से लाई गई औषधियों के प्रयोग से सुषेण वैद्य लक्ष्मण को होश में ले आए, श्री राम उनको गले लगाते हुए उनके प्रति यह उद्‌गार प्रकट करते हैं :

न हि मे जीवितेनार्थः सीतया वापि लक्ष्मण।
को हि मे विजयेनार्थस्तवयि पञ्चत्वमागते।। VI.102.40

"तुम्हारे बिना मुझे जीवन की रक्षा से, सीता से अथवा किसी विषय से कोई मतलब नहीं। जब तुम्हीं नहीं रहोगे, तब मैं इस जीवन को रख कर क्या करूँगा?"

एक अन्य स्थान में राम का लक्ष्मण के प्रति प्रेम तथा सीता के प्रति प्रेम में इस विषमता की सुस्पष्ट गवाही मिलती है। सुन्दर कांड में एक आसाधारण मनोरम वाक्य में सीता स्वयं लक्ष्मण के व्यक्तित्व का वर्णन करते हुए हनुमान से कहती हैं :

मत्तः प्रियतरो नित्यं भ्राता रामस्य लक्ष्मणः।। V.38.62

"श्री राम का छोटे भाई लक्ष्मण के प्रति सदा मुझसे भी अधिक प्रेम रहता है।"

हनुमान ने देखा था कि सीता के वियोग में राम ने कितनी घोर व्यथा सही थी। उन्होंने सोचा होगा कि जो व्यक्ति सीता से बिछुड़ कर भी जीवित रह सका, वह बड़ा कठोर–हृदय होगा। हनुमान से, जिनके मूल्यांकन में राम और सीता बहुत ऊँचे थे, सीता स्वयं कहती हैं, "क्या तुम्हें पता नहीं, लक्ष्मण मेरे पति को मुझसे भी कहीं अधिक प्रिय हैं?" नारी अपने सहज बोध से ऐसी जान सकती है। वह प्रेम को सबसे

* देखें : *पूर्वं मया नूनमभीप्सितानि पापानि कर्माण्यसकृत्कृतानि।*
तत्रायमद्यापतितो विपाको दुःखेन दुःखं यदहं विशामि।। III.63.4

विश्वसनीय तुला पर तोल सकती है, जो कि उसकी सहज प्रज्ञा है। मैं बताना चाहूँगा कि इस उक्ति में लेशमात्र भी ईर्ष्या का अंश न रहा होगा। राम के प्रति उनके अनुराग के कारण लक्ष्मण के स्नेह में सीता स्वयं का उच्च स्थान था। जब सीता ने अपने और लक्ष्मण के प्रति राम के अनुराग का उल्लेख किया, तो हमें मानना पड़ेगा कि इसमें शंका का लेशमात्र भी स्थान नहीं है।

यहाँ यह ध्यान में रखना होगा कि राम एक अद्वितीय पात्र थे। अतएव, कवि के अनुसार, यह याद रखना होगा कि इन मानवीय और वैयक्तिक गुणों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण था, उनके हृदय में, इससे भी कहीं अधिक बड़ा अनुराग। वह क्या था? न्यायौचित्य के प्रति अनुराग, सम्मान के प्रति अनुराग, धर्म के प्रति अनुराग। यह उनकी प्रकृति में एक प्रेरक मूलभूत तत्त्व था, जैसा कि हम देखते हैं कि अनेकों बार परीक्षा की कसौटी पर विजयी होकर वे सत्य के शाश्वत दावेदार बने। देखिए, वे क्या कहते हैं जब कैकेयी ने उनकी प्रतिक्रिया के प्रति बड़ी आशंका से उन्हें 'युवराज' पद का अभिषेक छोड़ने के लिये कहा। श्री राम का उत्तर था, "केवल इतनी सी ही बात थी, तो मुझसे पहले ही क्यों न कह दी गई? क्या आप मेरे स्वभाव से परिचित नहीं?"

अहं हि सीतां राज्यं च प्राणानिष्टान् धनानि च।
हृष्टो भ्रात्रे स्वयं दद्यां भरतायाप्रचोदितः।। II.19.7

"मैं केवल आपके कहने से भी अपने भाई भरत के लिए इस राज्य को, (यह कहते मुझे शर्म आ रही है) सीता को, प्यारे प्राणों को तथा सारी सम्पत्ति को भी प्रसन्नतापूर्वक स्वयं ही दे सकता हूँ। मुझे शीघ्र ही समय पर क्यों नहीं बताया गया?"

अब देखिए वह प्रसिद्ध प्रसंग, जहाँ सीता उनके एक विश्वसनीय सलाहकार की भूमिका अदा करती है। आपको याद होगा वह प्रसंग, जब राम राक्षसों को दंड देने का वचन ऋषि मुनियों को देते हैं। "आप राक्षसों के विरुद्ध युद्ध की हामी क्यों भर रहे हैं?" सीता पूछती हैं :

विना वैरम च रौद्रता। III.9.4

"बिना वैर के ही किसी के विरुद्ध युद्ध नहीं छेड़ना चाहिए।"

लघुचेता ऐसा परामर्श देने का साहस करने के लिये चाहे सीता की निन्दा भी करें, परन्तु देखा जाये तो उन्होंने अपने कर्त्तव्य का पालन ही किया। इस प्रकार का काम साधारणतः हम अपनी पत्नियों को करने नहीं देते, जहाँ खेद की बात है कि प्रायः वे इस योग्य नहीं होतीं। जीवन का कोई क्षेत्र नहीं, जहाँ पत्नी को परामर्श का अधिकार नहीं। हमें भी श्री राम के उदाहरण से कुछ सीखना चाहिए। राम कहते हैं, "इन सब बातों में तुम्हें परामर्श देने का अधिकार है, इस आत्मविश्वास के लिए मैं तुम्हारा आदर करता हूँ," और ध्यान देने योग्य शब्दों में वे आगे कहते हैं :

अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्।
न तु प्रतिज्ञां सश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः।। III.10.19

"मैं अपने प्राण छोड़ सकता हूँ, तुम्हारा और लक्ष्मण का भी परित्याग कर सकता हूँ। किन्तु अपनी प्रतिज्ञा को, विशेषतः ब्राह्मणों के लिए की गयी प्रतिज्ञा को, मैं कदापि नहीं तोड़ सकता।"

जो प्रतिज्ञा की जा चुकी है, उसे तोड़ना नहीं चाहिए, चाहे कितने भी कष्ट और परीक्षायें आयें। वह सर्वोपरि है। यहाँ श्री राम का चरित्र समस्त मानवता के लिये प्रकाश स्तम्भ की भाँति है। ऐसा उल्लेख केवल पहली बार ही नहीं हुआ। परन्तु, यह स्मरण योग्य है कि हममें से बहुत से लोग तभी तक अपना वचन याद रखते हैं, जब तक कि वह हमारे हित में हो और स्वार्थ सिद्धि में सहायक हो। किन्तु ऐसा कोई विरला ही होगा, जो सब कुछ लुटाकर भी अपने प्रण को रख सके।

लक्ष्मण को ही देखो! राम से कितनी विषमता है। जबकि राम कहते हैं, "धर्म सर्वोपरि है," लक्ष्मण ने जब अपना सिद्धान्त घोषित किया, वे कहते हैं, "मेरे लिए तो सब कुछ राम के अन्तर्गत है। मेरे तो वे ही सर्वस्व हैं, मैं न कुछ उनके पीछे, न ही कुछ परे देखता हूँ। मेरे जीवन का लक्ष्य उनकी स्वीकृति है, मेरा उद्देश्य है उनकी प्रसन्नता।" राम धर्म आदि की चर्चा करते हैं। लक्ष्मण को यह रास नहीं आता। "आपका हित, आपकी समृद्धि, बस यही केवल मैं देखना चाहता हूँ। यदि आप राज्य का परित्याग करते हैं, तो मेरी समझ से आप कोई अच्छी बात नहीं कर रहे हैं, न ही कोई उचित कार्य। आपसे बढ़कर क्या कुछ अन्य है? आपका हित ही मेरे लिये सब कुछ है। उसके ऊपर मेरे लिये कुछ अन्य नहीं," ऐसा लक्ष्मण कहते हैं।

जब सुमन्त्र लौटकर राजा दशरथ को यह वृत्तान्त सुनाते हैं कि किस प्रकार वे तीनों को वन में छोड़ आए और सम्पूर्ण परिवार एकत्रित होता है, सुमन्त्र से यह प्रश्न पूछा जाता है, "राम, लक्ष्मण और सीता ने क्या कहा?" वे सब उनका सन्देश सुनने के लिये उत्सुक थे। राम ने कहा, "मेरी माँ सदा अपने धर्म का पालन करे, मेरे पिता के प्रति सम्मान पूर्वक आचरण करे, कैकेयी के प्रति सौहार्दपूर्ण भावना बरते, राजा अर्थात् भरत के प्रति कर्त्तव्य बिसारे।" परन्तु लक्ष्मण ने क्या कहा था? जबकि राम का सन्देश शिष्ट शब्दों में था, लक्ष्मण ने उनका अनुसरण नहीं किया। वे अपने वृद्ध पिता से कहते हैं :

असमीक्ष्य समारब्धं विरुद्ध बुद्धिलाघवात्।
जनयिष्यति संक्रोधं राघवस्य विवासनम्।। II.58.30

"आपका राम को निष्कासित करना पूर्णतया त्रुटिपूर्ण, मूलभूत रूप से त्रुटिपूर्ण तथा निन्दनीय है। मैं इसकी भर्त्सना करता हूँ।"

अहं तावन्महाराजे पितृत्वं नोपलक्षये।
भ्राता भर्ता च बन्धुश्च पिता च मम राघवः।। II.58.31

यह है, उनके सम्पूर्ण जीवन का परम अर्थ। वे अपने पिता को पूरी तरह से नकारते हैं, "मुझे दशरथ में पिता का भाव नहीं दिखायी देता। अब तो श्री राम ही मेरे लिए भाई, रक्षक, बन्धुबान्धव तथा पिता हैं," और आगे कहते हैं, "अब मेरे हृदय में वह स्थान राम ने ले लिया है, जो दशरथ के लिए होता, यदि उनका आचरण समुचित होता।"

एक झलक मात्र से ही आप देख सकते हैं कि राम के प्रति अतिश्य श्रद्धाभाव ही लक्ष्मण का जीवन था, जबकि राम का उच्चतम प्रेम था, एक अमूर्त औचित्य। राम और लक्ष्मण में कितना भारी अन्तर था।

जैसा कि आपको विदित है, लक्ष्मण को कैंकर्य तत्त्व का मूर्तरूप माना गया है। यही उनकी विशेषता है। उनकी लक्ष्मी *'कैंकर्य लक्ष्मी'* थी अर्थात् *'कैंकर्य'* या सेवा उनका लक्षण था। उनके चरित्र में क्या मुख्य विशेषता है? उनमें एक कुक्कुर के गुण हैं, दास लक्ष्मण का सद्गुण हैं। रक्षक की भाँति, यदि कोई अजनबी आ जाये, अथवा कोई मित्र भी हो, जो बाहर से शत्रु सा दीखता हो, तो चौकस रक्षक की भाँति वह भौंकता है। वह सबको सन्देह दृष्टि से देखता है, परन्तु एक निष्ठावान दास की भाँति। यह है, कैंकर्यवृत्ति– अपने चरम भाव में, पूर्ण समर्पण। उनकी ये विशेषतायें आद्योपान्त देखने को मिलती हैं। कुछ नहीं, दो बार जब पंचवटी में सीता ने, राम की आदेश के विपरीत, उन्हें छोड़कर लक्ष्मण को राम की सहायता के लिये जाने का अनुरोध किया और यदि वे ऐसा नहीं करते, अपना जीवन त्याग देने की धमकी दी और पुनः जब अयोध्या में राम के आदेश के विपरीत, दुर्वासा ने उनके पास ले जाये जाने की हठ की, और ऐसा न होने पर सेना और सब अयोध्यावासियों सहित दुर्निवार अभिशाप की धमकी दी। जब भरत, सेना तथा अयोध्यावासियों सहित चित्रकूट आते हैं, तो लक्ष्मण को भरत की ओर से षड्यंत्र की आशंका होती है और राम को मृदुभाव से उन्हें फटकार भी लगानी पड़ती है। लक्ष्मण कार्य कुशलता राम और सीता द्वारा अनुप्रमाणित की गई है। अल्पभाषिता ऐसे चरित की विशेषता है। वे युद्ध परिषद में विभीषण के विषय में स्वयं न बोलकर सुग्रीव को बोलने देते हैं। उन्हें पश्चाताप भी शीघ्र होता है, बाहर से वे क्रुद्ध और उग्र हो सकते थे, उन्हें पश्चाताप भी शीघ्र होता है अपनी भूल स्वीकार करने में उदारचेता ही नहीं, बल्कि विशाल–हृदय हैं। वे स्त्रियों से दूर ही रहते हैं, परन्तु उनमें नारी नारी जाति के प्रति गहरा आदर और सम्मान का भाव है। सरल प्रकृति होने पर भी मानना पड़ेगा कि लक्ष्मण में अनेक प्रीतिकर गुण विद्यमान थे, जिनका स्रोत था, राम के प्रति उनका अनन्य अनुराग।

उनकी माता सुमित्रा ने कहा था, जब लक्ष्मण ने राम और सीता के साथ वन के लिये प्रस्थान किया था?

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्।। II.40.9

"राम तुम्हारे पिता हैं, सीता तुम्हारी माँ हैं, वन अयोध्या हैं, जहाँ तुम्हारा जन्म हुआ, जाओ प्रसन्न रहो।"

यह केवल एक इच्छा मात्र ही नहीं, प्रत्युत एक अभिलाषा भरी आशापूर्ण उक्ति है, "जाओ, इस प्रकार तुम्हें सुख–शान्ति प्राप्त होगी।" यहाँ और आगे भी, शोक के समय, जब सुमित्रा कौशल्या को सान्त्वना देती है, समझदारी और आदर्शों में बड़ी रानी की तुलना में वरिष्ठता प्रदर्शित करती है।

वस्तुतः सुमित्रा का लक्ष्मण के प्रति राम को पिता के समान और सीता को माता के समान मानने का आदेश अनावश्यक था। देखिए, लक्ष्मण के आचरण के संबन्ध में सीता का साक्ष्य :

पितृवद्वर्तते रामे मातृवन्मां समावरत्।।
प्रियमाणां तदा वीरो न तु मां वेद लक्ष्मणः। V.38.60-61

सीता ने हनुमान को बताया, "अब तक राम उनके लिये पिता के समान और मैं माँ के समान रही हूँ।"

हम इस कथन को उस घटना के प्रति सीता की क्षमायाचना के रूप में देख सकते हैं, जब उन्होंने मरणासन्न मारीच के नक़ली आक्रोश को सुनकर आत्मसंयम खो दिया था और लक्ष्मण के प्रति कठोर वचनों का प्रयोग किया हैं। जब हम आजकल के परिप्रेक्ष्य में प्रचलित साधारण घिसी–पिटी कृतज्ञता या क्षमायाचना की अभिव्यक्ति देखते हैं, तो हम पाते हैं कि लक्ष्मण के प्रति अपने व्यवहार के लिये इन शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया सीता का खेद प्रदर्शन अत्यन्त सच्चा और निष्कपट था, कदाचित् ही इससे अच्छा कोई और ढंग हो सके।

दूसरा साक्ष्य हमें राम से मिलता है, जब लक्ष्मण ने एक सुन्दर पर्णकुटीर का पंचवटी में निर्माण किया। उस पर राम ने कृतज्ञता और प्रेम भरे उद्‌गार प्रकट किये। आनन्द भरी उमंग में वे लक्ष्मण का आलिंगन करते हैं और कहते हैं :

सुसंहृष्टः परिष्वज्य बाहुभ्यां लक्ष्मणं तदा।
अतिस्निग्धं च गाढं च वचनं चेदमब्रवीत्।।
प्रीतोऽस्मि ते महत्कर्म त्वया कृतमिदं प्रभो।
प्रदेयो यन्निमित्तं ते परिष्वङ्गो मया कृतः।।
भावज्ञेन कृतज्ञेन धर्मज्ञेन च लक्ष्मण।
त्वया पुत्रेण धर्मात्मा न संवृतः पिता मम।। III.5.27-29

यहाँ हमें पितृ भाव के विपर्यय का एक विचित्र उदाहरण देखने को मिलता है। राम कहते हैं, "जब पिता दशरथ स्वर्ग सिधारे, तो उन्होंने मुझे ऐसा नहीं छोड़ा, जिसका सभी कुछ खो गया हो (यह तो काव्यात्मक कल्पना है)। मैं तुम्हारे में वह सब कुछ पाता हूँ, जो पिता जी में पा सकता था, यदि वे आज जीवित होते (यह छोटे भाई

के प्रति विचित्र कथन है)। मेरे लिए वे मरे नहीं, जीवित हैं क्योंकि उनका प्रतिरूप यहाँ है।"

तात्पर्य यह है कि जैसे पिता जी द्वारा हमारे बचपन में बड़े–बड़े काम सम्पन्न हुए थे, उसी प्रकार लक्ष्मण ने भी बड़े–बड़े काम करके पिता जी की भूमिका निभाई। लक्षमण द्वारा राम के लिए वन में पिता का स्थान ग्रहण करना, यह तो केवल कवि वाल्मीकि की कल्पना ही है, जिसका जोड़ अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

इसी प्रकार की भावनाओं की पुष्टि हमें उन वाक्यों में मिलती है, जिनके द्वारा सीता ने अशोक–वाटिका में हनुमान से लक्ष्मण के चरित्र का सुन्दर वर्णन किया :

यं दृष्ट्वा राघवो नैव वृत्तमार्यमनुस्मरेत्।। V.38.63

"यदि लक्ष्मण मेरे पति के पास होते हैं, तो वे अपने मृत पिता को भी भूल जाते हैं क्योंकि लक्ष्मण (श्री राम के पालन में दत्तचित्त रहने से) उनके लिए पिता का स्थान ले लेते हैं।"

पंचवटी आश्रम दृश्य के अतिरिक्त लक्ष्मण के प्रति राम के स्नेह प्रदर्शन का एक अन्य उल्लेखनीय उदाहरण है। इन्द्रजित संहार के बाद राम लक्ष्मण के कार्यों की प्रशंसा करते हुए उनका आलिंगन करते हैं और दुलारते हैं। इन्द्रजीत युद्ध सम्पूर्ण युद्ध की दूसरी प्रमुख लड़ाई थी। 'रामायण' की प्रबन्ध योजनानुसार विष्णु ने अपने आपको चारों पुत्रों में विभक्त किया था। यह दर्शाया गया है कि प्रत्येक भाई को अकेले एक महान राक्षस का नाश करना था। विश्व के अत्याचारियों में से सबसे अधिक बलवान इन्द्रजित था। जैसा कि उत्तर कांड के पहले सर्ग में वर्णित है, अगस्त्य और अन्य बड़े ऋषि उनके विनाश को रावण के वध से भी अधिक महत्वपूर्ण मानते थे। क्योंकि वह अपनी मायावी शक्ति द्वारा अदृश्य और संग्राम में अजय प्रायः हो जाता था। लक्ष्मण के द्वारा वध से वे भी विस्मित हो गए। इस घटना से विश्व भर में हर्षोल्लास की लहर भी दौड़ गई। इतने आनन्द का प्रदर्शन रावण के वध पर भी नहीं हुआ। राम और विभीषण ने लक्ष्मण को इन्द्रजित को अभिभूत करने में उनकी भुजा पर गहरा विश्वास प्रकट किया।

इससे पूर्व कि मैं लक्ष्मण की विजय पर राम के आनन्द का विवरण करूँ, मैं संक्षेप में बताना चाहूँगा कि किस प्रकार इन्द्रजित का अन्त हुआ। इस चूर कर देने वाले संघर्ष पर, जो तीन दिन तक अनवरत चलता रहा, मैं अधिक न ठहरूँगा। वे बड़े ज़ोर–शोर से एक–दूसरे पर मुक्कों का प्रहार करते रहे। यह कहना कठिन है, किसके प्रहार अधिक सशक्त थे। जब संग्राम चलते–चलते काफ़ी समय हो गया, लक्ष्मण को राम के आदेश का ध्यान आया, *'जहि'*, 'मार डालो'। राम के नाम, यश–कीर्त्ति और शौर्य–पराक्रम का स्मरण करते हुए उन्होंने प्रक्षेपणास्त्र को अपना विनाशक कार्य करने के लिए आह्वान किया, जो इस प्रसिद्ध श्लोक में उद्‌धृत है :

धर्मात्मा सत्यसन्धश्च रामो दाशरथिर्यदि।
पौरुषे चाप्रतिद्वन्द्वः शरैनं जहि रावणिम्।। VI.91.73

मैंने एक बार इस प्रख्यात *'अभिमंत्रण'* श्लोक की व्याख्या बंगलौर में एक विद्वान एवं लोकप्रिय *'रामायण'* कथावाचक से सुनी थी। मैं उसी का यहाँ उल्लेख करूँगा, कदाचित् आपमें से कुछ को यह मालूम ही हो लक्ष्मण ने सर्वप्रथम राम का एक *'धर्मात्मा'* के रूप में आह्वान किया, परन्तु शर (बाण) नहीं चला क्योंकि ताड़का वध के सन्दर्भ में उनके आचरण की धर्मपरायणता के विषय में कुछ शंका हो सकती थी। तत्पश्चात् उन्होंने राम को *'सत्यसन्ध'* के नाम से पुकारा। शर फिर भी न चला क्योंकि उन्होंने बालि को प्रत्यक्ष युद्ध में आमने–सामने होकर मारने का वचन नहीं निभाया। लक्षमण ने तब राम को *'दाशरथी'* कह कर बुलाया, फिर भी बाण ज़रा सा भी न हिला क्योंकि उनका जन्म एक दिव्य *'पायस'* से हुआ था। अन्ततः उन्होंने कहा, *"पौरुषे चाप्रतिद्वन्द्वः"* और जैसे ही उनके ये वचन निकले, वैसे ही बाण उड़ा और उससे इन्द्रजित के सिर को उड़ा दिया, क्योंकि यह निर्विवाद सत्य था कि शक्ति और शौर्य में राम के तुल्य दूसरा कोई न था। सुनने में तो यह व्याख्या बड़ी चातुर्यपूर्ण लगती है, किन्तु पुनर्विचार करने पर इस पर विश्वास नहीं होता।

जब इन्द्रजित धराशायी हो गया, लक्ष्मण, जिनका शरीर रक्तसिक्त था, हनुमान और विभीषण की सहायता से राम के सम्मुख पहुँचे। राम का अभिवादन करके सम्मानपूर्वक उनके निकट खड़े होकर रुकती–रुकती आवाज़ में उन्होंने बताया कि भयंकर इन्द्रजित का अन्त हो गया। उनके द्वारा किये गए असाधारण कार्य के लिये उनकी सराहना की। यहाँ कवि राम को लक्ष्मण के प्रति प्रेम प्रदर्शन की गम्भीरता एवं गहनता का वर्णन करता है।

स तं शिरस्युपाघ्राय लक्ष्मणं कीर्तिवर्धनम्।
लज्जमानं बलात्स्नेहादङ्कमारोप्य वीरवान्।।
उपवेश्य तमुत्सङ्गे परिष्वज्यावपीडितम्।
भ्रातरं लक्ष्मणं स्निग्धं पुनः पुनरुदैक्षत।।
शल्यसंपीडितं शस्तं निःश्वसन्तं तु लक्ष्मणम्।
रामस्तु दुःखसंतप्तस्तदा निःश्वसितो भृशम्।।
मूर्ध्नि चैनमुपाघ्राय भूयः संस्पृश्य च त्वरन्।
उवाच लक्ष्मणं वाक्यमाश्वास्य पुरुषर्षभः।।
अद्याहं विजयी शत्रौ हते तस्मिन् दुरात्मनि।
रावणस्य नृशंसस्य दिष्ट्या वीर त्वया रणे।।
छिन्नो हि दक्षिणो बाहुः स हि तस्य व्यापाश्रयः। VI.92.9-12,14,15

लक्ष्मण उस समय अपनी प्रशंसा सुनकर लज्जा अनुभव कर रहे थे, किन्तु श्री राम ने उन्हें खींचकर गोद में ले लिया और बड़े प्यार से उनका मस्तक सूँघा। शस्त्रों के आघात से पीड़ित हुए स्नेही भाई को हृदय से लगाकर बड़े प्यार से उनकी ओर देखने लगे। उन्होंने लक्ष्मण का मुख बार–बार इधर–उधर घुमाया, बार–बार उन्हें देखने पर भी नहीं अघाते थे। लक्ष्मण अपने शरीर के कारण अत्यन्त पीड़ित थे, वे लम्बी–लम्बी साँस ले रहे थे। यह देखकर राम बड़े दुःखी हुए। उन्होंने स्वयं भी एक दीर्घ साँस ली। श्री राम ने पुनः उनका ललाट सूँघा और पीड़ा दूर करने के लिए उनके शरीर पर हाथ फेरने लगे और इस प्रकार प्रशामक वचन बोले, "आज इस दुरात्मा शत्रु का वध होने से मैं विजयी हो गया। अब आधे से अधिक कार्य तो सम्पन्न हो गया। इन्द्रजित का वध करके तुमने निशाचर रावण की दाहिनी भुजा ही काट डाली। वही उसका सबसे बड़ा सहारा था। अब तो वह कहीं भी नहीं रहा।" देवियों तथा सज्जनों! स्नेह इसे कहते हैं– केवल अब तक इसका बाह्य प्रदर्शन नहीं हुआ था।

मैंने स्त्रियों के सामने लक्ष्मण के लज्जाशील स्वभाव की ओर संकेत किया था। निश्चय ही वे उनके सामने झेंपते थे। सुग्रीव को इस बात का पता था। लक्ष्मण एक बार बड़े क्रोध में भरे उसके महल पर पहुँचे। सुग्रीव की कल्पित चूक के कारण राम की अप्रसन्नता भरी धमकी दी, तब सुग्रीव ने तारा को उन्हें पहले शान्त करने को कहा :

अथवा स्वयमेवैनं द्रष्टुमर्हसि भामिनि।
वचनैः सान्त्वयुक्तैश्च प्रसादयितुमर्हसि।।
त्वद्दर्शनविशुद्धात्मा न से कोपं करिष्यति।
न हि स्त्रीषु महात्मानः क्वचित्कुर्वन्ति दारुणम्।।
त्वया सान्त्वैरुपक्रान्तं प्रसन्नेन्द्रियमानसम्।
ततः कमलपत्राक्षं द्रक्ष्याम्यहमरिंदमम्।। IV.33.35-37

"जब तुम अपने मीठे ढंग से बोलोगी, वे क्रोधित नहीं रह पायेंगे क्योंकि महान व्यक्तिगण किसी स्त्री से क्रूरता से पेश नहीं आते। जब तक तुम उन्हें अपने शहदभरे शब्दों से नहीं जीत लेतीं, तब तक मैं उन्हें नहीं मिलूँगा।"

ऋष्यमूक पर्वत पर से जाती हुई, सीता द्वारा गिराये हुए उत्तरीय वस्त्र और आभूषण सुग्रीव ने जब राम को दिखाए, राम शोकातुर होकर बोले, "देखो लक्ष्मण, देखो अच्छी प्रकार से इन वस्त्रों और आभूषणों को। यह कोमल हरी घास पर गिरे होंगे क्योंकि ये सर्वथा वैसे ही लग रहे हैं, जैसे कि सीता के शरीर पर लगते थे।" लक्ष्मण उनके वचनों का अनुमोदन किस प्रकार करते हैं, यह सबको विदित है।

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्।। IV.6.22

"मैं तो कवल कुछेक ही पहचानता हूँ, क्योंकि मैंने अपनी दृष्टि उठाकर कभी भी उनका चेहरा नहीं देखा। मैं उनके बाजूबन्द और कर्णफूलों को नहीं पहचानता, क्योंकि मैंने सदैव उनके चरणों को प्रणाम करते समय झुक कर ही देखा हैं। अतः मैं तो केवल नूपुर को ही पहचानता हूँ।"

उत्तर कांड के उस दृश्य में जब राम सीता को परित्याग करने के लिये लक्ष्मण को कवि के आश्रम के समीप छोड़ने की आज्ञा देते हैं, सीता को पहली बार लक्ष्मण के वचनों द्वारा शंकालु जनता को प्रसन्न करने के लिये राम के उनके विरुद्ध दिये गये उस कठोर आदेश की भनक पड़ती है। सीता लक्ष्मण से याचना करती हैं कि वे उन्हें अच्छी प्रकार से देख लें और उनके गर्भवती होने का साक्षी बनें।

निरीक्ष्य माद्य गच्छ त्वमृतकालातिवर्तिनीम्। VII.48.19

"भविष्य में यदि मेरे चरित्र पर आक्षेप लगाया गया, तो तुम्हें साक्षी होना पड़ेगा। आज तुम भी मुझे देख जाओ। मैं इस समय ऋतुकाल का उल्लंघन करके गर्भवती हो चुकी हूँ। मेरी ओर देखो, मेरे भीतर राम के प्रणय के प्रमाण और आशा हैं।"

मार्मिक वेदना परा असीम वेदना का प्रहार हुआ। लक्ष्मण यह अनुरोध सुनकर अवाक् हो जाते हैं। यह हृदयपर्शी सुन्दर उत्तर देते हैं :

दृष्टपूर्वं न ते रूपं पादौ दृष्टौ तवानघे।।
कथमत्र हि पश्यामि रामेण रहितां वने।
इत्युक्त्वा तां नमस्कृत्य पुनर्नाविमुपारुहम्।। VII.48.21,22

"निष्पाप पतिव्रते! मैंने पहले भी आपका सम्पूर्ण रूप कभी नहीं देखा, केवल आपके चरणों के दर्शन किए हैं। फिर आज श्री राम रहित इस वन में मैं आपकी ओर कैसे देख सकता हूँ, जिन्होंने आप पर सन्देह किया और आगे भी कर सकते हैं?"

मैं इस दर्द भरे प्रसंग को समाप्त करता हूँ। इस लोक में कष्ट और दुःखों का सामना करना महान एवं पुण्यात्माओं का विशेष सौभाग्य है। वे इन दुःख भोगोंका वर्णन स्वयं कभी नहीं करते। उनकी तुलना में हम जैसे क्षुद्र मनुष्यों के कष्ट कुछ भी नहीं। फिर भी हम दुर्भाग्य की ज़रा सी चोट पर दैव को बुरा भला कहने लगते हैं और आक्रोश करने लगते हैं।

◈◈◈

चौथा अध्याय

लक्ष्मण

पिछल व्याख्यान में मैंने आपको बताया था कि सुन्दर कांड के 38वें सर्ग के कुछ श्लोकों में सीता ने लक्ष्मण के चरित्र का सटीक वर्णन किया है। सम्भवतः आपमें से कुछ ने तो इन्हें खोज लिया होगा। यदि नहीं, तो मैं कहता हूँ कि अभी देर नहीं हुई है। आज मैं उसी अंश के अर्धश्लोक से वार्ता का आरम्भ करता हूँ।

वृद्धोपसेवी लक्ष्मीवान् शक्तो न बहु भाषिता।। V. 38.61

जो वृद्ध गुरुजनों की सेवा में संलग्न रहने वाले हैं, जो श्री लक्ष्मी या कुछ व्याख्याकारों के अनुसार कैंकर्य वृत्ति से परिपूर्ण, शक्तिशाली तथा अभिलाषी हैं, जो अल्पभाषी है– *'न बहुभाषिता।'* यह वह शब्द खंड है, जिसकी ओर मैं आपका ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा। वाणी में सन्तुलन एक समर्पित सेवक के गुणों में से एक है। एक सेवक को परिवार की स्त्रियों के अथवा बच्चों के समान होना चाहिए– जो दिखाई तो दें, परन्तु सुनाई नहीं दे। इस नियम का पालन उन व्यक्तियों द्वारा अवश्य किया जाना चाहिए, जिनको दूसरों की सेवा में हाज़िर रहना पड़ता है। लक्ष्मण में यह गुण प्रचुरता में विद्यमान था। कवि ने *'शक्तः'* विशेषण का भी प्रयोग किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह अंग्रेज़ी की सामान्य उक्ति 'strong but silent man' (अर्थात् ओजस्वी, किन्तु मौन) का मूल प्रस्तुत करता है। आजकल तो शक्तिमान लोग प्रायः बड़े वाचाल भी होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सीता के मन में भी यही भावना थी कि देवर लक्ष्मण उनके प्रति पूर्ण रूप से समर्पित थे। कैसे वे बड़े शान्तभाव से छोटी–छोटी बातों का भी ध्यान रखते हुए, उनकी तथा उनके पति श्री राम की इच्छाओं की परिपूर्ति करते और साथ ही साथ एक अंगरक्षक के सभी कर्त्तव्यों का पालन करने में कुशल भी थे। और यह विवरण काफ़ी हद तक उपयुक्त है, किन्तु अक्षरशः नहीं लिया जाना चाहिए क्योंकि समय पड़ने पर वे बड़ी ओजस्विनी वाणी में लगातार बोल सकते थे। उनका स्वभाव था, जब अवसर नहीं होता, वे मौन रहते। किन्तु कभी–कभी परिस्थितिवश वे अपने भावों पर नियंत्रण नहीं रख पाते थे। तब उनकी बेचैनी, व्यग्रता, अथवा उनका क्रोध आत्मसंयम भुलवाकर उनको अभिभूत कर लेता था। ऐसे अवसरों पर कवि उनसे ऐसी बाते कहलवाता है, जिसकी अपेक्षा केवल प्रायः मौन रहने वाले व्यक्ति से ही की

जा सकती है। जो प्रायः चुपचाप रहते हैं, जब विफरते हैं, तो बुरी तरह फूट पड़ते हैं। लक्ष्मण अपने भाई तथा भाभी के प्रति अत्यधिक संवेदनशील थे, विशेषकर उनके हित, योगक्षेम के प्रति अत्यधिक संवेदनशील थे, विशेषकर उनके हित, योगक्षेम के प्रति अधिक सतर्क थे। लक्ष्मण को जब ऐसा लगता कि उन पर कोई संकट आने वाला है, तो उनकी रक्षात्मक कर्मण्यता की कोई सीमा नहीं रहती। अयोध्या कांड में जब राम के वनवास के प्रश्न पर सोच विचार हो रहा था, यह विषय जब तक राजा दशरथ और उनकी प्रिय रानी कैकेयी के बीच विवादास्पद बना रहा, तब तक लक्ष्मण एक शब्द भी न बोले। किन्तु जब सब कुछ निश्चित हो गया, वे क्रोध से जलते हुए रुके रहे। जब तक कि राम और उनकी माता का कौशल्या के बीच वार्तालाप शुरू नहीं हुआ। पर फिर उस अभागिन माँ की दयनीय दशा ने लक्ष्मण को अभिभूत कर लिया और वे मौन न रह सके, वे फूट पड़े। यहाँ हमें एक वार्तालाप मिलता है, जिसमें लक्ष्मण आक्रामक रूप धारण कर कठोर शब्दों का प्रयोग करते हैं। राम उन्हें समझा कर शान्त करते हैं और उनसे चुप होने का अनुरोध करते हैं। वे कहते हैं, "विवेक से काम लो, समझने की कोशिश करो, मैं तो केवल पिता की आज्ञा का पालन कर रहा हूँ। क्या माता–पिता की आज्ञा का पालन करना पाप है? दूसरी ओर, यह तो एक बड़े पुण्य का कार्य है। इस प्रकार आज्ञा का पालन करना मेरे लिए करना मेरे लिए औपचारिकता भर नहीं, प्रत्युत मेरा लक्ष्य पिता जी को अपयश तथा दंड से बचाना है, जो परलोक में वचनभंग दोष के लिए भुगतनी पड़ता है। वचनपूर्ति में किसी प्रकार की चूक, एक सम्राट के लिए इससे बढ़कर लज्जास्पद क्या हो सकता है। हमारे पिता जी को कुछ समय के लिये नर्कवास करना पड़ेगा, यदि मैं उन्हें अपना दिया वचन तोड़ने दूँ। ऐसा मैं नहीं होने दूँगा। निश्चित ही मैं उन्हें परलोक में भी निरापद और सुरक्षित देखना चाहता हूँ। इस बात को अच्छी तरह समझ लो, यह मेरा ध्येय है।" तत्पश्चात् वे धर्म की नैतिकता आरम्भ कर देते हैं। अब लक्ष्मण को अवसर मिल जाता है, वे भी धर्म के प्रति निन्दात्मक उद्‌गार उँडेलने लगते हैं। कहते हैं, "मैं यह सब नहीं समझता। यह दुर्बलता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह आपको संकट में फँसा देगा और तब हम पाते हैं राम के भाई होकर भी लक्ष्मण द्वारा ऐसे सिद्धांतों का प्रतिपादन हमें चकित करता है। लक्ष्मण कहते हैं, "मैं शक्तिमान हूँ। मुझसे यह नहीं देखा जाता कि आपको उस वस्तु से वञ्चित किया जाये, जो वास्तव में केवल आपकी ही है। यदि भरत आपके मार्ग में बाधा डालते हैं, तो वे और उनके पक्षधर देखेंगे कि परिणाम क्या होता है।"

भरतस्याथ पक्ष्यो वा यो वास्य हितमिच्छति।
सर्वानेतान् वधिष्यामि मृदुर्हि परिभूयते।। II.21.11

"आप जैसे नम्र और मृदुभाषी का तो बारंबार तिरस्कार होता रहेगा। मैं भरत का और जो भी भरत का पक्ष लेगा, उन सबका वध कर डालूँगा।"

प्रोत्साहितोऽयं कैकेय्या स दुष्टो यदि नः पिता।
अमित्रभूतो निःसङ्गं वध्यतां बध्यतामपि।। II.21.12

यहाँ लक्ष्मण सचमुच संकेत देते हैं कि दशरथ और कैकेयी मिलकर कोई षड्यन्त्र रच रहे हैं। वे कहते हैं, "इन दोनों के बीच कोई साँठ–गाँठ हो चुकी है। वह वृद्ध पुरुष ऊपर से यह दिखाएगा कि वह राम के निर्वासन के लिये अनिच्छुक है, परन्तु वह युवती अपना दबाव उन पर बनाये रखेगी। परन्तु हम इस छद्म–संकल्प को निष्फल कर देंगे। यदि पिता जी हमारे शत्रु बन रहे हैं, तो हमें भी मोह–ममता त्याग कर इन्हें बंदी बना लेना चाहिए। और यदि अनिवार्य हुआ, तो उन्हें मारने से भी संकोच नहीं करेंगे।" कवि लक्ष्मण से यह प्रसिद्ध श्लोक कहलवाता है :

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथं प्रतिपन्नस्य कार्यं भवति शासनम्।। II. 21.13

कुछ लोग इस श्लोक का अन्तिम चतुर्थांश इस प्रकार पढ़ते हैं, "*आर्यं भवति शासनम्।*" कोई भी अर्थ इनमें से लें तात्पर्य यह है : चाहे तुम्हारे पिता ही क्यों न हों, चाहे तुम्हारे गुरु ही क्यों नह हों, यदि वे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान खो बैठे हैं और यदि वे एक ग़लत मार्ग का अनुसरण करते हैं, तो आवश्यक हो जाता है कि उनको स्वतन्त्रता के अधिकार से वञ्चित कर देना चाहिए। उनके लिये दंड के अतिरिक्त और उपाय नहीं है। यह प्रख्यात श्लोक 'महाभारत' में प्रयुक्त हुआ है (उद्योगपर्व, 178.48), जहाँ इसे भीष्म को अपने गुरु परशुराम से विवाद करते समय बोलना पड़ा। यहाँ तो मेरा प्रयोजन कवि के एक अनूठेपन की ओर निर्देश करना है। कवि वाल्मीकि में औचित्य की विशेष समझ है। बिल्कुल यही भाव आगे भी कवि इसी कांड में शत्रुघ्न से भी कहलवाते हैं। लक्ष्मण ने इस विषय पर ऐसा सोचा, तो शत्रुघ्न ने भी ऐसा ही सोचा क्योंकि दोनों भाई इतने अधिक समान थे। कवि शत्रुघ्न से लगभग समान शब्दों का प्रयोग करवाता है। शत्रुघ्न इस प्रकार करते हैं, "क्यों मेरे भाई लक्ष्मण ने बूढ़े पिता के स्वेच्छाचार को नहीं रोका, यदि यह आवश्यक था? क्यों नहीं राम को राज्य दिया गया, जिसके वे वैध अधिकारी थे? मुझे कोई आपत्ति नहीं है। वृद्ध पुरुष कभी–कभी मूर्खों के सदृश आचरण करते हैं, उन्हें स्वतंत्र नहीं छोड़ा जा सकता।"

पूर्वमेव तु निग्राह्यः समवेक्ष्य नयानयौ।
उत्पथं यस्समारूढो नार्यां राजा वशं गतः।। II. 78.4

"जब यह वृद्ध पुरुष नारी के वशीभूत होकर कुमार्ग पर आरूढ़ हो चुके थे, तब न्याय और अन्याय पर विचार करके उन्हें पहले ही बन्दी बना लिया जाना चाहिए था।"

जिन श्लोकों को मैंने पहले पढ़ा है, उनका प्रयोग राम की उपस्थिति में, कौशल्या के समक्ष, लक्ष्मण करते हैं। वे कहते हैं, "आप नहीं जानतीं, मैं इस समय कैसा अनुभव कर रहा हूँ।"

अनुरक्तोऽस्मि भावेन भ्रातरं देवि तत्त्वतः।
सत्येन धनुषा चैव दत्तेनेष्टेन ते शपे।। II.21.16

"देवि! मैं सत्य, धनुष, दान तथा यज्ञ आदि की शपथ खाकर कहता हूँ कि मेरा अपने भाई श्री राम में हार्दिक अनुराग है।"

वे भाई के प्रति अनुरक्त होने की शपथ खाते हैं। बार–बार शपथ लेते हैं। वस्तुतः क्या बात है, जिसकी पुष्टि वे इतनी ज़ोरदार और बहुमुखी शपथों के द्वारा करते हैं?

दीप्तमग्निमरण्यं वा यदि रामः प्रवेक्ष्यति।
प्रविष्टं तत्र मां देवी त्वं पूर्वमवधारय।। II.21.17

कैसी उच्च कोटि की भावनायें! कितनी प्रचंड सुन्दर भावना! आत्यन्तिक सम्मानीय, स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य। किन्तु कितनी सशक्त– *'दीप्तमग्नि।'* यदि राम अग्नि में कूद कर या भयंकर अरण्य में जाकर अपने जीवन को समाप्त करना चाहेंगे, तो माँ, मैं विश्वास दिलाता हूँ, जैसे ही वे ऐसा करने वाले होंगे, मैं उनसे पहले ऐसा कर लूँगा। मैं अग्नि में कूद चुका होऊँगा, उन्हें मेरे बाद ही आना होगा।" राम अपने भाई के स्वभाव से पूर्ण रूप से परिचित थे। वे मृदुवाणी में बोले :

तदेनां विसृजानार्यां क्षात्रधर्माश्रितां मतिम्।
धर्ममाश्रय मा तैक्ष्ण्यं मद्बुद्धिरनुगम्यताम्।। II. 21.44

यहाँ विशेषकर एक शब्द *'क्षत्रिय धर्म'* पर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। राम उतने ही क्षत्रिय हैं, जितने लक्ष्मण। उन्हें अपने गारिमामय जन्म पर गर्व हैं। फिर भी राम कहते हैं कि क्षत्रियों का जो धर्म है– सदा युद्ध करना है, किसी उत्तेजना के कारण अथवा बिना उत्तेजना के कारण भी, इस प्रकार कर क्षत्रिय धर्म त्याज्य है। "इसलिए केवल क्षात्रधर्म का अवलम्बन करने वाली ओछी बुद्धि का त्याग करो, धर्म का आश्रय लो, कठोरता छोड़ो, मेरे विचारों के अनुसार चलो।" इसी आशय को लेकर अन्य श्लोक आगे कहते हैं। किन्तु ये सब बातें लक्ष्मण को रास नहीं आईं। उनके विचार में इस प्रकार के उपदेश असमयोचित थे।

येनेयमागता द्वैधं तव बुद्धिर्महीपते।
स हि धर्मो मम द्वेष्यः प्रसंङ्गाद्यस्य मुह्यसि।। II.23.11,12

"पिता के जिन वचनों को धर्म मानकर, जिस परिकल्पना में आप डूबे हुए हैं, जिसके कारण आपकी बुद्धि में दुविधा उत्पन्न हो गई है, मैं उसे धर्म नहीं मानता। ऐसे धर्म का तो मैं घोर विरोध करता हूँ।"

ज़रा सोचिए, इन दोनों भाइयों की मनोवृत्तियों में कितना वैषम्य है। लक्ष्मण को नियंत्रण में रखने के लिये राम को कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा। राम ने एक साधारण व्यक्ति के समान कहा, "मैं क्या करूँ? यह दोष वृद्ध पिता का

नहीं है, न ही उस स्त्री का है। यह दोष नियति का है– *'दैवस्य कर्म'* कौन आज तक भाग्य का सामना कर सका है? हम तुम और सब भाग्य के अधीन हैं। लक्ष्मण! सब कुछ शान्त भाव से स्वीकार कर लो।" नहीं, नहीं, लक्ष्मण को बिल्कुल समाधान नहीं मिला, उनका संशय छिन्न नहीं हुआ। वे कहते हैं, "यह सिद्धान्त तो निर्बलता का है। एक निर्बल ही, एक मूर्ख ही भाग्य का आश्रय लेता है। हम ही अपने भाग्य विधाता हैं। ये बलवान भुजा किसलिए है? ये विशाल स्कन्ध किसलिये हैं? ये तीर और कमान किसलिए हैं? क्या भाग्य के अधीन होने के निमित्त? ऐसे भाग्य पर धिक्कार है।"

न शोभार्थाविमौ बाहू न धनुर्भूषणाय मे।
नासिराबन्धनार्थाय न शराः स्तम्भहेतवः।। II.23.31

पुनः वे अपने भाई से निवेदन करते हैं, "बोलिए, बोलिए! मैं स्वयं को वश में रखने में असमर्थ हूँ। बताइए, मुझे आपके लिये किस पर आक्रमण कर उसे मारना है। नाम बताइए आज्ञा दीजिए।"

ब्रवीहि कोऽद्यैव मया वियुज्यतां तवासुहृत्प्राणयशःसुहृज्जनैः।
यथा तवेयं वसुधा वशे भवेत्तथैव मां शाधि तवास्मि किंकरः।। II.23.41

यहाँ एक अहम् बिन्दु है, जिसकी ओर मैं आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। अपने अनियंत्रित क्रोधोन्माद के बावजूद भी लक्ष्मण राम की अनुमति बिना, हिंसा के लिए सचमुच तत्पर होते हुए भी हिंसा करने के लिए अनिच्छुक थे। वे राम की अनुमति की प्रतीक्षा करते हैं। अधीर, क्रुद्ध, क्षुब्ध और आत्मनियंत्रण खोने पर भी भाई की स्वीकृति बिना वे कोई क़दम नहीं बढ़ायेंगे। इतनी नितान्त है, उनकी निर्भरता राम पर, इतना चरम अधिकार है, राम का लक्ष्मण पर कि पारस्परिक विचारों में अन्तर होते हुए भी वे अपने मार्ग पर चलने में असमर्थ थे, जब तक उनकी स्वीकृति न हो। यह श्रद्धा एवं पूर्ण समर्पण का एक ऐसा नमूना है, जो वास्तविक जीवन में विरले ही देखने को, कदाचित् कथा–कहानी में भी, कभी देखने को मिले। फिर राम अपने ही ढंग से बड़ी से बड़ी सौम्यता से उनको शान्त कर देते हैं। वे लक्ष्मण को सब शस्त्र एक तरफ़ रखने के लिए मना लेते हैं और सौम्य मुद्रा का अनुराध करते हैं। लक्ष्मण ऊपर से तो मौन धारण करने जाते हैं, परन्तु उनका हृदय परिवर्तन नहीं होता। उनकी धारणा अपनी ही धारणा है, वे अपनी धारणा नहीं छोड़ेंगे। उनकी अब भी मान्यता है कि राम अनुचित कर रहे हैं। अब भी वे यही सोचते हैं, बल से सब कुछ प्राप्त किया जाना चाहिए। किन्तु ऐसा करने का समय निकल चुका। वे बिना आज्ञा के कोई ऐसा कार्य नहीं करेंगे। जब राम और सीता के बीच काफ़ी कहा–सुनी के पश्चात् यह निश्चित हुआ कि सीता भी राम के साथ वन को जायेगी, तब लक्ष्मण ने भी निश्चय किया कि वे क्या करेंगे। उन्होंने पहले से ही अपने मन में निश्चय कर लिया था कि वे भी राम के साथ चलेंगे। वे कहते हैं, "मैं भी साथ चलने की तैयारी करने जा रहा हूँ।"

वे कहते हैं, "मैं भी आपके साथ जाऊँगा।" राम कहते हैं, "तुम मेरे साथ नहीं जाओगे, तुम्हारा यहाँ रहना आवश्यक है। तुम्हें यहाँ मेरी माता और अपनी माता की देखभाल करनी है। महल के हालचाल देखना ज़रूरी है। कैकेयी का प्रभुत्व बढ़ चुका है। वृद्ध पिता का कोई स्थान नहीं रहा। मेरी माँ और तुम्हारी माँ को अत्यन्त स्नेहशील देखरेख की आवश्यकता है। यहाँ ठहर कर उनकी सेवा करो," राम यही बार–बार बोलते रहे। तब लक्ष्मण उनके सम्मुख पलट कर उत्तर देते हैं :

अनुज्ञातश्च भवता पूर्वमेव यदस्मयहम्।
किमिदानीं पुनरिदं क्रियते मे निवारणम्।। II.31.7

"आपने तो पहले से ही मुझे आपका अनुसरण करने की आज्ञा दे ही रखी है। फिर इस समय आप मुझे क्यों रोकते हैं?"

वास्तव में 'रामायण' में कोई ऐसा श्लोक नहीं, जिसमें पूर्वाज्ञा का कोई स्पष्ट संकेत हो। केवल लक्ष्मण ने राम के मुख से निकले कुछ शब्दों को खींचकर इच्छाजनित अर्थ लगाया था। राम ने कुछ कहा था, जिसको लक्ष्मण ने तोड़ मरोड़ कर अपने पक्ष में लिया। उन शब्दों का यथार्थ रूप जानना कठिन है। कुछ शोध के पश्चात् टीकाकारों ने दो या तीन अंश ढूँढ निकाले। उनमें से एक उल्लेखनीय है, जिसको पढ़ना चाहूँगा। सीता को घर पर रहने के लिये पति–पत्नी में वाद–विवाद हुआ था।

भ्रातृपुत्रसमौ वापि द्रष्टव्यौ च विशेषतः।
त्वया भरतशत्रुघ्नौ प्राणैः प्रियतरौ मम।। II.26.33

"भरत और शत्रुघ्न मुझे प्राणों से भी बढ़कर प्रिय हैं। अतः मैं तुमको उनकी देखरेख के लिये छोड़ना चाहता हूँ," ऐसा उन्होंने सीता से कहा था।

उस समय लक्ष्मण क्रोध से भरे हुए थे, लेकिन देखने के लिये उनके नेत्र और सुनने के लिये कान सतर्क थे। वे कहते हैं, "ठीक है, मैं सीता द्वारा संरक्षण लेने वाले व्यक्तियों में शामिल नहीं हूँ। उसका तात्पर्य यह हुआ कि राम मुझे भी वन अपने–अपने साथ ले जायेंगे।" वे कहते हैं, "आपने सीता द्वारा संरक्षण के लिए मेरा तीसरा नाम नहीं लिया था। अवश्य ही आप मुझे साथ ले जाना चाहते थे, अतः ले चलिए।"

लक्ष्मण ने धर्म के आदर्श की बड़ी निंदा की। कदाचित् आपको यह बात बड़ी अटपटी लगी होगी, किन्तु यह केवल आकस्मिक बात नहीं था। इस काव्य में आगे एक गम्भीर प्रसंग आता है, जब इन्द्रजित द्वारा हनुमान के सम्मुख सीता की नक़ली प्रतिमा का हनन किया गया और जब हनुमान ने इस दुःखद घटना की जानकारी राम को दी, वे मूर्छित हो गए। वे अपनी भावनाओं पर नियंत्रण खो बैठे और प्रलाप करने लगे, "चलो, अब लौट चलें, अब तो सब कुछ समाप्तप्रायः है। अब क्या करना शेष है?" इस करुण दशा में भाई को सान्त्वना देने के लिए अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करते हुए लक्ष्मण इस सर्ग के अधिकांश भाग में बोलते हैं। अजीब बात तो यह है, वे बड़ी

स्पष्ट भाषा में धर्म के सिद्धान्त के प्रति अपना विरोध व्यक्त करते हैं, "जब हमने इस कष्टपूर्ण जीवन का आरम्भ किय था, जब कैकेयी के कहने पर आपने साम्राज्य का परित्याग किया था, क्या उस समय मैंने नहीं कहा था कि धर्म का ढकोसला निरर्थक है? अब देख लिया न उसका परिणाम! धर्म सिद्धान्त का निष्ठापूर्वक पालन करते–करते, पिता की आज्ञा का पालन करते–करते आपने स्वयं को इन विपत्तियों के दल–दल में फँसा लिया है।" फिर वे धर्म और अर्थ का भेद दिखलाते हैं, अर्थ की सराहना करते हैं, "'*अर्थ*' ही के लिए यत्न करना वांछनीय है। लौकिक लाभ, सुविधायें और वे पदार्थ जो हमारे ही हैं, इनको प्राप्त करना चाहिए। आपने बड़ी भूल की, ग़लत मार्ग का अनुसरण करके आपने स्वयं को घोर विपत्ति में डाला है।" लक्ष्मण का ऐसा रुख़ कुछ विचित्र लगता है, परन्तु यही कुछ लक्ष्मण ने कई श्लोकों में कहा है, जिनको वाल्मीकि ने अपनी श्रेष्ठतम शैली में प्रस्तुत किया है। इस सन्दर्भ के तीन या चार श्लोक प्रायः उद्घृत किए जाते हैं और ये प्रसिद्ध हो गए हैं। प्रथम यह है :

शुभे वर्त्मनि तिष्ठन्तं त्वामार्यं विजितेन्द्रियम्।
अनर्थेभ्यो न शक्नोति त्रातुं धर्मो निरर्थकः।। VI.83.14

"आप सदा शुभ मार्ग पर स्थिर रहने वाले जितेन्द्रिय हैं, तथापि यह आपका निरर्थक धर्म आपको अनर्थों से बचाने में सर्वथा असमर्थ है। इसलिए वह निरर्थक ही जान पड़ता है।"

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः।
यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः।।
यस्यार्थाः स च विक्रान्तो यस्यार्थाः स च बुद्धिमान्।
यस्यार्थाः स महाभागो यस्यार्थाः स गुणाधिकः।। VI.3.35,36

"वीर! आप पिता की आज्ञा पालन करने के लिए वन में चले आये। सत्य के पालन पर तो डटे रहो, पर अपनी प्राणों से भी प्रिय पत्नी को राक्षसों के हाथ में छोड़ दो। हुई न बढ़िया बात!"

त्वयि प्रव्राजिते वीर गुरोश्च वचने स्थिते।
रक्षसापहृता भार्या प्राणैः प्रियतरा तव।। VI.83.41

ऐसी बात नहीं कि यह शक्ति और अर्थ को महत्त्व देने वाला सिद्धान्त लक्ष्मण की प्रकृति के असंगत है। टीकाकार चाहे ऐसा कहें, किन्तु यह तथ्य नहीं है। जो सिद्धान्त पूर्व में उन्होंने शक्तिमान पुरुषों के लिए प्रतिपादित किया था, ये कथन पूर्णतया उनके समनुरूप है। जो बात मैंने पहले कही थी, यहाँ मेरा आशय केवल उसको स्मरण कराना है, अर्थात् यहाँ सर्वोपरि कवि का आशय राम और लक्ष्मण के स्वभाव का वैषम्य उजागर करना है। किस प्रकार राम घोर संकटों के समय में भी उस कर्त्तव्य के पथ से जिसको वे सर्वोच्च समझते थे, कोई उन्हें लेश मात्र भी हटा नहीं

सकता था। दूसरी ओर, इस कथा में लक्ष्मण पद में दूसरे दर्जे पर होते हुए भी, जैसा हम कह सकते हैं, उस सिद्धान्त के शिखर पर पहुँचने में असमर्थ रहे।

अब मैं लक्ष्मण के एक अन्य विशेष गुण का उल्लेख करता हूँ, जिसका संकेत पहले दिया जा चुका है, किन्तु अब मैं उसको प्रधानता देना जा रहा हूँ। वे उन उच्च कोटि के व्यक्तियों में से एक थे, जो अत्यन्त भावुक होते हैं, जो जल्दी ही उत्तेजित हो सकते हैं। अब एक अवसर का उल्लेख करने के बाद जहाँ लक्ष्मण की विशाल हृदयता सुस्पष्ट झलकती है, मैं एक दूसरे इतने ही महत्वपूर्ण प्रसंग पर आता हूँ, जहाँ भी लक्ष्मण के इस स्वाभाविक गुण का प्रदर्शन हुआ है अर्थात् रोष के विस्फोट के तुरन्त बाद उदारता। एक उदार, एक विशाल हृदय व्यक्ति की यह पक्की निशानी है। जो सहज ही रुष्ट हो जाते हैं, परन्तु साथ ही साथ शीघ्र ही ठंडे भी हो सकते हैं। तत्पश्चात् वे उदार ही नहीं, बल्कि विशाल हृदय भी बन जाते हैं। ये दो गुण, *'आशुकोपः'* और *'आशुतोषः'*, साथ ही साथ चलते हैं। जल्दी ही कुपित होना और जल्दी ही शान्त हो जाना सज्जन के लक्षण हैं। लक्ष्मण, जैसा कि मैं पहले बता चुका हूँ, अपने भाई को संकट की सम्भावना से भी आशंकित हो जाते थे। कोई भी उनके सन्देह के घेरे में आ सकता था। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, उन्हें सन्देह था कि उनके पिता और कैकेयी के बीच कोई दुरभिसन्धि हो गई है। ज़रा याद करिये, भरत का चित्रकूट समागम प्रसंग! वे किस प्रकार ससैन्य, समंत्रि, लगभग समस्त अयोध्यावासियों सहित राम को अपने राज्य लौटने का आग्रह करने आये। जिस स्थान पर दोनों भाई थे, वहाँ से एक धूल का बादल दिखाई दिया। राम ने अपने भाई से पेड़ पर चढ़ कर देखने को कहा कि वह क्या है। लक्ष्मण ने ऊपर चढ़ कर एक सेना को आते देखा। उनको जाँचने में ज़रा भी कठिनाई नहीं हुई। वे पहिचान गए कि अयोध्या की सेना भरत के नेतृत्व में आ रही है थी। वे वृक्ष से बिना उतरे ही चिल्ला उठे, "यहाँ आ रहा है वह, आपका लाड़ला भाई। वह हमें यहाँ वनवास में भी शान्तिपूर्वक नहीं रहने देगा। वस्तुतः अब वह यह चाहता है कि हम चौदह वर्ष बाद भी उसे कष्ट देने अयोध्या न लौटे। वह यहाँ आकर हमको मारना चाहता है। किन्तु, इससे पूर्व कि वह युद्ध भूमि पर उतरे, मैं जानता हूँ कि मुझे क्या करना है," वे फूट पड़ते हैं।

संप्राप्तोऽयमरिर्वीर भरतो वध्य एव मे।
भरतस्य वधे दोष नाहं पश्यामि राघव।। II.96.23

"मैं हमारे भाई को मारे डालने में कुछ भी अनुचित नहीं मानता।"

एतस्मिन्निहते कृत्स्नामनुशाधि वसुंधराम्।
अद्य पुत्रं हतं संख्ये कैकेयी राज्यकामुका।।
मया पश्येत्सुदुःखार्ता हस्तिभग्नमिव द्रुमम्।
कैकेयीं च वधिष्यामि सानुबन्धां सबान्धवाम्।। II.96.25,26

ज़रा देखिए! क्रोधावेश में वे कितने भावविह्वल हो गए हैं, "मैं भरत को मार डालूँगा। आपका भविष्य सुरक्षित करने के लिये उसकी माँ, उसके समस्त प्रतिपाक्षी लोगों और बन्धु–बान्धवों को भी नहीं छोड़ूँगा।"

लक्ष्मण के स्वभाव से ऐसे उद्‌गारों की अपेक्षा की जा सकती है! राम उनकी प्रकृति को भलीभाँति जानते थे। वे उनसे बोले, "भाई! इतनी जल्दबाज़ी न करो। भरत के इरादे नापाक नहीं है, मैं विश्वास दिलाता हूँ। वह मेरे हितैषी के रूप में राज्य लौटाने के इरादे से आ रहा है। शान्त हो जाओ।" राम तर्क को आगे बढ़ाते हैं। यह देखकर कि लक्ष्मण पर उनकी बात का कुछ प्रभाव पड़ा और वे नीचे उतरने के लिये तैयार हुए, वे लक्ष्मण के कोपकारण भरत की प्रशंसा करने लगे, "तुम भरत को बिल्कुल नहीं समझते। क्या तुम राज्य लेने के लिये इच्छुक हो? यह काम तो बड़ा सहज है, बस कहने भर की देर है। बस, मुझे तो केवल इतना ही कहना पड़ेगा, 'भरत! यह लक्ष्मण साम्राज्य की इच्छा रखता है, उसे दे दो।' वह तुरन्त ही उसे तुमको हस्तान्तरित कर देगा।" वे अपने भरत को अच्छी प्रकार जानते थे। लक्ष्मण अपने भाई राम के हितों की स्वामीभक्त श्वान के समान, जिनकी रक्षा करने में वे इतने एकनिष्ठ थे, एक ज़रा सी भी उनके अनर्थ की शंका से वे किसी पर सन्देह करने से नहीं चूकते थे। उन्हें सन्देह क्यों हुआ, इससे उन्हें कोई मतलब नहीं। उनकी आशंका के पीछे कोई विशेष विचार न था। उनकी तो इच्छा केवल थी कि राम के हितों को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचे। यदि हम उनके उत्कृष्ट के विषय में विचार करें, जो उन्हें प्रेरित करता था, तो हम देखते हैं कि उनका जो सन्देह था, वह एक तुच्छ सन्देह नहीं था। उनका सन्देह ऐसा सन्देह नहीं था कि उसे दुष्टता अथवा लज्जास्पद अनाचार की श्रेणी में रखा जाये। जैसे कि राम ने संकेत किया कि वे उनके हितों की रक्षा करते–करते सतर्कता की सीमा का उल्लंघन कर गये, लक्ष्मण लज्जित हो जाते हैं, पश्चात्ताप से अभिभूत होकर वे नीचे उतर आते हैं और अनिच्छा से भाई के पार्श्व में खड़े हो जाते हैं। दबी आवाज़ में कहते हैं, "क्या आप समझते हैं कि हमारे पिता जी भी वहाँ है? कृपया पता करें।" ध्यान देने की बात है, उनमें परिवर्तन कितने सहजभाव से हुआ है। अत्यन्त मर्मस्पर्शी! इस बात का एहसास होने पर कि वे सर्वथा भ्रमित थे अपने आप पर लज्जित हुए। वे आगे बढ़ते हुए अभिलाषा व्यक्त करते हैं कि सेना के साथ कदाचित् उनके वृद्ध पिता जी भी आए हों। श्री राम उनकी पश्चात्तापी मनःस्थिति देखते हुए उनका उत्सुकता से अनुमोदन करते हैं। राम कहते हैं, "आश्चर्य नहीं यदि पिता जी मुझे राज्य लौटाने के लिये आग्रह करने आयें। यह सम्भव है। उनका हाथी तो दिखाई दे रहा है और घोड़े भी परन्तु उनका विख्यात श्वेत छत्र तो दिखाई नहीं देता, ज़रा देखो," और फिर धीरे से वे लक्ष्मण को उतारते हैं। वे जानते हैं कि पिताजी उनमें नहीं हैं, किन्तु सन्तप्त भाई का मन रखने के लिये वे कहते हैं, "मैं नहीं सोचता कि वे वहाँ है। पर मुझे आश्चर्य भी नहीं होगा, यदि वे हों।"

श्री राम ने कुछ विनोद में ही लक्ष्मण से कहा था, "यदि सचमुच तुम्हें राज्य की अभिलाषा है, तो मुझे क्यों नहीं बताते? मैं भरत से कहूँगा कि राज्य तुम्हें हस्तान्तरित कर दे और उसे ऐसा करने में क्षणभर भी नहीं लगेगा।" जो बात कभी राम ने हँसी में कही थी, कालान्तर में एक प्रकार से सत्य हुई। युद्ध समाप्ति उपरान्त जब राम का अभिषेक हुआ, तब युवराज बनाने का प्रश्न सामने आया। कदाचित् इस प्रसंग का स्मरण करते हुए, यह सोच कर कि ऐसा करना उचित ही होगा, श्री राम ने लक्ष्मण से कहा, "तुम युवराज बनो।" भरत दोनों भाइयों में कुछ घंटे आयु में बड़े थे। इसके अतिरिक्त व्यवहारिक रूप में भी चौदह वर्ष राज्यभार संभाल चुके थे। युवराज पद भरत से लेकर लक्ष्मण को देने का प्रस्ताव सामान्य परम्परा से अप्रत्याशित था। राम का ऐसा करना भी आंशिक रूप से लक्ष्मण को यह दिखाने के लिये किया था कि वह केवल परिहास नहीं था। "यदि तुम राज्य के लिये इच्छा रखोगे, तो भरत लेशमात्र भी विरोध न करेंगे। यह लो क्या तुम्हें इच्छा है?" अब अवसर आया है। मानो इस स्थिति की पुष्टि करने के लिये, भरत बार–बार कहते हैं, "ठीक है, लक्ष्मण तुम ले लो, ले लो, कृपया लो, लो।"

सर्वात्मना पर्यनुनीयमानो यदा न सौमित्रिरुपैति योगम्।

परन्तु श्री राम के सब तरह से समझने और नियुक्त किये जाने पर भी जब लक्ष्मण ने उस पद को नहीं स्वीकार किया, तब श्री राम ने भरत को युवराज–पद पर अभिषिक्त किया। कदाचित् लक्ष्मण को भी वह दृश्य स्मरण था, परन्तु यह मानते हुए कि मुकुट धारण करने से उनके कैंकर्यधर्म में बाधा आ सकती है, और उनकी रूह की लक्ष्मी कैंकर्यलक्ष्मी थी, और कोई अन्य लक्ष्मी नहीं, उन्होंने दृढ़तापूर्वक अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार, अन्ततः,

नियुज्यमानोऽपि च यौवराज्ये ततोऽभ्यषिञ्चद्भरतं महात्मा।। IV.131.93

लक्ष्मण की प्रकृति में उदाता की पारदर्शिता के प्रसंग के पश्चात् अब मैं एक ऐसे प्रसंग पर आता हूँ, जिसमें उनका यह उदारता का गुण तिरस्कार के प्रकोप के रूप में प्रकट होता है। यह प्रसंग सुग्रीव के महल का है। अपनी प्रियतमा पत्नी के वियोग के शोक से व्यथित श्री राम ने बड़े ध्यानपूर्वक तिथियों की गणना की थी, जब सुग्रीव को अपना वादा पूरा करना था। अवधि समाप्त होने पर उन्होंने लक्ष्मण को सुग्रीव के पास, अपने प्रति सुग्रीव के आचरण पर अपनी अप्रसन्नता से उसे अवगत कराने के उद्देश्य से जाने के लिए कहा। वे क्रोध से आग– बबूला हो चुके थे। उन्होंने लक्ष्मण को आदेश दिया, "सुग्रीव के पास जाओ और मेरी ओर से उससे यह कहना :

न च संकुचितः पन्था येन वाली हतो गतः।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा वालिपथमन्वगाः।। IV.30.81

जिस मृत्युद्वार से बालि यमपुर भेजा गया, वह तुम्हारे लिये भी खुला है। कोई भी उसे बंद नहीं कर सकता। वह तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है, अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करो। यदि तुमने अपने वचन का निर्वाह नहीं किया, तो तुम्हें अपने भाई का अनुसरण करना पड़ेगा।"

इन शब्दों को सुनकर लक्ष्मण को ऐसा लगा कि उनके भाई अत्यन्त क्रुद्ध हैं। अतएव, उन्होंने निश्चय किया है कि सुग्रीव को मार कर और अंगद को युवराज बना कर उनका लक्ष्य प्राप्त कराना चाहिए। लक्ष्मण क्रोध से फूट पड़ते हैं, वे कहते हैं, "मैं जाकर सबको समाप्त करता हूँ।" तब राम को अपनी ग़लती का एहसास हुआ। एक उत्तेजनशील व्यक्ति को उत्तेजित करना बड़ा भारी भूल हैं। अतएव, राम बोले, "भाई लक्ष्मण, इन शब्दों को अक्षरशः मत लो। मैं क्रोध में कुछ कठोर शब्द बोल गया। तुम सुग्रीव के पास जाकर इस प्रकार की बातें न कहना, धीरे से बोलना, शिष्टाचार बरतना, सब काम बड़े ढंग से करना।" लक्ष्मण ने हाँ तो कर ली, लेकिन वे राम की मर्मान्तिक व्यथा देखकर इतने कुपित हो गए थे कि जो कुछ राम ने सुग्रीव को शान्त करने के लिए कहा था, वह शीघ्र भूल गए। और वे वहाँ जाते है। यहाँ कवि भी अपनी विनोद वृत्ति प्रदर्शित करता है। रोषयुक्त लक्ष्मण कवि के लिए अपनी लेखन कला के सौन्दर्य का विषय बन जाता है। वह कहता है :

शक्रबाणासनप्रख्यं धनुः कालान्तकोपमम्।
प्रगृह्य गिरिशृंङ्गाभं मन्दरः सानुमानिव।। IV.31.11

"उस समय वे इन्द्र–धनुष के समान तेजस्वी, काल और आन्तक के समान भयंकर तथा पर्वत–शिखर के समान विशाल धनुष को हाथ में लेकर श्रृंगसहित मन्दराचल के समान जान पड़ते थे।"

लक्ष्मण आगे बढ़ने लगे, क्रोध में लम्बे–लम्बे डग भरने लगे। उनकी विनाशक शक्ति की किसी न किसी प्रकार पूर्त्ति होनी थी। कभी इधर से, कभी उधर से वृक्षों की डालियाँ तोड़कर उन्हें टुकड़े–टुकड़े कर देते। थोड़ी–थोड़ी देर में किसी सख़्त चट्टान पर पैर रख कर उसे चूर–चूर कर देते। इसी ढंग से वे आगे बढ़ते गए। अतीव अधीर हो, इधर–उधर सिर हिला–हिला कर मानो स्वयं से पूछ रहे हैं, "मुझे क्या कुछ कहना है?" अपना सन्तुलन खोकर बार–बार अपने को स्मरण कराना पड़ा। प्रतीत होता है कि वे यह कह रहे थे, "राम ने मुझसे क्या कहने को कहा था? मैं यह कहूँगा। तब वह व्यक्ति उत्तर में कुछ कहेगा, उसे प्रत्युत्तर अवश्य देना होगा।" पहले राम की ओर से सन्देश बनाया, फिर उसका उत्तर, फिर प्रत्युत्तर। उत्तर और प्रत्युत्तर का क्रम चलता रहा। इस उत्तर प्रत्युत्तर की शृंखला को अपने मानस में संजोये वे चलते चले।

कामक्रोधसमुत्थेन भ्रातुः कोपाग्निना वृतः।
प्रभञ्जन इवाप्रीतः प्रययौ लक्ष्मणस्तदा।। IV.31.13

सीता की खोजविषयक जो श्री राम की कामना थी और सुग्रीव की असावधानी के कारण उसमें बाधा पड़ने से उन्हें क्रोध हुआ था, उन दोनों के कारण लक्ष्मण की भी क्रोधाग्नि भड़क उठी। उस क्रोधाग्नि से घिरे हुए लक्ष्मण सुग्रीव के प्रति प्रसन्न नहीं थे। वे उसी अवस्था में वायु के समान वेग से चले। आपको स्मरण होगा, जैसा कि मैंने पहले कहा था, सुग्रीव सतर्क था और उसने लक्ष्मण को क्रोध शान्त करने के लिए तारा को भेजा था। लक्ष्मण को आने के पश्चात् बाहर कुछ देर प्रतीक्षा करनी पड़ी। इस बीच कुछ घटनायें घटी। प्रासाद के रक्षक वानर कुछ टालमटोल करने लगे, लक्ष्मण और भी क्रुद्ध थे। अन्ततः तारा आगे बढ़ी, लक्ष्मण के हृदय को प्रभावित करने के उद्देश्य से कहती है, "पधारिये, अन्दर पधारिये।" पहले तो लक्ष्मण अन्तःपुर में प्रवेश करने के लिये अनिच्छुक थे क्योंकि वहाँ महिलायें भी हो सकती थीं। सुग्रीव भी विषय भोग में लीन होगा। किन्तु तारा अनुरोध करने लगी, "परवाह नहीं, आप तो हमारे भाई के समान हैं, आइये।" तारा के कहने पर लक्ष्मण आगे बढ़े।

कूजितं नूपुराणां च काञ्चीनां निनदं तथा।
से निशम्य ततः श्रीमान् सौमित्रिर्लज्जितोऽभवत्।। IV.33.25

उन्होंने कभी भी नारियों की संगति न की थी। वहाँ अनेकों महिलाओं के समूह थे, उनके आभूषणों और नुपूरों की खनक आ रही थी। सुमित्राकुमार लज्जित हो गए, उन्होंने अपना सिर नीचे कर लिया और दृष्टि ऊपर नहीं उठाई। परन्तु तारा ने बड़ी कोमल वाणी से उन्हें आकर्षित कर लिया।

स तां समीक्ष्यैव हरीशपत्नीं तस्थावुदासीनतया महात्मा।
अवाङ्मुखोऽभून्मनुजेन्द्रपुत्रः स्त्रीसंन्निकर्षाद्विनिवृत्तकोपः।। IV.33.39

कवि निष्कर्ष निकालते हैं : वानर राज की पत्नी तारा पर दृष्टि पड़ते ही लक्ष्मण अपना मुँह नीचा करके उदासीन भाव से खड़े हो गए। स्त्री के समीप होने से उनका क्रोध दूर हो गया। अब उनका कोप उतर गया, सुहावने वातावरण से वे काफ़ी प्रसन्न हो गए। तारा के मधुर वक्तव्य से वे शान्त हो गए। अन्ततः उनका व्यवहार इस प्रकार रहा। तारा ने अपने वक्तव्य के अन्तिम चरण में निर्णायक रूप में उन्हें यह प्रमाणित कर दिया था कि राम और लक्ष्मण ने सुग्रीव को दोषी मानने में कुछ शीघ्रता की है। सुग्रीव ने तो निर्धारित समय–सीमा से पूर्व ही अपनी विशाल सेना को एकत्रित करने के निमित्त आवश्यक कार्यवाही कर दी थी। तारा ने साहस बटोरा और कहने लगी, "सुनो, सुनो, वानरों के आने का कोलाहल सुनाई दे रहा है। इतनी उत्तेजना क्यों? इतना रोष क्यों?" इस पर लक्ष्मण को भी ऐसा एहसास हुआ कि सचमुच में उन्होंने कुछ जल्दबाज़ी की। तब वे सुग्रीव से बोले, जो अब तक सचेत हो चुका था तथा बड़ी समुचित वाणी में अपने अपराध (यदि उसे अपराध माना जाये, जो कि वास्तव में वह

नहीं था) के न्यूनीकरण हेतु उसने यह प्रसिद्ध उक्ति की, जिसका प्रतिपादन स्वयं सीता ने भी बाद में किया :

न कश्चिन्नापराध्यति। IV.36.11

"कोई ऐसा नहीं, जिससे कभी कोई अपराध होता ही नहीं।"

कितना सुन्दर भाव! इस प्रकार का भाव सबके ओष्ठों पर नहीं, अपितु प्रत्येक के हृदय में होना चाहिए। हम, जो प्रायः दूसरों पर क्रोध करते हैं, दूसरों की त्रुटियों पर अधीर हो उठते हैं, हमें स्मरण रखना चाहिए।

न कश्चिन्नापराध्यति।

इस संसार में कोई भी ऐसा नहीं जिससे ग़लती न होती हो। हममें से श्रेष्ठ जन भी ग़लतियाँ कर सकते हैं, अतएव, और करुणा के पात्र हैं। जब सुग्रीव ने ऐसा कहा, लक्ष्मण का हृदय पिघल गया। सुग्रीव ने दृढ़तापूर्वक कहा कि वह अपने कर्त्तव्य का यथोचित पालन करने जा रहा था, करने के लिये कुछ शेष नहीं छोड़ा था, राम और लक्ष्मण का उसके प्रति व्यवहार कुछ कठोर हुआ। तब लक्ष्मण ने ये उच्च भावनायें व्यक्त कीं :

दोषज्ञः सति सामर्थ्ये कोऽन्यो भाषितुमर्हति।
वर्जयित्वा मम ज्येष्ठं त्वां च वानरसत्तम।। IV.36.17

"मेरे भाई राम और तुम्हारे अतिरिक्त इस लोक में ऐसा तीसरा व्यक्ति कौन सा जीव है, जो कोई अनुचित बात होने पर उसके दोष को देख सके और उचित वचन बोल सके?"

स्वयं लक्ष्मण द्वारा किसी को रामके समीप स्थान दिये जाने से बढ़कर अन्य सम्मान क्या हो सकता है, क्योंकि संसार में यदि कोई शिष्टाचार का पूर्ण ज्ञाता था, कि किस समय और क्या बोलना चाहिए, तो वह श्री राम ही थे। सुग्रीव से आगे कहते हैं :

सदृशश्चासि रामस्य विक्रमेण बलेन च।
सहायो दैवतैर्दत्तश्चिराय हरिपुंगव।। IV.36.18

"पराक्रम और बल में भी तुम मेरे भाई के बराबर हो। तुम हमारे सहयोगी बन चुके हो। देवताओं की इच्छा से ही हमें दीर्घकाल के लिये तुम जैसा मित्र मिला है। मेरे क्रोध का कारण तो समझ गए होंगे, मैंने क्यों तुम्हारे प्रति कठोर वचन बोले। क्योंकि मैंने अपने भाई को अत्यन्त व्यथित देखा। इसलिए क्रोध आ गया और संयम खो बैठा। मुझे क्षमा कर दो।"

किं तु शीघ्रमितो वीर निष्क्राम त्वं मया सह।
सान्त्वयस्व वयस्यं त्वं भार्याहरणकर्शितम्।। IV.36.19

"अब तुम अधिक विलम्ब न करो। अब तुम शीघ्र ही मेरे साथ मेरे भाई के पास चलो। तुम्हारे मित्र अपनी–अपनी पत्नी के अपहरण से अत्यन्त दुःखी हैं। चलकर देखो, वे किस अवस्था में हैं, उन्हें सान्त्वना दो और बताओ सब कुछ तैयार है, कार्य आरम्भ हो चुका है। उनको दुःखी देखकर ही मैं यहाँ आया और कुछ कठोर वचन बोल उठा। उनके लिए मुझे क्षमा करो।"

यच्च शोकाभिभूतस्य श्रुत्वा रामस्य भाषितम्।
मया त्वं परुषाण्युक्तस्तच्च त्वं क्षन्तुमर्हसि।। IV.36.20

लक्ष्मण ने सचमुच क्षमा याचना की आप समझ सकते हैं कि ऐसा करने में कितनी विशाल हृदयता की आवश्यकता होती है। प्रवृत्तिवश जाने–अनजाने हम दूसरों को ठेस तो पहुँचा देते हैं, किन्तु क्षमा माँगने में भारी संकोच होता है। यदा–कदा हम भी क्षमायाचना कर लेते हैं। लक्ष्मण के लिये क्षमायाचना करना और वह भी इतने सुन्दर शब्दों में, सुग्रीव की सराहना कर अपने भाई के समकक्ष बैठाना, उनकी उदार प्रकृति की पराकाष्ठा है। अतः यहाँ है, एक अत्यन्त उदार व्यक्तित्व।

अब मैं व्याख्यान के अन्तिम भाग पर आता हूँ। कुछ समय तो लगेगा ही, परन्तु ऐसा करना सर्वथा उपयुक्त है। अब मैं यह दिखाना चाहूँगा कि राम कितने कठोर अनुशासन प्रिय थे। अन्यथा वे वानरों की विशाल सेना के नेता कैसे हो सकते थे, एक ऐसी सेना, जो चंचलता और चपलता के लिये बदनाम थी और जिसको एक दिशा में चलाना कठिन था। वे पूर्णतया अनुशासन प्रिय थे। जब उनका आदेश होता, तो उसका पालन करना अवश्यम्भावी होता था। लक्ष्मण उनके किंकर थे और स्वैच्छिक किंकर की हैसियत से कभी–कभी उन्हें बड़ी कठिन आज्ञाओं का पालन करना पड़ता था। दो बार तो उन्हें बड़ी विकट परिस्थिति एवं धर्मसंकट का सामना करना पड़ा। लक्ष्मण आज्ञापालन के मूर्त्तरूप थे– अक्षरशः आज्ञा पालन। कुछ बातें स्पष्ट करने के लिए मैं कुछ उदाहरण प्रस्तुत करूँगा। यह दिखाने के लिये कि हम सबका जीवन कठिनाइयों से भरा है, जो कि आदेश देने वाला है, वह भी प्रायः कठिनाइयों के बीच से गुज़रता है, और जो आज्ञाकारिता का मूर्त्त रूप है, उसे भी कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है और यह कि संसार किसी न किसी प्रकार उत्कृष्ट चरित्रवाले व्यक्तियों को भी कठिनाइयों में फँसा देता है। इनमें मानो श्री राम लक्ष्मण को कठिन परीक्षा में डालते प्रतीत होते हैं। स्वर्ण मृग की खोज में जाते समय श्री राम ने लक्ष्मण को आदेश दिया था, "सावधान रहना, यह वन है, जोखिमों और संकटों से भरपूर पूरी सतर्कता से चौकसी रखना। मैं जा रहा हूँ , सीता की मनोवांछित वस्तु लाने के लिये। सीता की पूर्ण रूप से देखरेख करनी होगी, यहाँ से हिलना नहीं।" वस्तुतः लक्ष्मण के लिये इतने बड़े आदेश की आवश्यकता नहीं थी। उनको अपना कर्त्तव्य भलीभाँति मालूम था और वे सीता की पूरी रक्षा करते रहे। अब आप जानते ही हैं, फिर क्या

हुआ। कुछ समय पश्चात् जब मारीच राम की बोली की नकल कर चिल्लाया, सीता शोकाकुल हो गई। लक्ष्मण को जाकर देखने का आदेश दिया। वे हटने के लिए तैयार न थे। लक्ष्मण ने उनके पति राम के विषय में वह सब कुछ कहने का प्रयत्न किया, जैसे वे कुछ जानती ही न थी, "क्या आप अपने पति को नहीं जानतीं? क्या उन्हें कोई संकट त्रस्त कर सकता है? उन्हें हो क्या सकता है? यदि उन्हें कोई संकट उपस्थित होने वाला है, तो क्या मैं उन्हें बचा सकता हूँ? आप बिल्कुल चिंता न करें। मैं यहाँ आपकी सुरक्षा के लिये उपस्थित हूँ। मैं बड़े कड़े आदेश के अन्तर्गत हूँ। आपके पति की आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया जा सकता।" सीता कुछ भी सुनने को तैयार न थीं। आपको तो मालूम है, उन्होंने क्या कुछ नहीं कहा। उन दुर्वचनों को दोहराना भी कष्टकर है। वह सब कुछ कह कर और यह देखकर कि सबसे कटु–कटु दोषारोपण भी उन्हें अपने कर्त्तव्य से लेशमात्र भी न हिला सका, सीता ने कहा :

समक्षं तव सौमित्रे प्राणांस्त्यक्ष्ये न संशयः। III.45.26

"तुम्हारे समक्ष ही निस्सन्देह मैं प्राणों का परित्याग कर दूँगी।"

ऐसी स्थिति में विवश लक्ष्मण क्या कर सकते थे? लक्ष्मण जानते थे कि जैसा वे कह रही हैं, वैसा ही कर भी सकती हैं। वे ऐसा कुछ करने ही वाली थीं। वे एक क्षत्राणी वीरांगना थीं। वह आत्महत्या की धमकी दे रही थी। अतः लक्ष्मण को लगा कि उनके लिए बात चरम सीमा पर पहुँच चुकी है। उनके लिये क्या विकल्प शेष था? क्या वे उनको अपने सामने प्राणत्याग करते देखें? क्या वे भाई के आदेश का पालन करें अथवा अन्तिम क्षण में उस आदेश को भुलाकर चले जायें और उस परेशान स्त्री का जीवन बचायें? वे विक्षिप्त सी थीं। सीता ने लक्ष्मण को बहुत बुरा भला कहा। लक्ष्मण ने भी उनको और स्त्री जाति को कोसा और उनकी भर्त्सना की। "तुम स्त्रियों से तो भगवान बचाए। अच्छा मैं जाता हूँ, तुम्हारा मरना मैं नहीं देख सकता। तुमने मुझे बाध्य किया है, दो विकल्पों के बीच एक चुनने का। एक भयंकर विकल्प है, अपने भाई की आज्ञा का उल्लंघन। अन्य विकल्प उससे भी भयंकर है कि तुम मेरे सामने आत्महत्या कर लो। ठीक है, मैं जाता हूँ। यह पाप इससे कुछ कम हैं? अच्छा, मैं जाता हूँ।" चले जाने पर जब उन्होंने यह विवरण राम को दिया, मैं नहीं कह सकता, उनकी क्या अपेक्षा थी। भाई से वे किसी प्रकार की अनुकम्पा की आशा नहीं कर सकते थे, न ही उन्होंने इसकी याचना की। ऐसा करना उनके स्वभाव में ही न था। परन्तु मैंने और आपने लक्ष्मण के पक्ष में सफ़ाई प्रस्तुत करते हुए कहा होता, "ऐसी परिस्थिति में बेचारा लक्ष्मण क्या करता? आपने उसे आदेश दिया, उसने एक मनुष्य की दृष्टि से, जब तक कर सकता था, उसने उसका निर्वाह किया। परन्तु यदि वह स्त्री आत्महत्या की धमकी देकर उन्हें हटने पर विवश कर दे, तो क्या आप कहना चाहेंगे कि वे फिर भी वहाँ ठहरे रहते?" कदाचित् हम राम से इस प्रकार सफ़ाई में कह सकते थे कि राम

ने लक्ष्मण के विरुद्ध न कोई कार्यवाही की, न ही सज़ा दी, केवल गम्भीरता से एक उलाहना दिया। एक कोमल भावुक हृदय के लिये इससे अधिक क्या आवश्यक था? उन्होंने कहा, "नारी अंततः एक नारी है। वह बाला मुझे इतना प्यार करती है। मैं ही उसका जानप्राण हूँ। मेरे बिना संसार में उसके लिये है ही क्या? उसने सोचा होगा, मैं संकट में हूँ। एक विक्षिप्त नारी से हर प्रकार के प्रलाप की आशा की जा सकती है। धमकी दी है, तुम्हें आना नहीं चाहिए था। तुम्हें वहाँ रह कर उसकी रक्षा करनी चाहिए थी।" क्या तुम सीता की जगह होना पसन्द करोगे या राम की, अथवा लक्ष्मण की? कवि तीनों को एक घोर परिस्थिति में पहुँचाने में सफल होता है और प्रत्येक अपनी सहनशक्ति की पराकाष्ठा को पहुँच जाता है। देखिए, राम क्या कहते हैं :

नाकरोः शासनं मम। III.59.24

"तुमने मेरे आदेश का पालन नहीं किया। अतः मैं तुमसे अप्रसन्न हूँ, तुम मेरी अप्रसन्नता के भागी हो।"

बेचारा लक्ष्मण! फिर भी उन कठिन परिस्थितियों में जो कुछ कर सकता था, उसने किया। यह था, उनके लिए पुरस्कार! किसी अधिक उदार अथवा कम अनुशासनप्रिय व्यक्ति ने तो कदाचित् ऐसा कहा होता, "लक्ष्मण! मैं जानता हूँ, तुम एक कठिन परीक्षा की घड़ी में थे। तुमने जो कुछ किया ठीक ही किया। मैंने भी ऐसा ही किया होता।" कितना अच्छा होता यदि उदारता की ऊँचाई से राम इस अंदाज़ में बोले होते, किन्तु राम तो धर्म के मूर्त रूप थे। उनके लिए कर्त्तव्य तो कर्त्तव्य ही है। मान लो, तुम ऐसे स्थल पर नियुक्त हो, जहाँ से हिलना वर्जित हो, जैसे एक सैनिक की चौकी। वहाँ से हिलना कर्त्तव्य से पलायन है, जिसका दंड है, गोली से उड़ा दिया जाना– तुरन्त।

दूसरी बार इससे भी ख़राब परिस्थितियों के बीच लक्ष्मण को विकट परीक्षा का सामना करना पड़ा। उत्तर कांड में, क्रमानुसार, जिसको 'रामायण' का अन्तिम भाग कहते हैं, काल श्री राम को स्वर्गलोक में वापस बुलाने के लिये आया, जहाँ उनकी कुछ आवश्यकता थी। वह और श्री राम गुप्त वार्ता के लिये साथ बैठे। काल, जो साधु के वेश में आया था, उसने पहले से ही वचन ले लिया था, "संतरी के रूप में अपने एक श्रेष्ठ व्यक्ति को द्वार पर नियुक्त करो। मैं यह नहीं चाहता कि यहाँ आकर कोई देखे या सुने कि हमारे बीच क्या कुछ हो रहा है। यह पूर्णतया तुम्हारे और मेरे बीच है। मुझे इस प्रकार की आशंका बिल्कुल नहीं होनी चाहिए कि कोई यहाँ सहसा आ जाये और ठहर कर हमारी बात सुन ले।" अतः श्री राम लक्ष्मण से कहते हैं, "सामान्य संतरी को विदा करके उसका स्थान तुम स्वयं ले लो और वहीं ठहरे रहना। तुमने ध्यान दिया, जो अभी–अभी इस साधु ने कहा था? यदि तुम अन्दर आये और हमारी बात ज़रा–सी भी सुनी, तो उसका परिणाम होगा, मृत्युदंड।" "ठीक है," लक्ष्मण कहते हैं।

उन्होंने द्वार पर संतरी का स्थान ले लिया। अन्दर वार्तालाप होता रहा। वह अन्तिम चरम पर पहुँच गया। वह समाप्त प्रायः था। नियति कठोर है। यदि घटनाओं ने एक क्षण भी प्रतीक्षा की होती, तो सब कुछ कुशलपूर्वक समाप्त हो गया होता। किन्तु नियति के चक्र को कौन रोक सकता है। अभी राम और साधु अन्दर ही थे कि वहाँ कोई अप्रत्याशित आ पहुँचते–हैं। कोई और नहीं, स्वयं साक्षात दुर्वासा ऋषि– सदा भुक्खड़, सदा क्रोधाविष्ट। वे उस कक्ष के द्वार पर पहुँच कर अन्दर जाने के लिये आग्रह करते हैं। कितनी नासमझी, कितनी मूर्खता! उन्हें तो केवल भोजन ही चाहिए था। एक छोड़, लक्ष्मण बीस व्यक्तियों के लिए भोजन का प्रबन्ध करवा सकते थे। परन्तु दुर्वासा की हठ थी, "मैं इसी समय राम से मिलना चाहता हूँ, अन्यथा तुम्हें शाप दे दूँगा और पूरी अयोध्या नगरी को शाप दे दूँगा, सबको शाप दे दूँगा। किसी को नहीं छोड़ूँगा।" ऐसी परिस्थिति में लक्ष्मण के लिये क्या विकल्प था? उनको आदेश था, अपने स्थान पर डटे रहने का, अवज्ञा का दंड था– मृत्युदंड। यहाँ था एक ऐसा व्यक्ति, जो अपनी धमकी को कार्यान्वित भी कर सकता था। वह सचमुच लक्ष्मण को, राम को और प्रत्येक को मार भी सकता था। ऐसी परिस्थिति में लक्ष्मण क्या करते हैं? आप क्या करते? मैं क्या करता? स्वयं राम क्या करते? उन्होंने कहा, "परवाह नहीं, मैं मृत्यु का वरण करता हूँ। वे अंदर चले गए। एक व्यक्ति की मृत्यु सर्वनाश से बेहतर है।" देखिए, कितनी असामान्य परिस्थितियाँ आ जाती है।

एकस्य मरणं मेऽस्तु मा भूत् सर्वविनाशनम्। VII.105.9

ऐसा कहकर एक बार फिर उन्होंने कम अनिष्ट का चुनाव किया। तब तक अन्दर का वार्तालाप समाप्त हो चुका था। कदाचित् उन्होंने कुछ देखा हो या अन्तिम शब्द सुना भी हो। राम ने दुर्वासा को शान्त किया, भोजन कराया और विदा किया। एक अत्यन्त कठोर व्यक्ति के प्रति अपना कर्त्तव्य पूरा करने के पश्चात् ही वे लक्ष्मण के पास आये और बोले, "अरे भैया, लक्ष्मण।" "हाँ भैया, राम," वे कहते हैं, "मैं जानता हूँ, आप क्या चाहते हैं। मुझे मार डालिए। मैं तैयार हूँ, मुझे पता था। मेरा जीवन ले लें। यह आपको समर्पित है, लीजिये।" तत्क्षण वसिष्ठ जी बोल उठे, "यह तो पूर्वनिश्चित दैवनिर्णय है। तुमने कहा था कि तुम उसे मार डालोगे। वह दंड का भागी हो गया है, अतः उसे दंड तो भुगतना ही पड़ेगा। दंड को लागू करना ही होगा। ऐसी परिस्थिति में निर्वासन मृत्युदंड के तुल्य माना जाता है।" इस प्रकार मृत्युदंड निर्वासन में बदला गया। इस प्रकार यह समाप्त होता है।

हम देखते हैं कि इन उच्चकोटि के महाकाव्यों की एक विशेषता है, जिसको कहा जाता है, अटल भाग्य का हाथ। भाग्य हमारे लिए सब प्रकार की कठिन परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है। हम सब एक प्रबल शक्ति के हाथ में है, जो किसी भी मानव से कहीं अधिक है। राम बुरे न थे, न ही लक्ष्मण बुरे थे। हम कितने भी

कर्त्तव्यनिष्ठ क्यों न हों, अपने कर्त्तव्यों को कितने ही स्पष्ट रूप से क्यों न समझते हों, हमारा आचरण कितना भी समुचित क्यों न रहा हो, फिर भी तत्काल भाग्य सर्वोपरि मानवीय सुख और शान्ति से परे घोर परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकता है। ऐसी परिस्थितियाँ, जिनमें एक मनुष्य को आज्ञा पालन करना चाहते हुए भी उसका उल्लंघन करना पड़ता है, कभी किसी कर्त्तव्यपरायण व्यक्ति को काम पूरा करने से पूर्व बीस बार संकोच होता है। इस प्रकार की परिस्थितियों का हमें प्रायः सामना नहीं करना पड़ता। मेरे और आपके आदर्श इतने उच्च नहीं होते कि हमारी परीक्षा ली जाये। ये महामानव, जिन्होंने आदर्श आचरण को अपने उदाहरण द्वारा समझाने के लिए जन्म लिया था, उन्हें भाग्य के कोड़ों के कारण ऐसी चरम परिस्थितियों का सामना करना पड़ जाता है, जहाँ उन्हें इस या उस मार्ग के अनुसरण का निर्णय करना कठिन हो जाता है, जहाँ एक कर्त्तव्य का पालन दूसरे कर्त्तव्य के अतिपात बिना नहीं हो सकता, जहाँ सचमुच तुम भयंकर धर्म संकट में हो। तुम किसी भी मार्ग दिशा में मुड़ो, ग़लती अवश्यम्भावी, है, पर चुनाव तो करना ही पड़ता है– ग़लत हो या सही। श्रेष्ठ चुनाव होने पर भी, जो शिक्षा कवि देना चाहता है, वह है कि ग़लती का दंड भुगतना ही होगा।

◈◈◈

पाँचवाँ अध्याय

राम

कदाचित् कुछ उन भावनाओं को स्मरण करना लाभप्रद होगा, जिनसे प्रेरित होकर मैंने यह व्याख्यानमाला आरम्भ की। जैसा कि मैंने विचार व्यक्त किया था, लक्ष्मण एक सीधा–सादा पात्र है– सुबोध और असंगति रहित, ऐसे ढाँचे में ढला, जिससे दुनिया के लोग सुपरिचित हैं। परन्तु श्री राम, जिनके विषय में मैं आज चर्चा करना चाहता हूँ, कुछ भिन्न हैं। उनका व्यक्तित्व उनका व्यक्तित्व कुछ जटिल है। उनकी प्रकृति में कुछ गुणों का अन्य गुणों के साथ अन्तर्विरोध प्रतीत होता है। उनके कुछ कार्यकलाप तो निरन्तर तर्क–वितर्क और विवाद के विषय रहे हैं। हममें से कुछ लोग, जो श्री राम के भक्त हैं, वरिष्ठ आलोचकों से प्रभावित होकर, उनके कुछ कार्यकलापों की आलोचना तक करते हैं। कुछ थोड़े शब्दों में मैं बताना चाहूँगा कि किस प्रकार इतिहास में और कथा–साहित्य पात्रों का निरूपण किया जाता है। ये सब भिन्न–भिन्न प्रतिभा वाले होते हैं। सब अपने क्षेत्र में पारंगत नहीं होते। जब वे चरित्र चित्रण करते हैं, उसमें प्रायः निष्पक्षता, सुसंगति और सामंजस्य नहीं होता। लेखन कला में अनुभवी न होने के कारण, पाठकों की ऐसी धारणा बन सकती है कि पात्रों का चित्रण लेखक के अभिप्राय के अनुकूल नहीं है। तथापि कुछ अन्य लेखक हैं, जो अपने पात्रों का विवरण इस प्रकार देते हैं, मानो वे उनके अभिन्न मित्र हों। उनके अन्तरिम विचारों में उनकी गहरी पैठ रहती है। वे उन्हें पुनः पुनः अपने मस्तिष्क में घुमाते फिराते रहते हैं। अतः ऐसे लेखक जब पात्रों का चित्रण करते हैं, वे उनको हूबहू अपने अभिप्राय के अनुकूल प्रस्तुत करने में सफल होते हैं। ऐसे व्यक्ति संसार के महान लेखक होते हैं। वे अपने नायक, नायिकाओं से सम्बन्धित अपनी निजी परिकल्पनाओं और उनके चरित्र चित्रण, कार्यकलापों और उनकी उक्तियों में पूरा–पूरा सामंजस्य स्थापित कर लेते हैं। कदाचित् वाल्मीकि न तो श्री राम के, न ही रामकथा के सृजक थे। वे तो हमारे सम्मुख उन्हें उसी रूप में प्रस्तुत करते हैं, जिस रूप में वे उन्हें प्रस्तुत किये गए थे। न ही सम्भव है कि उन्होंने निश्चयपूर्वक अनेक घटनाओं और प्रयासों का आविष्कार किया, जिनसे वे अपने नायक और नायिका के चरित्र का निदर्शन करते हैं। वे भी तो उनको युग–युग से प्रचलित रूप में प्राप्त हुए होंगे। मैं

वाल्मीकि और उनकी कथा को साधारण मानवीय दृष्टि से देख रहा हूँ। प्रचलित मान्यता तो यही है कि वाल्मीकि श्री राम के समसामयिक थे और उन्होंने उनके जीवनकाल में ही 'रामायण' की रचना की। यह वस्तुतः सत्य हो या नहीं, पर इतना तो निश्चित है कि राम के चरित्र–चित्रण कथा के विस्तृत विवरण में वाल्मीकि की कल्पना का विलास नहीं है। हमारे विचार से तो वाल्मीकि का योगदान कदाचित् विषयवस्तु के विन्यास तक सीमित है। सम्भवतः वे मनोभाव, जो नायक, नायिका और अन्य पात्रों से जोड़े गये हैं, उन्हीं की देन है। निश्चित रूप से भाषा, शब्द संयोजन, काव्यलंकार–ये सब उनके अपने हैं। यह सब आधार मानने के पश्चात् क्या यह उचित होगा कि आगे बढ़कर यह कहा जा सके कि राम का विवरण, जो इस महाकाव्य में दिया गया है, नायक के चरित्र के प्राप्त रूप से ठीक–ठीक मेल खाता है? मैं समझता हूँ कि यह उचित ही है, और मेरे मन में इसके लिये कोई अधिक शंका नहीं।

अब हम विवाद के अगले बिन्दु पर आते हैं। क्या वाल्मीकि ने राम के सन्दर्भ में प्रचलित कथा–कहानियों और किंवदन्तियों में से, इस कथा का चुनाव किया? क्या उनके समय तक इनमें से कुछ इतने चर्चित थे कि यद्यपि वे उनके विचारों से मेल नहीं खाते थे, फिर भी, वे उन अंशों को! छोड़ न सके? यह तो नितान्त अनुमान का विषय है। जब हम राम की एक पूर्णविकसित पात्र के रूप में चर्चा करेंगे और एक अंश की दूसरे अंश से पारस्परिक अनुकूलता की जाँच करेंगे, तो हमें कहीं–कहीं मानना पड़ेगा कि संभवतः चुनाव में कवि बिल्कुल स्वतंत्र नहीं था। हो सकता है कि जहाँ कहीं परस्पर अनुरूपता की कमी है अथवा अपेक्षित मानदंड से वह कम है, हमें सम्भवतः इस मत का आश्रय लेना पड़ेगा (यह मेरा अपना निजी अनुमान है) कि वह प्रसंग विशेष, जो अनुरूपता के मापदंड पर आघात करता है, कदाचित् वाल्मीकि का चुनाव नहीं था क्योंकि श्री राम को इस प्रसंग से जोड़ने वाली परम्परा इतनी सुदृढ़ थी कि वे उसे छेड़ने का साहस न कर सके। कदाचित् जब एक या दो बार ऐसे सन्दर्भ आयें, तब मैं आपसे यह अपेक्षा नहीं करूँगा कि आपका मूल्यांकन मेरे विचारों से मेल खाये। मैं तो इसका निर्णय सर्वथा आपके ऊपर छोड़ दूँगा और मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी, यदि मेरे मत को आम स्वीकृति नहीं मिलती।

यदि राम, जैसा कि मैं सोचता हूँ, हमारी ही भाँति रक्त–माँस के पुतले थे; यदि हमारे ही समान तत्कालीन वातावरण में विश्व के किसी भूभाग में विद्यमान थे; यदि वे ऐसी ही मानवीय भावनाओं से ग्रस्त थे, जैसी हम अपने दैनन्दिन जीवन में पाते हैं; यदि वस्तु स्थिति ऐसी थी, तो हमें मानना चाहिए कि कभी वे एक स्तर और कभी दूसरे स्तर पर दोलायमान हुए। हमें राम के आचरण या वचनों का मूल्यांकन करना होगा, अपने विश्वानुरूप, किस स्तर पर वे तत्समय थे क्योंकि हम सब अपने अनुभव के आधार पर जानते हैं कि हममें से न तो कोई श्रेष्ठ, न कोई निकृष्ट, न ही पुरुष अथवा महिला नहीं, पूर्व के अथवा पश्चिम के, कोई भी जो मानवीय है, न तो विचार के एक

ही स्तर पर टिक सकता है, न ही आचरण के एक ही स्तर पर कार्यक्षमता के एक स्तर पर। यदा कदा विशेष परिस्थितियों में हम ऊपर उठ जाते हैं, जब हम अच्छी मनःस्थिति में होते हैं, नैतिक विचारों के लिए ग्रहणशील होते हैं, अपने कर्त्तव्य के प्रति सचेष्ट होते हैं, प्रलोभनों का प्रतिरोध करने में अपेक्षाकृत समर्थ होते हैं, उदात्त परिवेष में, उदार व्यक्तियों के बीच, उदार विचारधाराओं का विर्मश करते हुए। उदात्त कार्य करने में, दुर्भाग्य से, इस प्रकार के क्षण जीवन में दुर्लभ होते हैं। ऐसा बहुत ही होता है कि अनुकूल परिस्थितियों का संयोग हो जाये, जो कि हमें अपने उच्चतम स्तर पर स्थिर रखने में सहायक हों। प्रायः अधिकांशतः ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं, जो अधःपतन की ओर घसीटने वाली होती हैं, जैसे की बुरे उदाहरण, अधम प्रलोभन, घृणित प्रतिफल किसी न किसी प्रकार के प्रलोभन हमें घेर लेते हैं। हममें से अत्यन्त दक्ष, प्रशिक्षित व्यक्तियों को भी स्वयं को उच्चतर स्तर तक उठने के लिये एक उत्कृष्ट वातावरण की आवश्यकता होती है। प्रायः अक्सर हम नीचे गिर जाते हैं, कुछ अनुचित बातें भी कर देते हैं, हम कुछ ऐसा भी कर सकते हैं, जो हम अन्यथा नहीं करते। अन्य परिस्थितियों में हम ऐसे काम कर बैठते हैं, जिनके लिए बाद में पछतावा होता है। कभी जानबूझ कर ऐसे काम करते हैं और आशा करते हैं कि अन्य लोग हमारे दोषों को न भाँप लें, और यदि भाँप भी ले तो किसी न किसी लिहाज़ से हमें क्षमा कर देंगे। श्री राम में यह असाधारण गुण था– मैं केवल असाधारण कह रहा हूँ– तात्पर्य यह है कि अप्रतिम गुण, अधिकांश अपने उच्चतम स्तर पर रहते थे। वे यदा–कदा उससे नीचे गिरे। कभी ऐसा हुआ भी, तो हम सहज ही उन परिस्थितियों का पता चला सकते हैं, जो उनके पतन के लिये उत्तरदायी थीं। कदाचित् कभी पतन जानबूझ कर, कदाचित् न भी हो, क्षमा योग्य था। कभी–कभी शायद हमारे जैसे सीमित दृष्टि के लोगों के लिये बहाने ढूँढना कठिन हो जाता है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस विचार से आप न तो भयभीत हों, और न ही इसे निन्दनीय और न ही अनुचित मानें कि कभी–कभी हम देखते हैं कि राम ने ऐसे कार्य किये और ऐसी बातें भी कहीं, जिनका अनुमोदन स्वयं उनकी उच्चतर प्रकृति ना करे। हमारे लिये कहना आसान नहीं है कि उन्होंने ऐसे कार्य क्यों किए, किस कारण से किए और कहाँ तक इनके लिए उनकी प्रकृति को उत्तरदायी ठहराया जाना चाहिए। मैं उनकी पूर्ण सूची प्रस्तुत नहीं करना चाहता, किन्तु इससे पूर्व कि मैं परिचर्चा आरम्भ करूँ, मैं अन्ततः आपको बताना चाहता हूँ कि मेरे विचार में इनके कारण राम की उत्कृष्टता चरित्र में लेशमात्र भी अन्तर नहीं पड़ता। वह मनुष्य मानवीय चरित्र से सर्वथा अनभिज्ञ है और अपने परिवेश के प्रति नितान्त अंधा और बहरा है, जो ऐसा सोचता है क्योंकि यदा–कदा श्री राम में भी मानवीय प्रकृति के सामान्य गुण प्रदर्शित होते हैं, अतः वे साधारण मिट्टी के पुतले थे। ऐसी बात नहीं है। मैं बिना किसी प्रतिबंध के कहना चाहता हूँ, यदि मनुष्य के स्तर पर मनुष्य रूप में उनका मूल्यांकन हो, तो भी राम लगभग निष्कलंक उतरते

हैं। मैंने कहा, 'लगभग निष्कलंक।' मैंने शब्द 'लगभग' का प्रयोग क्यों किया है? 'रामायण' में वर्णित कुछ प्रसंगों को समझने का प्रयास करके, मैं इसका स्पष्टीकरण करना चाहता हूँ। किन्तु, ऐसा करने के पूर्व इसका एक तत्काल सर्वेक्षण करना आवश्यक है। कि आज के युग में राम का क्या स्थान है? हम क्यों उन्हें अद्वितीय मानते हैं, मनुष्य के रूप में, पति के रूप में, मित्र के रूप में, शान्ति और युद्ध के समय सहायक मित्र के रूप में, एवं शासक के रूप में। इस बात को प्रमाणित करने के लिए इस तथ्य से अधिक और किसी साक्ष्य की आवश्यकता नहीं कि जब वे केवल पच्चीस या छब्बीस वर्ष के रहे होंगे (सीता के अनुसार) किन्तु सामान्य गणना के अनुसार सैंतीस या अड़तीस के होंगे अर्थात् जब उनकी आयु केवल इतनी ही थी, उस समय न उनके पास शासन करने के लिये राज्य की सुविधा थी, न जागीर बाँटने के लिये भू–सम्पति थी, न कोई राजकीय सम्मान या उपाधि थी, न ही दान करने के लिये धन और सम्पत्ति। इन सब साधनों और सुविधाओं के अभाव में भी, इतनी अल्प आयु में उन्होंने अपने को अपने युग के शीर्ष गौरव के रूप में प्रमाणित किया। जब भी कोई उनके संपर्क में आता था– चाहे आयु में उनसे बड़ा हो या छोटा, चाहे महान योद्धा हो अथवा साधु–संत या ऋषि–मुनि हो, उनको सादर शीश नवाता था। उनके अपने भाई भी, जो कि आयु के हिसाब से लगभग उनके बराबर ही थे, मानते थे कि श्री राम उनसे उच्च चरित्र की दृष्टि से बहुत आगे थे, अतः उन सबसे अधिकतम सम्मान और श्रद्धा के अधिकारी थे। चाहे अयोध्या कांड में, जहाँ वे अपेक्षाकृत अपने तुल्य लोगों के मध्य में उठते बैठते थे– राजा, रानियों अथवा ऋषि–मुनिओं के बीच या अगले दो कांडों में, जहाँ वे अपने भाई और पत्नी के साथ होते हुए भी वस्तुतः अकेले थे या किष्किन्धा कांड में, जहाँ कुछ लोग थे, जो उनका आदर करते थे और उनके प्रति श्रद्धा भाव रखते थे, उसी प्रकार, जिस प्रकार सामान्य जन एक–दूसरे का आदर करते हैं या फिर युद्ध कांड में, जहाँ उन्होंने महानकार्य किए, विशाल सेना का नेतृत्व किया, युद्ध के महत्वपूर्ण अभियानों का संचालन किया, युद्ध में अनेक शौर्यपूर्ण कार्य किए, किन्हीं भी परिस्थिति बीच, जो भी उनके सम्पर्क में आया, उसने उनको एक अपनी निराली श्रेणी में स्थान दिया, और कभी भी उनसे अपनी तुलना करने का साहस न किया। इसका एक बहुत स्मरणीय प्रमाण युद्ध कांड के अन्तिम चरण में (मैं इसे अंतिम कहूँगा, अयोध्या में अभिषेक को छोड़ कर) मिलता है।

युद्ध की समाप्ति के तुरन्त बाद, जब उन्होंने अपने सामने उस महिला को बुलवाया, जो इस महान युद्ध का मूल कारण थी– उसे, जिसके निमित्त उन्होंने अपूर्व त्याग किए थे, जो अपने प्राणों के समान प्रिय थी, जिसके वियोग में वे अपना जीवन समाप्त भी कर सकते थे। सीता को अपने समक्ष बुलवाकर, उन्होंने ऐसी भावनायें व्यक्त की जिससे एक–एक सुनने वाले के गहरा आघात लगा, न केवल सीता, लक्ष्मण, विभीषण को, अपितु सम्पूर्ण वानरमंडल को और बचे–खुचे राक्षसों को भी।

सबने उनको सुना, सभी ने उनको देखा, प्रतीयमानतः राजसी मुद्रा में बैठे हुए, अपने में खोए हुए, गम्भीर उदासी और चिन्तन में डूबे हुए, परन्तु कठोर, निष्ठुर, निर्मम आशय से भरे भाव व्यक्त करते हुए। सब लोग अपने–अपने स्थान पर खड़े या बैठे रहे। श्री राम की हैसियत क्या है? उस समय वे न तो भारत के चक्रवर्ती सम्राट थे, न ही सामान्य अर्थ में ज्ञानी ध्यानी ऋषि–मुनि थे। फिर भी क्यों किसी ने, न मनुष्यों ने, न वानरों ने उनके प्रतिवाद में एक शब्द भी मुँह से नहीं निकाला? नितान्त स्पष्ट था कि वे कुछ ऐसा करने जा रहे थे, जो उनकी समझ के बाहर था, और जिसको वह स्वयं हो न्यायसंगत सिद्ध कर सकते थे। इसके प्रति असम्मति या अस्वीकृति व्यक्त करने के लिए कोई भी आवाज़ या हाथ नहीं उठा। उस व्यक्ति ने उन सब लोगों पर, जो उनके सान्निध्य में आए, इतना अपरिवर्तनीय आधिपत्य जमा लिया था, कि जो कुछ वे कहते, वही सबके लिये नियम बन जाता था। जो कुछ उनका आदेश होता था, उसका पूर्ण रूप से पालन होना चाहिए था, विरोध के लिये ज़रा भी गुंजाइश न थी। यदि श्री राम कोई ऐसी बात कहते, जिसको लोग अनुमोदन नहीं कर पाते, यह उनका बड़ा दुर्भाग्य होता। स्वीकार अनिवार्य था, उनमें प्रतिरोध करने का साहस न था। मैं अब आपको इस बात का अहसास कराना चाहता हूँ, वह पुरुष कितना महान होगा, जो निर्विवाद रूप से इतना सर्वोपरि बन सका। ऐसे व्यक्ति थे, श्री राम। वे इतने सर्वोपरि नहीं बन सकते थे, यदि सचमुच में वे ऐसे न होते, जिसका वे प्रायः दावा करते थे, धर्म के अभिरक्षक। अनेकों बार, कठिन परिस्थितियों के बीच, जब आसपास के व्यक्तियों ने उन्हें नीचे खींचना चाहा, उन्होंने परामर्श दिया, जो सांसारिक व्यवहार कुशलता की दृष्टि से था, किन्तु उन्होंने अपने कार्य में ऐसे मार्ग का अनुसरण किया, जब कोई अन्य दुनियादारी का ही आचरण करता, जिसके पूर्ण औचित्य और नैतिक विशिष्टता, उत्कृष्टता ने सबको आश्चर्यचकित किया। उन प्रसिद्ध प्रसंगों का उल्लेख न करते हुए, जो अवश्य ही सब आपके ध्यान में आयेंगे, जैसे सत्ता का अपसर्जन, और साम्राज्य का परित्याग, हम शीर्ष प्रसंगों पर आते हैं, जो युद्ध कांड में ही हैं। उस अवसर का स्मरण करें, जब विभीषण उनकी शरण में आया था। जैसा कि आपको मालूम ही है, उन्होंने पूरी युद्धपरिषद की एक बैठक बुलाई, जिसमें अग्रगण्य सलाहकार थे, परन्तु हनुमान को छोड़कार– जो परामर्श देने में कुछ ढुलमुल लगते थे, सभी लोग– यहाँ तक उनका अपना भाई लक्ष्मण भी इस पक्ष में थे कि वे विभीषण की याचना अस्वीकार कर दें। उनमें से एक दो तो चाहते थे कि राम विभीषण को मरवा देने की आज्ञा दें। सर्वथा अकेले, बिल्कुल अकेले, सबके परामर्श के बावजूद, उसको अस्वीकार करते हुए क्योंकि वह उनके आदर्शों के अनुकूल नहीं था, वे उच्चतम स्तर पर उठ कर बोले, "मेरी शरण में आप अपने उन्होंने ये व्यर्थ किसी का नहीं होता, चाहे वह दुष्ट भी हो, परन्तु यदि वह भी मित्र भाव, विनम्र भावनाओं सहित मेरे सम्मुख आयेगा, तो उसे मैं कभी निराश नहीं करूँगा।" आप लोग ज़रा कल्पना कीजिए, उन्हें

अपनी नैतिक शक्ति का कितना महान बोध था, जब उन्होंने इन उच्च भावनाओं को व्यक्त किया और उन्हें कार्यान्वित किया, बिना किसी शर्त अथवा प्रतिबन्ध के।

अब एक अन्य घटना पर दृष्टिपात कीजिए जब राम रावण के साथ विकट युद्ध में उलझे हुए थे और उन्हें एक सुअवसर मिला। रावण को अपने रथ से नीचे उतरना पड़ा, क्योंकि उसका रथ टूट चुका था और उसका बड़ा धनुष भी क्षतिग्रस्त हो गया। राम ने बड़ी भव्यता से साथ अपने शत्रु से कहा– एक ऐसा शत्रु, जिसको केवल जीतने के लिये ही नहीं वरन् मारने के लिए अपनी जाति में कितनी ही योजनायें उन्होंने बनाई थीं– उस क्षण का लाभ उठाकर उसको समाप्त करने के बजाये, वे कहते हैं, "रावण! इस समय तुम बड़ी प्रतिकूल परिस्थिति में हो। आज मैंने तुम्हें अपने सबसे अच्छे रूप में देखा। तुम बड़ी वीरता एवं मर्यादा से लड़े हो। तुमने मेरे अनेक योद्धाओं को समाप्त किया है, किन्तु अब तुम्हें अपने रथ से नीचे उतरना पड़ा है। तुम थके हुए हो। तुम्हें मेरी ही तरह नीचे खड़े होने पर विवश हो। तुम्हारा विशाल धनुष भी नष्ट हो चुका है। मैं तुम्हें समय देता हूँ, घर लौट जाओ। कल तरोताज़ा और सुस्वस्थ होकर, नये धनुष बाण सहित आना। फिर देखना, मैं किस प्रकार युद्ध कर सकता हूँ।" क्या किसी ने इस प्रकार की बात पहले सुनी? कौन सा नायक इस प्रकार के काम करेगा?

एक और प्रसंग देखिये! रावण वध के पश्चात् राम और विभीषण की बातचीत। विभीषण के मन में रावण के प्रति दो भावनाओं में संघर्ष हो रहा था। अन्ततः वह अश्रुपूर्ण नेत्रों से श्री राम के पास आया और बोला, "यह सच है, वह मेरा अग्रज था। यह भी सच है, वह मेरा राजा था। यह भी सच है, उसने बहुधा मेरी रक्षा की। परन्तु वह दुष्ट था। उसने अनेकों स्त्रियों को बिगाड़ा, बरबाद किया, उसने लोगों के जीवन से खिलवाड़ किया, उसने अनुचित युद्ध किए। मेरा मन बिल्कुल नहीं करता कि मैं उसकी अन्त्येष्टि करूँ, चाहे मेरे लिये ऐसा करना अनुचित ही क्यों न हो।" एक साधारण व्यक्ति तो कह सकता था, "इसके शव को समुद्र में फेंक दो और क़िस्सा ख़त्म करो।" किन्तु यहाँ तो चर्चा राम के विषय में है। कदाचित् तुमने ऐसे लोगों के विषय में भी सुना होगा, जिन्होंने मिट्टी में दबे हुए शरीरों को खोदकर फिर जल अथवा अग्नि को समर्पित किया– किन्तु राम ने उस क्षण क्या किया जब विभीषण रावण की अन्त्येष्टि करने को तैयार ही नहीं हो रहा था? राम ने विभिषण के ऐसे द्वन्द्वात्मक क्षण में कहा, "नहीं विभीषण, तुम ग़लती पर हो। मैंने किसी अधम को युद्ध में नहीं मारा। रावण एक महान योद्धा था, वह एक महान मानव था, वह एक महान शासक था और उसकी मृत्यु में भी एक महानता थी। अतएव उसका अन्तिम संस्कार शास्त्रोक्त विधि–विधान से करो," और आगे कहा, "इस प्रकार तुम पुण्य को प्राप्त होगे।"

यदि एक ऐसा मानव था, जो नैतिक शुचिता की अविश्सनीय ऊँचाइयों और भव्यता को छू सकता था, क्या यह आश्चर्य की बात है कि सारी दुनिया उनके सामने नतमस्तक थी और उनकी छोटी से छोटी इच्छा को दिव्य आदेश मानती थी? ऐसे थे,

श्री राम! फिर भी धन्य है मानव प्रकृति, जैसा कि कवि बताते हैं और दुनिया कहती है, एक सर्वनिष्ठ स्वभाव ही, जो हम सबमें विद्यमान है। जब हम राम के विषय में चिन्तन करते हैं, तो प्रायः हम श्रद्धा युक्त विस्मय से भर जाते हैं, परन्तु जब तब हम गर्व करते हैं कि कभी–कभी उन्होंने भी उसी प्रकार सोचा, जैसा हमने सोचा होता। दुःख से वे सन्तप्त हुए, पीड़ा ने उन्हें बुरी तरह से ठोकर दी, उन्हें वेदना सहनी पड़ी। हाय! कवि कहता है, कभी–कभी वे फूट–फूट कर भी रोए, कभी क्रोध से आभिभूत हुए, कभी हताश हुए, कभी–कभी आत्महत्या करने पर भी उतारू हुए। कभी–कभी लोगों के लिए कठोर वचनों का प्रयोग भी किया, कभी–कभी लोगों पर सन्देह भी किया, जैसा कि हम और आप करते हैं। उन्होंने वे सब ऐसी बातें कीं जैसी हम हाड़–माँस के पुतले करते हैं, किन्तु कभी ऐसा न सोचो कि हम उन्हें उनके उच्च स्तर से गिरा रहे हैं। जब–जब हम ऐसी घटनायें देखते हैं, तो बरबस कुछ ऊपर उठकर उनसे बान्धव्य स्थापित कर लेते हैं। हाड़–माँस से हमारे सदृश होते हुए, कभी–कभी हमारी तरह के अभिप्रायों से प्रेरित होते हुए, क्रुद्ध होते हुए, खिन्न और उदास होते हुए भी, न्यूनाधिक हमारी तरह होते हुए भी, उनके लिये अपने को उत्कृष्ट ऊँचाइयों तक उठाना संभव था, जबकि हम जैसे कदापि इतने ऊँचे नहीं उठ पाते– आधा इंच भी अपने सामान्य स्तर से ऊँचा नहीं उठ सकते। क्या हम कुछ हद तक अपनी प्रकृति को नियंत्रण में नहीं रख सकते हैं? घटिया यह सीसा, जिसकी हमारी प्रकृति बनी हुई है, सब सोने में नहीं बदल जायेगा, कदापि नहीं। तथापि हम उस सीसे को साफ़ तो कर सकते हैं, उसकी अपनी नैसर्गिक प्रकृति के अनुसार उसमें चमक तो ला सकते हैं और तब श्री राम के संबन्ध में पढ़ना सार्थक हो जायेगा, तभी 'रामायण' कथा का सुनना लाभकर होगा। तब हमारे जीवन और आचरण पर उदात्त और दिव्य जैसा प्रभाव पड़े बिना न रहेगा, जिसके फलस्वरूप वाल्मीकि के इस महान महाकाव्य के प्रभाव से हम पहले से बेहतर इंसान बन गए होंगे। अब मैं कुछ बेहतर अपने निर्धारित कार्यक्रम पर आता हूँ।

अब मैं यहाँ कुछ ऐसे प्रसंगों को प्रस्तुत करता हूँ, जिसमें श्री राम अपनी मानवीय विशेषताओं का प्रदर्शन करते हैं, न कि अतिमानव दिव्य गुणों का। पहली बात तो यह है कि मेरे विचार से यही अच्छा रहेगा कि मैं किसी क्रम से बोलूँ, क्योंकि मेरी हार्दिक इच्छा है कि मेरा वक्तव्य सुनने के बाद आपमें से कुछ लोग मूल काव्य पर दृष्टि डालेंगे और आप स्वयं ही निश्चय कर सकेंगे कि क्या मैंने आपको सही निर्देशन दिया है अथवा कहीं भ्रमित तो नहीं किया है। पहला प्रसंग हम लेते हैं, जब दशरथ और कैकेयी साथ बैठे हुए थे, अथवा यह कहना अधिक सही होगा कि कैकेयी दशरथ के पास इस उद्देश्य से बैठी थी कि जो निश्चय दशरथ कर चुके थे, उसे किसी प्रकार बदल दिया जाये– जब रानी के आदेश पर राजा ने श्री राम को बुलवाया, एक दारुण समाचार से अवगत कराने के लिये, तो देखें उस समय श्री राम क्या कर रहे थे। तब वे अपने कक्ष में सीता के साथ थे। क्योंकि पिछली बार, जब वे अपने पिता से मिले थे,

उन्हें सूचना दी गयी थी कि उनका युवराज पद पर अभिषेक होने वाला है, वे अगामी उपाधि की पूरी प्रत्याशा में सीता से वार्तालाप कर रहे थे, बिल्कुल जैसे आप या हम समान परिस्थिति में कहते उस पदोन्नति का चिन्तन करते हुए, जो भगवान की अनुकम्पा से हमें पदवी मिलने जा रही हो। उन्होंने सीता से कहा :

देवी देवश्च देवी च समागम्य मदन्तरे।
मन्त्रयेते ध्रुवं किञ्चिदभिषेचनसंहितम्।। II.16.15

उनका मन साफ़ था, उनके हृदय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं था। अतः वे कहते हैं, "निस्सन्देह मेरे पिता जी और माता कैकेयी, दोनों मिलकर मेरे अभिषेक की तैयारी के निमित्त कुछ सुन्दर योजनायें बना रहे हैं। मेरे लिए महत्वपूर्ण बातें प्रतीक्षा कर रही हैं, इसलिए तुम्हारे लिये भी।"

लक्षयित्वा ह्यभिप्रायं प्रियकामा सुदक्षिणा।
संञ्चोदयति राजानं मदर्थं मदिरेक्षणे।। II.16.16

आपको यह तो विदित होगा ही कैकेयी और राम के बीच गहन आत्मीयता थी। वे कहते हैं, "निस्सन्देह कैकेयी का मुझ पर इतना स्नेह है। मेरे प्रति राजा का अभिप्राय सुनकर मेरे अभिषेक को सुन्दर रूप से शीघ्र सम्पन्न करने के लिये ही वे महाराज को प्रेरित कर रही होंगी।"

सा प्रहृष्टा महाराजं हितकामानुवर्तिनी।
जननी चार्थकामा मे केकयाधिपतेः सुता।। II.16.17

"निस्सन्देह ही राज्य में द्वितीय पद पर नियुक्ति के लिये मुझे शीघ्र ही बुलावा आने वाला है," वे सीता से कहते हैं।

हन्त शीघ्रमितो गत्वा द्रक्ष्यामि च महीपतिम्।
सह त्वं परिवारेण सुखमास्व रमस्व च।। II. 16.20

"मैं यहाँ से जाकर महाराज के दर्शन करता हूँ, महान संस्कार के लिये तैयार होता हूँ। तुम अपने परिजनों के साथ यहाँ सुखपूर्वक बैठो और भविष्य की प्रत्याशा का आनन्द लो।"

कवि ने ये मनोभाव उस महान व्यक्ति द्वारा मुखरित करवाये हैं, जो हमारे अध्ययन का विषय है। मेरे विचार में इनसे स्पष्ट पता लगता है कि श्री राम कितने मानवीय थे। उनके जीवन में एक महान घटना घटने वाली थी। अपनी समृद्धि और उत्कर्ष के लिये बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे थे, न केवल अपने पिता की ओर से, वरन् विमाता की ओर से भी, जो उन पर अत्यन्त स्नेह रखती थीं। वे उनकी समृद्धि योजना की प्रतीक्षा कर रहे थे।

जब अनिष्ट का पता चलने के बाद वे लौटे, वे अपनी माता को व्यतिक्रम की सूचना देने जाते हैं। क्योंकि माँ भी आशा भरी उमंगों से फूली नहीं समा रही थी,

उनको बताना ही था। जब वे माता के पास जाते हैं, तो कवि अपने वर्णन में एक पुट देता है, जो कि पहले वर्णन को नितान्त विपरीत बना देता है। राम ने जैसे ही सुना कि उन्हें राज्य का परित्याग करना है और चौदह वर्ष वन में वास करना है तथा राज्य का अधिकारी उनका भाई भरत बनेगा, उस समय कवि कहता है, "उनके धीर मुखमंडल पर ज़रा सी शिकन भी नहीं आई। वह सदा की भाँति दमकता रहा। कोई भी न जान सका कि एक वज्रपात हुआ है। यह सब कुछ होने पर भी ऐसा प्रतीत होता था कि राम अभी भी वैभव और सत्ता के चढ़ते ज्वार पर आरूढ़ हैं। उन्होंने लेशमात्र दुःख या निराशा प्रकट नहीं की।" ये शब्द थे, कवि के उस समय, परन्तु जब राम अपनी माता को सूचना देने जाते हैं, तब कवि कहता है :

धारयन् मनसा दुःखम्। II.19.35

"अपने दुःख को अपने मन के भीतर ही नियंत्रित करा।"

इससे स्पष्ट है कि वे दुःखी तो थे, किन्तु अपने दुःख पर उन्होंने नियंत्रण कर लिया था। ऐसा नहीं था कि उनके मन में किसी प्रकार का दुःख या चिन्ता की परेशानी नहीं थी, न ही कोई दुःख क्योंकि उन्हें समाचार देना था, वे बड़े खिन्न भाव से माँ के पास गए।

धारयन्मनसा दुःखमिन्द्रियाणि निगृह्य च।
प्रविवेशात्मवान् वेश्म मातुरप्रियशंसिवान्।। II.19.35

इससे पता चलता है कि राम चाहे कितने भी महान थे, नैतिक पक्ष की दृष्टि से चाहे उनका विकास कितना भी उत्कृष्ट क्यों न हुआ था, फिर भी विषादयुक्त परिस्थितियों के स्वरूप से वे अछूते न रह सके।

तत्पश्चात् जब वे सीता के कक्ष में पहुँचे, तो परिस्थिति और भी बदत्तर थी। यह स्वभाविक ही था। हमें अच्छा लगता है कि राम का आचरण वैसा ही था, जैसा की उन परिस्थितियों में हमारा होता। शायद हम रोते और ज़मीन पर लुढ़कते। कुछ सीमा तक तो राम भी ऐसे ही भावुक हो सकते थे।

प्रविवेशाथ रामस्तु स्वं वेश्म सुविभूषितम्।
प्रहृष्टजनसंपूर्णं ह्रिया किञ्चिदवांङ्मुखः।। II.26.5

क्योंकि उस महान आयोजन की घोषणा हो चुकी थी,

प्रहृष्टजनसम्पूर्णं

समस्त जन उस सुखद समाचार की प्रतीक्षा कर रहे थे। जब वे अन्तःपुर में गए, उनका मुख लज्जा से कुछ झुका हुआ था।

अथ सीता समुत्पत्य वेपमाना च तं पतिम्।
अपश्यच्छोकसन्तप्तं चिन्ताव्याकुलितेन्द्रियम्।। II.26.6

उमंग से उछलते–कूदते हुए आने के बजाये, उनका मुखमंडल चिन्ता से व्याकुल था। अपने शोकसन्तप्त पति को देखकर सीता बहुत उदास हुईं। अभी तक उन्होंने अपनी भावनाओं को वश में किया हुआ था। अपनी वाणी या मुख पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं आने दिया था। किन्तु जब वे उनके पास गये, जो उनके कारण उमंग से भरी बैठी थीं और वे अपने सुखद समाचार की प्रत्याशा में और दूसरे ढंग से उनका स्वागत करने की प्रतीक्षा में थी शोक को न दबा सके।

तां दृष्टवा स हि धर्मात्मा न शशाक मनोगतम्।
तं शोकं राघवः सोढुं ततो विवृततां गतः।।
विवर्णवदनं दृष्ट्वा तं प्रस्विन्नममर्षणम्।। II.26.7,8

उनका चेहरा बदल गया था। उनके मुख का रंग कुछ पीला पड़ गया था। उनके अंगों से पसीना निकल रहा था। उनके अन्तर्मन में जो व्यथा थी, वे उसको दबाने में असमर्थ हो गए थे।

आह दुःखाभिसंतप्ता किमिदानीमिदं प्रभो।। II.26.8

उन्हें इस अवस्था में देख कर शोकसंतप्त सीता बोली, "इस समय यह आपकी कैसी दशा है?"

अब मैं एक–दूसरे अंश पर आता हूँ, जहाँ कवि राम को लक्ष्मण से बोलता दिखाता है। लक्ष्मण राम के साथ वन जाना चाहते हैं और राम कुछ क्षणों तक प्रयास करते हैं कि वे रुक जायें। कारण तो आप समझ ही गए होंगे। यह प्रसंग उनकी मानवीय कमज़ोरी को भलीभाँति दर्शाता है।

स्निग्धो धर्मरतो वीरः सततं सत्पथे स्थितः।
प्रियः प्राणसमो वश्यो भ्राता चापि सखा च मे।। II.31.10

वे लक्ष्मण से कहते हैं, "तुम मेरे स्नेही, धर्मपरायण, धीर–वीर तथा सदा सन्मार्ग में स्थित रहने वाले हो। तुम मुझे प्राणों के समान प्रिय हो तथा मेरे वश में रहने वाले हो, आज्ञा पालक और सखा हो।"

यह सब भूमिका थी उनको वहीं पीछे छोड़ने के लिये, उनको रोकने के लिये।

मयाऽद्य सह सौमित्रे त्वयि गच्छति तद्वनम्।
को भरिष्यति कौसल्यां सुमित्राम् वा यशस्विनीं।। II.31.11

"यदि हम दोनों के साथ तुम वन को चले जाओगे, तो माता कौशल्या और सुमित्रा की सेवा कौन करेगा?"

अभिवर्षति कामैर्यः पर्जन्यः पृथिवीमिव।
स कामपाशपर्यस्तो महातेजा महीपतिः।। II.31.12

"हमारे पिता, महातेजस्वी महाराज दशरथ अब कैकेयी के प्रेमपाश में बँधे हुए है, जिसने यह बाज़ी जीत ली है। वह संभवतः अपनी सपत्नियों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं करेगी।"

सा हि राज्यमिदं प्राप्य नृपस्याश्वपतेः सुता।
दुःखितानां सपत्नीनां न करिष्यति शोभनम्।। II.31.13

"कैकेयी तो उनका कोई ख़्याल न रखेगी। भरत भी, राज्य पाकर कैकेयी के अधीन रहने के कारण, दुखिया कौशल्या और सुमित्रा का भरण–पोषण नहीं करेंगे।"

एवं कुरूष्व सौमित्रे मत्कृते रघुनन्दन।
अस्माभिर्विप्रहीणाया मातुर्नो न भवेत्सुखम्।। II.31.17

"तुम मेरे लिये ऐसा ही करो क्योंकि हमसे बिछुड़ी हुई हमारी माँ को अन्यथा सुख नहीं मिलेगा।"

उनका तात्पर्य है कि, "मेरी और तुम्हारी माँ हमारे संरक्षण के अभाव में सुखी न रह सकेगी।" आगे चल कर आप देखेंगे कि जब कोई और कैकेयी के विषय में बोलता है, तो राम तुरन्त कैकेयी का पक्ष लेते हैं और कहते हैं, "उनके लिये कोई अपशब्द मत निकालो।" वे चाहे उनके विषय में सन्देह भी करते हों, कदाचित् उनके विषय में राम की धारणा अच्छी भी न हो। सम्भवतः वे मानते थे, उनकी कमज़ोरी को समझ लेने पर, वे कैकेयी के प्रति बिल्कुल नर्मी का रुख़ अपना सकते थे। वे यह भी समझते थे कि कैकेयी अपने लिए नहीं अपितु अपने प्रिय पुत्र, भरत के लिये क्षम्य परिस्थितियों में ऐसा आचरण कर रही है, वह भी नियति के हाथों में नाच रही है। इस प्रकार की छूट वे उनके आचरण की निन्दा करते समय भी देने को तैयार हैं, किन्तु अन्य लोग सम्भवतः ऐसा न कर सके। जब कभी लक्ष्मण ने उनसे कहा, "छिः! मैं तो कैकेयी से घृणा करता हूँ," तो राम ने तुरन्त टोक दिया, "नहीं, लक्ष्मण, ऐसा कहना उचित नहीं।" इसी प्रकार जब वे किसी को भरत की आलोचना करते सुनते, तब वे भरत की भूरि–भूरि प्रशंसा करते। परन्तु, जब वे स्वगत भाषण करते हैं या लक्ष्मण से, जो कि उनसे भिन्न नहीं थे, तब कुछ हद तक उनको अपनी अन्तःभावनाओं को अभिव्यक्त करने का अवसर मिलता है और वे उस समय अपनी गहनतम भावनओं को व्यक्त करते हैं।

अब मैं एक और प्रसंग उल्लेख कर आज का प्रवचन समाप्त करूँगा। हम देखते हैं, विपत्ति का प्रहार होने पर अन्य मनुष्यों जैसे अनुभव करते। उन्होंने मनुष्यों पर सन्देह किया, उन्होंने कैकेयी पर सन्देह किया, कुछ सीमा तक भरत पर भी सन्देह किया–सब कुछ हमारी ही भाँति। अब मैं एक प्रसंग का उल्लेख करता हूँ, जिसमें आप देखेंगे कि राम कभी–कभी दूसरों के साथ निष्पाप परिहास का आनन्द भी ले लेते थे। एक त्रिजट नाम निर्धन ब्राह्मण था। एक अन्य कथा में कुचेला के समान वह भी अपनी

पत्नी के आग्रह पर निजी सहायता के लिये श्री राम के पास आया, जिस समय वे चारों ओर अपनी सम्पत्ति प्रजा को दान कर रहे थे। उसने श्री राम से निवेदन किया, "आप इतना कुछ दान कर रहे हैं, मैं एक निर्धन व्यक्ति हूँ, बहुत से बाल–बच्चों वाला हूँ। धान के दानों को इकट्ठा करना मेरी जीवन पद्धति है, मेरी जीविका का एक आधार है। मेरा काम बड़ी कठिनाई से चलता है। मेरा परिवार बड़ा है। क्या आप मुझ पर कृपा करेंगे?" जब श्री राम उससे कहते हैं, "यह जो तुम्हारा डंडा है, उसे हाथ में लो और वहाँ खड़े होकर अपनी पूरी शक्ति से उसे फेंको। जितनी दूर भी जितनी मेरी गायें इस स्थल और उस स्थल के बीच आयेंगी, जहाँ तक भी तुम्हारी लाठी पहुँचती है, वह सब तुम्हारी हो जायेंगी।" तब राम को यह देखकर बड़ा आनन्द आया कि किस प्रकार, मानो सहसा थोड़े से लालच से प्रेरित होकर, इस ब्राह्मण ने डंडे को दो तीन बार अपने सिर के ऊपर से घुमाया और अपनी पूरी शक्ति से उसे दूर फेंका। वह सरयू के दूसरे तट पर जा गिरी। इस प्रकार तुरन्त अमित पशुधन उसके हाथ लग गया। वे कहते हैं, "कदाचित् मैंने तुम्हारे प्रति कुछ भावशून्य व्यवहार किया, परन्तु राम ने यह सब उसको दे दिया। मैं तो यह देखना चाहता था कि मैं इसको किसी और ढंग से भी कर सकता था, तुम जैसा पतला–दुबला ब्राह्मण कुछ धन प्राप्त करने हेतु अपनी शक्ति का कैसा प्रयोग कर सकता है। मैं जानना चाहता था कि तुम अपनी पूरी शक्ति का प्रयोग कर सकते हो। यह उचित न था। बिना कष्ट दिए ही मुझे सहायता दे देनी चाहिए थी। क्षमा कीजिए, मैं तो कुछ विनोद तरंग में था।"

उवाच च ततो रामस्तं गार्ग्यममिसान्त्वयन्।
मन्युर्न खलु कर्त्तव्यः परिहासो ह्ययं मम।।
इदं हि तेजस्तव यद्दुरत्ययं तदेव जिज्ञासितुमिच्छता मया।
इमं भवानर्थमभिप्रचोदितो वृणीष्व किंचेदपरं व्यवस्यति।। II.32.40-41

"आपका यह जो दुर्लभ्य तेज है, उसी को जानने की इच्छा से मैंने आपको डंडा फेंकने के लिए प्रेरित किया था, यह देखने के लिए आप अपनी शक्ति का किस हद तक प्रयोग कर सकते हैं और क्या यह शक्ति सदा आपके पास में रहती है? आपकी शक्ति प्रदर्शन से मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ। यदि आप और कुछ चाहते हैं, तो बताइये, मुझे आपको देने में प्रसन्नता होगी।"

परन्तु त्रिजट गर्ग गोत्र का था। वह ब्राह्मणों की परम्परा के अनुसार संतोषी था। उसे एक बार में ही प्रभूत धन प्राप्त हो चुका था। उसने कहा, "यह पर्याप्त है, मैं प्रसन्न हूँ।"

अब एक प्रसंग और लेता हूँ। अभी हमने देखा श्री राम यदा–कदा ह्रास–परिहास भी कर सकते थे। अब हम कुछ भिन्न प्रकार की उनकी एक विशेषता पर आते हैं, जब वे रथ पर चढ़ कर महल छोड़ कर वन की ओर प्रस्थान कर रहे थे। महल में बहुत रोना–धोना हो रहा था। सुमन्त्र रथ चला रहे थे। वे ज़रा सी दूर आगे बढ़े ही थे कि

उस समय राजा दशरथ, कौशल्या और अन्य जन महल से बाहर निकल आए, उनकी अन्तिम झलक के लिये। वृद्ध राजा दशरथ ने चिल्लाकर सुमन्त्र से कहा, "ठहरो! ठहरो!" किन्तु राम ने कहा,

तिष्ठेति राज चुक्रोश याहि याहीति राघवः।
सुमन्त्रय बभूवात्मा चक्रयोरिव चान्तरा।। II.40.46

"चलो! चलो! हाँको, हाँको।" कवि कहता है, उस समय सुमन्त्र ऐसे अन्तर्द्वन्द्व में फँसे हुए, थे जैसे कि एक मनुष्य जो रथ के आगे और पीछे दो पहियों के बीच फँसा हुआ हो।

वे नहीं जानते थे क्या किया जाये। राम की ओर उन्मुख होकर बोले, "आपके पिता जी की एक आज्ञा है और आपकी दूसरी सर्वथा प्रतिकूल।" तब राम कहते हैं, "कदाचित् तुम्हें भय है, जब तुम मुझे वन में छोड़कर वापस जाओगे, तो वृद्ध राजा कुपित होंगे, उनकी आज्ञा पालन न करने के कारण।"

नाश्रौषमिति राजानमुपालब्धोऽपि वक्ष्यसि।
चिरं दुःखस्य पापिष्ठमिति रामस्तमब्रवीत्।। II.40.47

"लौटने पर यदि महाराज आज्ञा न मानने पर उलाहना दें, समझ लो, तुम्हें क्या करना चाहिए। केवल इतना भर कह देना कि शोर गुल में आपकी बात नहीं सुन पाया।"

श्री राम सत्यमार्ग से विचलन की सफ़ाई में कहते हैं :

चिरं दुःखस्य पापिष्ठम्।

"झूठ बोलने का औचित्य है कि रोने–धोने को बढ़ावा देना मूर्खता है। शोक के विलाप को बढ़ाना नितान्त मूर्खता है और अनर्थकारी है। इसलिए, चले चलो," वे कहते हैं। प्रतीत होता है कि राम को यह भाव अच्छा लगता था :

चिरं दुःखस्य पापिष्ठम्।

क्योंकि कुछ सर्गों के बाद भी उनको यही बात कहते पाते हैं, जब उन्होंने देखा बड़ी संख्या में जनपद के लोग उनके पीछे–पीछे आ रहे हैं। वे फिर सुमन्त्र से कहते हैं, "रथ को दौड़ा चलो।" जब जनपद के लोग विलाप करते हैं, तो श्री राम कहते हैं :

चिरं दुःखस्य पापीयः II.50.5

उत्तमावस्थावाचक (*पापिष्ठम्*) के बजाय, वाचक (*पापीयः*) विशेषण का प्रयोग करते हैं।

कुछ अन्य छोटी मोटी बातें भी हैं, कुछ अल्पदोष, जिनसे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संकट की घड़ी में राम का आचरण बिल्कुल हमारे जैसा ही होता था।

उनकी प्रवृत्ति संकट से बाहर निकलने के लिये सहजतम मार्ग अपनाने की थी। जिस समय श्री राम वन की ओर जाने लगे, उस समय श्री राम वन की ओर जाने लगे। उस समय अनेक अयोध्यावासी भी उनके पीछे–पीछे चल दिए। उनमें से बहुत से ब्राह्मण भी थे, जो ज्ञान, अवस्था और तपोबल तीनों दृष्टियों से पुनीत थे। वे बड़े हठधर्मी से उनके पीछे–पीछे तमसा नदी तक आए, जहाँ से राम ने बाद में नदी को पार किया। वे पुरवासी रात्रि में इसी ओर सोए। जब ये लोग निद्रामग्न हो गए, तब राम सुमंत्र से बोले, "अब तुम रथ ले जाकर उसे उत्तर दिशा की ओर मोड़ लो, मानो तुम अयोध्या लौटने का प्रयत्न कर रहे हो। जब वे बेख़बर हो जायें, तुम दूसरी दिशा से लौट आना। मैं आकर मिल जाऊँगा और तब हम उनसे अनजान राह पर दूर जा सकेंगे।" इस प्रकार उनको भ्रम में डालने के लिए उन्होंने ये चाल चली, अन्यथा उनसे पीछा छुड़ाना कठिन था। निष्ठा और स्वामी भक्ति से प्रेरित पुरवासी दृढ़ निश्चय थे कि जब तक राम उनकी बात मान नहीं लेंगे और नहीं लौट चलेंगे, तब तक वे हिलेंगे नहीं। ऐसी उनकी आशा थी। वे भोले भाले साधारणजन! उनका तो सब कुछ राम के प्रति समर्पित था, लौटाने की इच्छा करते हुए वे उनका पीछा कर रहे थे। अतएव, किसी छोटी–मोटी चाल से उनसे पीछा छुड़ाना ही था। यही कुछ उन्होंने सुमंत्र को सिखाया।

इन शब्दों के साथ मैं आज का वक्तव्य समाप्त करता हूँ। इस विषय पर फिर विचार करेंगे। राम तो अनन्त और अपार हैं। इसलिये वे मुझे काफ़ी समय तक अपने से संलग्न रखेंगे। मैं प्रयास करूँगा मैं भी किसी न किसी प्रकार उनसे पीछा छुड़ाऊँ, जैसे कि उन्होंने पीछा करने वाले उन ब्राह्मणों से पीछा छुड़ाया था। मैं उन प्रसंगों को एकत्र करने का प्रयास कर रहा हूँ, जहाँ वाल्मीकि ने उन्हें इस रूप में प्रस्तुत किया है कि हम उन्हें समझ सकते हैं। यदि वे सर्वदा उच्चतम स्तर पर ही रहते, कभी उससे नीचे न आते, यदि उनकी महानता अगम्य होती तो हमारे समान होना ही था। कुछ अन्य प्रसंग और हैं, जिनमें हम अपने और राम के बीच श्रद्धाभाव युक्त हैं। इस महाकाव्य के अध्ययन का वहीं तक कुछ लाभ है, जहाँ तक यह हमारी प्रकृति को कुछ ऊँचा उठा सके, हमारी निम्न वृत्तियों को पराजित करने में सहायता दे सके और जब तक और जितनी दृढ़ता के साथ उच्चतर स्तर पर रख सके। हमारा मुख्य प्रयोजन है, यदि संभव हो, इस काव्य से ऐसी शिक्षा लेना है, जो हमें बुराई से अच्छाई की ओर ले जा सके। अतः आगे हम उन प्रसंगों की चर्चा करेंगे, जहाँ पर राम अपने मानवीय गुण प्रदर्शित करते हैं, इतनी मात्रा में कि वे भक्ति और श्रद्धा में बाधा पहुँचाने के बजाय, उनके प्रति हमारा अनुराग और गाढ़ा करते हैं और हमें बाध्य करते हैं उनके साथ निकटता से आबद्ध होने के लिए। उनके मानवीय गुण ही हमें प्रेरित करते हैं, चाहे लघु परिमाण में ही, अपनी निम्न प्रवृत्तियों से अपनी उच्च प्रवृत्तियों तक ऊपर उठने में। इसी प्रकार मनुष्य सुधरता है। ऐसा नहीं है कि मनुष्य सदा कमज़ोरियों से अछूता रहता है, किन्तु जब कमज़ोरी का आक्रमण होता है, वह इन महान उदाहरणों को

स्मरण कर, उससे ऊपर उठने का प्रयास कर सकता है। चाहे सफलता न भी मिले, एक प्रयास असफल हो, दो प्रयास असफल हों, तीसरी बार आंशिक सफलता मिले। किन्तु, प्रयास चलता रहे– चौथा, पाँचवाँ, और इसी प्रकार हमारे जीवन चाहे क्षणभंगुर हों, वे चतुर्दिक ऊबड़–खाबड़ और असंतोषजनक परिस्थितियों से आबद्ध हैं। फिर भी वे जीवन हैं, स्मरण रहे, स्वरूप में श्री राम के जीवन के समान ही। जब हम अपनी कमज़ोरियों से जूझ रहे हों, तब यदि हम श्री राम का स्मरण करें, तो जैसा कि मैंने पहले कहा था, कुछ अल्प मात्रा में ही सही, अपनी प्रकृति को अवश्य उन्नत कर सकते हैं और अपना जीवन अधिकतर अधिक दृढ़ता से और अधिक सार्थक बनाकर जीना सीख सकते हैं।

◈◈◈

छठा अध्याय

राम

पिछली बार मैं राम द्वारा अपने प्रजाजनों के साथ की गई एक निष्कपट चालाकी का उल्लेख कर रहा था। किस प्रकार उन लोगों को, जो उनके पीछे–पीछे आना चाहते थे, भरमाने के लिये उन्होंने चकमा दिया, मानो वे अयोध्या की ओर वापस चले गये हों, जिससे उन्हें पता ही न चल सके कि वास्तव में वे किस ओर गए। आज की चर्चा में मेरा पहले बिन्दु होगा, उस संदेश का सारांश, जो उन्होंने सुमन्त्र को विदा करते समय दिया दिया था। सुमंत्र इक्ष्वाकु कुल के विश्वसनीय, निष्ठावान सारथी एवं पुराने अभिकर्ता थे। वे राम, लक्ष्मण और सीता का साथ छोड़ना नहीं चाहते थे। उन्होंने बहुत अनुरोध किया कि उन्हें भी साथ छोड़ना नहीं चाहते थे। उन्होंने बहुत अनुरोध किया कि उन्हें भी साथ रहने की अनुमति मिले, जिससे वे उनकी सेवा करने का अवसर प्राप्त कर सकें। श्री राम ने अनेक कारण बतला कर समझाया कि वे ऐसा करने में असमर्थ हैं। सुमन्त्र को अयोध्या में उनके पुराने ठिकाने के लिये रवाना किया और एक बड़ा युक्तियुक्त कारण भी बताया। इससे पता चलता है कि श्री राम दूसरों के हृदय की भावनाओं को पढ़ सकते थे– उनकी भी, जो उनसे सर्वथा भिन्न थे। दूसरे शब्दों में, वे ऐसे लोगों तक के हृदय को पहचान सकते थे, जो दुष्ट थे अथवा वे, जिनका उनके साथ कोई सामंजस्य नहीं था। उनसे कुछ भी छिपा न रहता था। सामान्यतः लोग उन्हीं को अच्छी तरह पहचान सकते हैं, जो उनके ही जैसे हों, जिन्होंने उसी प्रकार के अनुभवों को झेला हो, जिनकी मनःस्थिति न्यूनाधिक उन्हीं के समान हो। जहाँ बाह्य परिस्थितियाँ बहुत भिन्न हों, वहाँ किसी को दूसरे व्यक्ति को समझना कठिन होता है, जब तक समझने वाला असाधारणतया चतुर न हो। तमिळ में एक कहावत है, "एक साँप ही दूसरे साँप को जान सकता है।" यह सुपरिचित सिद्धान्त है। इस विचार को यदि वेदान्त के उदात्त क्षेत्र तक ले जायँ, तो भाववाचक भाषा में इसे प्रायः प्रेक्षक और प्रेक्षित को कहकर वर्णित किया जाता है। कहीं–कहीं इसको प्रेक्षक और प्रेक्षित का तादात्म्य भी कहा जाता है। वस्तुस्थिति तो यह है कि एक सीधे सादे भोले–भाले व्यक्ति को, जो दुनियादारी से पूर्णतया परिचित नहीं है, ऐसे दृष्टिकोण को समझने में कुछ कठिनाई होगी, जो उसके अपने निजी स्वभाव के प्रतिकूल हो। जब सुमन्त्र ने

अयोध्या लौटने में आनाकानी की, राम बड़ी चतुराई से कहते हैं, जैसा कि आप तुरन्त समझ सकते हैं, "सुमन्त्र तुम समझ लो, मैं तुम्हें क्यों वापस भेज रहा हूँ। वैसे तो कारण कई हैं। मुख्य यह– है मेरी विमाता कैकेयी एक निष्ठुर और कठोर हृदय स्त्री है। वह निश्चित रूप से जानना चाहेगी कि मैं सचमुच वन में पहुँच गया हूँ या नहीं। यदि उसे इसमें लेशमात्र भी सन्देह हुआ, तो मेरे पिता जी का भगवान रक्षक है। उन पर संकट का पहाड़ टूट पड़ेगा और उनको दंड भोगना पड़ेगा। यदि तुम मेरे बिना लौट कर सब वृत्तान्त सुना दोगे, तो सब कुछ निरापद हो जायेगा। तब कैकेयी समझ जायेगी कि मेरे वृद्ध पिता ने अपने वचनों को पूरा किया और मैंने उनके आदेश का पालन किया। अतएव, अयोध्या में हमारे बिना तुम्हारी उपस्थिति पिता जी की सुरक्षा के लिये अति आवश्यक है।"

मैंने इस प्रसंग की चर्चा केवल यह दर्शाने के लिये की है कि एक और तो श्री राम संसार के सामान्य मनुष्यों से इतने ऊपर उठे हुए थे कि उसका शीर्ष ऊँचे बादलों में था, उत्कृष्टता की चरम सीमा पर लगभग दिव्यता के समीप पहुँच गया था, दूसरी ओर उनके चरण यथार्थ की भूमि पर मज़बूती से टिके हुए थे। तिरपनवे सर्ग में जब तीनों निर्वासित जन गंगा नदी को पार कर एक विशाल वृक्ष की छाया में अपना बसेरा बना लेते हैं, पहली बार सुमन्त्र की अनुपस्थिति में अकेला होने पर श्री राम कुछ क्षणों के लिये अपना आत्म–संयम खो बैठते हैं। उस समय तक वे बड़े उत्तेजना भरे क्षणों से गुज़र चुके थे। उनकी उत्तेजना भरी भावनायें पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थीं। सारी दुनिया की आँखें उन पर थीं। प्रलोभन उनको दबाते रहे। पिता, गुरु, माता तथा अन्य लोगों ने उस मार्ग से हटाने के प्रयास किए, जिसका चुनाव वे कर चुके थे और जिसे वे सदाचार का मार्ग मानते थे। जो भी उनकी भावनायें थीं, उन पर उन्होंने नियन्त्रण रखा। दुनिया की नज़र में जो अहम् बात जतानी थी, वह यह थी वे एक पितृ–भक्त पुत्र थे और वे अपने पिता की मर्यादा को बनाये रखना चाहते थे। उन्होंने अपना सब कुछ दाव पर लगाया और सब कुछ खो दिया, केवल इसलिए कि पिता की मान–मर्यादा अक्षुण्ण रहे। जैसा कि मैं पहले उल्लेख कर चुका हूँ, उन्होंने यह भी दिखाना था कि बाह्य परिस्थितियों के कारण उथल–पुथल हुई, उनके लिए, अथवा उनकी भाग्यलक्ष्मी के लिये, उससे उनमें किसी प्रकार की उदासी या निराशा नहीं आयी, न ही दुर्भाग्य के कारण उनकी समरसता और स्थितप्रज्ञता में कोई विघ्न बाधा पड़ी। उन्होंने यह दिखलाया कि बुरी से बुरी दशा भी उस स्थितदृढ़ निश्चल पवित्र–पावन व्यक्तित्व को हिला न सकी। यदि कोई वस्तु उन्हें प्रभावित करने की क्षमता रखती थी, तो वस्तुतः वह उच्चतम ही हो सकती थी। संसार की क्षुद्र वस्तुयें– जैसे साम्राज्य, मान, प्रतिष्ठा– इनकी उन्हें परवाह नहीं थी। मान–सम्मान से मेरा आशय है, पदवी। यह थी उनकी भूमिका, उन क्लेशकर क्षणों की अवधि में, जो उन्होंने अयोध्या में एवं गंगा तट तक सुमन्त्र के संग यात्रा में व्यतीत किए थे। जब वे सीता और लक्ष्मण के साथ रह गये

और अन्य वहाँ कोई न था, तब जो कुछ नियंत्रण उन्होंने अपने ऊपर रखे हुए थे, वे भंग हो गए। क्षण भर के लिये वे स्वयं से संलाप करने लगे क्योंकि जैसा कि आप समझ सकते हैं, लक्ष्मण और सीता की उपस्थिति उनके एकाकीपन में कोई बाधा नहीं पहुँचाती थी। उन्हें मानो स्वगत कथन के लिए अवकाश भी था। इस मार्ग के अधिकांश में इसका वर्णन है, किस प्रकार उन्होंने अपनी निजी भावनाओं को व्यक्त किया, बिना आत्मसंयम के, नितान्त ध्यान दिये कि लक्ष्मण सुन भी रहे है या नहीं। सीता बड़े ध्यान से सुनती रहीं। प्रत्यक्षतः शब्द लक्ष्मण को संबोधित करते हुए निकल रहे थे। लेकिन क्योंकि लक्ष्मण में, प्रतीकात्मक रूप से भी अधिक उनका अपना अंश था, हम यह मान लें कि उनका भाषण अपने ही को था। मेरा ध्यान कुछ श्लोकों पर गया, जिनका आशय बहुत गम्भीर है। वे, जो हम कह सकते हैं, उस महान व्यक्तित्व के, जिसका अध्ययन हम कर रहे हैं, एक विशेष पहलू को समझने के लिये बहुत आवश्यक हैं। विशेष बात तो यह है कि ये श्लोक यह दर्शाता है कि सामान्य मनुष्य के समान भावनाओं का उद्वेग श्री राम में भी था और गहन भावनात्मक समानता हमारे से थी और सामान्य बातें उन्हें भी सामान्य रूप से ही प्रभावित करती थीं। किन्तु, जब काम करने का समय आता था, तो उनका ढंग अन्य व्यक्तियों के ढंग से विपरीत होता था।

कृतकामा तु कैकेयी तुष्टा भवितुमर्हति।
सा हि देवी महाराजं कैकेयी राज्यकारणात्।
अपि न च्यावयेत्प्राणान् दृष्ट्वा भरतमागतम्।। II.53.6,7

"अब कैकेयी सफल मनोरथ होने से बहुत संतुष्ट होगी, निश्चय ही बहुत प्रसन्न होगी। हो सकता है, भरत को अयोध्या में आया देखकर उसकी महत्वाकांक्षा बढ़ जाये। अपने पुत्र को युवराज बनाने के बजाय, सम्राट बनाने का विचार भी उसके दिमाग़ में आ सकता है। कहीं ऐसा न हो, मेरे पिता के जीवन से खिलवाड़ करे।"

श्लोक का अर्थ है, "कहीं महाराज को मार न डाले।"

अनाथश्च हि वृद्धश्च मया चैव विनाकृतः।
किं करिष्यति कामात्मा कैकेय्या वशमागतः।। II.53.8

"इस वृद्ध, पंगु, असहाय, मेरे बिना अरक्षित, कैकेयी के कामपाश से प्रेमान्ध व्यक्ति की न जाने क्या दशा होगी?"

इदं व्यसनमालोक्य राज्ञश्च मतिविभ्रमम्।
काम एवार्थधर्माभ्यां गरीयानिति मे मतिः।। II.53.10

"मुझको देखकर प्रतीत होता है कि राजा की मति भ्रान्ति तीनों पुरुषार्थ– धर्म, अर्थ और काम में, केवल काम का ही गौरव अधिक है और अधिक धर्म और अर्थ, काम से नीचे हैं।"

को ह्यविद्वानपि पुमान् प्रमदायाः कृते त्यजेत्।
छन्दानुवर्तिनं पुत्रं तातो मामिव लक्ष्मण।। II.53.10

"मैं कोई साधारण पुत्र नहीं हूँ, आज्ञाकारी पुत्र हूँ, जिसे कोई भी पिता अपने समीप ही स्थान देना चाहेगा। परन्तु पिता जी ने जिस प्रकार मुझे त्याग दिया है, उस प्रकार अज्ञ होने पर भी कौन सा पुरुष ऐसा होगा, जो एक स्त्री के मोह और दबाव के कारण अपने आज्ञाकारी पुत्र का परित्याग कर दे।"

सुखी बत सभार्यश्च भरतः कैकेयीसुतः।
मुदितान् कोसलानेको यो भोक्ष्यत्यधिराजवत्।। II.53.11

अब वे भरत के विषय में भी सोचते हैं। वे भरत और अपने में अन्तर बताते हैं, "मैंने तो अपना सब कुछ खो दिया, अपनी पत्नी और प्रिय भाई सहित दूर वन में चला आया हूँ। भरत राजगद्दी धारण कर कौसल पर राज्य करेगा और अपनी पत्नी सहित राज्य भोगेगा। उनके पास अपनी रानी होगी।"

यहाँ ध्यान देने की बात है। यही एक ऐसा स्थान है, जहाँ किसी अन्य भाई की पत्नी की ओर संकेत किया गया है। वह भी नाम से नहीं केवल शब्द '*भार्या*' द्वारा ही। किसी भी अन्य स्थान में कवि ने अन्य व्यक्तियों की ओर संकेत नहीं किया है।

स हि सर्वस्य राज्यस्य सुखमेकं भविष्यति।
ताते च वयसातीते मयि चारण्यमास्थिते।। II.53.12

"पिता जी अत्यन्त वृद्ध हो गए हैं। अतएव, राज्यकाज में भाग नहीं ले सकते। ऐसी दशा में भरत ही समस्त राज्य के सुख का उपभोग करेगा। वह ही सम्राट होगा और अयोध्यावासियों का भाग्यविधाता होगा।"

अर्थधर्मौ परित्यज्य यः काममनुवर्तते।
एवमापद्यते क्षिप्रं राजा दशरथो यथा।। II.53.13

ये शब्द भरत के लिए अत्यन्त दुर्भावपूर्ण हैं। "जो धर्म और अर्थ का परित्याग करके केवल काम का अनुसरण करेगा, वह उसी प्रकार शीघ्र ही आपत्ति में पड़ेगा, जैसे मेरे पिता महाराज दशरथ।"

संकेत है, यदि भरत अपनी भाग्यलक्ष्मी के उपभोग में ही मग्न रहेगा, तो उसकी भी वही गति होगी, जैसी मेरे पिता जी की हुई है।

अपीदानीं न कैकेयी सौभाग्यमदमोहिता।
कौसल्यां च सुमित्रां च संप्रबाधेत मत्कृते।। II.53.15

अपने पिता और भाई के प्रति यह सब कुछ कहकर अब वे विमाता कैकेयी के प्रति उन्मुख होते हैं। "सौभाग्य के मद से मोहित हुई कैकेयी यह स्मरण करके कि कौशल्या और सुमित्रा मुझे कितना प्यार करती हैं, वे मुझसे बिछुड़ना नहीं चाहती थी,

किस प्रकार उन्होंने मेरा पक्ष लिया, वृद्ध राजा से तर्क–वितर्क किया। वह उन दोनों को सुख चैन से रहने न देगी, उनको कष्ट पहुँचा सकती है।"

क्षुद्रकर्मा हि कैकेयी द्वेषादन्यायमाचरेत्।
परिदद्या हि धर्मज्ञे भरते मम मातरम्।। II.53.18

"वह स्त्री कैकेयी बड़ी खोटे कर्म वाली है, चरित्र विहीन है। वह ग़लत काम भी कर सकती है। वह तुम्हारी और मेरी माँ को विष भी दे सकती है।"

देखिए, दबी हुई कुण्ठायें किस प्रकार की विचित्र भावनाओं का प्रदर्शन करती हैं। यह सब कुछ श्री राम की वास्तविक प्रकृति के अनुकूल नहीं है। काफ़ी लम्बे अन्तराल तक बाह्य दिखावे के लिये उन्हें यह सब कुछ अभिनय करना पड़ा, बावजूद उन्हें एक–एक उच्च भूमिका का अभिनय, विपत्तियों के विपरीत साहसपूर्ण मुखाकृति बनानी पड़ी, समस्त जनों के प्रति उच्चतम कर्त्तव्य का स्मरण और परिपालन करना पड़ा। वे एक भारी दबाव, असह्य नैतिक दबाव के नीचे रहे थे। जब वे अपने आपको उन दबावों से मुक्त पाते हैं, तो वे अपने इस बाह्य छद्मवेश को उतार कर फेंक देते हैं, जो उन्होंने अब तक धारण किया हुआ था, तब उनकी वास्तविक प्रकृति की एक प्रवृत्ति बाहर फूट पड़ती है, वह प्रवृत्ति जो उन्हें हम सबके ही समरूप बना देती है। यही प्रवृत्ति उनसे ऐसी असाधारण और अप्रत्याशित बातें उगलवाती है। इन श्लोकों को पढ़ने के पश्चात् मैं एक टिप्पणी करना चाहता हूँ।

एको ह्यहमयोध्यां च पृथिवीं चापि लक्ष्मण।
तरेयमिषुभिः क्रुद्धो ननु वीर्यमकारणम्।। II.53.25

"लक्ष्मण! तुम मुझे क्या समझते हो? तुम मेरी शक्ति से परिचित हो, मेरे पराक्रम को जानते हो, मेरे शौर्य का तुम्हें पता है। यदि मैं क्रोध में आ जाऊँ, तो अपने बाणों द्वारा अकेला ही अयोध्यापुरी तथा समस्त भूमंडल को निष्कंटक बनाकर अपने अधिकार में कर सकता हूँ। मैं अपने छत्र के नीचे सम्पूर्ण वसुन्धरा को समेटने की क्षमता रखता हूँ, किन्तु पारलौकिक हित साधन में बल, पराक्रम का प्रयोग नहीं करना चाहिए। अतएव, मैं ऐसा नहीं करूँगा।"

उन्हें अपनी शक्ति की क्षमता का स्मरण होता है। यह भी स्मरण होता है कि यदि वे चाहें, क्या कुछ कर सकते हैं। तात्पर्य यह है कि चाहे उन्होंने अपनी संकल्पशक्ति मात्र से अपनी इच्छाओं का दमन कर लिया था, अपनी प्रकृति के अधिक निम्न स्वार्थ पहलुओं पर विजय प्राप्त कर ली थी और वन को चले आये और वे कुछ भी ऐसा नहीं कर रहे थे, जो कि वे कर सकते थे, उसे भी हथिया नहीं रहे थे, जो वे हथिया सकते थे, यदि उनकी इच्छा लेशमात्र भी ऐसी होती। *'ननु वीर्यमकारणम'* का तात्पर्य है, "मुझे लोक सामर्थ्य प्राप्त है, वह न्यायविरुद्ध अनुचित कार्य करने के लिये नहीं, परन्तु उचित कार्य करने के लिये है। यदि मैं अपनी शक्ति का प्रयोग

अयोध्या को वापस लेने के कार्यों के लिए करूँ, तो वह सर्वथा अनुचित कार्य होगा। इसीलिए मैं ऐसा नहीं करूँगा। यह न सोचो कि मैं असमर्थ हूँ।" मानो वे स्वयं को ही स्मरण करा रहे हैं।

अधर्मभयभीतश्च परलोकस्य चानघ।
तेन लक्ष्मण नाहाहमात्मानमभिषेचये।। II.53.26

"मैं पिता दशरथ और अन्य सबको एक ओर करके अयोध्या के राज्य पर अपना अभिषेक करा सकता था, परन्तु मैंने ऐसा क्यों नहीं किया? मैं दुराचार से डरता हूँ, इसलिये अपने तुच्छ लाभ के लिये ऐसा कुछ नहीं होने दिया।"

अति उत्तम, साधु, निष्कपट, सदाचारी, धर्मपरायण व्यक्ति में इस प्रकार की निष्ठा होगी ही।

एतदन्यच्च करूणं विलप्य विजने वने।
अश्रुपूर्णमुखो रामो निशि तूष्णीमुपाविशत्।। II.53.27

इस प्रकार के उद्गार व्यक्त कर वे शिथिल हो गये। दुःख भरे अश्रुपात कर उन्होंने रात्रि चुपचाप ख़ामोशी में व्यतीत की। इस प्रकार अपनी प्रकृति की क्षुद्र और निम्न वृत्तियों को मानो उजागर कर मौन धारण कर लिया। शेष रात्रि उन्होंने मनन–चिन्तन में व्यतीत की।

सम्भवतः आप लोगों में से कुछ के मन में एक शंका उत्पन्न हो सकती है, जिसका समाधान मैं यहाँ करना उचित समझता हूँ। ज़रा प्रतीक्षा कीजिए। यह एक धर्माधर्म का विचार और तर्क का विषय है। आपमें से अधिकांश अनुभवी व्यक्ति हैं। दुनिया के पुरुष–स्त्रियों के आचार–व्यवहार से भलीभाँति परिचित हैं। कदाचित् कोई–कोई तर्क में भी सुविज्ञ होंगे। आपकी कल्पना में यह प्रश्न आ सकते हैं कि क्या वास्तव में श्री राम में भी उच्च और निम्न प्रवृत्तियाँ थीं? प्रायः जब उनकी उच्च स्तर प्रवृत्ति का प्राबल्य होता था, वह उनको ऊँचा उठाए रखती थी, साधारण मानवता की पहुँच के बहुत ऊपर। इसने उनको, अपने समय में और बाद में भी, सबके लिये श्रद्धा और भक्ति का पात्र बना दिया। यह उच्च प्रकृति मनुष्य जाति की सुशिक्षा और नैतिक उन्नति के लिये बहुत आश्चर्यजनक बहुफलप्रद ढंग से अभिव्यक्त हुई। दूसरी ओर आपमें से कुछ लोग यह भी प्रश्न उठा सकते हैं, "क्या उनकी प्रकृति में कोई दूसरा निम्नतर पहलू भी था? क्या उनकी संरचना में भी कोई ऐसा तत्त्व था?" हाँ, अवश्य! यह सच है, जैसा कि हमारे में होता है। और में इस प्रवचन माला के आरम्भ से ही मैं इस बिन्दु पर विशेष बल देता आ रहा हूँ। अनेक बार मैंने दिखाया भी है कि 'वाल्मीकि रामायण' में सुस्पष्ट संकेत है कि श्री राम में भी वही मानवीय तत्त्व विद्यमान था, जो उभयनिष्ठ है। अब आप अपनी शंका को इस रूप में पूछ सकते हैं, जो मैं आपके

सामने रखता हूँ। उसका समाधान देने का प्रयास भी करूँगा। उसको आप ठीक–ठीक समझें। मुझे पूर्ण विश्वास है कि जो मैं समझ पाया हूँ, वह सच ही है।

प्रश्न यह हो सकता है कि हम उन व्यक्तियों के विषय में क्या कहें, जिनकी दोहरी प्रकृति होती है, एक उच्च और दूसरी निम्न? निम्न प्रकृति को अपने तक ही रखते हैं, मानो अपनी संगी–साथियों की दृष्टि से छिपा कर और उनको अपनी प्रकृति का उच्चतर अंश ही प्रदर्शित करते हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिये दंभी, पाखंडी की संज्ञा दे सकते हैं। है न यही बात? यह नाम सामान्यतः हम ऐसे व्यक्तियों के लिये प्रयोग में लाते हैं, जो हृदय से कलुषित, आचार व्यवहार में निम्न कोटि के होते हैं। किन्तु, बाहरी दुनिया को दिखाने के लिए मानो बड़ा वादान्य, उदार–हृदय और महान त्यागी रूप दिखाते हैं। वे दुनिया के समक्ष उस वास्तविकता से, जिसको वे छिपाते हैं, बेहतर रूप प्रदर्शित करते हैं। ऐसे व्यक्तियों को हम पाखंडी कहते हैं। अब तक जो मैंने कहा और जैसा कवि ने भी कहा है, इस आधार पर श्री राम को भी पाखंडी की निन्दनीय श्रेणी में रखा जा सकता है क्योंकि वे भी अपनी निम्न प्रकृति को, अपनी स्वार्थपरायण प्रकृति को छिपाये रखते थे, किसी को प्रदर्शित नहीं करते थे, केवल अपने तक ही रखते थे। अपनी प्रकृति का उच्चतर अंश ही वे बाहर प्रदर्शित करते थे। परन्तु तथ्य यह है कि श्री राम का चरित्र पाखंडी की प्रकृति से सर्वथा विपरीत है। मैं चाहता हूँ, आप इस तथ्य को भलीभाँति समझें। यदि उनमें भी इस मिश्रित अंश के तत्त्व विद्यमान है, तो उसमें लेशमात्र भी विषैला अंश नहीं है। एक सामान्य पाखंडी के विषय में तो कहा जा सकता है कि उच्चतर अंश, जो वह बाहर प्रदर्शित करता है, वह उसकी प्रकृति से मेल नहीं खाता, वह धारण किया हुआ है, केवल ढोंग है, उस अवसर के लिए उधार लिया हुआ है। ढोंगी अपनी निम्न प्रकृति से लाभ उठाता है, परन्तु गुप्त रूप से। उसकी उच्चतर प्रकृति, जो उसके असंगत है, केवल ऊपर से ओढ़ी हुई होती है, केवल एक बाह्य लबादा है, दुनिया की आँखों में धूल झोंकने के लिए, दुनिया की आँखों में धूल झोंकने के लिए, इसलिये कि वह अपनी वास्तिव निम्न प्रक्रति में सक्रिय होकर बुरे व दुष्ट कार्य कर सके,अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये।

श्री राम की ओर दृष्टिपात करें। उनकी निम्न प्रकृति न केवल अप्रत्यक्ष थी, वरन् उसका दमन कर दिया गया था, उस पर उन्होंने विजय प्राप्त कर ली थी। उन्होंने कोई भी काम अपने निजी स्वार्थ के लिये नहीं किया, कदापि नहीं किया। स्वार्थ भावना को उन्होंने अधर्म माना, नैतिक बल प्रयोग से उसे दबा दिया गया और उससे वे बहुत ऊपर उठ गए। जो कार्य उन्होंने किए, जिस प्रकार का आचरण उनका रहा, जो वास्तविक रूप से दुनिया के सामने आया, वह वस्तुतः उनकी उच्चतर प्रकृति थी। जो कुछ सैद्धान्तिक रूप से किया, उसे व्यावहारिक रूप में कार्यान्वित किया। उनकी उच्चतर प्रकृति की प्रेरणायें और उनके दिव्य तत्त्व बार–बार प्रदर्शित होते हैं, निरा मानवीय तत्त्व कुचल दिया गया है। यह किसी ढोंगी व्यक्ति की कार्य शैली से सर्वथा

प्रतिकूल है। श्री राम और ढोंगी में एक बाहरी समानता होते हुए भी वास्तविकता इस तथ्य को स्पष्ट करती है कि उच्चतर तत्त्व ही श्री राम की मूल प्रकृति था। उनकी प्रकृति का निम्न तत्त्व केवल चिपका हुआ था, क्योंकि वे साधारण मनुष्यों के बीच आये, एक मनुष्य थे, और मनुष्यों के बीच उनकी गति भी मनुष्यों के समान ही थी। एक छोटे से बिन्दु ही पर उनकी हमारे साथ सजातीयता थी। छोटी मोटी बातें, जो हमें प्रभावित करती हैं, नियंत्रित करती हैं, उनको भी वे प्रभावित करती थीं। परन्तु वे उन पर शासन न कर सकीं और उन पर हावी न हो सकीं। परन्तु श्री राम ने उन पर शासन किया। यही भारी अन्तर है, अति आवश्यक भिन्नता है, जो श्री राम और हमारे जैसे मनुष्य के बीच एक भारी विकास की अत्यधिक गुणात्मक भिन्नता के रूप में विद्यमान है।

इतना कह कर मैं एक अन्य कुछ भिन्न प्रकार की घटना का उल्लेख करता हूँ, जिससे पता चलेगा कि श्री राम में हमारे समान ही एक अन्य विशेषता भी थी। उनमें एक ऐसा गुण भी था, जिसकी निन्दा करने का कोई कारण नहीं है और जिसका उल्लेख मैं पहले भी कर चुका हूँ। कभी–कभी कुछ थोड़े विनोद का आनन्द लेना भी उन्हें अच्छा लगता था, जैसे कि त्रिजट के सन्दर्भ में। उन्होंने उस वृद्ध के साथ मज़ाक किया और जब नाटक समाप्त हो गया, उन्हें पछतावा हुआ और उससे बोले, "भई, मैं तो केवल मज़ाक़ कर रहा था। मैं समझता हूँ इससे तुम्हें कोई क्षति नहीं पहुँची। यदि तुम्हें कोई और इच्छा हो, तो माँग लो।" परन्तु वह ब्राह्मण तो संतोष का मूर्त्त रूप था उसने और कुछ न माँगा।

अब मैं अरण्य कांड पर आता हूँ, जहाँ उनकी भेंट शूर्पणखा से होती है। शूर्पणखा का आगमन उन तीन व्यक्तियों की दुनिया में एक स्पन्दन उत्पन्न कर देता है। वह उन तीन व्यक्तियों के बीच एक विकराल, कुरूप, डरावने प्राणी के रूप में प्रकट होती है। तत्पश्चात् हास्य–विनोद का एक मज़ेदार दृश्य घटित होता है। ऐसा प्रतीत होता है, कवि स्वयं भी इस चटपटे दृश्य का आनन्द ले रहा है। अतएवः हम भी यदि थोड़ा–सा आमोद–प्रमोद का आनन्द लूट लें, कदाचित् अक्षम्य न होगा। कवि के आनन्द का इससे पता चलता है कि उसने राम और उनके सामने बैठी शूर्पणखा का यह वैषम्य आवश्यकता से अधिक विस्तार से वर्णन किया है। कवि का आनन्द स्वाद बड़ी अच्छी प्रकार प्रदर्शित होता है, जब शूर्पणखा राम से प्रेम प्रदर्शन करती है। प्रेम करने के लिये कैसी युगल जोड़ी? मैं यह श्लोक इस प्रसंग में पढ़ता हूँ :

सुमुखं दुर्मुखी रामं वृत्तमध्यं महोदरी।
विशालाक्षं विरूपाक्षी सुकेशं ताम्रमूर्धजा।।
प्रीतिरूपं विरूपा सा सुस्वरं भैरवस्वरा।
तरूणं दारूणा वृद्धा दक्षिणं वामभाषिणी।। III.17.10-11

श्री राम का मुख सुन्दर था और शूर्पणखा का भद्दा और कुरूप, उनका कटि प्रदेश क्षीण और शूर्पणखा का बेडौल, उनकी आँखें बड़ी एवं मनोहर, लेकिन शूर्पणखा के नेत्र कुरूप और डरावने। श्री राम के केश चिकने और सुन्दर किन्तु शूर्पणखा के ताँबे जैसे लाल–लाल। श्री राम का रूप बड़ा प्यारा और शूर्पणखा का वीभत्स और विकराल। उनका स्वर मधुर औरे राक्षसी का और भैरवनाद वाला, डरावना। यहाँ मैं कवि की वाक्प्रौढ़ता की ओर ध्यान दिलाना चाहता हूँ, यह अभिव्यंजना सिद्धि, जो सहज ही उसे प्राप्त है। *'दक्षिणं वामभषिणी'* को देखिए। मेरा अनुमान है कि इसका प्रयोग शाब्दिक अर्थ में किया गया है। 'दक्षिण' का अर्थ है, विशाल हृदय, उदार। *'वाम'* का अर्थ है, दुष्ट, दुराचारी। दक्षिण और वाम शब्द की विषमता की गई है, वह इतनी उनके प्रतीकात्मक रूप में नहीं है, जितनी मूलार्थक रूप में।

न्यायवृत्तं सुदुर्वृत्ता प्रियमप्रियदर्शना। III.17.12

ये न्यायोचित सदाचार का पालन करने वाले थे और वह अत्यन्त दुराचारिणी थी। श्री राम देखने में प्यारे लगते थे और शूर्पणखा को देखते ही घृणा उत्पन्न होती थी। श्री राम की तुलना शूर्पणखा से की जाए, कोई भी यह पसन्द नहीं करेगा। समानता का तो कोई बिन्दु ही नज़र नहीं आता, तथापि कवि ने पूरा आनन्द लेते हुए सुप्रयुक्त शब्दों की शृंखला द्वारा दोनों का वैषम्य बड़े कौशल से अभिव्यक्त किया है। जब शूर्पणखा वहाँ पहुँची, उसने श्री राम से पूछा, "हमारे क्षेत्र में चले आने वाले तुम कौन हो? यह मेरे भाई का अधिकृत क्षेत्र है, तुम यहाँ कैसे?" तत्पश्चात् कवि श्री राम की भूरि–भूरि प्रशंसा करना आरम्भ कर देता है।

ऋजुबुद्धितया सर्वमाख्यातुमुपचक्रमे।
अनृतं न हि रामस्य कदाचिदपि सम्मतम्।। III.17.15

श्री राम निष्कपट स्पष्टवादी व्यक्ति थे। कुटिल, छलकपट की बात उनके मन में नहीं आ सकती थी, यद्यपि वे अन्य जनों के छल–कपट को समझ सकते थे। वे अपना और भाई, लक्ष्मण और सीता का परिचय देना आरम्भ कर देते हैं कि वे कौन थे और वे क्यों सीता और भाई के साथ वन में आए। उन्होंने अपनी कहानी समाप्त की। परन्तु कवि यहाँ आगे जोड़ता है, *'अनृतं न हि रमस्य कदाचिदपि सम्मतम्।'* कवि श्री राम की सत्यवादिता को सराहता है। श्री राम सत्यनिष्ठ महामानव थे, हर बात में ऋजुता का विशेष ध्यान रखते थे। वे इस समय तक आश्रमवासी थे, जहाँ असत्य के लिये कोई स्थान ही न था। इसके अतिरिक्त उनके सम्मुख एक स्त्री थी, चाहे कैसी भी हो पर थी तो एक स्त्री। अतएव, उन्होंने सीधा–सादा उत्तर दिया। कवि इस प्रकार शूर्पणखा के श्री राम के समीप आने के प्रयास का हमें परिचय देता है। श्री राम को आकर्षित करने के वे प्रयास बड़े वीभत्स जघण्य थे। अपना परिचय देकर, अंत में कहती है, "तुम्हारा रूप–सौन्दर्य अपूर्व है। इस सुन्दर रूप के दर्शन से मैं अत्यन्त

प्रभावित हूँ और तुम्हें पति रूप में धारण करना चाहती हूँ। मेरे साथ चलो, मैं तुम्हें बन्धन से मुक्त कर दूँगी। स्पष्ट है, इस समय तुम बन्धन में हो। मैं तुम्हें मुक्त कर दूँगी। मैं लक्ष्मण को एक ग्रास में भक्ष लूँगी और सीता को दूसरे ग्रास में। इस प्रकार तुम्हारी अड़चने दूर हो जाने पर तुम और मैं इस वन में विहार करते हुए जी भर कर मनोवांछित आनन्द का उपभोग कर सकते हैं।" श्री राम को लगा कि परिस्थिति कुछ हास्यजनक मोड़ ले रही है। उनके मन में कुछ हास्य–विनोद का आनन्द लेने का विचार आया। परन्तु इस स्थान पर मैं अधिक ध्यान राम द्वारा स्वयं के चरित्र–चित्रण की ओर दिलाना चाहता हूँ, जो कि इस सन्दर्भ में शंकास्पद हो जाता है। श्री राम किष्किन्धा कांड में दो बार सुग्रीव से कहते हैं :

अनृत नोक्तपूर्वं मे वीर कृच्छ्रेऽपि तिष्ठता।
धर्मलोभपरीतेन न च वक्ष्ये कथंचन।। IV.14.14,15

"बहुत समय से संकट झेलते रहने पर भी मैंने कभी झूठ नहीं बोला है, मेरे मन में धर्म का लोभ है। इसलिए किसी तरह मैं झूठ तो बोलूँगा ही नहीं। साथ ही यहाँ मैं वचन देता हूँ, प्रतिज्ञा करता हूँ।"

यदि इन शब्दों को अक्षरशः सत्य लें, तो अवश्य ही कुछ आश्चर्य होगा यह देखकर कि श्री राम इस मन्दबुद्धि स्त्री शूर्पणखा द्वारा कुछ हास्य–विनोद का आनन्द लेने का प्रयास करते हैं। वे शूर्पणखा से कहते हैं :

अनुजस्त्वेष मे भ्राता शीलवान् प्रियदर्शनः।
श्रीमानकृतदारश्च लक्ष्मणो नाम वीर्यवान्।।
अपूर्वां भार्यया चार्थी तरुणः प्रियदर्शनः।
अनुरूपश्च ते भर्ता रूपस्यास्य भविष्यति।। III.18.3,4

इन शब्दों का श्री राम ने शूर्पणखा से वार्तालाप करते समय प्रयोग किया। ज़रा देखिए, वे क्या–क्या कहते हैं? "यह *'अनुजः'* है– मुझसे छोटा; 'शीलवान्' है– एक भद्रपुरुष, प्रियदर्शनः है– सुन्दर; *'अकृतदारः'* है– अविवाहित। उन्होंने अभी तक पत्नी का साहचर्य नहीं किया है। स्त्रियों के साथ उनका अभी तक ज़्यादा सम्पर्क भी नहीं रहा है। उनकी इच्छा भी है, *'अपूर्वी भार्या चार्थी'*। तुम एक सुन्दर मनोहर स्त्री हो, तुम दोनों की जोड़ी बढ़िया रहेगी। वे तुम जैसी स्त्री के लिए उपयुक्त पति रहेंगे।"

एवं भज विशालाक्षि भर्तारं भ्रातरं मम। III.18.5

"उनको अपना लो। मेरा पीछा छोड़ो, मेरी तो पत्नी है।"

इन शब्दों से ऐसा प्रतीत होता है और बिल्कुल सन्देह नहीं कि श्री राम उस मन्दबुद्धि स्त्री का मज़ाक बना रहे थे। वे *'भर्ता'* शब्द का दो बार प्रयोग करते हैं। "उनको अपना लो," और उसे कहते हैं, "वे ही तुम्हारे लिये उपयुक्त पति हैं।" परन्तु खेद का विषय है कि कुछ टीकाकारों ने *'अकृतदारः'* शब्द को पकड़ लिया है। यह

मानना ही पड़ेगा कि राम भक्तों का एक ऐसा वर्ग भी है, जो नहीं चाहता कि हम श्री राम को इस विनोदप्रिय रूप में देखें। क्या श्री राम भी कभी इस प्रकार का हास्य कर सकते हैं? क्या उनमें भी इस प्रकार के हास्य की सम्भावना हो सकती है? उन्हें तो एक गम्भीर मूर्त रूप धर्म का मनुष्य होना चाहिए, उनका सामान्य मनुष्यों के स्तर पर हँसी–ठिठोली तथा अन्य ऐसी बातें करना सर्वथा बेतुका एवं हास्यास्पद लगता है। अतएव *'अकृतदारः'* शब्द का अर्थ तोड़–मरोड़ कर वे अपने ही ढंग से करने का प्रयास करते हैं। उनमें से एक कहते हैं, "संस्कृत भाषा में प्रत्येक धातु के अनेक अर्थ निकल सकते हैं। *'अकृतदारः'* का अर्थ है, एक पुरुष विवाहित तो है, परन्तु अपनी भार्या को साथ नहीं लाया है।" वे सोचते हैं कि इन श्लोकों का अर्थ इस प्रकार लगाकर वे श्री राम के सत्यवादी रूप को बनवाने में सफल हो गये हैं। अब बताइये शब्द *'भार्या'* और *'भर्ता'* का क्या करें? टीकाकार पुनः चतुराई से कहते हैं कि *'अनुरूपश्च ते भर्ता–ते अभर्ता।'* यदि इस शब्द को ऐसा समझा जाये, तो परिणाम ऐसा लगेगा कि राम भी कुछ भी कह सकते थे। यदि सचमुच श्री राम का यह आशय होता कि लक्ष्मण अपनी पत्नी को साथ नहीं लाये, तो क्या वे उस बेचारी मन्दबुद्धि स्त्री से यही बात सीधी भाषा में नहीं कह सकते थे? क्या यह उचित था कि श्री राम *'अकृतदारः'* शब्द कह कर शूर्पणखा को यह अर्थ लगाने दें कि लक्ष्मण अविवाहित थे और दूसरा अर्थ अपनी संतुष्टि के लिए मन में रखें। दूसरा अर्थ देने में क्या तुक है? टीका कारों को इससे क्या लाभ पहुँचता है? हममें से बहुत से ऐसे चतुर लोग भी है, जिनको तर्क–वितर्क में आनन्द आता है– केवल शाब्दिक क्रीड़ामात्र के उद्देश्य से उनका प्रयास रहता है कि किस प्रकार वाद–विवाद में दूसरे पक्ष को मात दें। वे ही बड़ी गम्भीरता से इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार करते हैं : *'अकृतदारः'* शब्द से श्री राम का आशय था ऐसा व्यक्ति, जिसकी पत्नी इस समय उनके साथ नहीं है।* प्रश्न यह है कि श्री राम शूर्पणखा को क्या समझना चाहते थे? उनके अपने मस्तिष्क में क्या था, इससे कोई प्रयोजन नहीं। यदि इस कारण से शूर्पणखा को गलतफ़हमी हुई, तो श्री राम धोखा देने के लिए दोषी ठहरते हैं। अंग्रेज़ी भाषा में एक शब्द है : 'equivocation', 'वक्रोक्ति', जिसका अर्थ है, ऐसे शब्दों का प्रयोग, जिनके दो अर्थ निकल सकते हो। एक अर्थ दूसरों के लिए, दूसरा अर्थ स्वयं अपने लिये। महत्व इस बात का है, आपकी बात दूसरा पक्ष किस रूप में समझता है। यदि दूसरा पक्ष उसका सामान्य अर्थ लेता है, उसे वही अर्थ–सम्भव लगता है, लेकिन वह पक्ष धोखे का शिकार हो जाता है और आप धोखेबाज़ी के अपराधी बन जाते हैं। शब्द का दूसरा अर्थ भी आप न्यायालय के समक्ष दलील के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं, यदि कोई आप पर झूठ बोलने का

* उपर्युक्त गोविंदराज की टिप्पणी इस प्रकार है :

अकृतदारः असहकृतदार इत्यर्थः। "न वितथा परिहसकथास्वपि" इत्युक्तेः।

"अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन" इत्युक्तेश्च अकृतदार इति नार्थः।। IV.7.22

दोष लगाता है। किन्तु यह बात असंगत है, बिल्कुल असंगत है। फिर भी कुछ लोग हैं, जो अपना समय, अपनी शक्ति और अपना संस्कृत व्याकरण का ज्ञान शब्दों को मनमाने ढंग से विच्छेद करने में व्यय करते हैं। वे शब्दों को तोड़ मरोड़ कर उनको उनके सन्दर्भ में से निकालकर एक ऐसी वाक्य रचना तैयार करते हैं, जिसको यदि सीधे–सीधे ढंग से लिया जाये, तो ऐसा अर्थ निकलता है, जो सामान्य बुद्धि को सीधे ढंग से स्वीकार्य होता है। किन्तु, उनकी अपनी शब्दिक व्याख्या करके, उसका एक निराला अर्थ निकाल कर, अन्ततोगत्वा इस प्रकार के अर्थ–निर्णय से किसी पात्र के चरित्र की रक्षा नहीं हो सकती। प्रत्येक भाषा में इस प्रकार के अलंकार होते हैं, जैसे श्लेष और यमक पूर्वात्य कदाचित् संस्कृत भाषा सबसे समृद्ध है, जिसमें वाक्य दो अर्थ देने वाले बड़ी सुगमता से गढ़े जा सकते हैं। इस विषय में फ्रेंच भाषा विशेष रूप से समृद्ध है। शायद ही कोई भाषा हो पूर्वोदय या पश्चिमी, जिसमें यह अलंकार न हो। मेरे विचार में सब नीति शास्त्री सहमत होंगे कि श्लेष झूठ से भी बुरा है। हमारे अपने साहित्य में एक विधा है, जिसमें एक शब्द अथवा वाक्यखंड के दो अर्थ होते हैं। एक सन्दर्भ के लिए उपयुक्त अन्य सूक्ष्मार्थी, संभवतः लाक्षणिक, कदाचित् भविष्य की ओर संकेत करने वाला, जब कि वह पूर्ण रूप से नितान्त दूसरे अर्थ में समझा जायेगा। ऐसा कहा जाता है कि एक न एक महाकवि, महान संत, एक विशेष आत्मनिग्रह में सिद्ध पुरुष, ऐसे लोग कभी–कभी ऐसे शब्दों का प्रयोग कर सकते हैं, जिनका उस समय कुछ एक अर्थ हो, परन्तु दूसरा अर्थ कोई आन्तरिक शक्ति अथवा कोई बाह्य शक्ति तुम्हें प्रभावित करके ऐसे शब्द का प्रयोग करने के लिए परिचालित करती है, जिसमें सर्वथा दूसरा अर्थ समाहित होता है, परन्तु भिन्न बात है कि शब्द *'अकृतदारः'* की व्याख्या इस प्रकार की जाये, जिसमें राम को झूठ बोलने के आरोप से बचाया जा सके। इसका अभिप्राय यह होगा कि इन शब्दों का ऐसा भी हो सकता है। जो केवल राम ही जानते हैं, किन्तु श्रोताओं के मस्तिष्क में वह अर्थ विद्यमान नहीं था। महत्व इस बात का है कि श्रोता के मस्तिष्क में क्या प्रवेश करता है। यदि श्रोता का चित्त भ्रमित हो जाता है, तो उसका दोष वक्ता पर आता है। उस दोष से वक्ता को मुक्त नहीं किया जा सकता। अतएव, मुझे ऐसा विश्वास करने में ज़रा सा भी संकोच नहीं होगा कि इस अंश का अभिप्राय केवल परिहास ही था। अब मैं आपको पढ़ कर सुनाऊँगा एक महान टीकाकार नागो जी भट्ट अपनी टीका में इस विषय में क्या कहते हैं। उनका कथन ध्यान देने योग्य है क्योंकि वह गोविन्दराज के बाद में लिखा गया था। उन्हें इस बात का पूरा ज्ञान था कि उस परम्परानिष्ठ टीकाकार ने इस विषय में क्या यहाँ भी ऐसे शब्द हैं, जो कि या तो संयोग वश अथवा कवि की परिकल्पना के कारण इस प्रकार निर्मित हुए हैं कि जहाँ एक अर्थ किसी सन्दर्भ में बिल्कुल सटीक है, वहीं दूसरा अर्थ भी है, जो कि, पहले अर्थ से बिना टकराये, किसी आने वाली स्थिति की ओर संकेत करता है। वे इस प्रकार कहते हैं* : "शब्द *'अकृतदारः'* का अर्थ कुछ टीकाकार करते

हैं : 'ऐसा व्यक्ति, जो कि विवाहित तो है, किन्तु पत्नी को साथ नहीं लाया और इस समय पत्नी की सहचारिता उसको प्राप्त नहीं है।' वस्तुतः मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह अंश सामान्य रूप से समझा जाना है। यह भी स्मरण रखना होगा कि कवि हमसे यह अपेक्षा करता है कि हम मानें कि जब कोई परिहास कर रहा है, तो सत्य से ज़रा इधर–उधर विचलित हो जाना कोई बड़ी बुराई या पाप नहीं। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि लक्ष्मण एक परिहास यह प्रमाणित करने के लिए कर रहा था और श्री राम का अभिप्राय कुछ ऐसा नहीं था, जैसा कि भाष्यकारों ने लिया है, लक्ष्मण के वक्तव्य से सुस्पष्ट साक्ष्य मिलता है। उसका तात्पर्य उसे परिहास के सिवाय और कुछ लिया जाना नहीं था। यहाँ कोई टीकाकार अपनी चतुराई नहीं दिखा सकता।

एनां विरूपामसतीं करालां निर्णतोदरीम्।
भार्यां वृद्धां परित्यज्य त्वामेवैष भजिष्यति।। III.18.11

लक्ष्मण सीता का विवरण इस प्रकार करते हैं। उन्हीं शब्दों : *'विरूपा'*, *'कुरूप'*, *'असती'*, *'कराला'*, *'निर्णतोदर'*, प्रयोग करते हुए, जिनका शूर्पणखा पूर्वमेव ही सीता के लिए प्रयोग कर चुकी थी, यह दिखलाने के लिये कि उसके लिए श्री राम ही उपयुक्त और योग्य पति हो सकते हैं। लक्ष्मण शूर्पणखा से कहते हैं, "ये सज्जन मेरे स्वामी हैं, मैं उनका सेवक। यदि तुम मुझसे विवाह करती हो, तो तुम्हें एक सेवक की सेविका बनना पड़ेगा और सीता की सेविका भी बनना पड़ेगा। तुम उन्हीं से विवाह करो, वे ही तुम्हारे अनुरूप है। उन्हें क्यों उस कुरूप स्त्री के बन्धन में बंधा रहना चाहिए? उसके तो पैर भी नहीं दिखाई देते। उसके शरीर में तो कुछ है ही नहीं। विनोद से सीता की पतली कमर की ओर इशारा है। वह तो एक बुढ़िया जैसी जीर्ण–शीर्ण लगती है। वे उसको विदा कर त्याग देंगे और तुमको अपना लेंगे। इस प्रकार के लक्ष्मण के द्वारा कहे गए अनेक श्लोक हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि वे परिहास कर रहे थे, किन्तु वह मूढ़ा स्त्री इस परिहास को समझ न सकी। प्रत्येक शब्द के उसने शाब्दिक अर्थ लिए। राम से लक्ष्मण की ओर लक्ष्मण से राम की ओर उसे भगाया गया। वह इस इधर–से–उधर के उछाल को सहर्ष स्वीकार करती रही और अन्त में वह राम के पास आकर कहने लगी, "अब देखो, मैं तुम ही से विवाह करने जा रही हूँ। यदि तुम यह सोचते हो कि सीता बाधा है, तो मैं चट सीता को खा जाती हूँ, इसी क्षण।" ऐसा कहती हुई वह सीता की ओर बढ़ी।

इति सा लक्ष्मणेनोक्ता कराला निर्णतोदरी।
मन्यते तद्वचस्तथ्यं परिहासविचक्षणा।। III.18.13

---

* तिलक टीका इस प्रकार है :

अकृतदारोऽकृतपरलदारपरिग्रह इति, धातूनामनेकार्थत्वादसन्निहितदार इति वा हृदिस्थोऽर्थः।
न हि रामो मिथ्या ब्रूते। परिहासादौ मिथ्याभाषणे न दोष इत्यनेन सूच्यते इति वयम्। एवमुत्तरत्रापि।।

लक्ष्मण के इस प्रकार कहने पर परिहास को न समझने वाली उस लंबे पैर वाली विकराल राक्षसी ने लक्ष्मण की बात को अक्षरशः सत्य मान लिया। उसने शब्दों को सामान्य अर्थ में लिया। इससे स्पष्ट है कि राम, लक्ष्मण, दोनों ने ही इस छोटे से परिहास में भाग लिया। इस परिहास का परिणाम तो आपको मालूम ही है। जब वह राक्षसी सीता को सताने के इरादे से सचमुच उनकी ओर बढ़ी, श्री राम ने कहा, "अब परिहास बहुत हो गया, बस अब और आगे नहीं, लक्ष्मण।"

तां मृत्युपाशप्रतिमामापतन्ती महाबलः।
निगृह्य रामः कुपितस्ततो लक्ष्मणमब्रवीत्।। III.18.18

उस क्षण पहली बार श्री राम को क्रोध आया। कवि ने यहाँ *'निगृहा'* शब्द का प्रयोग किया है, जिससे कुछ नैतिक संशय उत्पन्न होता है। कुछ लोग इस शब्द को समझेंगे, केवल इस अर्थ में कि शूर्पणखा को रोका गया, धमकी द्वारा या हुंकार द्वारा या हाथ के संकेत द्वारा। मैं नहीं मानता कि अर्थ को इस प्रकार सीमित करना आवश्यक है। यह भी सम्भव है, श्री राम ने उस राक्षसी को पीछे खींच लिया हो, ऐसा कहने में कोई आपत्ति नहीं। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि टीकाकारों की दृष्टि में यह दिखाना उचित नहीं कि श्री राम ने उस अधम राक्षसी का स्पर्श किया। अतः श्री राम कहते हैं :

क्रूरैरनार्यैः सौमित्रे परिहासः कथंचन।
न कार्यः पश्य वैदेहीं कथंचित्सौम्य जीवतीम्।। III.18.19

सीता, जो लगभग समाप्त हो गई थीं, वे बाल–बाल बच जाती हैं। जब हम परिहास करें, तो ध्यान रखें कि यह किसके साथ किया जा रहा है– ऐसे महामूर्ख जीवों के साथ नहीं, जो केवल हाड़–माँस में जीते हैं और बुद्धि नहीं रखते।

इमां विरूपामसतीमतिमत्तां महोदरीम्।
राक्षसीं पुरुषव्याघ्र विरूपयितुमर्हसि।। III.18.20

अगले बिन्दु पर हमें कुछ ठहरना पड़ेगा। वह कुछ अधिक पेचीदा है। अतएव इस प्रसंग को अभी मैं यहाँ समाप्त करता हूँ कि सामान्य रूप से इस अंश को पढ़ने से ऐसा ही प्रतीत होता है कि राम केवल एक परिहास कर रहे थे। दिल्लगी का आनन्द ले रहे थे। बेचारे राम, उनकी पत्नी और भाई लक्ष्मण निर्जन वन में थे और आपस में ही एक–दूसरे के संगी साथी थे, जो अब से कुछ राहत चाहते थे। जैसा कि आपको दो या तीन दिन की रेल यात्रा का अनुभव होगा, सम्पूर्ण वातावरण से मन ऊब जाता है। मन को हल्का करने के लिये किसी बात की आवश्यकता होती है। यहाँ तीन प्राणी प्रतिक्षण साथ थे। शूर्पणखा के आगमन से उन्हें कुछ विनोद का अवसर मिला। श्री राम ने भी उसमें भाग लिया, तो यह मानने में क्या हर्ज है कि उन्होंने *'परिहास'*, *'भर्ता'*, *'भार्या'* आदि शब्दों का प्रयोग किया? कोई हानि नहीं। हम उन्हें बचा नहीं सकते, यह

कह कर कि उन्होंने *'अकृतदारः'* शब्द को श्लेष के रूप में प्रयोग किया। यदि उन्होंने ऐसा किया, तो वे और अधिक दोषी हुए, मानो उन्होंने झूठ बोला हो। परन्तु उन्होंने न ही तो झूठ बोला, न ही वक्रोक्ति का प्रयोग किया– वे तो केवल परिहास कर रहे थे।

◈◈◈

सातवाँ अध्याय

राम

पिछली बार, जब मैं शूर्पणखा प्रसंग पर बोल रहा था, मैंने संकेत किया था कि कवि ने इस प्रसंग को अपनी विनोदशीलता प्रदर्शित करने के निमित्त एक उपयुक्त विषय बनाया है। परन्तु इसके बाद के परिणामों ने इसके हास्यकर पहलू को धुंधला कर दिया। कदाचित् इसको सम्पूर्ण कथानक का बीज कहा जा सकता है क्योंकि शूर्पणखा अपने तिरस्कार और अपमान को सहन न कर सकी। उसने अपने भाइयों, खर और दूषण को उकसाया, और उनकी मृत्यु के बाद रावण के पास जाकर, उसको भी उकसाया। कथा का यह पहलू वास्तव में महत्वूर्ण है, इसका पता इस काव्य के परवर्ती भाग से चलता है। लंका में अंधाधुंध युद्ध के बाद झुंड के झुंड राक्षसों और वानरों का आमना–सामना हुआ। युद्ध के दबाव से दबे हुए वानर राम के पास गए और उनको कठिनाई से उबारने के लिए सहायता माँगी। तब राम भी इस युद्ध में सम्मिलित हो गए। वहाँ उन्होंने अपने एक आश्चर्यजनक कौतुक का प्रदर्शन किया। उन्होंने अनगिनत रूप धारण किये। प्रत्येक सैनिक के समक्ष एक राम प्रकट हुए। कभी वे अकेले रूप में प्रकट होते, और कभी अगोचर हो जाते। ऐसा कहा जाता है कि इस प्रकार शत्रु को चक्कर में डालकर, उन्होंने राक्षसों का भारी विध्वंस किया, लाखों को यमपुरी पहुँचा दिया। परिणामस्वरूप लंका नगरी में असाधारण स्तर का शोक छा गया।

अगले सर्ग में कवि एक अत्यन्त विचित्र दृश्य का वर्णन करता है। वहाँ राक्षस स्त्रियों की बड़ी संख्या का उल्लेख है। कुछ के पति युद्ध में मारे गए थे और वे विधवा हो गईं थीं। कुछ के पिता और संरक्षक युद्ध में काम आए, कुछ के भाई और पुत्र युद्ध में समाप्त हो गये थे। ये सब स्त्रियाँ एकत्रित होकर और एक–दूसरे का हाथ पकड़ कर विलाप कर रही थीं, मानो जैसा कि हमारी स्त्रियाँ भी हमारे समय में किया करती थीं, कदाचित् उससे कहीं अधिक पैमाने पर। तब एक रोचक बात होती है। यहाँ फिर कवि की विनोदवृत्ति और उसके मानवीय स्वभाव की गहरी समझ का सुस्पष्ट प्रदर्शन मिलता है। ये स्त्रियाँ, अपने स्वभावानुकूल, जैसा कि प्रायः संकट के समय में होता है, अपने दुर्भाग्य का दोष अपनी ही जाति के व्यक्ति पर मढ़ने लगीं। "कोई नारी ही इस संकट के मूल में है," वे कहती हैं, "शूर्पणखा के सिवाय और कौन हो सकता है? उसी

ने ही स्वयं श्री राम के पास जाकर उनके साथ धृष्टता की।" उन्होंने इस समस्त अनिष्ट के लिए, जो लंका और लंकावासियों पर टूटा, दोषी उस शरारत को, जो शूर्पणखा ने श्री राम के साथ की थी। मानो एक बार फिर कवि विनोद करता है। वह श्री राम और शूर्पणखा के एक–दूसरे से मिलने को बिना उत्तेजित हुए सोच नहीं सकता। पुत्रों, भाइयों, पिताओं, पतियों से वञ्चित राक्षस स्त्रियों का विलाप इस प्रकार है :

कथं शूर्पणखा वृद्धा कराला निर्णतोदरी।
आससाद वने रामं कन्दर्पमिव रूपिणम्।।
सुकुमारं महासत्त्वं सर्वभूतेहिते रतम्।
तं दृष्ट्वा लोकवध्या सा हीनरूपा प्रकामिता।।
कथं सर्वगुणैर्हीना गुणवन्तं महौजसम्।
सुमुखं दुर्मुखी रामं कामयामास राक्षसी।।
जनस्यास्याल्पभाग्यत्वाद्वलिनी श्वेतमूर्धजा।
अकार्यमपाहास्यं च सर्वलोकविगर्हितम्।।
राक्षसानां विनाशाय दूषणस्य खरस्य च।
चकाराप्रतिरूपा सा राघवस्य प्रधर्षणम्।।
तन्निमित्तमिदं वैरं रावणेन कृतं महत्।
वधाय सीता सानीता दशग्रीवेण रक्षसा।। VI.95.6-11

"इस स्त्री को क्या पड़ी थी श्री राम को उकसाने की? इसके लिए श्री राम को आकर्षित करने के लिये क्या कोई सम्भावना थी? यह दुष्टा तो सबके द्वारा मार डालने योग्य है। इसी कारण राम ने भी प्रतिशोध का दृढ़ निश्चय लिया। रावण अपना और अपने संबंधियों का विनाश करायेगा। सबका अन्त शीघ्र ही होने वाला है," इस प्रकार वे स्त्रियाँ कह रहीं थी। यह शूर्पणखा प्रसंग का तात्पर्य है।

अब हम अरण्य कांड के उस दृश्य पर आते हैं, जहाँ श्री राम के लिए यह विचार असहनीय हो जाता है कि सीता को उनकी अनुपस्थिति में उनके संरक्षण से छीन ले जाया गया, वे विषाद की चोट न सहन कर सके और अपना संतुलन खो बैठते हैं। वे विक्षिप्त हो जाते हैं। वाक्य पर वाक्य उनकी मर्मान्तिक पीड़ा से भरे हैं। उनकी वेदना, व्यथा का कोई अन्त नहीं दीखता। इन दृश्यों में कवि स्वयं को भी मात दे देता है। वास्तविकता यह है कि राम अपने को वश में नहीं रख पा रहे हैं, जैसे वे अपने सुध–बुध गँवा बैठे हो। यदा–कदा ऐसे लोगों के विषय में सुनने में आता है, जो इस प्रकार शोकाक्रमित हो, अपना मानसिक संतुलन खो बैठते हैं। परन्तु ऐसे उदाहरण आजकल अपेक्षाकृत कम मिलते हैं। आगे चलकर मैं कवि और उसके चित्रणों की कुछ विशेषताओं का उल्लेख करूँगा। उस समय मेरा कर्त्तव्य होगा, इस बात की ओर ध्यान दिलाना कि उस प्राचीन काल में पुरुष और स्त्रियाँ सब अपनी भावनाओं को,

बिना किसी आत्मसंयम के प्रयास के, व्यक्त करते थे। श्री राम जैसी विभूति भी इससे अछूती नहीं थी। उदाहरण के लिए मैंने दो चार उद्धरण चुने हैं। यहाँ श्री राम एक असामान्य आवेशवश सारे जहान से अधीर और प्रत्येक से रुष्ट हो गये हैं। वे सागर, वृक्ष, पृथ्वी, पशु–पक्षी सबको सम्बोधित करते रहे हैं, परन्तु कहीं से भी कोई प्रतिक्रिया नहीं मिलती। तब उनका ध्यान देवताओं की ओर जाता है। कम से कम देवताओं को तो सब कुछ पता होगा। "इन्होंने सीता को मुझसे छिपा लिया है। मैं अपनी सम्पूर्ण शक्ति का प्रयोग करूँगा। यदि उन्होंने सीता को नहीं लौटाया, तो मैं सब कुछ ध्वस्त कर दूँगा।" ज़रा कल्पना कीजिये, कितना भारी राम का मनस्ताप रहा होगा, जिसने उनको अभिभूत कर लिया, संसार के सबसे महान पुरुष को जो पग–पग परधर्म का पाठ पढ़ता है। वह अपनी भार्या से वियुक्त हो जाने पर इस असामान्य भावावेश से ग्रस्त हो जाता है। तब क्रोध के आवेश में लक्ष्मण के हाथ से बड़े धनुष को छीन कर वे कहते हैं :

लक्ष्मणादथ चादाय रामो निष्पीड्य कार्मुकम्।
शरमादाय संदीप्त घोरमाशीविषोपमम्।।
सन्दधे धनुषि श्रीमान् रामः परपुरञ्जयः।
युगानंताग्निरिव क्रुद्धः इदं वचनमब्रवीत्।।
यथा जरा यथा मृत्युर्यथा कालो यथा विधिः।
नित्यं न प्रतिहन्यन्ते सर्वभूतेषु लक्ष्मण।।
तथाहं क्रोधसंयुक्तो न निवार्योऽस्म्यसंशयम्।।
पुरेव में चारुदतीमनिन्दितां दिशान्ति सीतां यदि नाद्य मैथिलीम्।
सदेवगन्धर्वमनुष्यपन्नगं जगत्साशैलं परिवर्तयाम्यहम्।। III.64.75-78

"यदि मैथिली मुझे वापिस न करी गई, मैं समस्त विश्व का, उसके देवों, गन्धर्वों, मनुष्यों, वनस्पतियों, जलों, पर्वतों आदि समस्त का नाश कर दूँगा।"

वे इस विनाश में *'सदेवपन्नग'* को भी सम्मिलित करते हैं। ऐसा कुछ नहीं कि उनका अभिप्राय यह हो, किन्तु, उन्हें ऐसा एहसास नहीं था कि क्या शब्द उनके मुख से निकल रहे हैं। शोक ने उनकी इस प्रकार की दशा कर दी है। यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि अपने पूरे होश हवास में श्री राम ऐसा कुछ कह सकते थे। किन्तु, यह दशा उनके मनस्ताप के भावावेग के कारण हो गई है। अब उनको सांत्वना देने की ज़िम्मेदारी लक्ष्मण पर आई। यह स्थिति कुछ असाधारण सी थी, क्योंकि लक्ष्मण तो स्वभाव से ही तुनक मिजाज़ थे और श्री राम थे, सौम्य। वस्तुस्थिति अब उलटी थी। लक्ष्मण शामक वचन बोलते हैं :

पुरा भूत्वा मृदुर्दान्तः सर्वभूतहिते रतः।
न क्रोधवशमापन्नः प्रकृतिं हातुमर्हसि।।

चन्द्रे लक्ष्मीः प्रभा सूर्ये गतिर्वायौ भुवि क्षमा।
एतच्च नियतं सर्वं त्वयि चानुत्तमं यशः।
एकस्य नापराधेन लोकान् हन्तुं त्वमर्हसि।। III.65.4-6
त्वमेव हि पुरा राम मामेवं बहुशोऽन्वशाः।
अनुशिष्याद्धि को नु त्वामपि साक्षाद् बृहस्पतिः।।
बुद्धिश्च ते महाप्राज्ञ दैवैरपि दुरन्वया।
शाकेनाभिप्रसुप्तं ते ज्ञानं संबोधयाम्यहम्।। III.66.18,19

"आप तो संसार के लिये दयालु, कोमल स्वभाव से युक्त, जितेन्द्रिय और समस्त प्राणियों के हित में तत्पर रहे हैं। केवल इसलिए कि आप क्रोध से अभिभूत हैं, क्या आप अपनी स्वाभाविक प्रकृति का परित्याग कर सकते हैं? कदापि नहीं। चन्द्रमा में ज्योत्स्ना, सूर्य में प्रभा, वायु में गति, पृथ्वी में क्षमा नित्य विराजमान रहती हैं, यह सब नैसर्गिक हैं, इनको इनके विषयों से वियुक्त नहीं कर सकते। उसी प्रकार आपसे भी आपका कोमल स्वभाव, परोपकारी हृदय, आपकी वदान्य प्रकृति आपसे अलग नहीं हो सकते। आप अपनी प्रकृति से अनजान न बनिए। उस दुष्ट पापी रावण ने आपकी पत्नी का हरण कर लिया, परन्तु उसके लिए सारा जीव विश्व दंडनीय क्यों? उस दोषी को ढूँढकर यथोचित दंड देना और खोये हुए रत्न को पुनः प्राप्त करना क्या इतना असंभव है? अतएव इस उद्यम को छोड़िये और खोज आरम्भ कर सीता जी को ढूँढ निकालें। यदि मैं क्रोध में आकर ऐसी उलटी–सीधी बातें कहता, तो मुझे आपसे भर्त्सना मिलती और मुझे ठीक मार्ग पर लाया जाता। यदि आप ही इस प्रकार की बातें करेंगे, तो आपकी प्रतिज्ञा कौन पूरी करेगा? साक्षात वृहस्पति भी आपको उपदेश देने की शक्ति नहीं रखते। मैं आपका उपदेशक बनना नहीं चाहता। मैं देख रहा हूँ कि शोक असहनीय होने के कारण आपकी प्रज्ञा सुषुप्त सी हो गई है। मैं तो केवलमात्र उस सुषुप्त चेतना को जगाना चाहता हूँ।"

थोड़े समय बाद मार्ग में अन्तिम श्वास लेते, हुए प्राण त्याग के पूर्व राम दर्शन की प्रतीक्षा में और सीता का समाचार देने की कामना करते हुए, पृथ्वी पर हताहत पड़े हुए जटायु को उन्होंने देखा। उनसे वास्तविकता जानकर उन्होंने उसकी अन्त्येष्टि की, जैसे कि एक धर्मपरायण सुपुत्र अपने पिता की करता है। श्री राम ने अपनी अपार अनुकम्पा से जटायु की आत्मा को परमधाम भेज दिया। तब श्री राम बोले, "मुझ पर चौहरी विपत्ति आई है। अहो मेरा दुर्भाग्य! इस पक्षी ने मुझे सहायता देनी चाही, वह भी चला गया। मेरी यह विपत्ति अग्नि से भी अधिक बदतर है, जो अग्नि को भी जला कर भस्म कर सकती है।" घोर संकट के समय महान पुरुष भी अपना सन्तुलन खो बैठते हैं और ऐसी बाते करने लगते हैं, जो नहीं करनी चाहिए। वे अत्यन्त दयनीय स्थिति में पहुँच जाते हैं और हम उन्हें केवल सहारा ही दे सकते हैं, उनके अश्रु पोंछ सकते हैं, उनको बैठने को कह सकते हैं, यदि सम्भव हो, तो उनके चेहरे पर जल छिड़क सकते

हैं, इस प्रतीक्षा में कि कब उनका शोक का दौरा उतरे। मै। यह दिखाने का प्रयत्न कर रहा हूँ कि श्री राम भी इन सब मनःस्थितियों से ऊपर नहीं थे।

अब मैं उनके चरित्र की एक अन्य विशेषता पर आता हूँ, जो एक महत्वपूर्ण प्रमाण प्रस्तुत करती है। एक ओर तो कि श्री राम मानव थे, और दूसरी ओर हमारा कवि, जो मानव प्रकृति का एक महान अध्येता था, एक अद्वितीय अध्येता। किष्किन्धा कांड में हमारे कवि द्वारा श्री राम के चरित्र के एक पहलू का चित्रण इतनी सूक्ष्मता और निपुणता से किया गया है कि पाठक प्रायः उसको ठीक ढंग से समझने में असफल रहते हैं। मैं उसको स्पष्ट करने का प्रयास करूँगा। जब बालि के स्थान पर सुग्रीव को राजपद दिया गया, उस समय श्री राम को भी अभिषेक आनन्दोत्सव में भाग लेने के लिए निमंत्रण दिया गया था। परन्तु उन्होंने उत्तर दिया, "मैंने व्रत लिया हुआ कि नगर में प्रवेश नहीं करूँगा। वास्तव में, अयोध्या छोड़ते समय उन्होंने ऐसा कोई व्रत नहीं लिया था। अतः किष्किन्धा नगरी में, जहाँ तुम्हारा अभिषेक होने जा रहा है, प्रवेश करने में असमर्थ हूँ। मैं यहाँ बाहर ही ठहरता हूँ। तुम राज्याभिषेक का कार्य वहीं सम्पन्न करा लो।" राज्यभिषेक के तुरन्त बाद श्री राम लक्ष्मण सहित प्रस्त्रवण गिरि पर चले गए और वहीं अपना ठिकाना बना लिया। अपना प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर तुरन्त सुग्रीव अपनी असाधारण भाग्यलक्ष्मी के भरपूर उपभोग में रत हो गया, गीत–संगीत में खो गया। वह कादंबरी, कामिनी और गीत–संगीत का गुलाम हो गया और भोग–विलास की रंग–रलियों में मस्त हो गया। किन्तु, यह तो केवल आरम्भ है। श्री राम ने अपना ठिकाना नगर के बाहर बनाया। ज़रा ध्यान दें, किस प्रकार कवि धीरे–धीरे श्री राम की मनोभावनाओं को उकसाता है। राम नगर में भारी कोलाहल सुनते हैं। उनके मन में किसी प्रकार की दुर्भावना नहीं है, किन्तु उनके ध्यान में यह बात अवश्य आ जाती है। ऐसी बातें, सामान्यतः जिन पर वे पहले कभी ध्यान भी न देते, वे उन्हें अब आकर्षित करती हैं क्योंकि वे स्वयं भी एक असाधारण परिस्थिति में हैं। वे सोचते हैं, "मेरे ही कारण सुग्रीव को सौद्भाग्य की प्राप्ति हुई है। उसने अपना राज्य और अपनी पत्नी को पुनः प्राप्त कर लिया। यह सब कुछ मेरे कारण ही सम्भव हुआ।" लक्ष्मण को एक बार फिर सान्त्वनादाता की भूमिका अदा करनी पड़ती है। वे कहते हैं, "कृपया धैर्य से प्रतीक्षा कीजिए। शरद ऋतु तक हमें चार महीने और प्रतीक्षा करनी है। आप तो अभी से अधीर हो रहे हैं।" इस विचार से उन्हें सान्त्वना मिलती है :

उपकारेण वीरस्तु प्रतिकारेण युज्यते।
अकृतज्ञोऽप्रतिकृतो हन्ति सत्त्ववतां मनः।। IV.27.45

"यह लोक रहने योग्य स्थान न रह जायेगा और लोग पारस्परिक विश्वास खो बैठेंगे, यदि सुग्रीव जैसे वीर पुरुष, जिनको किसी के उपकार से अमित लाभ हुआ है, वे अकृतज्ञ होकर प्रत्युपकार से मुँह मोड़ लेते हैं, मेरे जैसे पुरुषों के मन को ठेस पहुँचाते हैं। नहीं, नहीं, यह अनर्थ नहीं होगा।"

परन्तु शीघ्र ही दूसरा विचार उनके मन में आता है। लक्ष्मण अन्त में उनसे कहते हैं :

नियम्य कोपं प्रतिपाल्यतां शरत्क्षमस्व मासांश्चतुरो मया सह।
वसावलेऽस्मिन् मृगराजसेविते संवर्धयन् शत्रुवधे समुद्यमम्।। IV.27.48

"क्रोध पर नियंत्रण करके शरत्काल तक प्रतीक्षा कीजिये। मेरी बात सुनिए, धैर्य के साथ वर्षा ऋतु के चार महीनों तक, जो भी कष्ट हो धैर्य से सहन कीजिये, आप तो अधीर व्यक्ति नहीं हैं। आप स्वयं ही इतने शक्तिशाली हैं कि इस संसार में अपनी इच्छानुरूप सब कुछ प्राप्त कर सकते हैं। अपनी ही शक्ति से, बिना किसी सहायता से आप शत्रु पर विजय प्राप्त करने में समर्थ हैं। अब आपके साथ सुग्रीव भी है। अतएव, धैर्य खोने का कोई कारण नहीं।"

कवि की अन्य विशेषता, जिसकी ओर ध्यान आकर्षित करना मेरा सौभाग्य होगा, वह है उसकी विशिष्ट प्रवीणता– अद्वितीय प्रवीणता, उत्प्रेक्षा और उपमा जैसे अर्थालंकारों का प्रयोग। ये उनके मुख से निरायास जहाँ–तहाँ प्रवाहित हुए हैं। उनमें से अधिकांश उपयुक्त अत्यन्त प्रभावोत्पादक, हृदयग्राही और मंजुल हैं, किसी सुग्राही समीक्षक के लिये परम साहित्यक आनन्ददायक भी हैं। उसके काव्य में उपमाओं का ताँता भी देखने को मिलता है। श्री राम एक चिन्ताग्रस्त मनःस्थिति में हैं, अपनी पत्नी के ध्यान में डूबे हुए। वियोग उनके लिए असहनीय है। इस सन्दर्भ में उपमायें एक विलक्षण रूप धारण करती हैं।

एषा धर्मपरिक्लिष्टा नववारिपरिप्लुता।
सीतेव शोकसंतप्ता मही बाष्पं विमुञ्चति।।
एष फुल्लार्जुनः शैलः केतकैरधिवासितः।
सुग्रीव इव शान्तारिर्धीराभिरभिषिच्यते।। IV.28.79

देखने योग्य है कवि की प्रतिभा–संपन्नता और यह कि वह मानव प्रकृति का कितना तीक्ष्ण पर्यवेक्षक है। देखिए, किस प्रकार सामान्य क्रम यहाँ पलट गया। सीता की तुलना प्राकृतिक वस्तुओं से करने के बजाय, कवि पहले प्राकृतिक वस्तुओं का वर्णन करता है और फिर सीता को तुलना का मापदंड बनाकर उपमेय के रूप में उनका उल्लेख करता है। कहने का अभिप्राय यह है, जब श्री राम प्रकृति की अद्भुत वस्तुएँ देख रहे हैं, उनके मन में सीता का ध्यान भर जाता है और बरबस उनका ध्यान सीता की ओर चला जाता है और वे कुछ अन्य सोच नहीं पाते।

नीलमेघाश्रिता विद्युत्स्फुरन्ती प्रतिभाति मे।
स्फुरन्ती रावणस्याङ्के वैदेहीव तपस्विनी।। IV.28.12

"नील मेघ का आश्रय लेकर चमकती हुई यह विद्युत मुझे रावण के अंक में छटपटाती हुई तपस्विनी सीता के समान प्रतीत होती है।"

देखिए, अब वर्षा ऋतु का ज़ोर अपनी चरम सीमा पर है, और वर्षा की प्रचंडता के कारण श्री राम के लिये अपना शोक और भी असहनीय हो जाता है।

इमाः स्फीतगुणा वर्षाः सुग्रीवः सुखमश्नुते।
विजितारिः सदारश्च राज्यं महति च स्थितः।।
अहं तु हृतदारश्च राज्याच्च महतश्च्युतः।
नदीकूलमिव क्लिन्नमदसीदामि लक्ष्मण।। IV.28.57-58

"इस समय सुग्रीव तो अपने शत्रु को परास्त करके विशाल राज्य पर प्रतिष्ठित है और अपनी पत्नी को पुनः प्राप्त कर साम्राज्य का सुख भोग रहा है। पर मैं अपने राज्य से वञ्चित हो गया हूँ और मेरी स्त्री हर ली गयी है। इसलिये पानी से गले हुए नदी के तट की भाँति कष्ट पा रहा हूँ।"

अयात्रां चैव दृष्ट्वेमां मार्गांश्च भृशदुर्गमान्।
प्रणते चैव सुग्रीवे न मया किंचिदीरितम्।।
अपि चातिपरिक्लिष्टं चिराद्धरैः समागतम्।
आत्मकार्यगरीयस्त्वाद्वक्तुं नेच्छामि वानरम्।।
स्वयंमेव हि विश्रम्य ज्ञात्वा कालमुपागतम्।
उपकार च सुग्रीवो वेत्स्यते नात्र संशयः।। IV.28.60-62

"अभिषेक के कुछ समय पूर्व तक सुग्रीव मेरे चरणों में नतमस्तक था। मैं उसे कुछ भी करने का आदेश दे सकता था। परन्तु मैंने इस विषय में एक शब्द भी कहना नहीं चाहा कि उसका मेरे प्रति क्या कर्त्तव्य है। मैंने उसका पूरा ध्यान रखा, मैंने उसके साथ बड़ी सहृदयता से व्यवहार किया, मैंने उस पर तरस खाया और किसी प्रकार का कष्ट नहीं दिया, मैंने धैर्य रखा, सोचा कि कुछ दिनों तक विश्राम करके और उपयुक्त समय आने पर वह ही मेरे स्वयं उपकार को समझेगा।"

और आगे क्या हुआ, यह समझने के लिये हम एक अन्य छोटे से दृश्य पर आते हैं। सुग्रीव के मंत्रियों में एक अप्रतिम दूरदर्शिता और विलक्षण बुद्धि वाले व्यक्ति, हनुमान थे। यह जानकर कि श्री राम का दिया गया नियत समय प्रायः समाप्त सा हो चुका है, हनुमान ने सुग्रीव को अन्तःपुर से बुलवाया और सविनय उन्हें अपने कर्त्तव्य के प्रति चेतावनी दी, "आपने श्री राम की कृपा से इतना कुछ पाया है। परन्तु आपने उनको बिसार दिया है, और ऊपर से, अतिरिक्त भोग–विलास में लिप्त होकर उन्हें नाराज़ कर दिया है। अब समय हो चुका है, कृपया जाग उठिए और अपने कर्त्तव्य का पालन कीजिए।" सुग्रीव ने अपने सेनापति नील नामक वानर को राज्य की समस्त दिशाओं से सम्पूर्ण वानर सेनाओं को एकत्र करने की आज्ञा दी और हनुमान से बोले, "जब वानर यहाँ एकत्र हों, सब कुछ स्वयं संभाल लेना, मेरे आदेश की प्रतीक्षा किये बिना।"

सुग्रीवः सत्त्वसंपन्नश्चकार मतिमुत्तमाम्।
संदिदेशातिमतिमान् नीलं नित्यकृतोद्यमम्।।
दिक्षु सर्वासु सर्वेषां सैन्यानामुपसंग्रहे।
यथा सेना समग्रा मे यूथपालाश्च सर्वशः।।
समागच्छन्त्यसङ्गेन सेनाग्राणि तथा कुरू।
स्वयं चानन्तरं सैन्यं भवानेवानुपश्यतु।।
त्रिपंचरात्रादूर्ध्वं यः प्राप्स्यतेह वानरः।
तस्य प्राणान्तको दंडो नात्र कार्या विचारणा।।
हरींश्च वृद्धानुपयातु साङ्गदो भवान्माज्ञामधिकृत्य निश्चिततताम्।
इति व्यवस्थां हरिपुंगवेश्वरो विधाय वेश्म प्रविवेश वीर्यवान्।। IV.29.29-34

यह सुग्रीव की आज्ञा का उदाहरण है। "निर्विवादरूप से आज्ञा का पालन होना चाहिए। उनके आदेश से किसी भी प्रकार का विचलन अत्यधिक दंडनीय होगा, कोई छूट नहीं होगी। यदि कोई वानर पंद्रह दिन के बाद यहाँ पहुँचेगा, तो उसे प्राण–दंड दिया जायेगा।" सेना को संचारित करने के लिये यह आदेश देकर सुग्रीव अपने अन्तःपुर को लौट गए। सुग्रीव को यह स्मरण रखना चाहिए था कि वे एक अत्यन्त मानवीय व्यक्ति से व्यवहार कर रहे हैं। श्री राम एक बार फिर अपना सन्तुलन खो बैठते हैं। उन्हें इस बात की कोई जानकारी न थी कि नियत समय के भीतर सुग्रीव ने क्या कुछ कर लिया है। उन्होंने इस विषय में कोई पूछताछ भी न की। अतएव, अनभिज्ञता के कारण उनका क्रोध बढ़ता गया। एक बार पुनः वे अपने सहायक मित्र के प्रति सम्मान भाव खो बैठते हैं। बिना अनुवाद किये यहाँ तीन श्लोक उद्धरित करता हूँ। श्लोकों में वे अपना रोष व्यक्त करते हैं। यह स्पष्ट नहीं है कि इन श्लोकों को यहाँ पर रखने में कवि का क्या अभिप्राय है। जहाँ तक कविता का प्रसंग हैं, ये श्लोक उत्कृष्ट हैं। परन्तु उनमें कुछ भाव और कुछ शब्द विद्यमान हैं, जो कुछ शब्द श्री राम के मुँह से शोभा नहीं देते। ऐसा माना जा सकता है कि कवि यह सब कुछ अपनी ओर से कहना चाहता है, किन्तु क्योंकि कवि वर्णन वर्णन श्री राम के द्वारा करवा रहा है, वह ये श्लोक उनके ही मुख से कहलवाता है। परन्तु प्रश्न यह होता है, वाल्मीकि को भी ऐसी बातों में क्यों जाना चाहिए? यह तो परवर्ती कवियों की विशेषता है, ऐसी भाषा का प्रयोग क्योंकि उनके लिये भाषा की शालीनता के नियम की सदा प्रतिबद्धता नहीं रहती।

चञ्चच्चन्द्रकरस्पर्शहर्षोन्मीलितारका।
अहो रागवती सन्ध्या जहाति स्वयमम्बरम्।।
दर्शयन्ति शरन्नद्यः पुलिनानि शनैः शनैः।
नवसङ्गमसव्रीडा जघनानीव योषितः।।

मीनोपसंदर्शितमेखलानां नदीवधूनां गतयोऽद्य मन्दाः।
कान्तोपभुक्तालसगामिनीनां प्रभातकालेष्विव कामिनीनाम्।।
IV.30.45,46,55

इस प्रकार की भाषा श्री राम के मुख में रखना घोर निन्दनीय है। प्रतीत होता है कि या तो उस समय श्री राम के मन में इस प्रकार के सजीव चित्र उभर रहे थे, अथवा कवि स्वयं शरद ऋतु का वर्णन करने की इच्छा से यह सब श्री राम द्वारा कहलवाता है।

मैंने सुग्रीव के प्रति श्री राम के कठोर आदेश को पढ़ कर सुनाया था। मैंने यह भी बताया था कि किस प्रकार लक्ष्मण ने उस आदेश को समझाया और अपने उत्तेजित मन से उसे आवश्यकता से अधिक बढ़ा चढ़ा दिया। जबकि उन्हें केवल इशारा भर करना था, उन्होंने सचमुच धमकी दे डाली। श्री राम स्वयं धमकी के परिणाम से अत्यन्त चिन्तित हो गए। वे लक्ष्मण से बोले, "मेरा अभिप्राय यह नहीं था। तुम्हें मधुर और शिष्ट वाणी का प्रयोग करना।" किन्तु लक्ष्मण यह सब कुछ भूल गये। जो श्लोक मैंने पहले सुनाया था वह यह है :

न च संकुचितः पन्था येन वाली हतो गतः।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा वालिपथमन्वगाः।। IV.30.81

ये हैं वे शब्द जो श्री राम लक्ष्मण से कहते हैं, इसलिए नहीं कि यही शब्द सुग्रीव से कहे जायें, बल्कि इसलिए कि इनका आशय सुग्रीव तक पहुँचाया जाये। इसके अतिरिक्त एक और स्थान भी है, जहाँ, मेरे विचार में, श्री राम अपने स्वाभाविक स्तर से नीचे गिर जाते हैं। तुरन्त उनकी तात्कालिक मनःस्थिति का पता चलता है।

एक एव रणे वाली शरेण निहतो मया।
त्वां तु सत्यादतिक्रान्तं हनिष्यामि सबान्धवम्।। IV.30.82

"मैंने बालि का वध किया, किन्तु वह अकेला यमपुरी गया। परन्तु तुम्हारे प्रति मेरा क्रोध इतना तीव्र है कि केवल तुम्हारे वध से मुझे संतोष न होगा। मैं तुमको तुम्हारे समस्त संबंधियों सहित यमपुरी पहुचाऊँगा।"

आपको स्मरण होगा किस प्रकार तारा लक्ष्मण को शान्त करती है। इस स्थान पर उसके कुछ सुन्दर श्लोकों का पढ़ना उचित ही होगा, कम से कम यह तो दिखाने के लिए कि किसी के पक्ष को प्रस्तुत करने की कला में उसे प्राचीन पोर्शिया (Portia) की संज्ञा दी जा सकती है। पोर्शिया एक स्त्री पात्र है, जो शेक्सपीयर के *'दि मर्चेंट ऑफ़ वेनिस'* नामक नाटक में अपनी तर्कसंगत वाक्पटुता में प्रसिद्ध है। हमारे बहुत से अधिवक्ता तारा के भाषण से बहुत कुछ सीख सकते हैं। वह अपने संबोधन में लक्ष्मण के समक्ष महत्वपूर्ण तर्क प्रस्तुत करती है, और लक्ष्मण को कुछ प्रभावित हुआ देख कर अन्त में एक निर्णायक तर्क द्वारा अपना उद्देश्य प्राप्त कर लेती है।

नैवं लक्ष्मण वक्तव्यो नायं परूषमर्हति।
हरिणामीश्वरः श्रोतुं तव वक्त्राद्विशेषतः।।
नेवाकृतज्ञः सुग्रीवो न शठो नापि दारूणः।
नैवाकृतकथो वीर न जिह्मनश्च कपीश्वरः।।
उपकारं कृतं वीरो नाप्ययं विस्मृतः कपिः।
रामेण वीर सुग्रीवो यदन्यैर्दुष्करं रणे।।
रामप्रसादात्कीर्तिं च कपिराज्यं च शाश्वतम्।
प्राप्तवानिह सुग्रीवो रूमां मां च परंतप।।
रूमां मां कपिराज्यं च धनधान्यवसूनि च।
रामप्रियार्थं सुग्रीवसत्यजेदिति मतिर्मम।। IV.35.2-5,13

"आपको सुग्रीव के प्रति ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए। मेरे पति वानरों के स्वामी हैं और प्रभावशाली राजा हैं। आपको यह भूलना नहीं चाहिए कि वे कोई छोटे मोटे राजा नहीं है। वे न कृतघ्न हैं, न शठ हैं, न क्रूर हैं, न ही असत्यवादी और न कुटिल ही हैं। वे कदापि ऐसे कठोर वचन सुनने के अधिकारी नहीं है। आपके भाई ने जो उपकार किया है, जिससे उन्हें अमित लाभ हुआ है, उसे कपिराज ने कभी नहीं भुलाया है। श्री राम के कृपा–प्रसाद से ही सुग्रीव ने वानरों के अक्षय राज्य को, यश को, रूमा तथा मुझको भी प्राप्त किया है। उन्होंने अपना कर्त्तव्य निभाया है। यदि आप उनकी प्रकृति जानेंगे, तो अवश्य ही उसकी प्रशंसा किये बिना न रह सकेंगे। कोई ऐसी वस्तु नहीं जो श्री राम की प्रसन्नता के लिये वे त्याग न सकें। वे श्री राम को प्रसन्न करने के लिये रूमा का मेरा, कुमार अंगद का तथा धनधान्य, और पशुओं सहित समस्त राज्य का भी परित्याग कर सकते हैं।"

त्वत्सहायनिमित्तं वै प्रेषिता हरिपुङ्गवाः।
आनेतुं वानरान् युद्धे सुबहून् हरियूथपान्।।
तांश्च प्रतीक्षमाणोऽयं विक्रान्तान् सुमहाबलान्।
राघवस्यार्थसिद्ध्यर्थं न निर्याति हरीश्वरः।।
कृतात्र संस्था सौमित्रे सुग्रीवेण यथा पुरा।
अद्य तैर्वानरैः सर्वैरागन्तव्यं महाबलैः।।
ऋक्षकोटिसहस्राणि गोलांगूलशतानि च।
अद्य त्वामुपयास्यन्ति जहि कोपमरिंदम।। IV.35.19-22

जब तारा को एहसास हो जाता है कि लक्ष्मण का क्रोध लगभग समाप्त हो गया, वह कहती है, "मेरे पति ने आवश्यक आदेश पहले ही दे दिए हैं। अनेक श्रेष्ठ वानरों को युद्ध के निमित्त असंख्य वानर वीरों की सेना एकत्र करने के लिये भेज रखा है। वे उनके आने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। वे स्वयं बताना चाहते हैं कि आकर आपका बताना

चाहते हैं कि तैयारी पूरी हो गयी है। सुग्रीव ने उन सबके एकत्र होने के लिये पंद्रह दिन की अवधि निश्चित की थी। उसके अनुसार समस्त वानरों को आज ही यहाँ उपस्थित हो जाना चाहिए। आज ही करोड़ों की संख्या में वे उपस्थित होंगे। अतएव, आप क्रोध त्याग दीजिए।" तब पूर्णतया संतुष्ट होकर लक्ष्मण शान्त हो गए। उन्हें इस बात का सम्यक् बोध हो गया कि उनका रोष अनुचित था। वे सुग्रीव से कहते हैं, "मुझे खेद है, कृपया क्षमा करें। मेरे क्रोध का कारण यह था कि अपने भाई का शोक में घुलना मेरे लिये असहनीय हो गया था। कृपया आप वहाँ जाकर उनसे सान्त्वना के कुछ शब्द कह दें।" जैसे ही राम ने सब कुछ सुना, उनकी विशाल हृदयता पुनः उभर आई। पुलकित मन से उन्होंने सुग्रीव का आलिंगन किया।

इति ब्रुवाणं सुग्रीवं रामो धर्मभृतां वरः।
बाहुभ्यां संपरिष्वज्य प्रत्युवाच कृताञ्जलिम्।।
यदिन्द्रो वर्षते वर्षं न तच्चित्रं भवेद्भुवि।
आदित्यो वा सहसांशुः कुर्याद्वातिमिरं नभः।।
चन्द्रमा रश्मिभिः कुर्यात्पृथिवीं सौम्य निर्मलाम्।
त्वद्विधो वापि मित्राणां प्रतिकुर्यात्परंतप।। IV.39.1-3

"क्या यह आश्चर्यजनक है यदि इन्द्र देवता प्यासी धरती पर जल की वर्षा करते हैं, यदि सहस्रों किरणों से शोभा पाने वाले सूर्यदेव आकाश से अंधकार दूर करते हैं तथा यदि चन्द्रमा अपनी ज्योत्स्ना से पृथ्वी की गर्मी और विद्वेष को दूर भगाता है? यह सब तो उनके स्वाभाविक गुण हैं। इसी प्रकार आपके समान पुरुष भी यदि अपने मित्रों का उपकार करें और उन्हें प्रसन्न कर दें, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं मानना चाहिए।"

यह वही व्यक्ति हैं, जिन्होंने पिछले सर्ग में सुग्रीव के विरुद्ध इतना कुछ बोला था। इसका तात्पर्य केवल यह है कि यहाँ उनकी वास्तविक प्रकृति फिर उभर आती है और वे अपनी यथोचित भावनायें व्यक्त करते हैं।

अभी तक मैं कथा के उन श्लोकों और प्रसंगों का निरूपण कर रहा था, जहाँ श्री राम के चरित्र का मानवीय पहलू अपनी पूर्ण प्रगाढ़ता के साथ उभर कर आता है। इसी प्रकार यदि आप या मैं क्रोध और व्यग्रता के कारण अथवा ईर्ष्या से अत्यन्त उत्तेजित हो जायें, तो हमारी मानसिक स्थिति में भारी गिरावट आ जायेगी। मुझे सम्पूर्ण 'रामायण' को उलट–पलट कर छानना होगा, ऐसे उदाहरण छाँटने के लिये, जहाँ हम यह देख सकें कि उनकी प्रकृति में मानवीय पहलू कहाँ तक प्रदर्शित होता है। या तो स्वयं अपनी भूलचूक के कारण अथवा दूसरे व्यक्तियों की कमियों के कारण, जो कि उनसे संबद्ध थे, बार–बार उनका विस्तारपूर्वक निरूपण अनावश्यक है। परन्तु, इसमें कोई शंका न रह जाये, इसके लिए दो शब्द अवश्य कहूँगा। हमारी मानवीय प्रकृति में

दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ निहित हैं, एक उच्च स्तरीय और दूसरी निम्न स्तरीय, एक उत्कृष्ट भलापन, दूसरा निम्न भलापन। जो लोग सुशिक्षित हैं, जिन्होंने अपनी इच्छाशक्ति पर कुछ आधिपत्य प्राप्त कर लिया है, उनमें निम्न वृत्ति प्रकट मात्र होती है, अपनी झलक दिखाती है, परन्तु शीघ्र ही दबा दी जाती है, और उच्चतर प्रवृत्ति की गतिविधि का पूरा प्रदर्शन होता है, और व्यक्ति भी समीचीन आचरण करता है। परन्तु ग़लत प्रशिक्षण, हानिकर उदाहरण और दूषित परिवेश के कारण यदि उचित समय पर उपयुक्त परामर्श नहीं दिया जाता, तो हमारा अधःपतन निश्चित है और हम बिखर जाते हैं, हम अपने लिये और हमारे आस–पास के सब व्यक्तियों के लिये भी संकट खड़ा कर देते हैं। परन्तु जहाँ तक महापुरुषों का सम्बन्ध है, ऐसा नहीं है कि वहाँ आसाधु प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव होता है या दुराचार का वहाँ कोई संकेत नहीं होता, किन्तु जिस क्षण निम्न प्रवृत्तियाँ प्रकट होती हैं और मानवीय प्रवृत्तियाँ अपना प्रभाव डालती हैं, उच्चतर प्रवृत्ति निम्न प्रवृत्ति को पूरी शक्ति से कुचल देती है और फिर अपना पूरा प्रभाव प्रदर्शित करती हैं। अतएव, अपने जीवन में हमें यह सीखना चाहिए कि जैसे ही कोई निम्न प्रेरणा उभरने लगे, तो हमें दृढ़ता से अपनी समस्त आन्तरिक शक्ति का संग्रह करके, पूर्ववर्ती महान विभूतियों का स्मरण करके, अपनी सहायता के लिए उनके महत्वपूर्ण नीति वचनों का आह्वान करके स्वयं को बतला देना चाहिए कि निम्न वृत्तियों के लिये हमारे हृदय में कोई स्थान नहीं है। तब हमारी उच्च प्रवृत्ति अपना पूर्ण प्रभाव दिखायेगी।

एक प्रसिद्ध श्लोक है, जिसमें उच्च और निम्न प्रवृत्तियों का संघर्ष होता है। यह एक सुन्दर श्लोक है। सामान्यतः इसका प्रयोग दुष्यन्त* के लिये होता है जब, शाप के कारण वह अपने और शकुन्तला के बीच प्रेम प्रसंग को सर्वथा भूल जाता है और फिर भी उसके सौन्दर्य से मुग्ध होकर उसके अन्तर में एक संघर्ष होने लगता है। "मैं इसका त्याग क्यों करूँ? स्वीकार क्यों न कर लूँ?" कुछ क्षण तक यह विचार हावी होने का प्रयत्न भी करता है। यह कुछ ऐसा विचार है, जिसके समक्ष साधु–संत भी आत्म संयम खो बैठते हैं। "बड़े लोग क्या कहेंगे? मेरे कुल की मान–प्रतिष्ठा पर इसका क्या प्रभाव होगा?"

क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलम्, भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषानां प्रशमाय नः श्रुतमहो, कोपेऽपि कान्तं मुखम्।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः, स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि, खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति।।

* बहुधा इसका प्रयोग पुरूरवा के लिए होता है, जो कि कालिदास के नाटक, 'विक्रमोर्वशीयं' में एक पात्र है। परन्तु वास्तव में यह श्लोक ययाति और शर्मिष्ठा पर एक अनुपलब्ध नाटक से राजा ययाति द्वारा बोला गया है।

अपनी उच्च प्रकृति को अपना कार्य करने का अवसर देना चाहिए, अन्यथा हम समाप्त हो जायेंगे। एक नहीं अनेक बार श्री राम अपनी निम्न प्रवृत्ति को कोसते हैं। परन्तु कर्मक्षेत्र में वे निरन्तर अपनी उच्च प्रकृति के स्तर पर कार्य करते हैं।

आठवाँ अध्याय

राम

पिछली बार जिस प्रसंग की चर्चा की थी, वह था : श्री राम ने जो कुछ जल्दबाज़ी में सुग्रीव के प्रति अपनी अप्रसन्नता व्यक्त की थी, उसके लिए फिर उन्होंने अपनी स्वाभाविक उदारता के अनुरूप, बड़ी अतिप्रभावी भाषा में खेद प्रकट किया। मैं इस बिन्दु को ज़रा आगे बढ़ा रहा हूँ, क्योंकि इसकी कुछ सार्थकता है। आगे चलकर भी इस महाकाव्य में दो या तीन स्थानों पर श्री राम सुग्रीव के प्रति इसी प्रकार अपनी भूल का सुधार करते हैं। ये प्रसंग हमारे लिए कुछ ध्यान देने योग्य हैं। मैं सबसे पहली घटना लेता हूँ। कवि की भाषा की अर्थगर्भिता को देखते हुए यह अनुचित न होगा, यदि इस पर मैं कुछ समय लगा दूँ, चाहे यह कुछ असंगत ही क्यों न लगे। यह श्लोक युद्ध कांड के अठारहवें सर्ग में आता है। सन्दर्भ इस प्रकार है– विभीषण बड़ी उत्सुकता से संरक्षण के लिए राम की शरण में आता है। राम युद्ध परिषद जैसी एक सभा आयोजित करते हैं, अपने साथियों और सलाहकारों से मंत्रणा करते हैं कि क्या किया जाये। केवल हनुमान के अतिरिक्त कोई भी विभीषण की प्रार्थना स्वीकार करने का परामर्श नहीं देता। यह बात कुछ विचित्र है। आपत्ति का मुख्य आधार है कि विभीषण एक राक्षस है और रावण का गुप्तचर है। कदाचित् वह इस उद्देश्य से आया हो कि जब वे चौकस न हों, अवसर मिलते ही वह राम का वध कर डाले। सुग्रीव सयानापन प्रदर्शित करते हुए कहता है :

ईदृशं व्यसनं प्राप्तं भ्रातरं यः परित्यजेत्।
को नाम स भवेत्तस्य यमेष न परित्यजेत्।। VI.18.5,6

जो पुरुष ऐसे संकट में पड़े हुए अपने भाई को छोड़ सकता है, उसमें निष्ठा की आशा कौन कर सकता है? उसका दूसरा ऐसा कौन सा संबन्धी होगा, जिसे वह विश्वासघात करके त्याग न कर सके?"

आगे वह यह भी कहता है, "वह लंका का राजा बनने की उच्च आकांक्षा से यहाँ आया है।" श्री राम इन सब तर्कों को रद्द कर देते हैं। मैं कुछ श्लोक पढ़कर सुनाता हूँ, जो विवेकपूर्ण एवं युक्तियुक्त व्यवहारिक समझदारी से भरपूर हैं :

उद्योगं तव संप्रेक्ष्य मिथ्यावृत्तं च रावणम्।
वालिनश्च वधं श्रुत्वा सुग्रीवं चाभिषेचितम्।।

राज्यं प्रार्थयमानश्च बुद्धिपूर्वमिहागतः।
एतावत्तु पुरस्कृत्य युज्यते त्वस्य संग्रहः।। VI.17.66,67

मैं इसे सामान्य समझबूझ ही कहूँगा। हनुमान कहते हैं, "आपके उद्योग, जागरूकता और रावण के मिथ्याचार को जानकर और यह जानकर की आपने सुग्रीव के राज्याभिषेक कराने के उद्देश्य से बालि का वध किया, अपने देश का राज्य पाने की इच्छा से, जो एक छोटे भाई के लिए स्वाभाविक आकांक्षा होती है, यह समझ–बूझ कर ही यह यहाँ आया है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए मुझे विभीषण को लेना उचित लगता है।"

यह था हनुमान का स्पष्टवादी और तर्कसंगत परामर्श, श्री राम का निजी विचार भी इससे मेल खाता था। परन्तु इसके बावजूद, सुग्रीव ने बीच–बीच में कड़ी आपत्ति व्यक्त की, लक्ष्मण ने भी उसका समर्थन किया। सुग्रीव के प्रतिवाद की ओर संकेत करते हुए कि विभीषण अपने भाई के प्रति विश्वासघाती था, राम कहते हैं :

न सर्वे भ्रातरस्तात भवन्ति भरतोपमाः।
मद्विधा वा पितुः पुत्राः सुहृदो वा भवद्विधाः।। VI.18.15,16

"तात! संसार में सब भाई भरत के समान नहीं होते। पिता के सभी पुत्र मेरे जैसे नहीं होते और सभी मित्र तुम्हारे समान नहीं हुआ करते हैं।"

यह एक प्रसिद्ध श्लोक है और अत्यन्त सारगर्भित है। मैं इसकी व्याख्या सभी पहलुओं से करूँगा। श्लोक का अन्तिम अंश यहाँ मेरी बात के लिए प्रासंगिक है, जिस पर मैं इस समय ध्यान दिला रहा हूँ। *'सुहृदो वा भवद्विधाः'* : "संसार में बहुत कम सहायक और मित्र तुम्हारे समान विश्वसनीय हैं," ये शब्द श्री राम की सुग्रीव के प्रति पिछली कठोरता पर अनुताप प्रकट करते हैं। इससे सुग्रीव को पूर्णतया दोषमुक्त कर दिया। "तुम्हारे समान कोई अन्य सहायक मित्र नहीं है," श्री राम सुग्रीव से कहते हैं। परन्तु ऐसा क्यों? इस पर टीकाकार की टिप्पणी अर्थपूर्ण है। "मैं बड़ी व्यग्र मनःस्थिति में था और मुझे ऐसा लगा कि तुमने अपना वादा और उत्तरदायित्व भुला दिया। तब मैंने लक्ष्मण को तुम्हारे प्रति एक कठोर संदेश का आदेश दिया था और उन्होंने भी अपनी ओर से संदेश की कठोरता में कोई कमी नहीं की। परन्तु उस समय तुम्हारे प्रति जो अन्याय हुआ था, उसको भुलाकर तुमने मुझे अपने पूरे पराक्रम से सहायता दी है।" इस प्रकार टीकाकार इसकी व्याख्या करते हैं। राम के ये वचन सुग्रीव के उपकारों के प्रति पूरा–पूरा आभार प्रदर्शित करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि इस सन्दर्भ में हमें मानव संबन्धों के विषय में एक महत्त्वपूर्ण शिक्षा देना चाहता है। वह यह है जब परस्पर मैत्री एवं आत्मीयता का स्नेह बन्धन स्थापित हो जाये, तो उसको सुदृढ़ बनाने का एक यह तरीक़ा है कि दोनों पक्षों में कुछ अनबन हो जाये और फिर ग़लतफ़हमी

दूर होने पर पुनः मेल–मिलाप हो जाये। यह एक अहम् तथ्य है, जिसका प्रयोग प्रायः उपन्यासकार और कहानीकार करते हैं– पहले रिश्तों में दरार और फिर मेल–मिलाप। इस प्रकार परस्पर स्नेह और सुदृढ़ हो जाता है। श्री राम और सुग्रीव के बीच भी कुछ ऐसा ही हुआ। ऐसा वहीं संभव लगता है, जहाँ दोनों पक्षों की प्रकृति उदात्त और उदार हो। उदात्त चरित्रों के मध्य एक बार जब विश्वास और प्रतीति स्थापित हो जाती है, तो मतभेद भी मित्रभाव को सुदृढ़ ही करते हैं। तब विभिन्नतायें भी सौहार्द को सुदृढ़ बनाती हैं।

संसार में कुछ लोग विशेष संबन्धों में श्रेष्ठता के आदर्श माने जाते हैं। एक व्यक्ति जो आदर्श भाई है, आवश्यक नहीं वह आदर्श पुत्र भी हो। एक आदर्श मित्र का एक आदर्श भाई होना आवश्यक नहीं। इसी प्रकार अन्य संबन्धों के विषय में भी कहा जा सकता है। इसीलिए श्री राम भिन्न–भिन्न लोगों को भिन्न–भिन्न संबन्धों में उदाहरण स्वरूप लेते हैं। आदर्श भाइयों में भरत एक उदाहरण हैं, विभीषण नहीं। अतः भरत का उत्कृष्ट उल्लेख करके श्री राम ने उचित ही किया। भरत को क्यों आदर्श भाई माना गया? इसका कारण तो आपको भलीभाँति विदित ही है। जिस बात पर ध्यान तुरन्त जाता है, वह यह है कि जब अयोध्या का राज्य भरत को उचित अधिकार के रूप में प्राप्त हुआ था, श्री राम ने उसका परित्याग कर वनवास स्वीकार किया। कैकेयी ने उस राज्य को भरत के लिये दशरथ से वरदान रूप में प्राप्त कर लिया था। किन्तु जब राज्य उनका हो गया, तब बड़े असामान्य ढंग से भरत उसे अपने बड़े भाई, राम के लिए समर्पित कर देते हैं। बाद में भरत अपनी समस्त प्रजा सहित वन में पहुँचकर सबसे अनुरोध करते हैं कि वे भी राम को अयोध्या लौटने के लिये उनकी प्रार्थना का समर्थन करें, किन्तु राम इसे अस्वीकार कर देते हैं। भरत के चरित्र की उत्कृष्टता यहाँ प्रकट होती है।

तदानुपूर्व्यां युक्तं च युक्तं चात्मनि मानद।
राज्यं प्राप्नुहि धर्मेण सकामान् सुहृदः कुरु।। II.104.10

भरत इस प्रकार कहते हैं, "हमारे इक्ष्वाकु कुल में ज्येष्ठ पुत्र ही इस राज्य का अधिकारी माना जाता है। केवल आप ही इस गौरव के उत्कृष्ट रूप से मुकुट को धारण करने के अनुरूप हैं।"

परन्तु, श्री राम का दृष्टिकोण बिल्कुल भिन्न है। उनके लिए यह मसला राज्यारोहण का नहीं। उनके लिए तो महान कर्त्तव्य है– पिता की प्रतिष्ठा की रक्षा करना, अपने पिता द्वारा दिये गये पवित्र वचन को पूरा करना और इस प्रकार उनके लिये स्वर्ग का मार्ग प्रशस्त करना। उनके लिए अपने पिता की मर्यादा को सिद्ध करना आवश्यक है। यह बात गन्धर्व तथा लोगों ने कही, जो वहाँ उपस्थित थे, जहाँ श्री राम और भरत के बीच वाग्विदग्धता चल रही थी। सम्पूर्ण वार्तालाप काफ़ी ऊँचे स्तर पर

चल रहा था। वह इतना उत्तम था कि स्वयं देवतागण भी उसके प्रत्येक शब्द का आस्वाद लेने के लिए नीचे उतर आए। कवि ने भी इस संवाद को बड़ी कुशलता से ऐसे छन्दों द्वारा प्रस्तुत किया है, जो शैली और शब्द योजना की सुन्दरता और स्वाभाविकता की दृष्टि से दर्शनीय है। मैंने दोनों भाइयों के पारस्परिक वार्तालाप संबंधित विशेष बातों की ओर संकेत कर दिया है। एक स्थल पर जब श्री राम ने भरत के सभी तर्कों का प्रत्युत्तर दे दिया था, तो देवलोक के प्रत्यक्षदर्शियों को हस्तक्षेप करना पड़ा। वे भरत को संबोधित करते हैं, मानो अपना निर्णय सुना रहे हों। वे एक स्वर में कहते हैं :

भरतं राजशार्दूलमित्यूचुः संगता वचः।।
कुले जात महाप्राज्ञ महावृत्त महायशः।
ग्राह्यं रामस्य वाक्यं ते पितरं यद्यवेक्षसे।। II.112.4,5

बड़ा महत्वपूर्ण अभिप्राय है, इन सम्बोधक शब्दों का, जिनके द्वारा भरत को ये दूसरे लोक के वासी सम्बोधित करते हैं। वे भरत को परामर्श देते हैं, "तुम उत्तम कुल में उत्पन्न हुए हो। तुम्हारा आचरण बहुत उत्तम और यश महान है। श्री राम इस विषय में सत्य ही कह रहे हैं। यदि तुम अपने पिता की ओर देखो और उन्हें सुख पहुँचाना चाहो, तो तुम्हें श्री राम की बात मान लेनी चाहिए।"

सदानृणमिमं रामं वयमिच्छामहे पितुः।
अनृणत्वाच्च कैकेय्याः स्वर्गं दशरथो गतः।। II.112.6

"हम श्री राम को पिता के ऋण से उऋण देखना चाहते हैं। तुम्हारे पिता ने कैकेयी को एक बड़ा वचन दिया था। इसलिये वे कैकेयी के ऋणी हैं। इस ऋण से उन्हें मुक्त किया जाना चाहिए। इसके लिये केवल एक ही मार्ग है, जो तुम्हारे भाई श्री राम ने अपनाया है। अन्यथा तुम्हारे पिता की आत्मा को कष्ट होता। यदि तुम्हारे पिता के आदेश के विपरीत श्री राम पहले ही स्वयं का युवराज्यभिषेक करा लेते और इसमें तुम्हारी मौन स्वीकृति भी सम्मिलित होती अथवा यदि वे अब राज्य को स्वीकार कर प्रतिनिधि के रूप में तुम्हारे पिता के आदेश का पालन करते हैं, जैसी कि तुम्हारी माँग है, तो इसका तात्कालिक परिणाम यह होगा कि राजा दशरथ को नर्कवास भोगना पड़ेगा," यह था वहाँ आए हुए गन्धर्वों, ऋषियों, सिद्धों, परम ऋषियों और राज ऋषियों का सर्वसम्मत मत।

अतएव, यह कहना ठीक नहीं कि श्री राम ने राज्य का परित्याग केवल एक बार ही किया। दूसरी बार भी जब राज्य उन्हें पेश किया गया, वे अपने पिता के प्रति निष्ठावान बने रहें और उन्होंने पुनः राज्य का परित्याग किया। अतः सही अर्थ में उन्होंने दो बार राज्य का परित्याग किया। अतएव यह सर्वथा उचित था, जब वे सुग्रीव से कहते हैं, "*मद्विधा वा पितुः पुत्राः* (मेरे समान पिता के पुत्र)।" भरत के साथ

वाद–विवाद के समय श्री राम द्वारा दिए गए एक दो वक्तव्य मैं उद्धृत करना चाहूँगा :

सोऽहं वनमिदं प्राप्तो निर्जनं लक्ष्मणान्वितः।
सीतया चाप्रतिद्वन्द्वः सत्यवादे स्थितः पितुः।।
भवानपि तथैत्येव पितरं सत्यवादिनम्।
कर्तुमर्हति राजेन्द्र क्षिप्रमेवाभिषेचनात्।। II.107.8,9

"अपने पिताजी की आज्ञा पालन करते हुए मैं सीता और लक्ष्मण सहित इस निर्जन विकट वन में चला आया हूँ। यहाँ मेरा कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है। पिताजी ने मेरे लिए और तुम्हारे लिए एक आदेश दिया था। जितना कुछ मेरे से संबंधित था, मैंने पूरा कर दिया। शेष भाग तुम्हें पूरा करना है। मेरी भूमिका अदा होती है, वनगमन में और तुम्हारी शीघ्र अपना अभिषेक कराने में।"

ऋणान्मोचय राजानं मत्कृते भरत प्रभुम्।
पितरं त्राहि धर्मज्ञं मातरं चाभिनन्दय।। II.107.10

"तुम मेरे लिए पूज्य पिता जी को कैकेयी के ऋण से मुक्त करो, यह मेरा आदेश है। उन्हें नर्कवास से बचाओ और माता का भी आनन्द बढ़ाओ।"

इन सब उचित कार्यों को करना मात का कर्त्तव्य है। फिर वे कहते हैं :

लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान् वा हिमं त्यजेत्।
अतीयात्सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः।। II.112.18

वे पुनः कहते हैं, "चाहे चन्द्रमा से उसकी ज्योत्सना अलग हो जाये, हिमालय हिम का परित्याग कर दे अथवा समुद्र अपनी सीमा को लाँघकर आगे बढ़ जाये, किन्तु मैं पिताजी की प्रतिज्ञा को नहीं तोड़ सकता।" वे इसको इन प्राकृतिक असम्भावनाओं के समान असम्भाव्यता बताते हैं।

कामाद्वा तात लोभाद्वा मात्रा तुभ्यमिदं कृतम्।
न तन्मनसि कर्त्तव्यं वर्तितव्यं च मातृवत्।। II.112.19

"माता कैकेयी ने कामना अथवा लोभवश तुम्हारे लिए जो कुछ भी किया है, उसको मन में न लाओ। उसके प्रति सदा वैसा ही बर्ताव करो, जैसा कि अपनी पूजनीया माता के प्रति होना चाहिए।"

घोर एकान्त क्षणों में भरत अपनी माता के प्रति अच्छे विचार न रखते थे। कैकेयी संबन्ध में उनके विचार इतने दृढ़ थे कि वे बिना अनौचित्य के, एक घृणित विशेषण लगाये उसका नाम भी नहीं लेते थे।

धर्मबन्धेन बद्धोऽस्मि तेनेमां नेह मातरम्।
हन्मि तीव्रेण दण्डेन दण्डार्हां पापकारिणीम्।। II.106.9,10

भरत ने शत्रुघ्न से कहा था, "मैं धर्म के बन्धन में बँधा हूँ। यदि मुझे धर्मात्मा श्री राम की परवाह न हो, तो मैं इस दुष्ट आचरण करने वाली पापिनी कैकेयी के मार भी डालूँ। यदि मुझे यह भय न हो कि धर्मात्मा श्री राम मातृघाती समझ कर मुझसे घृणा करने लगेंगे, तो मैं इस दुष्ट आचरण करने वाली पापिनी, कैकेयी को मार डालता।"

हन्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टचारिणीम्।
यदि मां धार्मिको रामो नासूयेन्मातृघातकम्।। II.78.22

अनूठे धर्मश्रद्धालु श्री राम भरत के इस अपुत्रोचित स्वभाव से परिचित थे। इसलिए विदाई के समय वे भरत को आदेश देते हैं :

मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति।
मया च सीतया चैव शप्तोऽसि रघुसत्तम।। II.112.27,28

"मैं तुम्हें अपनी तथा अपनी पत्नी सीता की शपथ दिलाकर कहता हूँ कि तुम माता कैकेयी की रक्षा करना, उनके प्रति कभी क्रोध न करना, सदा सम्मानपूर्वक व्यवहार करना।"

अब मैं एक बिन्दु पर आता हूँ, जहाँ मैं कुछ अपने निजी विचार प्रकट करना चाहूँगा। प्रायः एक व्यक्ति एक सम्बन्ध विशेष के लिए उदाहरण स्वरूप लिया जा सकता है, किन्तु भ्रातृत्व पुत्रोचित कर्त्तव्यों तथा विश्वसनीय मित्रता के लिए केवल एक ही व्यक्ति हैं– श्री राम, जो इन सभी संबन्धों के प्रतिमान थे। कवि वाल्मीकि राम में एक आदर्श पुत्र, एक आदर्श भाई, एक आदर्श मित्र और एक आदर्श शत्रु का रूप दिखाते हैं। हमने उनका उल्लेख एक आदर्श पुत्र के रूप में किया है। जब वे स्वयं भी अपने को एक आदर्श पुत्र बताते हैं, तो दंडी तथा औरों के अनुसार, यह गर्वोक्ति नहीं, यथार्थोक्ति है।* इसके उपरान्त हम उनका भाई के रूप में उल्लेख करेंगे। भाई की भूमिका में भी राम औरों से कहीं अधिक उत्कृष्ट थे। कदाचित् कवि का आशय 'छोटे भाई' से है, जब वह भरत का उल्लेख एक आदर्श भाई के नमूने के रूप में करता है। यह देखने के लिए कि भरत के साथ राम ने कैसा व्यवहार किया, हमें थोड़ा पीछे जाना पड़ेगा। आपको स्मरण होगा कि अयोध्या कांड के उत्तरार्ध में जब दोनों भाइयों का वार्तालाप चल रहा था, भरत को कुछ हठी पाकर श्री राम बोले, "तुम कहते हो कि जब उन्होंने कैकेयी की बात मानी, पिताजी मूढ़ अवस्था में थे, वे सठिया गये थे। परन्तु उससे बहुत पहले पिताजी का, जब तुम्हारी माता कैकेयी के साथ विवाह हुआ था, तभी उन्होंने तुम्हारे नानाजी को कैकेयी के पुत्र को राज्य देने का वचन दिया था।

पुराः भ्रातः पिता नः स मातरं ते समुद्वहन्।
मातामहे समाश्रौषीद्राज्यशुल्कमनुत्तमम्।। II.107.3

* *स्वगुणाविष्क्रिया दोषो नात्र भूतार्थशंसिन।।* – काव्यादर्श 1.24

वह वचन अभी भी मान्य है, इसे रद्द मत करो।"

दुर्भाग्य से इस वादे का कोई अन्य संकेत नहीं मिलता। कैकेयी ने स्वयं क्यों नहीं इसका ज़िक्र किया? क्यों उसकी प्रबोधिका दासी, मन्थरा ने भी इसका ज़िक्र नहीं किया? कहीं पर भी इसका संकेत नहीं किया गया। आश्चर्य होता है, ऐसा क्यों? इसके लिए अनेक समर्थन प्रस्तुत किये जाते हैं। अहम् बात तो यह है कि केवल एक व्यक्ति था, जिसको इसके विषय में सशक अभिज्ञता थी– वे थे राजा दशरथ। उन्हें अवश्य यह सब याद था, किन्तु जैसे–जैसे चारों भाई बड़े होते गए, श्री राम अन्य भाइयों की अपेक्षा निस्सन्देह इतने बढ़–चढ़ गए कि वे सबके प्रिय बन गए। अन्य भाई सब उनसे बहुत पीछे थे। इसी कारण, ऐसा प्रतीत होता है कि कैकेयी के पिता अश्वपति भी राजा दशरथ से लिए वचन को भूल गए अथवा उन्होंने यह सोचा कि इस विषय में अधिक ज़ोर डालना समझदारी नहीं होगी। जब राजा दशरथ ने श्री राम को युवराज पद पर आसीन करना चाहा, तो यह भी सोचा कि परिस्थितियाँ श्री राम को युवराज बनाने के लिये अनुकूल थीं क्योंकि भरत शत्रुघ्न के साथ अपने माता के घर पर थे। उन्होंने जानबूझ कर अश्वपति और जनक को निमंत्रण पत्र भी नहीं भेजे, बहुत अधिक दूरी का बहाना लेकर। वास्तविक कारण तो यह था कि उन्हें अश्वपति को दिया गया वचन याद था। अतः वे राम से कहते हैं :

विप्रोषितश्च भरतो यावदेव पुरादितः।
तावदेवाभिषेकस्ते प्राप्तकालो मतो मम।। II.4.25

"अब जब कि भरत इस नगर से बहुत दूर हैं, तुम्हारे अभिषेक के लिए यह समय अति अनुकूल है। निस्सन्देह भरत एक सच्चरित्र व्यक्ति है और वह उसी प्रकार का आचरण भी करता है। तथापि....

किं तु चित्तं मनुष्याणामनित्यमिति मे मतिः। II.4.27

मनुष्यों का चित्त प्रायः सर्वदा एक सा नहीं रहता, ऐसा मेरी मत है।"

पाठ से आशय स्पष्ट नहीं है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उनका तात्पर्य यह है कि भरत जैसे व्यक्तियों के सम्बन्ध में भी सम्पन्न कार्य संभाव्य बाधाओं से दूर रहने का सबसे अच्छा मार्ग है। यहाँ एक बात मुझे खटकती है। भरत के स्वभाव को अच्छी प्रकार से जानते हुए भी श्री राम ने क्यों विरोध नहीं किया? उन्होंने कोई विरोध नहीं किया। ऐसी बात नहीं है कि उन्होंने दशरथ का समर्थन किया हो, परन्तु उन्होंने बात को काटा नहीं। मेरा तो यही कहना है, यथा पिता, तथा पुत्र। यह सन्देह का तत्त्व श्री राम के हृदय से भी दूर न थो क्योंकि लंका विजय के पश्चात् जब वे भरद्वाज मुनि के आश्रम से गुज़र रहे थे, उनके मस्तिष्क में ये विचार घूमते हैं कि अयोध्या पहुँचने पर क्या स्थिति हो सकती है। वे हनुमान को बुलाकर कहते हैं, "मुझे तुम्हारी पारखी दृष्टि पर विश्वास है। तुम अयोध्या पहुँचो और कुछ जानकारी प्राप्त कर लौट कर ताबड़तोड़

अयोध्या पहुँचो और कुछ जानकारी प्राप्त कर लौट कर मेरे पास वापस आओ। तुम भरत के पास जाओ और सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाओ। फिर यह भी निवेदन करना कि श्री राम शत्रुओं को जीतकर मित्रों सहित अयोध्या आ रहे हैं और प्रयागराज तक आ पहुँचे हैं। यह बात सुनकर भरत की मुख–मुद्रा और हाव–भाव में जो परिवर्तन हो, उस पर ध्यान देना, उसके रूप और मनोभावों का निरीक्षण करना और देखना, उसकी मेरे प्रति कैसी भावनायें हैं, जिससे मैं भी उसी के अनुकूल अपने रवैये को ढाल सकूँ।" यहाँ कवि चरित्र–चित्रण में यथार्थ के प्रति भव्य समर्पण और मानव प्रकृति के प्रति तद्रूपता दर्शाता है। वे हमें समझाना चाहता है कि राजसी परिवारों में जब कोई बड़ी चीज़ दाव पर होती है, तो यह बिल्कुल आम बात है कि घनिष्ठ मित्रों में भी अविश्वास पैदा हो सकता है। यह कोई आसाधारण बात नहीं। श्री राम को भी यह विशेषता उत्तराधिकार में मिली थी।

एतच्छ्रुत्वा यमाकारं भजते भरतस्तदा।।
स च ते वेदितव्यः स्यात् सर्वं यच्चापि मां प्रति।
ज्ञेयाश्च सर्वे वृत्तान्ता भरतस्येङ्गितानि च।।
तत्त्वेन मुखवर्णेन दृष्ट्या व्याभाषणेन च।
सर्वकामसमृद्धं हि हस्त्यश्वरथसंकुलम्।।
पितृपैतामहं राज्यं कस्य नावर्तयेन्मनः।
सङ्गत्या भरतः श्रीमान् राज्यार्थी चेत्स्वयं भवेत्।।
प्रशास्तु वसुधां कृत्स्नामखिलां रघुनन्दनः।
तस्य बुद्धिं च विज्ञाय व्यवसायं च वानर।।
यावन्न दूरं याताः स्म क्षिप्रमागन्तुमर्हसि। VI.128.12-17

श्री राम हनुमान से कहते हैं, "समस्त मनोवांछित भोगों से सम्पन्न हाथी, घोड़े, और रथों से भरपूर अपनी चतुरंग वाहिनी द्वारा सुरक्षित पुरातन पूर्वजों का राज्य सुलभ हो जाये, तो वह किसके मन को नहीं पलट देता? कौन ऐसे राज्य से चिपटा नहीं रहना चाहेगा? यदि इन चौदह वर्ष के अन्तराल में दिन–प्रतिदिन राज्य का संचालन करते–करते राज्य वैभव का संसर्ग होने से भरत स्वयं भी राज्य के प्रति अनुरक्त हो गया हो, यह कदापि अस्वाभाविक नहीं है। वह निष्कंटक रूप से भूमंडल का राज्य करे, अहम् बात है, जाकर पता करो, उसकी भावनायें क्या है? उसका वास्तविक रुझान किस ओर है?"

ऐसा कोई संकेत देने का मेरा कदापि विचार नहीं है कि भरत के मन–मानस का थाह लेने या उनके विचार और इच्छाओं की छानबीन कराने के पीछे श्री राम का कोई कुटिल अभिप्राय था। निस्सन्देह उनके पिता दशरथ के मन में एक वास्तविक अमंगल का भय था, किन्तु श्री राम का यह सन्देह परिष्कृत है। वह विचार, जिसमें दशरथ के

सन्दर्भ में विद्वेष की गंध है, चाहे ज़रा सी ही, श्री राम के सन्दर्भ में परिष्कृत है। "यदि शासन की बागडोर अपने हाथ में रखने की भरत की इच्छा है, तो मैं उसमें कोई अवरोध नहीं डालूँगा। मैं पुनः दंडक वन में चला जाऊँगा।" ऐसे थे, श्री राम। भ्रातृत्व का कोई इससे बड़ा प्रमाण है, तो मैं उसे नहीं जानता।

मैं दो शब्द श्री राम पर और कहना चाहूँगा, उनके शत्रु के रूप के सन्दर्भ में। श्री राम शत्रु का भी लिहाज़ करते थे। युद्ध क्षेत्र में बालि का वध करने के पश्चात् उसके प्रति उनका व्यवहार धर्मपरायण है। रावण हनुमान का वध कराना चाहता था, जब उन्होंने अपने को सुग्रीव का दूत बता कर परिचय दिया था। जब विभीषण की पैनी दृष्टि के कारण रावण के प्रसिद्ध गुप्तचरों, शुक और सारन का पता लग गया था, श्री राम का बर्ताव उनके प्रति भी उदार था। उन्होंने न केवल उन्हें क्षमा प्रदान की, अपितु सब कुछ देख लेने और विभीषण से सब जानकारी प्राप्त करने की भी छूट दे दी। श्री राम की कृपा दृष्टि से ही वे बच गए, अन्यथा वानरों द्वारा सीधे यमपुरी भेज दिए जाते। उन्होंने अपने शत्रु के साथ भी ऐसा युद्ध किया, जो सराहनीय है। जब गरुड़ आकर अपना परिचय देते हैं, स्वयं को श्री राम का आत्मीय मित्र और उनका बाहर विचरने वाला प्राण बताकर जो श्री राम और लक्ष्मण की सहायता के लिये उपस्थित है :

अहं सखा ते काकुत्स्थ प्रियः प्राणो बहिश्चरः।
गरुत्मानिह संप्राप्तो युवयोः साह्यकारणात्।। VI.50.46

उस समय गरुड़ एक असाधारण वाक्य का प्रयोग करते हैं :

सखे राघव धर्मज्ञ रिपूणामपि वत्सल। VI.50.56

"आप तो शत्रुओं पर भी दया करने वाले धर्मज्ञ मित्र है," यह श्री राम के विशिष्ट गुणों में से एक का स्मरणीय वर्णन है।

एक अन्तिम बात है। रावण की मृत्यु के पश्चात् विभीषण यह स्मरण कर, कि रावण और उसके बीच कोई प्रेम भाव नहीं था, एक धर्म संकोच में पड़ जाता है। क्या ऐसी परिस्थिति में उसके लिए रावण का अन्तिम संस्कार करना धर्मानुकूल और उचित होगा? तब श्री राम आगे आकर अपने शत्रु की महानता स्वीकार करते हैं।

अवश्यं तु क्षमं वाच्यो मया त्वं राक्षसेश्वर।
अधर्मानृतसंयुक्तः कामं त्वेष निशाचरः।।
तेजस्वी बलवाञ्शूरः संयुगेषु च नित्यशः।
शतक्रतुमुखैर्देवैः श्रूयते न पराजितः।।
महात्मा बलसंपन्नो रावणो लोकरावणः। VI.114.99.101

योद्धाओं में निपुणता और क्षमता मूलभूत गुण माने जाते हैं। यदि एक योद्धा बलशाली और शूरवीर है, तो वह अन्य योद्धा का प्रशंसापात्र होता है। अतः श्री राम

विभीषण से कहते हैं, "यह तो ठीक है कि रावण असत्य था, अधर्मी था। परन्तु, तुम्हें भूलना नहीं चाहिए कि वह कितना महान था। असीम बल, निर्भीकता एवं पराक्रम सम्पन्न, वह इन्द्र और देवताओं के लिये भी अजेय था।"

मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव।। VI.114.101-102

"वैर केवल मरने तक ही रहता है, मृत्यु के उपरान्त सब झगड़े समाप्त हो जाते हैं। अब हमारा प्रयोजन भी सिद्ध हो चुका है। अतएव, अपने भाई का अन्तिम संस्कार विधिपूर्वक समुचित ढंग से करो।"

ज़रा सोचकर तो देखिए, विशालहृदयता कितनी ऊँचाई को छू सकती है। जब श्री राम साथ में यह भी कहते हैं, "जैसे वह तुम्हारा भाई है वैसे मेरा भी है।" टीकाकारों ने ठीक ही कहा है कि *'ममाप्येष यथा तव'* का अर्थ है, "मृत्यु के पश्चात् मैं उसको भाई के समान मानता हूँ। यदि उसकी अन्त्येष्टि तुम नहीं करोगे, तो मैं करने के लिये तैयार हूँ।" यह कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

◈◈◈

नवाँ अध्याय

राम

सम्पादकों को खेद है कि इस व्याख्यान की कोई रिपोर्ट प्राप्त न हो सकी। इसमें श्री राम के वनवास तथा चित्रकूट पर भरत मिलाप तक के प्रसंगों का उल्लेख था। व्याख्यान के नोटों से संकलित मुख्य–मुख्य शीर्षक और पढ़े गये श्लोक इस प्रकार हैं :

राम की धर्म श्रद्धा :

रामः सत्पुरुषो लोके सत्यः धर्मपरायणः।
साक्षाद्रामाद्विनिर्वृत्तो धर्मश्चापि श्रिया सह।।
धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च शीलवाननसूयकः।
शान्तः सान्तवयिता श्लक्ष्णः कृतज्ञो विजितेन्द्रियः।।
व्यसनेषु मनुष्याणां भृशं भवति दुःखितः।।
उत्सवेषु च सर्वेषु पितेव परितुष्यति। II.2.29,31,40,41

"श्री राम संसार में सत्यवादी, सत्यपरायण और सत्पुरुष हैं। साक्षात् श्री राम ने ही अर्थ के साथ धर्म को भी प्रतिष्ठित किया है। श्री राम धर्मज्ञ, सत्यप्रतिज्ञ, शीलवान, अदोषदर्शी, शान्त, निर्बल और दीन दुखियों को सहायता करने वाले, मृदुभाषी, कृतज्ञ, जितेन्द्रिय, कोमल स्वभाव वाले, स्थिरबुद्धि, सदा कल्याणकारी, समस्त प्राणियों के प्रति प्रियवचन बोलने वाले और सत्यवादी हैं। नगर में, मनुष्यों पर संकट आने पर वे बहुत दुखी हो जाते हैं और उन सबके घरों में सब प्रकार के उत्सव होने पर उन्हें पिता की भाँति प्रसन्नता होती है।"

राम का शारीरिक सौन्दर्य :

गन्धर्वराजप्रतिमं लोके विख्यातपौरुषम्।
दीर्घबाहुं महासत्त्वं मत्तमातङ्गगामिनम्।।
चन्द्रकान्ताननं राममतीव प्रियदर्शनम्।
रूपौदार्यगुणैः पुंसां दृष्टिचित्तापहारिणम्।।

धर्मभितप्ताः पर्जन्यं ह्लादयन्तामिव प्रजाः।
न ततर्प समायान्तं पश्यमानो नराधिपः।। II.3.28-30

"श्री राम गन्धर्वराज के समान तेजस्वी थे। उनका पौरुष समस्त संसार में विख्यात था। उनकी भुजायें बड़ी और बल महान था। चाल मतवाले गजराज के समान थी, मुख चन्द्रमा के समान कान्तिमान था, जो सबको आकर्षित करता था। वे अपने रूप सौन्दर्य और उदारता आदि गुणों से सबको प्रिय लगते थे। जैसे तप्त प्राणियों को मेघ आनन्दित करता है, उसी प्रकार समस्त प्रजा को प्रसन्न रखते थे।"

कैकेयी द्वारा मन्थरा से राम की चर्चा :

धर्मज्ञो गुणवान्दान्तः कृतज्ञः सत्यवाङ्शुचिः।
रामो राजसुतो ज्येष्ठो यौवराज्यमतोऽर्हति।।
भ्रातॄन्भृत्यांश्च दीर्घायुः पितृवत्पालयिष्यति।
यथा वै भरतो मान्यस्तथा भूयोऽपि राघवः।।
कौसल्यातोऽतिरिक्तं च मम शुश्रूषते बहु।
राज्यं यदि हि रामस्य भरतस्यापि तत्तदा।
मन्यते हि यथात्मानं तथा भ्रातॄंश्च राघवः।। II.8.14,15,18-19

"कुब्जे! श्री राम धर्म के ज्ञाता, गुणवान, जितेन्द्रिय, कृतज्ञ और सत्यवादी हैं। महाराज के ज्येष्ठ पुत्र भी हैं। अतः युवराज पद के अधिकारी भी वे ही हैं। वे दीर्घजीवी होकर अपने भाइयों और परिजनों का पिता के समान पालन करेंगे। कुब्जे! उनके अभिषेक का समाचार पाकर तू क्यों इतनी जल क्यों रही है? मेरे लिए जैसे भरत आदर का पात्र है, वैसे ही, बल्कि उनसे भी बढ़कर, श्री राम हैं क्योंकि वे तो कौशल्या से भी बढ़कर मेरी सेवा करते हैं। यदि राज्य श्री राम को मिल भी रहा है, तो उसे भरत को मिला समझ। श्री राम तो अपने भाइयों को भी अपने ही समान समझते हैं।"

दशरथ द्वारा कैकेयी से राम की चर्चा :

नालं द्वितीयं वचनं पुत्रो मां प्रतिभाषितुम्।
स वनं प्रव्रजेत्युक्तो बाढमित्येव वक्ष्यति।।
यदि मे राघवः कुर्याद्वनं गच्छेति चोदितः।
प्रतिकूलं प्रियं मे स्यान्न तु वस्तः करिष्यति।।
शुद्धभावो हि भावं मे न तु ज्ञास्यति राघवः।। II.12.85,86

"अपने पुत्र श्री राम से यदि मैं कह दूँ, तुम वन चले जाओ, तो वे तुरन्त 'बहुत अच्छा', कहकर मेरी आज्ञा का पालन करेंगे। मेरा पुत्र अन्य बात न कहकर मुझे प्रतिकूल उत्तर न देगा। यदि मेरी आज्ञा देने पर भी राम उसके विपरीत करते वन नहीं जाते, तो मेरे लिये प्रिय कार्य होगा, किन्तु मेरा बेटा कभी ऐसा नहीं करेगा।"

राम की तटस्थता / प्रजा अभिषेक की प्रतीक्षा करती है :

अलमद्य हि भुक्तेन परमार्थैरलं च नः।
यदि पश्याम निर्यान्तं रामं राज्ये प्रतिष्ठितम्।।
ततो हि नः प्रियतरं नान्यत्किंचिद्भविष्यति।
यथाभिषेको रामस्य राज्येनामिततेजसः।।
एताश्चान्याश्च सुहृदामुदासीनः शुभाः कथाः।
आत्मसंपूजनीः शृण्वन्ययौ रामो महापथम्।।
न हि तस्मान्मनः कश्चित्चक्षुषी वा नरोत्तमात्।
नरः शक्नोत्यपाकृष्टुमतिक्रान्तेऽपि राघवे।।
यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति।
निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हते।। II.17.10-15

प्रजा के लोग आपस में कहने लगे, "भाइयों! यदि हम राज्य पर प्रतिष्ठित श्री राम के दर्शन कर लें, तो हमें संसार के भोग और परमार्थ स्वरूप मोक्ष लेकर क्या करना? महातेजस्वी राम का यदि राज्याभिषेक हो जाये, तो हमारे लिये उससे प्रियतर कार्य दूसरा कौन–सा होगा?" अपने मित्रगण तथा प्रजाजन से अपनी प्रशंसा सुनकर श्री राम राजपथ पर बढ़े चले जा रहे थे।

श्री राम को जो एक बार देख लेता था, वह उन्हें एकटक देखता ही रहता था। दूर जाने पर भी दृष्टि हटा नहीं पाता था। उस समय जो श्री राम को नहीं देखता अथवा जिसे श्री राम नहीं देख लेते, वह समस्त लोकों में निन्दित समझा जाता था क्योंकि स्वयं उसकी अन्तरात्मा भी उसे धिक्कारती थी।

राम आज्ञा पालन करने की शपथ लेते हैं :

अतोषयन्महाराजमकुर्वन्वा पितुर्वचः।
मुहूर्तमपि नेच्छेयं जीवितं कुपिते नृपे।।
यतोमूलं नरः पश्येत्प्रादुर्भावमिहात्मनः।
कथं तस्मिन्न वर्तेत प्रत्यक्षे सति दैवते।। II.12. 85-86

"महाराज को असंतुष्ट करके अथवा उनकी आज्ञा न मान कर, उन्हें कुपित कर देने पर मैं दो घड़ी भी जीवित रहना नहीं चाहूँगा। मनुष्य, जिनके कारण इस संसार में जन्म लेता है, उस प्रत्यक्ष देवता पिता के जीते–जी वह उसके अनुकूल बर्ताव क्यों न करेगा?"

राम अपने हृदय की बात कहते हैं :

अहो धिङ् नार्हसे देवि वक्तुं मामीदृशं वचः।
अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके।।

भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे।
नियुक्तो गुरुणा पित्रा नृपेण च हितेन च।।
तद् ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकाङ्क्षितम्।
करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते।। II.18.28-30

"अहो! धिक्कार है! देवि! आपको मेरे प्रति ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए थी। मैं महाराज के कहने पर आग में कूद सकता हूँ, विषपान भी कर सकता हूँ, समुद्र में भी कूद सकता हूँ। महाराज मेरे गुरु, पिता और हितैषी सभी कुछ हैं। मैं उनकी आज्ञानुकूल क्या नहीं कर सकता? अतः माता–पिता जी की जो भी इच्छा हो, वह मुझे बताओ। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, उसे अवश्य ही पूर्ण करूँगा।" राम दो प्रकार की बातें नहीं करता।

कैकेयी का दबाव डालना :

यदि सत्यप्रतिज्ञं त्वं पितरं कर्तुमिच्छसि।
आत्मानं च नरश्रेष्ठ मम वाक्यमिदं शृणु।।
संनिदेशे पितुस्तिष्ठ यथानेन प्रतिश्रुतम्।
एतत्कुरु नरेन्द्रस्य वचनं रघुनन्दन।
सत्येन महता राम तारयस्व नरेश्वरम्।। 11.19.6

"नरश्रेष्ठ! यदि तुम अपने पिता को सत्यप्रतिज्ञ बनाना चाहते हो और स्वयं को भी सत्यनिष्ठ रखने की अभिलाषा करते हो, तो मेरी यह बात सुनो। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार तुम पिता की आज्ञा के अधीन रहो। उसके अनुसार तो तुम्हे चौदह वर्ष पर्यन्त वन में रहना पड़ेगा। रघुनन्दन! तुम राजा की इस आज्ञा का पालन करके इनके महान सत्य की रक्षा करो और महाराज को इस संकट से मुक्त करो।"

"लेकिन पिता जी ने स्वयं यह बात मुझसे क्यों न कही?"

अलीकं मानसं त्वेकं हृदयं दहतीव मे।
स्वयं यन्नाह मां राजा भरतस्याभिषेचनम्।।

"किन्तु मेरे मन को एक हार्दिक दुःख है कि स्वयं महाराज ने भरत के अभिषेक की बात मुझ से क्यों नहीं कही?"

कैकेयी का अनुरोध :

व्रीडान्वितः स्वयं यत्त्व नृपस्त्वां नाभिभाषते।
नैतत्किंचिन्नरश्रेष्ठ मन्युरेषोऽपनीयताम्। II.19.15

"नरश्रेष्ठ! राजा अधिक लज्जित होने के कारण यह बात स्वयं न कहते हैं। यह विषय इतना चिंतनीय नहीं है। अतएव, यह वेदना तुम अपने मन से निकाल दो।"

राम तुरन्त वन जाने के लिये तत्पर हैं और गहन विरोध करते हुए, अपने उच्च विचार प्रकट करते हैं :

नाहमर्थपरो देवि लोकमावस्तुमुत्सहे।
विद्धि मामृषिभिस्तुल्यं विमलं धर्ममास्थितम्।।
न ह्यतो धर्मचरणं किंचिदस्ति महत्तरम्।
यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया।।
अनुक्तोऽप्यत्रभवता भवत्या वचनादहम्।
वने वत्स्यामि विजने वर्षाणीह चतुर्दश।।
यावन्मातरमापृच्छे सीतां चानुनयाम्यहम्।
ततोऽहैव गमिष्यामि दण्डकानां महद्वनम्।।
भरतः पालयेद्राज्यं शुश्रूषेच्च पितुर्यथा।
तथा भवत्या कर्त्तव्यं स हि धर्मः सनातनः।। II.19.20,22,23,25,26

"देवि! मैं धन की कामना करके इस लोक में रहना नहीं चाहता। आप विश्वास रखिए, मैंने भी ऋषियों के समान निर्मल धर्म का आश्रय ले रखा है। पिता की सेवा और उनकी आज्ञा का पालन करना मेरा परम कर्त्तव्य और धर्म है। उससे बड़ा संसार में दूसरा धर्माचरण कौन–सा होगा? यद्यपि पिताजी ने स्वयं मुझसे कुछ नहीं कहा है, तथापि मैं आपकी आज्ञानुसार चौदह वर्षों तक इस धरती के निर्जन वन में निवास करूँगा। अच्छा! अब मैं माता कौशल्या से आज्ञा लेकर और सीता को समझाकर आज ही विशाल दंडकारण्य के लिये प्रस्थान करूँगा। आप इतना प्रयत्न कीजियेगा, जिससे भरत इस राज्य का पालन और पिताजी की सेवा करते रहें, क्योंकि यही सनातन धर्म है।"

रावण से सीता द्वारा इस प्रसंग का विवरण :

कैकेयी मम भर्तारमित्युवाच द्रुतं वचः।
तव पित्रा समाज्ञप्तं ममेदं शृणु राघव।।
भरताय प्रदातव्यमिदं राज्यमकण्टकम्।
त्वया तु खलु वस्तव्यं नव वर्षाणि पञ्च च।।
वने प्रव्रज काकुत्स्थ पितरं मोचयानृतात्।
दद्यान्न प्रतिगृह्णीयात्सत्यं ब्रूयान्न चानृतम्।
एतद् ब्राह्मणं रामस्य व्रतं धृतमनुत्तमम्।। III.47.14-18

"कैकेयी मेरे पति से तुरन्त बोली, "रघुनन्दन। तुम्हारे पिताजी ने जो आज्ञा दी हैं, इसे मेरे मुँह से सुनो। यह निष्कंटक राज्य भरत को दिया जायेगा और तुम्हें चौदह वर्ष पर्यन्त वन में वास करना होगा। राम! तुम वन को जाओ और अपने पितो को असत्य के बन्धन से मुक्त करो।' मेरे स्वामी, श्री राम केवल देते हैं और किसी से कुछ लेते नहीं। वे सत्यवादी है और यही उनका सर्वोत्तम व्रत है, जिसको वे धारण किए हुए हैं।"

हनुमान से सीता के वार्तालाप का विवरण :

ततस्तं स्थविरो राजा सत्यधर्मे व्यवस्थितः।
ज्येष्ठं यशस्विनं पुत्रं रुदन् राज्यमयाचत।।
स पितुर्वचनं श्रीमानभिषेकात्परं प्रियम्।
मनसा पूर्वमासाद्य वाचा प्रतिगृहीतवान्।।
दद्यान्न प्रतिगृह्णीतयात्सत्यं ब्रूयान्न चानृतम्।
अपि जीवितहेतोर्हि रामः सत्यपराक्रमः।। V.33.23-26

"महाराज दशरथ बड़े सत्यवादी थे, उन्होंने अपने यशस्वी ज्येष्ठ पुत्र श्री राम से रोते–रोते भरत के लिये राज्य माँगा। श्री राम को पिता के वचन राज्याभिषेक से भी कहीं अधिक प्रिय थे। अतः उन्होंने पहले उन वचनों को पूर्ण विश्वास के साथ मन से ग्रहण किया और फिर वाणी द्वारा स्वीकार कर लिया। सत्यपराक्रमी श्री राम केवल देते ही हैं, लेते नहीं। वे सदा सत्य बोलते हैं, वे अपने प्राणों की रक्षा हेतु भी झूठ नहीं बोल सकते।"

विसंगति के समाधान के लिये एक साहसिक प्रयत्न– दशरथ ने रोते–रोते याचना की।" कहते हैं फिर पिता की 'इच्छा' अथवा 'आज्ञा' का क्या होता है?

राम की समचित्तता :

इतीव रामं परूषं वदन्तयां न चैव रामः प्रतिवेश शोकम्।
प्रविव्यथेवो वापि महानुभावो राजा च पुत्रव्यसनाभितप्तः।।
तदप्रियममित्रघ्नो वचनं मरणोपमम्।
श्रुत्वा न विव्यथे रामः कैकेयीं चेदमब्रवीत्।।
न चास्य महतीं लक्ष्मीं राज्यानाशोऽपकर्षति।
लोककान्तस्य कान्तत्वाच्छीतरश्मेरिव क्षयः।।
न वनं गन्तुकामस्य त्यजतश्च वसुन्धराम्।
सर्वलोकातिगस्येव लक्ष्यते चित्तविक्रिया।।
*धारयन्मनसा दुःखमिन्द्रियाणि निगृह्य च।**
प्रविवेशात्मवान्वेश्म मातुरप्रियशंसिवान्।।
सर्वोऽप्यभिजनः श्रीमाञ्श्रीमतः सत्यवादिनः।
नालक्षयत रामस्य कंचिदाकारमानने।।
उचितं च महाबाहुर्न जहौ हर्षमात्मवान्।
*शारदः समुदीर्णांशुश्चन्द्रस्तेज इवात्मजम्।।*II.18.41; II.19.1,32,33, 35-37

---

* देखिए अ.5, पृ. 71.

कैकेयी के इस प्रकार के कठोर वचन सुनकर भी श्री राम को लेशमात्र शोक नहीं हुआ, किन्तु महाराज दशरथ पुत्र के भावी वियोग को सोचकर अत्यन्त दुःखी हुए। उन अप्रिय कठोर वचनों को सुनकर भी रिपुसूदन श्री राम दुःखी न हुए। उन्होंने कैकेयी से इस प्रकार कहा, "श्री राम अक्षय कान्ति से युक्त थे। इसलिये उस समय राज्य हानि उनकी महती कान्ति में कुछ अन्तर न डाल सकी, जैसे चन्द्रमा का क्षीण होना, उसकी सहज शोभा में कुछ अन्तर नहीं डाल सकता। वे वन गमन के लिए उत्सुक थे और सम्पूर्ण पृथ्वी का राज्य त्याग रहे थे। फिर भी उनके चित्त में सर्वलोकातीत जीवनमुक्त संतों की भाँति किसी प्रकार का विकार नहीं आया। वे अपने दुःख को दबाकर, इन्द्रियों को वश में करके यह अप्रिय समाचार सुनाने के लिए अपनी माता के पास गए। उस समय उन्होंने मन को पूर्ण रूप से वश में कर रखा था। जो शोभाशाली मनुष्य सदा सत्यवादी श्रीमान राम के निकट रहा करते थे, उन्होंने भी उनके मुख पर कोई विकार नहीं देखा। महायशस्वी श्री राम ने अपनी स्वभाविक प्रसन्नता उसी प्रकार नहीं छोड़ी, जैसे शरदकाल का चन्द्रमा अपने तेज का परित्याग नहीं करता।"

राम–लक्ष्मण के आचरण की तुलना कीजिए :

तं बाष्पपरिपूर्णाक्षः पृष्ठतोऽनुजगाम ह।
लक्ष्मणः परमक्रुद्धः सुमित्रानन्दवर्धनः।। II.19.30

सुमित्रा का आनन्द बढ़ाने वाले लक्ष्मण इस अन्याय को देखकर अत्यन्त कुपित हुए, तथापि दोनों नेत्रों में आँसुओं को भरकर वे चुपचाप श्री राम के पीछे–पीछे चल दिए।

राम का एकाकी गौरव :

स मातरं चैव विसंज्ञकल्पामार्तं च सौमित्रिमभिप्रतप्तम् ।
धर्मे स्थितो धर्म्यमुवाच वाक्यं यथा स एवार्हति तत्र वक्तुम्।।
अहं हि ते लक्ष्मण नित्यमेव जानामि भक्तिं च पराक्रमं च।
मम त्वभिप्रायमसंनिरीक्ष्य मात्रा सहाभ्यर्दसि मां सुदुःखाम्।।
धर्मार्थकामाः खलु जीवलोके समीक्षिता धर्मफलोदयेषु।।
ये तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे भार्यैव वश्याभिमता सपुत्रा।।
यस्मिंस्तु सर्वे स्युरसंनिविष्टा धर्मो यतः स्यात्तदुपक्रमेत।
*द्वेष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता।।*I.21.55-58

धर्मनिष्ठ श्री राम ने अचेत–सी माँ कौशल्या से और आर्त एवं संतप्त हुए लक्ष्मण से भी ऐसी धर्मानुकूल बात कही, जैसी उस अवसर पर वे ही कह सकते थे, "लक्ष्मण! मैं जानता हूँ कि तुम मुझसे कितना प्रेम करते हो और तुम कितने पराक्रमी भी हो, वह भी मुझसे छिपा नहीं है। तथापि तुम मेरे अभिप्राय को न जानकर माँ के साथ स्वयं भी मुझे व्यथित कर रहे हो। इस प्रकार मुझे बहुत दुःख में न डालो। इस

जगत में पूर्वकृत धर्म के फल की प्राप्ति अवश्य होती है, इसमें संशय नहीं। ठीक उसी प्रकार, जैसे पत्नी, धर्म, अर्थ और काम तीनों का साधन है। वह पति की इच्छानुसार आतिथ्य धर्म को निबाहती है, प्रेयसी के रूप में काम का साधन होती है और पुत्रवती के रूप में उत्तम लोक की प्राप्ति रूप अर्थ की साधिका बनती है। जिस कर्म में धर्मादि सब पुरुषार्थों का समावेश न हो, उसको नहीं करना चाहिए। जो केवल अर्थ परायण होता है, वह इस संसार में सबका द्वेष का पात्र बन जाता है तथा धर्मविरुद्ध कार्य प्रशंसनीय नहीं, निन्दनीय है।"

राम का परामर्श अपनी माता को :*

तां तथा रुदतीं रामोऽरुदन्वचनमब्रवीत्।।
जीवन्त्या हि स्त्रिया भर्ता दैवतं प्रभुरेव च।
भवत्या मम चैवाद्य राजा प्रभवति प्रभुः।।
न ह्यनाथा वयं राज्ञा लोकनाथेन धीमता।
भरतश्चापि धर्मात्मा सर्वभूतप्रियंवदः।।
भवतीमनुवर्तेत स हि धर्मरतः सदा।
यथा मयि तु निष्क्रान्ते पुत्रशोकेन पार्थिवः।।
श्रमं नावाप्नुयात् किंचिदप्रमत्ता तथा कुरु।
दारुणश्चाप्ययं शोको यथैनं न विनाशयेत्।।
राज्ञो वृद्धस्य सततं हितं चर समाहिता।
व्रतोपवासनिरता या नारी परमोत्तमा।।
भर्तारं नानुवर्तेत सा च पापगतिर्भवेत्।
भर्तुः शुश्रूषया नारी लभते स्वर्गमुत्तमम्।।
अपि या निर्नमस्कारा निवृत्ता देवपूजनात्।
शुश्रूषामेव कुर्वीत भर्तुः प्रियाहिते रता।।
एष धर्मः स्त्रिया नित्यो लोके वेदे श्रुतः स्मृतः।
अग्निकार्येषु च सदा सुमनोभिश्च देवताः।।
पूज्यास्ते मत्कृते देवि ब्राह्मणाश्चैव सत्कृताः।
एवं कालं प्रतीक्षस्व ममागमनकाङ्क्षिणी।।
नियता नियताहारा भर्तृशुश्रूषणे रता।
प्राप्स्यते परमं कामं मयि पयागिते सति।।
यदि धर्मभृतां श्रेष्ठो धारयिष्यति जीवितम्।। II.24.20-31

अपनी माता को रोती देखकर श्री राम भी सान्त्वना देते–देते रोने लगे, "माँ! स्त्री के जीते–जी उसका पति ही उसके लिये देवता के समान है। महाराज तो तुम्हारे और मेरे–

* देखिए अ.19.

दोनों के प्रभु हैं। जब तक महाराज जीवित हैं, तब तक हमें अपने आपको अनाथ नहीं समझना चाहिए। भरत भी धर्मात्मा है, मधुर भाषी है, धर्म में स्थिर है। अतः वह तुम्हारी सेवा अवश्य करेगा। मेरे चले जाने पर महाराज को पुत्रशोक के कारण किसी प्रकार का कोई कष्ट न हो, तुम सावधानी से वैसा ही बरतना। जैसे भी हो, तुम सदा महाराज के हित साधन में लगी रहना। उत्कृष्ट गुण और जाति आदि की दृष्टि से उत्तम व्रत–उपवास में संलग्न रहकर जो नारी पति की सेवा नहीं करती, उसे नर्क की प्राप्ति होती है। जो नारी देवताओं की वन्दना और पूजा से दूर रहती है, वह भी केवल पति की सेवाभाव है। वह स्वर्गलोक को प्राप्त कर लेती हैं। अतएव नारी को सदा पति के प्रिय एवं हितसाधन में तत्पर रहना चाहिए। यही स्त्री का सनातन धर्म है, यही श्रुति और स्मृतियों में वर्णित है। देवि! तुम्हें सदा मेरी शुभकामनाओं से सदा अग्निहोत्र के अवसरों पर देवताओं और ब्राह्मणों का पूजन करते रहना चाहिए। इस प्रकार नियमित दिनचर्या, नियमित आहार लेकर नियमों का पालन करती हुई, मेरे आगमन की प्रतिक्षा करो। यदि महाराज जीवित रहे, तो मेरे लौटने पर तुम्हारी भी शुभकामना पूर्ण होगी।"

राम का सीता को परामर्श :

भरतस्य समीपे ते नाहं कत्थ्यः कदाचन।।
ऋद्धियुक्ता हि पुरुषा न सहन्ते परस्तवम्।
*तस्मान्न ते गुणाः कत्थ्याः भरतस्यागतो मम।।**
भ्रातृपुत्रसमौ चापि द्रष्टव्यौ च विशेषतः।
*त्वया भरतशत्रुघ्नौ प्राणैः प्रियतरौ मम।।***
विप्रियं च न कर्त्तव्यं भरतस्य कदाचन।
स हि राजा च वैदेहि देशस्य च कुलस्य च।।
आराधिता हि शीलेन प्रयत्नैश्चोपसेविताः।
राजानः संप्रसीदन्ति प्रकुप्यन्ति विपर्यये।।
औरसानपि पुत्रान् हि त्यजन्त्यहितकारिणः।
समर्थान्संप्रगृह्णन्ति जनानपि नराधिपाः।। II.26.24,25,33-36

"इस समय मैं निर्जनवन के लिये प्रस्थान करने वाला हूँ और तुमसे मिलने यहाँ आया हूँ। तुम मेरी अनुपस्थिति में भरत के सामने कभी भी मेरी प्रशंसा न करना क्योंकि समृद्धिशाली मनुष्य दूसरे की स्तुति सहन नहीं कर सकते हैं। भरत और शत्रुघ्न– दोनों भाई मुझे प्राणों से भी अधिक प्यारे हैं। अतः तुम्हें उन दोनों को विशेषकर अपने भाई और पुत्र के समान देखना होगा। जानकी! तुम्हें भरत की इच्छा के विरुद्ध कोई काम नहीं करना चाहिए क्योंकि इस समय वे मेरे देश और कुल के राजा हैं। अनुकूल आचरण के द्वारा

* देखिए अ.35.

** देखिए अ.4, पृ.50.

आराधना और सेवा करने से राजा प्रसन्न होते हैं तथा प्रतिकूल व्यवहार करने से कुपित होने की सम्भावना है।

राजा अपने अहितकारी पुत्रों का, वे औरस ही क्यों न हों, त्याग कर देते हैं और आत्मीय न होने पर भी सामर्थ्यवान पुरुषों को अपना लेते हैं। राम अपने पिता से माता कौशल्या के प्रति दयाभाव के लिये अनुरोध करते हैं और अपनी माताओं से अनभिप्रेत उपेक्षाओं के लिये क्षमा माँगते हैं।"

राम और गुहराज– उनके आतिथ्य की अस्वीकृति :

यत्त्विदं भवता किंचित्प्रीत्या समुपकल्पितम्।
सर्वं तदनुजानामि न हि वर्ते प्रतिग्रहे।।
कुशचीराजिनधरं फलमूलाशनं च माम्।
विद्धि प्रणिहितं धर्मे तापसं वनगोचरम्।।
अश्वानां खादनेनाहमर्थी नान्येव केनचित्।
ततश्चीरोत्तरासङ्गः सन्ध्यामन्वास्य पश्चिमाम्।
जलमेवाददे भोज्यं लक्ष्मणेनाहृतं स्वयम्।। II.50.43-45,48,49

"तुमने प्रेमपूर्वक यह जो कुछ जो सामग्री मुझे भेंट की है, उसे मैं स्वीकार करके वापस करता हूँ क्योंकि इस समय मैं दूसरों की दी हुई वस्तु ग्रहण नहीं कर सकता हूँ। मृगचर्म और वल्कल धारण करके केवल फलमूल का आहार कर धर्म में स्थित रहकर तापसी देश में वन में ही विचरता हूँ। यह मेरा नियम है, ऐसा जानो। इनमें जो घोड़ों के खाने–पीने की वस्तु है, उसी की मुझे इस समय आवश्यकता है, किसी दूसरी वस्तु की नहीं। घोड़ों को खिला–पिला देने मात्र से मेरा पूर्ण सत्कार हो जायेगा।"

तत्पश्चात् वल्कल का उत्तरीय–वस्त्र धारण करने वाले राम ने सांयकाल की सन्ध्या वंदना कर भोजन के नाम पर स्वयं लक्ष्मण का लाया गया केवल जलमात्र पी लिया। फिर पत्नी सहित श्री राम भूमि पर ही तृण की शय्या बिछा कर सोए। उस समय लक्ष्मण उन दोनों के चरणों को धोकर दूर वृक्ष का सहारा लेकर बैठ गए।

गुह बाद में भरत से बताते हैं :

तत्सर्वं प्रत्यनुज्ञासीत् रामः सत्यपराक्रमः।
न तु तत्प्रत्यगृह्णात्स क्षात्रधर्ममनुस्मरन्।।
न ह्यस्माभिः प्रतिग्राह्यं सखे देयं तु सर्वदा।
इति तेन वयं सर्वे अनुनीता महात्मना।।
लक्ष्मणेन यदानीतं पीतं वारि महात्मना।
औपवास्यं तदाऽकार्षीद्राघवः सह सीतया।।
ततस्तु जलशेषेण लक्ष्मणोऽप्यकरोत्तदा। II.87.15-18

"मैंने भाँति–भाँति के खाद्य पदार्थ श्री राम के पास पहुँचाये। सत्यपराक्रमी श्री राम ने मेरी सम्पूर्ण सामग्री स्वीकार तो की, किन्तु क्षत्रिय धर्म का स्मरण करते हुए उनको ग्रहण नहीं किया और मुझे आदरपूर्वक वापस लौटा दिया। फिर उन्होंने हम सबको समझाते हुए कहा, प्रिय मित्र! हम क्षत्रियों को चाहिए किसी से कुछ लेना नहीं, अपितु हमें तो सदा देना ही चाहिए।"

सीता सहित उस रात को उन्होंने उपवास किया और लक्ष्मण जो जल लाये थे, केवल उसी को पिया।

गोविन्दराज की टिप्पणी : II.87.16 पर

इत्यनुनीता त्यमित्यनेन स्वाङ्घ्रिभक्ताग्रेसरगुहसमर्पितफलादेः भक्तिपूतत्वेन शबरीविदुरादिन्यायेन परमभागवततया स्वीकार्यत्येऽपि स्वप्रियतमपितृप्रमुखाबहुजनविश्लेषजनितवैमनस्येन पुण्यनदीतीरे उपवासचिकीर्षया च गुहसमर्पितं न प्रतिजग्राह रामः इति गुहेनापि विदितमिति गम्यते।

राम का एक अन्तर्विरोध– "निषादराज का आतिथ्य अस्वीकार किया, किन्तु भारद्वाज तथा शबरी का आतिथ्य स्वीकार किया।"

तिलक की टिप्पणी :

(1) भारद्वाज में मधुपर्क देने के आवश्यक गुण थे। गुह उच्च जाति के नहीं थे।

(2) गुह अयोध्या की प्रजा नहीं था। अतएव, राज्य प्रतिनिधि के प्रति कर देने का उत्तरदायी नहीं था।

(3) फिर भी गुहराज को तत्त्वज्ञ होने के कारण उन्हें एक अपवाद के रूप में चाहिए था, किन्तु राम व्रतमार्ग पर थे।

लेकिन इस नियम का परिपालन अतिथि और आतिर्थय के पारस्परिक सम्बन्ध में नहीं किया जाना चाहिए था। राम ने इस बात को नियम के उच्च स्तर पर रखा। अन्य विवरण मिले जुले थे, परन्तु कोई भी उनके सब अभिप्रायों और ऐसा करने के कारणों का विवरण देने के लिये बाध्य नहीं है।

गोविन्दराज की टिप्पणी :

ततस्त्वहं चोत्तमबाणचापभृत् स्थितोऽभवं तत्र स यत्र लक्ष्मणः।
अतन्द्रितैर्ज्ञातिभिराचाकार्मुकैः महेन्द्रकल्पं परिपालयंस्तदा।। II.87.23

एको भ्राता नगराद् वनानि निरगमयत्। अयमपरः सुषुप्तिदशायां किमपि कुर्यादिति शङ्कया सज्जायुधः सन् यत्र–यत्र स लक्ष्मणः स्थितः तत्र–तत्र स्थितोऽभवम्। प्रतिपदं तमनुसृतवानभवमित्यर्थः। अतन्द्रिभिः ज्ञातिभिः आचाकार्मुकैः। मम परिकराश्च अयं वनचरो निषादजातीयः

रामे किंचित्करिष्यति चेद् एनं च प्रहराम इति सावधाना मां प्रतिपदमन्वसरन् इत्यर्थः। एवस्थाने भवशङ्किभिः कृतम्। वस्तुतः स न केनाचित्परिभाव्य इत्याह। – महेन्द्रकल्पमिति।

गोविन्दराज की इस विलक्षण टिप्पणी का क्या अर्थ हो सकता है? इस टिप्पणी पर मेरी एक टिप्पणी सुनिए : एक अमूल्य निधि कई व्यक्तियों द्वारा सुरक्षित की गई है। उनमें से प्रत्येक बड़ी सूक्ष्मता से दूसरों को देखते हुए केवल अपने आपको ही विश्वसनीय चौकीदार समझता है।

राम के ऊँचे सिद्धांत :

पितुः सत्यं प्रतिश्रुत्य हत्वा भरतमाहवे।
किं करिष्यामि राज्येन सापवादेन लक्ष्मण।।
यद्द्रव्यं बान्धवानां वा मित्राणां वा क्षये भवेत्।
नाहं तत्प्रतिगृह्णीयां भक्ष्यान्विषकृतानिव।।
धर्ममर्थं च कामं च पृथिवीं चापि लक्ष्मण।
इच्छामि भवतामर्थं एतत्प्रतिशृणोमि ते।।
भ्रातृणां संग्रहार्थं च सुखार्थं चापि लक्ष्मण।
राज्यमप्यहमिच्छामि सत्येनायुधमालभे।।
नेयं मम मही सौम्य दुर्लभा सागरांबरा।
न हीच्छेयमधर्मेण शक्रत्वमपि लक्ष्मण।।
यद्विना भरतं त्वां च शत्रुघ्नं वापि मानद।
भवेन्मम सुखं किंचिद्भस्म तत्कुरुतां शिखी।। II.97. 3-8

"लक्ष्मण! पिताजी के सत्य की रक्षा हेतु प्रतिज्ञा करके भी, यदि मैं युद्ध में भरत को मार कर राज्य छीन लूँ तो संसार में मेरी कितनी निन्दा होगी, फिर उस कलंकित राज्य को लेकर मैं क्या करूँगा? अपने भाई बन्धुओं और मित्रों का विनाश करके जो सम्पदा प्राप्त हो, वह तो विषमिश्रित भोजन के समान सर्वथा, त्याग देने वाली वस्तु होगी। मैं भूलकर भी उसे स्वीकार नहीं करूँगा। लक्ष्मण! सुनो, मैं प्रतिज्ञा पूर्वक से कहता हूँ धर्म, अर्थ, काम और पृथ्वी का राज्य भी मैं तुम ही सबके लिए चाहता हूँ। मैं संग्रह और अपने–अपने भाइयों के सुख के लिये ही राज्य की भी इच्छा करता हूँ। मैं अपने धनुष की शपथ लेकर कहता हूँ। लक्ष्मण! समुद्र से घिरी हुई यह पृथ्वी मेरे लिये दुर्लभ नहीं है, परन्तु अधर्म द्वारा प्राप्त इन्द्रपद भी मैं नहीं चाहता। भाई भरत के, तुम्हारे और शत्रुघ्न के बिना यदि मुझे कोई सुख मिले, तो अग्निदेव उसे जलाकर भस्म कर दें।"

राम भरत से कहते हैं....

लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान्वा हिमं त्यजेत्।
अतीयात्सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः।।
कामाद्वा तात लोभाद्वा मात्रा तुभ्यमिदं कृतम्।
न तन्मनसि कर्त्तव्यं वर्तितव्यं च मातृवत्।।
मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति।
मया च सीतया चैव शप्तोऽसि रघुनन्दन।। II.112.18,19,27,28*

"चाहे चन्द्रमा से उसकी प्रभा अलग हो जाये, हिमालय हिम का परित्याग कर दे अथवा समुद्र अपनी सीमा को लाँघ कर आगे बढ़ जाये, किन्तु मैं पिताजी से की हुई अपनी प्रतिज्ञा नहीं तोड़ सकता। प्रिय भरत! माता कैकेयी ने इच्छावश अथवा लोभवश तुम्हारे लिए जो कुछ भी किया, उसको अपने मन में न धरो। उसके साथ सदा वैसा ही व्यवहार करो, जैसा कि पूजनीया माता के प्रति करना चाहिए। प्रिय भाई! मैं तुम्हें अपनी और सीता की शपथ दिलाकर कहता हूँ कि तुम कैकेयी माता की रक्षा करना, और उनके प्रति कभी क्रोध न करना।"

पिछले सन्दर्भ में हमने देखा था यद्यपि दशरथ के वचनों में वनवास की कोई आज्ञा शामिल नहीं थी, किन्तु राम ने उसका कोई अनुचित लाभ उठाना नहीं सोचा। दशरथ ने मौन स्वीकृति तो दी थी और चाहे कुछ भी हो–भरत को चाहे इससे कितना भी दुःख हुआ हो और चाहे वे अन्दर से कितना भी चाहते हों कि राम उसको अस्वीकार कर दें।

नालं द्वितीयं वचनं पुत्रो मां प्रतिभाषितुम्।
स वनं प्रव्रजेत्युक्तो बाढमत्येव वक्ष्यति।।
यदि मे राघवः कुर्याद्वनं गच्छेति चोदितः।
प्रतिकूलं प्रियं मे स्यान्न तु वत्सः करिष्यति।।
शुद्धभावो हि भावं मे न तु ज्ञास्यति राघवः।। II.12.85,86**

"अपने पुत्र राम से यदि मैं कहूँ कि वन को चले, जाओ तो वे तुरन्त कहकर, 'बहुत अच्छा,' मेरी आज्ञा का पालन करेंगे। मेरा पुत्र, राम अन्य कुछ भी प्रतिकूल नहीं कहेगा। यदि मेरे बन जाने की आज्ञा दे देने पर भी राम उसके प्रतिकूल कुछ और करते हैं अर्थात् वन नहीं जाते, तो मेरे लिये वही प्रिय होगा। किन्तु मैं जानता हूँ, मेरा बेटा ऐसा नहीं कर सकता।"

* देखिए अ.8, पृ.106 तथा अ.10.

* देखिए अ.28.

ऐसा नहीं था कि राम भरत के विचारों को समझने में असमर्थ थे, किन्तु अपनी इच्छा से अधिक वे अपने पिता की प्रतिष्ठा का आदर करना पसन्द था। अन्त में दशरथ ने स्पष्ट रूप से अपनी इच्छा प्रकट कर दी थी।

अन्तिम विदा के समय दशरथ....

अहं राघव कैकेय्या वरदानेन मोहितः।
अयोध्यायां त्वमेवाद्य भव राजा निगृह्य माम्।। II.34.26

"राम! मैं कैकेयी को दिए हुए वचन के कारण मोह में पड़ गया हूँ। तुम मुझे क़ैद करके स्वयं ही अब अयोध्या के राजा बन जाओ।"

कैकेयी की ओर से गुप्त संकेत....

रुदन्नार्तः प्रियं पुत्रं सत्यपाशेन संयुतः।
कैकेय्या चोद्यमानस्तु मिथो राजा तमब्रवीत्।।
श्रेयसे वृद्धये तात पुनरागमनाय च।
गच्छस्वारिष्टमव्यग्रः पन्थानमकुतोभयम्।। II.34.30,31

राजा दशरथ एक और तो सत्य के बन्धन में बँधे हुए थे और दूसरी ओर कैकेयी राम को तुरन्त वन भेजने के लिए दबाव डाल रही थी। अतएव, बड़े दयनीय भाव से रोते–रोते वे राम से बोले, "प्रिय पुत्र राम! तुम कल्याण और वृद्धि के लिए और फिर तुरन्त लौट जाने के लिए शान्त भाव से जाओ। तुम्हारा मार्ग विघ्नबाधाओं से रहित और निर्भय हो।"

किन्तु वयोवृद्ध राजा फिर विद्रोह करते हैं और कहने लगते हैं :

न चैतन्मे प्रियं पुत्र शपे सत्येन राघव।
छन्नया चलितस्त्वस्मि स्त्रिया भस्माग्निकल्पया।।
वञ्चना या तु लब्धा मे तां त्वं निस्तर्तुमिच्छसि।
अनया वृत्तसादिन्या कैकेय्याभिप्रचोदितः।।
न चैतदाश्चर्यतमं यत्त्वं ज्येष्ठः सुतो मम।
अपानृतकथं पुत्र पितरं कर्तुमिच्छसि।। II.34.36-38

"परन्तु बेटा राम! मैं सत्य की शपथ खाकर कहता हूँ कि मुझे तुम्हारा वनगमन प्रिय नहीं है। यह मेरी स्त्री कैकेयी राख में छिपी हुई अग्नि के समान है। इसने अभी तक अपने कठोर अभिप्राय को छिपाकर रखा था और मेरा अभीष्ट संकल्प भी तोड़ दिया है। इस विनाशकारी कैकेयी ने वरदान माँग कर मेरे साथ बहुत बड़ा धोखा किया। पुत्र! इस धोखे तो तुम पार करना चाहते हो, तुम अपने पिता को सत्यवादी बनाना चाहते हो। तुम्हारे लिये यह कोई आश्चर्य की बात नहीं क्योंकि तुम गुण और अवस्था– दोनों ही से मेरे ज्येष्ठ पुत्र हो।"

राम का अन्तिम उत्तर....

यस्तु युद्धे वरो दत्तः कैकेय्यै वरद त्वया।
दीयतां निखिलेनैव सत्यस्त्वं भव पार्थिव।।
न हि में काङ्क्षितं राज्यं सुखमात्मनि वा प्रियम्।
नैवाहं राज्यमिच्छामि न सुखं न च मेदिनीम्।
नैव सर्वानिमान्कामान् स्वर्गं न च जीवितम्।।
त्वामहं स्तयमिच्छामि नानृतं पुरुषर्षभ।
प्रत्यक्षं तव सत्येन सुकृतेन च ते शपे।।
न हि शक्यं मया तात स्थातुं क्षणमपि प्रभो। II.34.42,43, 45, 47, 49

"मेरा वन जाने का विचार अब बदल नहीं सकता। आपने देवासुर संग्राम के समय माता कैकेयी को जो वरदान देने की प्रतिज्ञा की थी, उसे पूर्ण रूप से दीजिए और सत्यनिष्ठ बनिए। मुझे तो न राज्य की, सुख की, न पृथ्वी की, न सम्पूर्ण भोगों की, न स्वर्ग और न ही जीवन की इच्छा है। पिता जी! मेरे मन में तो यही इच्छा है कि आप सत्यवादी बनें और आपका वचन कभी भी असत्य न हो। मैं आपके सामने सत्य और शुभकर्मों की शपथ लेकर यह बात कहता हूँ। प्रभो! अब मैं यहाँ एक क्षण भी नहीं ठहर सकता हूँ।" दशरथ अनुरोध करते हैं, "केवल इस एक रात रुक जाओ, बेटा!"

अद्य त्विदानी रजनीं पुत्र मा गच्छ सर्वथा।
एकाहं दर्शनेनापि साधु तावच्चराम्यहम्।।
मातरं मां च संपश्यन् वसेमामद्य शर्वरीम्।
तर्पितः सर्वकामैस्त्वं श्वः काल्ये साधयिष्यसि।। II.34.33,34

"रातभर और रह जाओ। सिर्फ़ एक रात के लिये सर्वथा अपनी यात्रा रोक दो। केवल एक दिन भी तो तुम्हें देखने का सुख उठा लूँ। अपनी माता को और मुझको इस अवस्था में देखकर आज की रात यहीं रह जाओ। मेरे द्वारा सभी अभिलषित वस्तुओं से तृप्त होकर कल प्रातः यहाँ से जाना।" राम की अस्वीकृति, "नहीं! नहीं! मैं इसी रात को वन के लिए जा रहा हूँ।"

प्राप्स्यामि यानद्य गुणान्को मे श्वस्तान्प्रदास्यति।
अप्रक्रमणमेवातः सर्वकामैरहं वृणे।।
अर्थितो ह्यस्मि कैकेय्या वनं गच्छेति राघव।
मया चोक्तं व्रजामीति तत्सत्यमनुपालये।। II.34.40,50

"आज प्रस्थान करके जिन गुणों को मैं पाऊँगा, कल मुझे वे गुण कौन देगा? अतएव, सभी प्रकार की इच्छाओं का त्याग कर मैं आज ही निकलना चाहता हूँ। महाराज! कैकेयी ने मुझसे अनुरोध किया है कि 'राम! तुम वन को चले जाओ।' मैंने भी वचन दिया है, 'तुरन्त जाऊँगा।' उस सत्य का मुझे पालन करना है।"

'हम वन में प्रसन्न रहेंगे'....

मा चोत्कण्ठां कृथा देव वने रंस्यामहे वयम्।
प्रशान्तहरिणाकीर्णे नानाशकुनिनादिते।।
फलानि मूलानि च भक्षयन्वने गिरींश्च पश्यन्सरितः सरांसि च।
वनं प्रविश्यैव विचित्रपादपं सुखीं भविष्यामि तवास्तु निर्वृतिः।। II.34. 51,59

"देव! बीच में हमें देखने हमसे मिलने के लिये आप उत्कण्ठित न होंगे। शान्त स्वभाववाले मृगों से भरे हुए और भाँति–भाँति के पक्षियों के कलरवों से गूँजते हुए उस वन में हम लोग बड़े आनन्द से रहेंगे। मैं विचित्र वृक्षों से वन में प्रवेश करके फल–मूल का भोजन करता हुआ, वहाँ के पर्वत नदियों और सरोवरों को देख–देखकर सुखी होऊँगा। इसलिये आप अपने मन को शान्त कीजिए।"

वनवासो महोदयः। II.22.29

"लक्ष्मण! मेरे लिये राज्य अथवा वनवास दोनों समान हैं.... बल्कि वनवास ही महान अभ्युदयकारी प्रतीत होता है।"

सुमंत्र का वनवासियों के सुखी जीवन का साक्ष्य; उनका कौशल्या को समाचार....

त्यज शोकं च मोहं च सम्भ्रमं दुःखजं तथा।
व्यवधूय च सन्तापं वने वत्स्यति राघवः।।
लक्ष्मणश्चापि रामस्य पादौ परिचरन्वने।
आराधयति धर्मज्ञः परलोकं जितेन्द्रियः।।
विजनेऽपि वने सीता वासं प्राप्य गृहेष्विव।
विसम्भं लभतेऽभीता रामे विन्यस्तमानसा।।
नास्या दैन्यं तं किंचित्सुसूक्ष्ममपि लक्ष्यते।
उचितेव प्रवासानां वैदेही प्रतिभाति मे।।
नगरोपवनं गत्वा यथा रमते पुरा।
तथैव रमते सीता निर्जनेषु वनेष्वपि।।
बालेव रमते सीता बालचन्द्रनिभानना।
रामा रामे ह्यदीनात्मा निर्जनेऽपि वने सती।।
तद्गतं हृदयं यस्याः तदधीनं च जीवितम्।
अयोध्या हि भवेदस्या रामहीना तथा वनम्।।
न शोच्यास्ते न चात्मा ते शोच्यो नापि जनाधिपः।
इदं हि चरितं लोके प्रतिष्ठास्यति शाश्वतम्।।

विधूय शोकं परिहृष्टमानसा महर्षियाते पथि सुव्यवस्थिताः।
वने रता वन्यफलाशनाः पितुः शुभां प्रतिज्ञां परिपालयन्ति ते।।

II.60.5-11,21,22

"महारानी! इस शोक, मोह और और दुःख को त्याग दीजिए। क्योंकि श्री राम इस समय सारा दुःख भुलाकर वन में निवास कर रहे हैं। धर्मज्ञ एवं जितेन्द्रिय लक्ष्मण भी उस वन में श्री राम के चरणों की सेवा में संलग्न हुए अपना परलोक बना रहे हैं। सीता भी पतिसेवा और श्री राम की आराधना में मगन है। इसलिए निर्जन वन में भी घर–गृहस्थ की भाँति सुखी और निर्भय है। वनवास में उनके मन में किंचिद् मात्र भी दुःख नहीं दिखाई देता। मुझे तो ऐसा लगता है, जैसे उन्हें वन में रहने का अभ्यास हो। जैसे नगर में जाकर वे उपवन में घूमा करती थी, उसी प्रकार वन में भी सीता बड़े प्रसन्न मन से विचरती है। पूर्ण चन्द्रमा के समान सुन्दर मुखवाली रमणी–शिरोमणि, उदारमना सीता उस निर्जन वन में भी श्री राम के समीप प्रसन्न–प्रफुल्ल बालिका के समान प्रसन्न रहती हैं। सीता का मन तो राम में रमा हुआ है, उनका सम्पूर्ण जीवन भी राम के अधीन है। अतः इधर राम के बिना अयोध्या भी उन्हें वन के समान प्रतीत होती। उधर राम के समीप वन भी अयोध्या के समान है। अतएव आप श्री राम, लक्ष्मण अथवा सीता के लिए शोक न करें, अपने और महाराज जी की भी चिन्ता छोड़ें। श्री राम का चरित्र संसार में सदा–सदा के लिए अमर रहेगा। वे तीनों प्रसन्नचित्त, ऋषि मुनियों के धर्म मार्ग पर स्थित हैं। वन में रहकर फल–मूल का भोजन करते हुए पिता की उत्तम प्रतिज्ञा का पालन कर रहे हैं।"

चित्रकूट में राम पूर्णतया सुखी....

गुहासमीरणो गन्धान् नानापुष्पभवान्बहून्।
घ्राणतर्पणमभ्येत्य कं नरं न प्रहर्षयेत्।।
यदीह शरदोऽनेकाः त्वया सार्धमनिन्दिते।
लक्ष्मेणन च वत्स्यामि न मां शोक प्रधर्षति।।
बहुपुष्पफले रम्ये नानाद्विजगणायुते।
विचित्रशिखरे ह्यस्मिन् रतवानस्मि भामिनि।।
इदमेवामृतं प्राहुः राज्ञि राजर्षयः परे।
वनवासं भवार्थाय प्रत्य मे प्रपितामहाः।। II.94. 14-16,19

गुफाओं से निकलती हुई पुष्पों की सुगंधित वायु किस पुरुष की प्रसन्नता को नहीं बढ़ाती? श्री राम सीता से कहते हैं, "सीते! यदि तुम्हारे और लक्ष्मण के साथ रहकर और नगर का त्याग कर कई वर्ष भी यहाँ व्यतीत करूँ, तो मुझे नगर त्याग का कोई शोक मुझे कदापि पीड़ित नहीं करेगा। सीते! अनेक फल–फूलों से युक्त, नाना प्रकार के पक्षियों से सेवित इस सुन्दर पर्वत शिखर को देख मुझे बड़ा आनन्द होता है।

प्रिये! मेरे पूर्वज प्रपितामह मनु और श्रेष्ठ राजर्षियों ने भी नियम से किये गये इस वनवास को ही अमृत बताया है, यहाँ शरीर त्याग करने से परम कल्याण की प्राप्ति होती है।"

राम सीता के प्रति....

दर्शनं चित्रकूटस्य मन्दाकिन्याश्च शोभने।
अधिकं पुरवासाच्च मन्ये तव च दर्शनात्।।
विधूतकल्मषैः सिद्धैः तपोदमशमान्वितैः।
नित्यविक्षोभितजलां विगाहस्व मया सह।।
त्वं पौरजनवद्धचालान् अयोध्यामिव पर्वतम्।
मन्यस्व वनिते नित्यं सरयूवदिमां नदीम्।।
लक्ष्मणश्चैव धर्मात्मा मन्निदेशे व्यवस्थितः।
त्वं चानुकूला वैदेहि प्रीतिं जनयती मम।।
उपस्पृशंस्त्रिषवणं भ्रुमूलंफलाशनः।
नायोध्यायै न राज्याय स्पृहये अद्य त्वया सह।।
इमां हि रम्यां जगतीथलोलितां निपीततोयां गजसिंहवानरैः।
सुपुष्पितां पुष्पभरैरलंकृतां न सोऽस्ति यः स्यान्न गतक्लमः सुखी।।

II.95. 12,13, 15-18

"प्रिये! यहाँ जो प्रतिदिन चित्रकूट और मन्दाकिनी का दर्शन होता है, वह नित्य और निरन्तर तुम्हारे दर्शनों के साथ अयोध्या निवास से भी अधिक सुखद लगता है। इस नदी में प्रतिदिन तपस्या, संयम–नियम धारण करने वाले निष्पाप महात्माओं के स्नान से इसका जल सदा विक्षुब्ध होता सिद्ध रहता है। आओ, चलो, तुम भी मेरे साथ यहाँ स्नान करो। प्रिये! तुम यहाँ के निवासियों को नगर के नागरिकों के समान समझो। चित्रकूट को अयोध्या मानो और नदी मन्दाकिनी को अयोध्या की सरयू जानो। जनक नन्दिनी, लक्ष्मण धर्मात्मा सदा मेरी आज्ञा का पालन करते हैं और तुम भी मेरे मन के अनुकूल चलती हो, इसलिये मैं बहुत प्रसन्न हूँ। प्रिये! तुम्हारे साथ तीन समय स्नान करके फल–मूल का आहार करके मुझे न तो अयोध्या का राज चाहिए और न ही अयोध्या जाने की इच्छा रखता हूँ। जिस मन्दाकिनी को हाथियों के समूह मथ डालते हैं और जिसका जल सिंह तथा वानर पीते हैं, जिसके तट सुन्दर फूलों के वृक्षों से सुशोभित हैं, ऐसी रमणीय नदी में स्नान करके जो मनुष्य सुखी न हो, कदाचित् ऐसा मनुष्य संसार में कोई न होगा।"

◈◈◈

दसवाँ अध्याय

राम

मै आज अपनी सामान्य पद्धति से कुछ हट कर, इस महाकाव्य के एक प्रसिद्ध अंश को विस्तार से प्रस्तुत करना चाहूँगा। प्रसंग है– चित्रकूट में श्री राम और भरत के बीच वाद–विवाद। यह संवाद देवताओं द्वारा भी ज्ञानवृद्धि और सुशिक्षा की भावना से सुना गया था, जो कवि कौशल का सजीव कीर्त्तिस्तम्भ है। सम्भव है कि यह विस्तृत व्याख्या आपकी सहनशक्ति के लिए कुछ चुनौती बन जाये। कदाचित् आपको लगेगा कि ऐसा मैंने अकारण नहीं किया। संवाद में श्री राम का चरित्र अत्यन्त सजीवता से उभर कर आता है। परन्तु सविस्तार वर्णन देने से इस काव्य के कुछ महत्वपूर्ण सर्गों का पाठ निश्चित रूप से अधिक सार्थक होगा। अयोध्याकांड के 100 से 112वें सर्गों तक दोनों भाइयों के मिलन का विस्तृत वर्णन दिया गया है। उनमें से प्रथम चार सर्ग में वाद–विवाद का वास्तविक विषय नहीं है, अतः इनको छोड़ दूँगा। केवल एक ध्यान देने योग्य बात का उल्लेख करूँगा। 103वें सर्ग के अंत में कवि भाइयों के सम्मिलन का वर्णन करता है। किन्तु विचित्र बात यह है कि वह केवल राम, लक्ष्मण और भरत का ही उल्लेख करता है। किसी कारण से शत्रुघ्न का बिल्कुल उल्लेख नहीं किया गया। कदाचित् यह स्मरण कराता है कि बालकांड के अनेक स्थानों पर लक्ष्मण को भी छोड़ दिया गया है। इसके विषय में मैंने आरम्भ में ही संकेत दिया था। यह इस प्रकार है :

स राघवः सत्यधृतिश्च लक्ष्मणो महानुभावो भरतश्च धार्मिकः।
*वृताः सुहृद्भिश्च विरेजुरध्वरे यथा सदस्यैः सहितास्त्रयोऽग्नयः।।*II.103.32

"जब भरत, माताओं आदि सहित, श्री राम के आश्रम पर पहुँचते हैं, राम सभी का स्वागत करते हैं। ये तीनों भाई अपने सुहृदों से घिरकर यज्ञशाला में त्रिविध अग्नियों के समान शोभा पा रहे थे।"

यह उपमा केवल तीन भाइयों के लिए ही प्रयुक्त हुई है। तीन अग्निओं के क्रम से ऐसा प्रतीत होता है कि उस महत्वपूर्ण सन्दर्भ में कवि ने शत्रुघ्न को उपेक्षणीय मानकर उसका उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझा। कुछ विचित्र सी बात है। यह पूर्णतया केवल भूलचूक नहीं मानी जा सकती, क्योंकि यहाँ कवि ने एक बढ़िया श्लोक

की रचना की है, जिसमें तीन अग्नियों की उपमा प्रस्तुत की गई है। यह भाइयों का प्रथम सम्मिलन है। बातचीत का प्रारम्भ प्रसिद्ध 'कच्चित' (100 वें) सर्ग के पश्चात् होता है और उस सर्ग (102) के पश्चात्, जिसमें अत्येष्टि एवं तत्सम्बन्धी धर्मानुष्ठानों का विवरण दिया गया है। तब श्री राम अपने भाई भरत से पूछते हैं, "तुम जो इस समय वन प्रदेश में आये हो, इस साज़–सामान के साथ, इसका कारण क्या है?" क्योंकि भरत अपने साथ अपने प्रजाजन, मंत्रियों, स्वर्गीय महाराज दशरथ की पत्नियों और बड़े–बड़े व्यापारी आदि को भी लेकर आए थे। "ये लोग झुंड के झुंड लोग और विशाल सेना किस लिये?" तत्पश्चात् भरत वाक्युद्ध का आरम्भ करते हैं। भरत मानो केवल तीन बातों पर बल देते हैं, जो याद रखने योग्य हैं, इससे अधिक कुछ नहीं। प्रथमतः इक्ष्वाकु कुल की अखंड परम्परा पर, जिसके अनुसार ज्येष्ठ पुत्र का ही राज्याभिषेक होना चाहिए। फिर वे कहते हैं, वे राज्य के लिए बिल्कुल अनिच्छुक हैं। वास्तव में वे अत्यन्त सन्तप्त हैं कि उनकी माता की अनुचित योजनायें सफल हो गईं। "मेरी माता के इस प्रकार के सम्पूर्ण प्रयत्नों को पूर्णतया विफल कर देना चाहिए था। मैं इस नाजायज़ कार्यवाही का लाभ उठाना नहीं चाहता।" तीसरा तर्क वे प्रस्तुत करते हैं कि प्रजा इस विषय में सर्वथा एक मत है कि राम अयोध्या लौट आयें और राज पद को संभालें। अब मैं इस सन्दर्भ के कुछ श्लोक उद्धृत करता हूँ।

स्त्रिया नियुक्तः कैकेय्या मम मात्रा परंतप।
चकार सुमहत्पापमिदमात्मयशोहरम्।। II.104.6

"यह अनैतिक कार्य कैकेयी ने पिता जी से करवाया। उसने अपना शुभनाम इतिहास में कलंकित किया है, एक बड़ा पाप किया है।"

सा राज्यफलमप्राप्य विधवा शोककर्शिता।
पतिष्यति महाघोरे निरये जननी मम।। II.104.7

"वह राज्यरूपी फल न पाकर विधवा हो गईं; अब मेरी माता शोक से दुर्बल हो महाघोर नर्क में पड़ेगी।"

इस प्रकार की भाषा का प्रयोग आज्ञाकारी पुत्र को नहीं करना चाहिए था। परन्तु परिस्थितियाँ इतनी बिगड़ चुकी थीं कि जब भी वे अपनी माँ के विषय में सोचते हैं, बेचारे भरत अपनी सहनशीलता खो बैठते हैं। वे कहते हैं, "इसने कैसा हमारे कुल का नाश किया, नाश किया कुल का नाम, नाश किया मेरा नाम, और सर्वनाश कर दिया पूरे साम्राज्य का!" वे इसको भूल नहीं सकते थे। जब कभी उनको माँ का ख़्याल आता, वे अपने आपे में नहीं रहते और अपशब्द उनके मुँह से बरबस निकल जाते। भरत राम से कहते हैं :

एभिश्च सचिवैः सार्धं शिरसा याचितो मया।
भ्रातुः शिष्यस्य दासस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि।। II.104.12

कोई अनुनय–विनय वाणी में इससे अधिक हार्दिक और इससे अधिक नम्र नहीं हो सकती। परन्तु श्री राम ऐसे साधनों से कब जीते जा सकते थे? सर्वप्रथम तो वे इसी बात पर ज़ोर देते हैं कि कैकेयी के प्रति पुत्र द्वारा किसी प्रकार का कोई अशोभनीय व्यवहार नहीं होना चाहिए। जैसा कि हम देख चुके हैं, श्री राम स्वयं भी कैकेयी के आचरण को उचित नहीं मानते थे। परन्तु यह बात अलग थी। किसी पुत्र का अपनी माता द्वारा की गई किसी कार्यवाही की सूक्ष्म जाँच के विचार में, भरत के द्वारा अपनी माता की इतनी अमर्यादित भाषा में भर्त्सना करना विशेष रूप से अभद्र था। अतः वे कहते हैं :

न चापि जननीं बाल्यात्त्वं विगर्हितुमर्हसि। II.104.17

"तुम तो एक बालक हो और अपने क्रोध को वश में नहीं रख सकते। अज्ञानवश भी तुम्हें अपनी माता की भी निन्दा करना चाहिए।" फिर वे कहते हैं, "तुम ऐसा क्यों सोचते हो कि तुम्हारी माता को तुम्हें आज्ञा देने का अधिकार नहीं है? तुम उसके अधिकार का खंडन क्यों करते हो? मनुष्य की पिता में जितनी गौरव–बुद्धि होती है, उतनी माता में भी होनी चाहिए। माता भी पिता के समान ही सम्माननीय होती है।" इस भावना को हमें याद रखना चाहिए।

यावत्पितरि धर्मज्ञे गौरवं लोकसत्कृते।
तावद्धर्मभृतां श्रेष्ठ जनन्यामपि गौरवम्।। II.104.21

"जितना महत्त्व पिता के अधिकार का है, उतना ही माता के अधिकार का भी है।"

एताभ्यां धर्मशीलाभ्यां वनं गच्छेति राघव।
मातापितृभ्यामुक्तोऽहं कथमन्यत्समाचरे।। II.104.22

"इन धर्मशील माता और पिता– दोनों ने जब मुझे वन में जाने और वहाँ चौदह वर्ष व्यतीत करने का आदेश दिया है, तो मैं उनके आदर्श के विपरीत दूसरा आचरण कैसे कर सकता हूँ?"

ये महापुरुष यहाँ *'धर्मशीलाभ्याम्'* शब्द का प्रयोग दशरथ और कैकेयी दोनों के लिए करते हैं, जिन पर इतने लांछन लगाए गए थे। वे उनको धर्मशील कहते हैं। एक अन्य स्थान पर वे यह भी कहते हैं कि उन्होंने कुछ अनुचित नहीं किया (II.111.29)। एक पुत्र के लिये उस समय ऐसा कहना एक असाधारण बात है। किन्तु, श्री राम को ऐसा लगता है कि कैकेयी के पक्ष में भी कुछ जाना चाहिए। आख़िर कैकेयी ने ऐसा क्या किया? केवल अपने अधिकार का ही तो प्रयोग किया। उसके पास दो वर थे, जो उसके पति ने उसको दे रखे थे। निस्सन्देह, दीर्घकाल से वे उसके पास थे, किन्तु सहसा उन्हें एक अनर्थकारी उद्देश्य के लिए प्रयोग में लाया गया। कैकेयी को उन वरों के माँगने का वैध अधिकार था और उसने उसी अधिकार का प्रयोग करते हुए उनकी

माँग की। इसमें बुराई क्या थी? जैसा कि मैं पहले भी कह चुका हूँ कि वन का जीवन, राजसी ठाट–बाट, ऐश्वर्य और राज्य विभूति का वंचन और निवार्सन का दंड श्री राम को नितान्त ऐसे कठिन प्रतीत नहीं होते थे, जैसे कि सामान्य जन को– चाहे वे अब के हों या तब के। उन्होंने उसको इसी प्रकार सहा, जैसे जीवन के अन्य उतार–चढ़ावों को। इन बातों ने उनकी अन्तरात्मा को कोई ठेस नहीं पहुँचाई। इसीलिए वे जानबूझकर *'धर्मशीलाभ्याम'* शब्द का प्रयोग करते हैं। "इससे मुझे कोई आपत्ति नहीं लगती। कैकेयी ने अपने अधिकारों का प्रयोग किया और वह भी एक अकेले पुत्र के प्रति स्वाभाविक ममता से प्रेरित होकर। इसमें बुराई क्या है? और हमारे पिता जी ने जो वचन दिया था उसको निभाया।" बात इस पर समाप्त हुई। जैसा कि मैं बता चुका हूँ, यह रात्रि का समय था।

अगले दिन प्रातः, स्नानादि नित्यकर्मों से निवृत्त होकर सब भाई और अन्य आए हुए लोग, जो इस कार्यवाही में गहरी दिलचस्पी ले रहे थे और बहुत उत्सुक थे कि भरत का मनोरथ सफल हो जाये, सब एक महत्त्वपूर्ण बैठक के लिये एकत्र हुए। सभी के मन में प्रत्याशा थी कि एक महत्त्वपूर्ण घटना घटने वाली है और उसके साक्ष्य का सौभाग्य उन्हें प्राप्त होगा। भरत यह कहते हुए वार्तालाप आरम्भ करते हैं। भैया! आप कहते हैं, राज्य भेंट कर दिया जा चुका है। पिता जी ने राज्य माता द्वारा पुत्र को भेंट किये जाने के लिए दिया। कैकेयी ने पिता जी से उसे ले लिया और मुझे दे दिया। ठीक है, यदि आप ऐसा चाहते हैं, औपचारिक रूप से मैंने राज्य ले लिया है। यह मेरा है, और अब मैं इसे आपकी सेवा में समर्पित कर इसकी ज़िम्मेवारी छोड़ता हूँ। आप इसको ग्रहण कीजिये। भरत इस प्रकार अपना पक्ष प्रस्तुत करते हैं :

सान्त्विना मामिका माता दत्तं राज्यमिदं मम। II.105.4

"मेरी माता को संतोष हो गया, आपकी आपत्ति समाप्त हो गई। यह राज्य मुझे मिल चुका है।"

तद्ददामि तवैवाहं भुङ्क्ष्व राज्यकमण्टकम्।। II.105.4

"अब मैं अपनी और से यह अकंटक राज्य आपकी ही सेवा में समर्पित करता हूँ। अब आप इसे ग्रहण कीजिए। अब कोई दोष नहीं, वैधिक दृष्टि से इसमें कोई त्रुटि नहीं रही। आप इसका पालन एवं उपभोग कीजिये।"

प्रत्युत्तर में श्री राम नियति पर एक विस्तृत प्रवचन आरम्भ करते हैं। जैसा कि आप जानते ही होंगे, भाग्य हमारे साहित्य का एक शाश्वत् विषय है। काल और विधि ही सब कार्य विशेष ढंग से करते हैं। सब कुछ पूर्वनिश्चित एवं पूर्व निर्धारित होता है। जो भाग्य में लिख दिया गया, उसका प्रतिरोध करने अथवा अपनी मर्ज़ी चलाने से क्या लाभ? इसके पश्चात् इसी प्रसंग पर सोलह श्लोक हैं। इन सोलह श्लोकों में कुछ महत्त्वपूर्ण सूक्तियाँ हैं, जो कि पुरातन साहित्य में सुविदित हैं। सम्भवतः कुछ हमें

घिसी–पिटी भी लगें। समझने की बात यह है कि वे हमें ऐसी लगती है क्योंकि उन्हें हमने लाखों बार सुना होगा, अनेकों पुस्तकों में उनके विषय में लिखा गया है, अनेकों बार उन पर व्याख्यान और प्रवचन हुए हैं– अच्छे भी और बुरे भी लोगों द्वारा भी। फलस्वरूप, अब वे घिसे और खोटे सिक्के होने पर भी अभी तक चालू हैं। परन्तु, 'रामायण' के समय में वे ऐसे नहीं थे। इनमें महान सत्य अन्तर्निहित है। उस समय वे अवश्य ही एक अभिनव अभिप्राय से भरे रहे होंगे। और जब श्री राम के मुख से निःसृत हुए थे, वे कदापि घिसे–पिटे एक महत्त्वपूर्ण और निरर्थक नहीं रहे होंगे, जैसा कि सम्भवतः लगते हों। मैं यह मानकर चलता हूँ कि मेरे इन सोलह श्लोकों को पढ़कर सुनाने में और तत्काल उनका अपने शब्दों में अनुवाद भी देने में समय की कोई बर्बादी नहीं होगी– चाहे वह अनुवाद घटिया कोटि का ही क्यों न हो।

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्।। II.105.16

"लौकिक उन्नतियों का अन्त पतन है। संयोग का अन्त वियोग है और जीवन का अन्त मरण हैं। समस्त संग्रहों का अन्त विनाश है।"

यथा फलनां पक्वानां नान्यत्र पतनाद्भयम्।
एवं नरस्य जातस्य नान्यत्र मरणाद्भयम्।। II.105.17

"जैसे पके हुए फलों को पतन के सिवाय और किसी का भय नहीं, उसी प्रकार उत्पन्न हुए मनुष्य को मृत्यु के सिवाय और किसी का भय नहीं है।"

यथागारं दृढस्थूणं जीर्णं भूत्वावसीदति।
तथावसीदन्ति नरा जरामृत्युवशं गताः।। II.105.18

"जिस प्रकार सुदृढ़ स्तम्भों से निर्मित भवन भी किसी समय जीर्ण–शीर्ष होकर गिर पड़ते हैं, उसी प्रकार काल, आयु और मृत्यु के हम शिकार होते हैं।"

अत्येति रजनी या तु सा न प्रतिनिवर्तते।
यात्येव यमुना पूर्णा समुद्रं लवणार्णवम्।। II.105.19

"बीत जाने पर रात्रि लौटती नहीं। यमुना नदी अपना जल महान समुद्र में विसर्जित कर देती है, पर अपनी धारा उलटती नहीं।"

अहोरात्राणि गच्छन्ति सर्वेषां प्राणिनामिह।
आयूंषि क्षपन्त्याशु ग्रीष्मे जलमिवांशवः।। II.105.20

"दिन–रात पृथ्वी के समस्त जीवों पर चक्रवत् घूमते हैं। इस संसार में सभी प्राणियों की आयु का तीव्र गति से नाश कर रहे हैं, ठीक वैसे ही जैसे सूर्य की किरणें ग्रीष्म ऋतु में जल को शीघ्रतापूर्वक सोखती रहती हैं।"

आत्मानमनुशोच त्वं किमन्यमनुशोचसि।
आयुस्ते हीयते यस्य स्थितस्य च गतस्य च।। II.105.21

"तुम अपने लिए ही चिन्ता करो दूसरों के विषय में क्यों सोचते हो? कोई इस लोक में स्थित हो अथवा अन्यत्र गया हुआ हो, प्रत्येक की आयु तो निरन्तर क्षीण हो रही है।"

सहैव मृत्युर्व्रजति सह मृत्युर्निषीदति।
गत्वा सुदीर्घमध्वानं सह मृत्युर्निवर्तते।। II.105.22

"मृत्यु साथ–साथ ही चलती है और साथ–साथ ही बैठती है और चाहे कितनी दूर की यात्रा भी की जाये, साथ ही जाकर वह मनुष्य के साथ ही लौटती है।"

गात्रेषु वलयः प्राप्ताः श्वेताश्चैव शिरोरुहाः।
जरया पुरुषो जीर्णः किं हि कृत्वा प्रभावयेत्।। II.105.23

"शरीर की त्वचा में झुर्रियाँ पड़ गईं, सिर के बाल सफ़ेद हो गए। फिर जरावस्था से जीर्ण हुआ मनुष्य कौन सा उपाय करके मृत्यु से बचने के लिए अपना प्रभाव प्रकट कर सकता है?"

नन्दन्त्युदित आदित्ये नन्दन्त्यस्तमिते रवौ।
आत्मनो नावबुध्यन्ते मनुष्या जीवितक्षयम्।। II.105.24

"सूर्योदय होने पर मनुष्य प्रसन्न होते हैं, यह सोचकर कि यह कार्य करके जीविका उपार्जन करेंगे। सूर्यास्त होने पर भी खुश होते हैं, यह सोचकर कि वे आमोद–प्रमोद करेंगे। लेकिन वे यह नहीं सोचते कि उनके जीवन का क्षण–क्षण नष्ट हो रहा है।"

हृष्यन्त्यृतुमुखं दृष्ट्वा नवं नवमिहागतम्।
ऋतूनां परिवर्तेन प्राणिनां प्राणसंक्षयः।। II.105.25

"किसी नव ऋतु का प्रारम्भ देखकर मनुष्य हर्ष से खिल उठते हैं, परन्तु वे नहीं जानते कि इन परिवर्तनों के साथ प्राणियों की आयु का क्षय हो रहा है।"

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महार्णवे।
समेत्य च व्यपेयातां कालमासाद्य कंचन।।
एवं भार्याश्च पुत्राश्च ज्ञातयश्च धनानि च।
समेत्य व्यवधावन्ति ध्रुवो ह्येषां विनाभवः।। II.105.26-27

ये दोनों श्लोक समवेत रूप से पढ़ने चाहिए। "जैसे किसी महासागर में बहते हुए दो काठ के टुकड़े कभी–कभी मिल जाते हैं और कुछ काल तक साथ बहने के पश्चात् अलग भी हो जाते हैं, उसी प्रकार स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब और धन भी मिलकर बिछुड़ जाते हैं क्योंकि इनका वियोग अवश्याम्भावी है।"

नात्र कश्चिद्यथाभावं प्राणी समभिवर्तते।
तेन तस्मिन्न सामर्थ्यं प्रेतस्यास्त्यनुशोचतः।। II.105.28

"इस संसार में कोई भी प्राणी यथा समय निश्चित जन्म–मरण का उल्लंघन नहीं कर सकता। इसलिए, जो किसी मरे हुए व्यक्ति के लिए बारम्बार शोक करता है, वह भी अपनी मृत्यु को टाल नहीं सकता।"

यथा हि सार्थं ब्रूयात्कश्चित्पथि स्थितः।
अहमप्यागमिष्यामि पृष्ठतो भवतामिति।।
एवं पूर्वैर्गतो मार्गः पितृपैतामहो ध्रुवः।
तमापन्नः कथं शोचेद्यस्य नास्ति व्यतिक्रमः।। I.105.29-30

"जैसे आगे जाते हुए किसी क़ाफ़िले से, रास्ते में खड़ा हुआ कोई पथिक यूँ कहे, 'मैं भी आप लोगों के पीछे–पीछे आऊँगा,' उसी प्रकार यह जीवन यात्रा भी है। हमारे पूर्वज, पिता, पितामह आदि जिस रास्ते से गये हैं, उस पर जाना अनिवार्य है तथा बचने का कोई उपाय नहीं है। उसी मार्ग पर चलता मनुष्य किसी और के लिए क्या शोक करे?"

वयसः पतमानस्य स्रोतसो वानिवर्तिनः।
आत्मा सुखे नियोक्तव्यः सुखभाजः प्रजाः स्मृताः।। II.105.31

"जैसे नदियों का प्रवाह पीछे नहीं लौटता, उसी प्रकार दिन–दिन ढलती अवस्था फिर नहीं लौटती। उसका क्रमशः नाश हो रहा है, यह सोचकर आत्मा को कल्याण के साधनभूत धर्म में लगाना चाहिए, क्योंकि सभी लोग अपना सुख चाहते हैं।"

इसके साथ एक सौ पाँचवाँ सर्ग समाप्त होता है। एक सौ छठे सर्ग का प्रारम्भ भरत करते हैं। इन भाइयों के मध्य काव्य के अन्य विवादियों के मध्य, आरम्भ में शिष्टाचार का विनिमय होता है। प्रत्येक एक औपचारिक भूमिका से आरम्भ करता है, "आपने बहुत ख़ूब कहा है। वाणी में आप कितने कुशल हैं।" तत्पश्चात् खंडन–मंडन आरम्भ होता है। यही सामान्य प्रथा थी। भरत श्री राम के उपदेश की सराहना करते हैं और प्रदर्शित भी करते हैं कि उससे उन्हें नैतिक लाभ भी मिला। परन्तु, इससे उनके हृदय में कोई परिवर्तन नहीं आता। परन्तु, जैसा कैकेयी के प्रति उनके व्यवहार में नम्रता नहीं आयी।

प्रोषिते मयि यत्पापं मात्रा मत्कारणात्कृतम्।।
क्षुद्रया तदनिष्टं मे प्रसीदतु भवान् मम। II.106.8.9

"कृपया दया कीजिए मुझ पर, मेरी माता कैकेयी ने मेरी अनुपस्थिति में ऐसा आचरण किया।"

धर्मबन्धेन बद्धोऽस्मि तेनेमां नेह मातरम्।।
हन्मि तीव्रेण दण्डेन दण्डार्हां पापकारिणीम्। II.106.9.10

"मैं धर्म के बन्धन में बँधा हुआ हूँ, इसीलिए इस पापकारिणी एवं दंडनीय माता को कठोर दंड देकर मार नहीं डालता।"

जैसा कि एक बार उन्होंने पहले भी कहा था, "मैं आपकी भारी अप्रसन्नता से भी डरता हूँ। मेरे पिता जी, राजा दशरथ अतिवृद्ध थे। वे मेरी माता के वशीभूत थे।" फिर वे अचानक एक सामान्य टिप्पणी करते हैं, जिसको कदाचित् बहुतों को सदा याद रखना पड़े।

लोक में प्राचीन एक किंवदन्ती है :

अन्तकाले हि भूतानि मुह्यन्तीति पुरा श्रुतिः।। II.106.13

कि अन्तकाल में सभी प्राणी मोहित हो जाते हैं, उनकी बुद्धि नष्ट हो जाती है।

राज्ञैवं कुर्वता लोके प्रत्यक्षं सा श्रुतिः कृता। II.106.14

राजा दशरथ ने ऐसा कठोर कर्म करके उस किंवदन्ती की सत्यता को पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष कर दिखाया है। तब भरत अपने ज्येष्ठ भ्राता को भी परामर्श देने का साहस करते हैं। यह तो आप जानते ही हैं कि *'अपत्य'* शब्द का अर्थ है, *'पुत्र'*। इसकी व्युत्पति एक मान्यता विशेष से है कि पुत्र पिता को गिरने से बचाता है अर्थात् नर्कवास से। इसी कारण वह *'अपत्यम'* कहा जाता है। भरत इस शब्द का प्रयोग शाब्दिक अर्थ में करते हैं और वह पिता को पतन सच्चाई से बचाता है। भरत इस शब्द का प्रयोग शब्दिक अर्थ में करते हैं और अपने भाई को सच्चाई से अवगत करने की धृष्टता करते हैं।

साध्वर्थमभिसन्धाय क्रोधान्मोहाच्च साहसात्।
तातस्य यदतिक्रान्तं प्रत्याहरतु तद्भवान्।। II.106. 14-15

हमारे पिता ने इसे नैतिक बाध्यता मानकर या पत्नी के क्रोध के भयवश जो धर्म का उल्लंघन किया और यह अन्यायपूर्ण आदेश दिया, उसे आप पलट दें। पिता जी ने भूल से यह अन्याय किया, सम्भवतः किसी मूर्खतावश।

पितुर्हि समतिक्रान्तं पुत्रो यः साधु मन्यते। II.106.15

"जो पुत्र अपने पिता की भूल को ठीक करता है, वही लोक में उत्तम संतान माना जाता है, जो इसके विपरीत कार्य करता है, वह पिता की श्रेष्ठ संतति नहीं है।"

तदपत्यं मतं लोके विपरीतमतोऽन्यथा। II.106.16

"जो इसके विपरीत कार्य करता है अर्थात् पिता के अनुचित आदेश का पालन करता है, वह *'अपत्य'* कहे जाने योग्य नहीं। वे पतन में सहायता करता है। उनको नर्क में गिराता है। अच्छा तो यही होगा कि आप अपत्योचित कार्य करके एक *'अपत्य'* बनें।"

मा भवान् दुष्कृतं पितुः। II.106.16

"पिता जी के अनुचित आचरण क समर्थन न करें। उनकी भूल का समर्थन कर उन्हें दैवी दंड का भागी न बनायें। उचित कार्यवाही कर उन्हें बचा लीजिए।"

आपने देखा, एक चतुर व्यक्ति किस प्रकार अपने मतलब के लिये बात को तोड़–मरोड़ सकता है।

अब मैं आपको कुछ ऐसी बात बताने जा रहा हूँ, जो इस महाकाव्य में सामान्यतः सब लोगों के ध्यान में नहीं आती। मैं यह नहीं कहता कि मैंने कोई ऐसी चीज़ की खोज की है, जो अन्य व्यक्तियों से छिपी है। इस कांड के आरम्भ में ही एक प्रश्न उभर कर आता है। क्या सचमुच राम ने पिता को दिए वचन का यथार्थ में पालन किया? जो लोग यह मानते थे कि जो वे कर रहे हैं, ठीक नहीं है, उन्होंने इस मत का गम्भीर विरोध किया और दृढ़ विश्वास के साथ किया। उन्होंने अपने तर्क जिस प्रकार प्रस्तुत किये, उसे भी सुनिए। जैसा आपको विदित है, अयोध्या कांड का आरम्भ ही राजा दशरथ के इस निश्चय के साथ होता है कि साम्राज्य में एक युवराज्य स्थापित किया जाये और श्री राम को उस पद पर नियुक्त किया जाये। अतः सर्वप्रथम वे राम को बुलवाते हैं और उन्हें अपने निश्चय से अवगत कराते हैं। फिर इसके लिये वे सर्वसम्मत समर्थन का एक व्यापक आधार बनाने के लिये राज्य के धनी–मानी व्यक्तियों, समस्त रईसों, व्यापारियों, मनीषियों, दार्शनिकों, इत्यादि को आमन्त्रित करते हैं और इस मंडली के समक्ष अपना प्रस्ताव प्रस्तुत करते हैं। वे सब एक मत से मानते हैं, जैसा अपेक्षित था, कि महाराज अपने जीवन में इससे अच्छा कार्य दूसरा नहीं कर सकते, जितना कि शासन हस्तान्तरण से होगा, वह भी एक ऐसे पुत्र को, जो उसे वहन करने के यथा योग्य हैं। इस घटना के बाद ही मंथरा के प्रभाव में आकर, कैकेयी ने वृद्ध राजा की भावनाओं का अनुचित लाभ उठाकर, उन दो वरदानों को पूरा करने का वचन ले लिया, जो प्रायः भूले जा चुके थे। यह राजा का दूसरा वादा था। विचरणीय बात यह है कि पहला वादा जनता के साथ किया गया था और स्वयं श्री राम के साथ भी। कैकेयी को दिया गया वादा बाद का था, जिसको महाराज दशरथ ने अधिक महत्व दिया। लक्ष्मण, भरत और अन्य सब लोगों ने दूसरे वादे को पहले की तुलना में वरीयता दिए जाने पर आपत्ति की। वह वृद्ध राजा के लिए क्यों अधिक बाध्यकारी माना गया, जब उससे पहले एक अन्य वादा किया जा चुका था? वस्तुतः पहली बात को किसी के साथ वाद की संज्ञा देना भाषा के साथ खेंचातानी करना है। वह तो केवल एक व्यवस्था थी, जिसका प्रस्ताव राजा ने अपनी प्रजा के हित के लिये प्रस्तुत किया था। किसी को भी राजा से इसकी माँग करने का अधिकार नहीं था, यह सोचकर कि अब समय आ गया है कि वे अपने राज्यभार के कुछ अंश से स्वयं को मुक्त कर सकें, उनको इच्छा हुई कि उसका दायित्व अपने पुत्र को सौंप दें। यह निस्सन्देह एक विवेकपूर्ण क़दम था। परन्तु यह व्यवस्था स्वयं उनके और राज्य के हित के लिये थी। किन्तु, इसको किसी दूसरे को दिए गये औपचारिक आश्वासन की प्रतिष्ठा नहीं प्रदान की जा सकती थी, जिसे वे लोग आग्रहपूर्वक उनसे माँग सकते थे। लोगों को ऐसा दृष्टिकोण अपनाना साधारणतः मान्य नहीं था। परन्तु यह देखते हुए

कि राजा द्वारा वास्तविक प्राथमिकता कैकेयी को दिए गए दूसरे वादे को दी गई थी, जो कि लोगों को रुचिकर न था, तर्क के रूप में उन्होंने पहल कार्यवाही को भी एक दृढ़ आश्वासन के रूप में प्रामाणिकता का जामा पहनाने का निश्चय किया। उनके मत के अनुसार पहले वादे को अभिभावी होना चाहिए था। आइए, ज़रा एक क्षण यह भी विचार करें कि श्री राम को यह बात कैसी लगी। 'रामायण' में इसके सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं है। किन्तु, दृढ़ विश्वास से मैं कह सकता हूँ (यद्यपि प्रायः मैं ऐसा दावा नहीं किया करता, परन्तु यहाँ मुझे पक्का विश्वास है) कि यदि श्री राम से इस विषय में प्रश्न–उत्तर किए जाते, तो वे अपना मत इस प्रकार प्रस्तुत करते।

"थोड़ी देर के लिये मान लिया जाये कि पहला भी एक वादा था और दोनों समकक्ष वादे थे। फिर भी पहले को कार्यान्वित करना, अपनी प्रतिष्ठा कम करना था। मुझे तो पिता जी के दो वादों में से एक का चुनाव करना है। यदि मैं पहले वादे को पूरा करता हूँ, तो क्या जनता यह नहीं कहेगी कि मैंने अपने लाभ और हित के लिये ऐसा किया? वे कहेंगे कि वह तो अधिक लाभकर विकल्प था। धर्म के विषय में मेरा दृष्टिकोण नितान्त भिन्न है। यदि मेरे समक्ष दो वैकल्पिक कर्त्तव्य हों, जिनका मुझे पालन करना है, तो निस्संकोच मैं उनमें से उसी को चुनूँगा, जिसमें कुछ त्याग करना आवश्यक हो, जिसमें कुछ आत्म–दुःख निहित हो। मैं कदापि ऐसे विकल्प को चुनने में आकर्षित नहीं होऊँगा, जिसके सम्बन्ध में मेरे विषय में यह कहा जा सके कि मैंने ऐसा केवल स्वार्थवश और अनर्ह उद्देश्यों से प्रेरित होकर किया।" पूर्ण निश्चय से, शत् प्रतिशत निश्चय से, यह कहा जा सकता है कि श्री राम ने इसी ढंग से अपना पक्ष प्रस्तुत किया होता। मैं इस बिन्दु पर इतना बल क्यों दे रहा हूँ? भरत, जैसा आप जानते ही हैं, श्री राम के जन्मजात भाई थे। यद्यपि वे श्री राम से कभी–कभी दूर भी रहे थे, तथापित वे श्री राम के हृदय को भलीभाँति पहचानते थे क्योंकि दोनों समरुचि थे। भरत भी उन्हीं के समान अति विशाल हृदय और उदारचेता था। वे सदा प्रत्येक वस्तु–स्थिति को धार्मिक दृष्टि से देखते थे और फिर उसी का अनुसरण करना पसन्द करते थे। अब देखिए, भरत किस प्रकार अपनी बात प्रस्तुत करते हैं। "भैया! मैं आपके रंग ढंग से परिचित हूँ। आप तो सर्वदा वही करेंगे, जो आपके लिये कष्टप्रद हो, आप तो कष्टों को निमंत्रण देने वाले हों। आपको तो आत्म–त्याग ही पसंद है। त्याग का एक ढंग मैं भी आपको बताना चाहता हूँ। कृपया ध्यान दें।

अथ क्लेशजमेव त्वं धर्मं चरितुमिच्छसि ।। II.106.21

यदि क्लेशसाध्य धर्म का ही आचरण आपको प्रकृति के अनुसार है तो,

धर्मेण चतुरो वर्णान् पालयन् क्लेशमाप्नुहि। II.106.-22

धर्मानुसार चारों वर्णों का पालन करते हुए ही कष्ट उठाइये। क्या आप समझते हैं कि प्रजा के चारों वर्णों को अपने नियत कर्त्तव्यों पर लगाये रखना सहज साध्य है?

यह एक कठिन दुष्कर दायित्व है और इसमें पूरी–पूरी सहनशीलता की परीक्षा होती है। इसके लिये उच्चतम समझदारी की आवश्यकता होगी। आपको रातों नींद भी नहीं आयेगी। आप इस उत्तरदायित्व को सँभालिये।"

चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमाश्रमम्।।

प्राहुर्धर्मज्ञ धर्मज्ञास्तं कथं त्यक्तुमर्हसि। II.106.22,23

"समस्त आश्रमों में गृहस्थ आश्रम सर्वोपरि है। धर्म को जानते हुए भी आप उससे दूर कैसे हो सकते हैं?" वे आगे कहते हैं :

श्रुतेन बालो स्थानेन जन्मना भवतो ह्यहम्।। II.106.23,24

"शास्त्रज्ञान और जन्मजात् अवस्था– दोनों ही दृष्टियों से मैं आपकी अपेक्षा बालक हूँ। फिर आपके रहते हुए, मैं वसुधा का पालन कैसे करूँगा?"

हीनबुद्धिगुणो बालो हीनः स्थानेन चाप्यहम्।।

(यह सत्य है कि भरत राम से कुछ घंटों बाद पैदा हुए थे।)

स कथं पालयिष्यामि भूमिं भवति तिष्ठति।

भवता च विनाभूतो न वर्तयितुमुत्सहे। II.106.24,25

"मैं बुद्धि और गुण दोनों से हीन हूँ, बालक हूँ तथा मेरा स्थान आपसे बहुत छोटा है। अतः मैं आपके बिना नहीं रह सकता, राज्य का पालन तो दूर की बात है। आपके यहाँ रहते हुए मैं वसुधा का पालन कैसे करूँगा? लोग क्या कहेंगे? सब भार कैसे संभालूँगा?"

इहैव त्वाभिषिञ्चन्तु सर्वाः प्रकृतयः सह।।

ऋत्विजः सवसिष्ठाश्च मन्त्रवन्मन्त्रकोविदाः। II.106.26,27

"मैं राजधानी से सब कुछ लेकर आया हूँ। मैं जनपद की सब स्त्रियों को लाया हूँ। मैं सभी गुरुओं को लेकर आया हूँ। मंत्रों के ज्ञाता महर्षि वसिष्ठ आदि, सभी ऋत्विज तथा मंत्री, सेनापति और प्रजा आदि सारी प्रकृतियाँ यहाँ उपस्थित हैं। अभिषेक निमित्त सब आवश्यक सामग्री ले आया हूँ। सेना, चारण, सभी यहाँ हैं। गायन और संगीत के वाद्य भी आ गये हैं। और आपको क्या चाहिए? सब पुरोहित भी यहाँ हैं, जो वेदों को आद्योपात जानने वाले हैं। मेरी अभिलाषा है कि ये लोग यहीं आपका अभिषेक करें।"

परन्तु एकत्रित हुए राम सर्वथा दृढ़ थे। वे भरत की बात बिल्कुल मान्ने को तैयार न थे। श्रोताओं का विशाल समूह इस कार्यवाही को बड़ी उत्सुकता से देख रहा था क्योंकि उनकी हार्दिक इच्छा थी कि इस विवाद में भरत को विजय मिले। कवि कहता है, "श्रोताओं की मनोभावनायें मिश्रित सी थीं। उन्होंने इसकी परिकल्पना पहले से नहीं की थी कि श्री राम का रवैया इतना दृढ़ होगा। वे कहने लगे कि हमारी तो यह इच्छा थी कि भरत विजयी हों और श्री राम अयोध्या लौट कर हमारे राजा बनें। किन्तु, राम के तर्कों को तो देखो, वे अपने प्रतिज्ञापालन धर्म में कितने दृढ़ हैं।" अतएव, एक ओर

तो धर्म के नियमों में श्री राम की दृढ़ता को देखकर उन्हें हर्ष हुआ और वहीं दूसरी ओर उन्हें दुःख और शोक हुआ कि श्री राम उनके शासक बनने को तैयार नहीं हुए। इन दोनों प्रकार की भावनाओं में जनसमूह कभी इधर कभी उधर डाँवाडोल था। कभी वे हर्षित होते और कभी अपने भाग्य को कोसते। कवि इसका वर्णन इस प्रकार करता है।

तद्द्भुतं स्थैर्यमवेक्ष्य राघवे समं जनो हर्षमवाप दुःखितः।
न यात्ययोध्यामिति दुःखितोऽभवत्स्थिरप्रतिज्ञत्वमवेक्ष्य हर्षितः।।

II.106.34

"श्री राम की अद्भुत दृढ़ता को देखकर सब लोग दुःखी हुए और साथ ही साथ हर्षित भी। वे अयोध्या नहीं जा रहे हैं– यह सोचकर वे दुःखी हुए और प्रतिज्ञापालन में उनकी दृढ़ता को देखकर वे हर्षित हुए, यद्यपि यह उनके पिता की प्रतिज्ञा थी।"

अगले सर्ग में श्री राम भरत से कहते हैं, "तुम सोचते हो कि ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते पिता जी की आज्ञा मेरे लिए पालनीय है और तुम्हारे लिए नहीं। तुम्हारा विचार ऐसा क्यों है? पिता जी ने तुम्हारे लिए एक दूसरा कर्त्तव्य निर्धारित किया है, अयोध्या का राजा बन कर राज्य को चलाना। तुम भूल रहे हो कि तुम्हारा कर्त्तव्य यह है।"

भवानपि तथेत्येव पितरं सत्यवादिनम्।
कर्तुमर्हति राजेन्द्र क्षिप्रमेवाभिषेचनात्।। II.107.9

"तुम भी उनकी आज्ञा को शिरोधार्य कर शीघ्र ही राज्यपद पर अपना अभिषेक करा लो। यहाँ समय व्यर्थ न गंवाओ। अपने पिता की इच्छा पूरी करो, जैसे उनकी इच्छा मैं पूरी कर रहा हूँ।"

ऋणान्मोचय राजानं मत्कृते भरत प्रभुम्।
पितरं त्राहि धर्मज्ञं मातरं चाभिनन्दय।। II.107.10

"तुम मेरे लिए पिता जी को कैकेयी के ऋण से मुक्त करो। उन्हें नर्क से गिरने से बचाओ और माता का भी आनन्द बढ़ाओ।"

मैंने पूर्व ही बताया था कि भरत ने शब्द *'अपत्य'* का प्रयोग श्री राम को सम्मत करने के लिए किया था। अतएव, श्री राम भी वही चाल अब चलते हैं। वे कहते हैं :

श्रूयते हि पुरा तात श्रुतिर्गीता यशस्विना।
गयेन यजमानेन गयेष्वेव पितॄन् प्रति।। II.107.11

"सुना जाता है कि नामक एक यशस्वी बुद्धिमान राजा गय ने गया देश में एक महान यज्ञ अपने पितरों को बचाने के लिए किया था। उन्होंने अपने पितरों का उद्धार कर भावी पीढ़ियों के लिए एक कहावत कही थी जो इस प्रकार है :

पुन्नाम्नो नारकाद्यस्मात्पितरं त्रायते सुतः।
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः पितॄन् यः पाति सर्वतः।। II.107.12

बेटा, "*पुम्*" नामक नर्क से पिता का उद्धार करता है, एक आयोजन करके जिसे '*इष्ट पुत्र*' कहते हैं। वह चाहे धन दान देकर किया जाये या मन्दिरों में किया जाये या अन्य प्रकार से। इसीलिए वह '*पुत्र*' कहलाता है। पुत्र वही है, जो पितरों की सब ओर से रक्षा करता है।" फिर श्री राम भरत से कहते हैं, "एक बेटा, जो परोपकारी अनुष्ठान करके अपने पिता के कल्याण के लिए उन्हें समर्पित करता है, वही पुत्र कहलाने योग्य है।" फिर श्री राम भरत से कहते हैं, "उचित तो यही है कि तुम पुत्र बनो। तुमने मुझे '*अपत्य*' बनने को कहा था, मैं तुम्हें 'पुत्र' बनने को कहता हूँ।"

एष्टव्या बहवः पुत्रा गुणवन्तो बहुश्रुताः।
तेषां वै समवेतानामपि कश्चिद्गयां व्रजेत्।। II.107.13

आदेश है कि एक मनुष्य के बहुत से गुणवान और बुद्धिमान पुत्र होने चाहिए। एक पर्याप्त नहीं, दो भी नहीं, क्योंकि जीवन में अनेक परिवर्तन और उतार–चढ़ाव आ सकते हैं। प्राप्त हुए में कम से कम एक तो ऐसा हो, जो गया जाकर श्राद्ध कर सके। यह स्थल गया, कितना विख्यात रहा होगा कि श्री राम के समय में भी उसे ऐसी पावन विशिष्टता का गौरव प्राप्त था! कितना प्राचीन स्थान रहा होगा यह, जिसके लिए मनुष्य बहुत से पुत्रों की कामना करते थे, ताकि उनमें से एक तो उनका श्राद्ध गया में करे।

एवं राजर्षयः सर्वे प्रतीता राजनन्दन।
तस्मात्त्राहि नरश्रेष्ठ पितरं नरकात्प्रभो।। II.107.14

"भरत! इस प्रकार सभी राजर्षियों ने पितरों के उद्धार का निश्चय किया था। अतः, तुम भी अपने पिता का नर्क से उद्धार करो।"

भरत श्री राम को बार–बार कहते थे, "आप तो एक महापुरुष हैं। महान कुल में आपका जन्म हुआ है। राजसी वैभव और उच्चतम सम्मान सभी कुछ आपके लिए है। आपका वन में जाकर कष्टमय जीवन व्यतीत करना मेरे लिये असह्य है।" श्री राम कहते हैं, "ऐसी बात नहीं है।" पिछली वार्ता के अन्त में मैंने बताया था कि जब वे वन में थे राम को बिल्कुल ऐसा नहीं लगा कि वे निर्वासित किए गए हैं।* उन्होंने वन का जीवन इतनी सहजता से अपना लिया कि प्रतीत होता था कि वे उस वातावरण के लिए सर्वथा अनुकूल थे। सीता को भी ऐसा लगने लगा मानो वह अयोध्या में ही रह रही हों। उन दोनों के लिए, जिनके हृदय कभी भी रहने के लिए अपने को वहाँ की परिस्थिति में ढाल सकते थे, यदि वहाँ का वातावरण उच्च और पवित्र हो, वन में रहने से कोई अन्तर नहीं पड़ता था। श्री राम कहते हैं, "भैया! तुम मेरे लिए कोई चिन्ता मत करो। ऐसा मन में मत सोचो कि वनवास से मुझे कुछ कष्ट होने वाला है। तुम सोचते हो कि तुम्हारा जीवन आनन्दमय होगा और मेरा कष्टमय, ऐसी कोई बात नहीं है। मैं तुम्हारे

* देखिए अ.9, पृ.132.

से किसी बदतर स्थिति में नहीं हूँ। हम दोनों के जीवन में पूर्ण समता है," और वे इस बात को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं :

त्वं राजा भरत भव स्वयं नराणां वन्यानामहमपि राजपृमृगाणाम्।
गच्छ त्वं पुरवरमद्य संप्रहृष्टः संहृष्टस्त्वहमपि दण्डकान् प्रवेक्ष्ये।।
II.107.17

"तुम स्वयं मनुष्यों के राजा बनो और मैं जंगली पशुओं का सम्राट् बनूँगा। तुम अत्यन्त हर्षपूर्वक अयोध्या को जाओ और मैं भी प्रसन्नतापूर्वक दंडकवन में प्रवेश करूँगा। ऐसा सोचना भी नहीं कि मुझे किसी प्रकार का क्लेश होगा।"

छायां ते दिनकरभाः प्रबाधमानं वर्षत्रं भरत करोतु मूर्ध्नि शीताम्।
एतेषामहमपि काननद्रुमाणां छायां तामतिशयिनीं सुखी श्रयिष्ये।।
II.107.18

"तुम जाओ और सूर्य के ताप से विश्रान्ति लो, राजसी छत्रछाया के नीचे। वह छत्र तुम्हारे मस्तक पर शीतल छाया करे। मैं भी इन जंगली वनवृक्षों की घनी छाया का आश्रय लूँगा। मुझे किसी प्रकार का कष्ट नहीं होगा।"

शत्रुघ्नः कुशलमतिस्तु ते सहायः सौमित्रिर्मम विदितः प्रधानमित्रम्।
चत्वारस्तनयवरा वयं नरेन्द्रं सत्यस्थं भरत चराम मा विषीद।।
II.107.19

"तुम विषाद मत करो। मैं भी तुम्हारी ही तरह बिल्कुल ठीक–ठाक प्रसन्न रहूँगा। तुम वापस चले जाओ।"

इसके बाद में दो सर्ग और हैं, जिनको मैं यहाँ नज़र–अन्दाज़ करने जा रहा हूँ। इन दो सर्गों में से पहले मैं जाबालि श्री राम को भौतिकवाद का मिथ्या सिद्धान्त समझाते हैं। अगले सर्ग में श्री राम इसके लिये उचित भाषा में उनकी भर्त्सना करते हैं। कुछ लोगों का ऐसा मत है कि ये दोनों सर्ग अप्रमाणिक और प्रक्षिप्त हैं और दूसरों के द्वारा बाद में जोड़े गए हैं। ऐसा है या नहीं, इससे हमें कोई प्रयोजन नहीं। न तो इनका कोई प्रभाव तर्क–वितर्क पर पड़ता है और न ही कथावस्तु पर। अन्त में वसिष्ठ, श्री राम और जाबालि के बीच में आ जाते हैं। यह देखकर कि श्री राम इस ब्राह्मण पर बुरी तरह बरस रहे हैं, मुनि वसिष्ठ ब्राह्मण की रक्षा हेतु बीच–बचाव करते हैं। "इन्होंने इस समय किसी विशेष उद्देश्य से (तुम्हें लौटाने की इच्छा से) ही ये बातें कहीं थी। वास्तव में वे नास्तिक नहीं हैं।" वे राम से कहते हैं, "वे यह देखना चाहते थे कि यदि तुम कुछ असावधान हो, तो वे तुम्हें राज्य पर लौटने के लिये राज़ी कर सकें। परन्तु तुम तो बड़े जागरूक हो। ख़ैर, अब जाबालि को छोड़ो।" तत्पश्चात् वसिष्ठ जी का एक लम्बा व्याख्यान आरम्भ होता है। वे कहते हैं :

इक्ष्वाकूणां हि सर्वेषां राजा भवति पूर्वजः।
पूर्वजे नावरः पुत्रो ज्येष्ठो राज्येऽभिषिच्यते।। II.110.35

आप जानते ही होंगे कि इस वंश में इक्ष्वाकु मनु के औरस पुत्र थे। वसिष्ठ जी उन सबके कुलगुरु रहे थे। वे उन सबको जानते थे और उन सबका उल्लेख करते हैं। वे बताते हैं कि इक्ष्वाकुवंशियों के यहाँ राजा की मृत्यु के पश्चात् सदा ज्येष्ठ पुत्र ही राजा होता आया है। अब वे भरत का समर्थन करते हुए कहते हैं। "ज्येष्ठ के होते हुए छोटा पुत्र राजा नहीं हो सकता। ज्येष्ठ पुत्र का ही राज्याभिषेक होता है।" वे श्री राम को अयोध्या लौट जाने का परामर्श देते हैं।

यह सोचकर कि राम नितान्त आज्ञापरायण हैं और सब कुछ बड़े शान्तभाव से मान लेंगे, वे ज़रा आगे बढ़ते हैं। वे कहते हैं, "तुम अपने पिता की आज्ञा पालन करना चाहते हो और मेरी पदवी तुम्हारे पिता से भी ऊँची है। वे एक वृद्ध पुरुष थे। मैं तुम्हारा गुरु हूँ। मेरी आज्ञा का पालन करो।" परन्तु श्री राम ने अपने उत्तर से उन्हें भी चुप कर दिया :

यन्मात्पितरौ वृत्तं तनये कुरुतः सदा।
न सुप्रतिकरं तत्तु मात्रा पित्रा च यत्कृतम्।। II.111.9

वे कहते हैं, "माता और पिता पुत्र के प्रति, जो सर्वदा स्नेहपूर्ण वर्ताव करते हैं, उसका बदला पुत्र द्वारा सहज ही चुकाया नहीं जा सकता। अतः मुझे यह मत बताइये कि गुरु माता–पिता से भी बढ़कर होता है। यह बात मैं कदापि नहीं मान सकता।"

यथाशक्ति प्रदानेन स्नापनाच्छादनेन च।
नित्यं च प्रियवादेन तथा संवर्धनेन च।। II.111.10

"सैंकड़ों उपकार माता–पिता अपने पुत्र के लिए करते हैं, जैसे अपनी शक्ति के अनुसार उत्तम खाद्यपदार्थ देना, उबटन आदि लगाकर नहलाना, अच्छे बिछौने पर सुलाना, सदा मीठी बातें बोलना तथा पालन–पोषण करने के द्वारा। अनेकों छोटे, दया और प्रेम भरे उपकार वे करते हैं।"

जैसे एक अंग्रेज़ी कवि कहता है, "अनुकम्पा और प्रेम भरे अनेकों साधारण अनाम कृत्य जिनकी स्मृति भी अब शेष नहीं। कौन बता सकता है, कौन वर्णन कर सकता है, कौन माप सकता है, कौन चुका सकता है उस सबको, जिसको पाया है उसने, अपने माँ–बाप से?"

स हि राजा जनयिता पिता दशरथो मम।
आज्ञातं यन्मया तस्य न तन्मिथ्या भविष्यति।। II. 111.11

"अतः मेरे जन्मदाता पिता महाराज दशरथ की आज्ञा मिथ्या नहीं होगी। उसे मैं अवश्य पूरा करूँगा।"

मैं यहाँ वसिष्ठ के सम्बन्ध में कुछ कहना चाहूँगा। सम्भवतः मेरी टिप्पणी अत्यन्त अनुपयुक्त समझी जाये, परन्तु वाल्मीकि की रचना से मुझे समर्थन मिलता है। इस अवसर पर वसिष्ठ जी की भूमिका कुछ विचित्र है। वे किसी विशिष्ट प्रभावशाली भूमिका का प्रदर्शन नहीं करते, जैसी कि उनके बड़े नाम से अपेक्षा की जा सकती थी। वे तो धर्म के मूर्त–स्रोत थे, समस्त ज्ञान के भंडार थे। वेद का कोई अंश या कोई अन्य प्रमाणिक तथ्य नहीं था, जिससे वे अनभिज्ञ थे। कोई भी तपस्या उन्होंने नहीं छोड़ी थी। वे अत्यन्त अनुभवी वयोवृद्ध थे, जो संसार की सभी गतिविधियों को देख चुके थे। परन्तु इस कथा में उनकी भूमिका कुछ विचित्र थी। जिस समय श्री राम सबके सामूहिक विरोध का अकेले ही सामना करते हैं, वे इस धर्म के स्रोत और आधार (वसिष्ठ से) अपने पक्ष में कुछ समर्थन की अपेक्षा कर सकते थे। उन्हें अकेला क्यों छोड़ दिया गया? वसिष्ठ जी ने क्यों ऐसा नहीं कहा, "इस व्यक्ति ने जो कुछ किया, वह सर्वथा उचित ही है। उसके लिये माता–पिता की आज्ञा अवश्य पालनीय थी।" यदि उन्होंने ऐसा कुछ कहा होता, तो बात का रुख़ कुछ और ही होता। परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। उन्होंने दूसरे लोगों का पक्ष लिया। ध्यान देने की बात है कि जब भरत अपने मामा के घर से लौटे थे, वसिष्ठ जी ने दृढ़तापूर्वक सब गुरुओं, वेद आदि के नाम पर भरत को राज्य ग्रहण करने और राजा बनने के लिये समझाया था, यह कहते हुए, "तुम्हारे पिता जी तो चले गए और ज्येष्ठ भाई उपस्थित नहीं है। ऐसी अवस्था में राज्य को अराजकता में छोड़ा नहीं जा सकता," इस प्रकार का परामर्श उन्होंने दिया।" किन्तु, भरत राज्य को अस्वीकार कर देते हैं। भरत के विषय में कवि कहता है :*

विललाप सभामध्ये जगर्हे च पुरोहितम्।। II 82.10

यह सुनकर भरी सभा में भरत आँसू बहाने लगे और पुरोहित जी को उपालम्भ देने लगे।

यह छोटा सा छोकरा उन्हें उलापम्भ देते हुए कहता है, "गुरुदेव! आप तो इक्ष्वाकु कुल की मर्यादा और प्रतिष्ठा के निधान हैं। फिर मुझसे इस प्रकार की बात कैसे कह सकते हैं? राम के होते हुए मुझे राजा बनने को कहना आपके लिए धर्मसंगत नहीं है।" अतः इस कथा में वसिष्ठ की भूमिका एक निष्फल भूमिका है।

भरत बड़े युक्ति कुशल थे। उनके पास सर्वदा एक दो दाँव–पेच समय पर उपयोग करने के लिए तैयार रहते थे, वे अब कहते हैं, "अब मैं प्रायोपवेश (अनशन) व्रत करने जा रहा हूँ अर्थात् अन्न खाए बिना पड़ा रहूँगा क्योंकि भैया सीधी तरह मेरी बात मानने को तैयार नहीं होते। अब मैं ज़बरदस्ती दबाब की इस नैतिक प्रक्रिया का उपयोग करूँगा। मैं कुशा पर लेटा रहूँगा, न मैं भोजन करूँगा, न सोऊँगा, जब तक मेरे भैया मेरी बात नहीं मान लेते।" जो लोग सत्याग्रह पद्धति से भलीभाँति परिचित हैं, उन्हें यह जानने में दिलचस्पी होगी कि 'रामायण' में यह विधि कहाँ तक सफल हुई।

* देखिए अ.13.

भरत सुमन्त्र को बुलाकर कहते हैं, "जाकर शीघ्र ही बहुत सी कुश ले आओ।" सुमन्त्र तो वसिष्ठ जी के समान ही बहुत पुराने अनुभवी थे। वे तुरन्त इस छोकरे की बात मानने के लिए तैयार नहीं हुए। वे श्री राम का मुँह ताकने लगे। श्री राम ने इसको प्रोत्साहित नहीं किया। अतः सुमन्त्र अपनी जगह से नहीं हिलते। तब भरत कहते हैं, "अच्छा तो मैं स्वयं ही कुश ले आता हूँ," और वे आप ही घास ले आते हैं और उसकी चटाई बिछा कर लेट जाते हैं, और कहते हैं, "भैया! अब, बताओ आप क्या कहते हैं?" श्री राम कहते हैं, "यह जो सब कुछ तुम कर रहे हो अनैतिक और अनुचित है। तुमने अपने को हास्यास्पद बना लिया है। प्रायोपवेश हमारे में अनुमत नहीं है। हम क्षत्रियों को कदापि इसका अवलम्बन नहीं लेना चाहिए। केवल ब्राह्मण ही कभी–कभी अन्याय के प्रति ऐसा करने में विवश होते हैं, जब उन्हें किसी से ऋण या कोई वस्तु लेना आवश्यक हो जाता है या जब वे कोई पुराना ऋण वसूल करना चाहते हैं। हमारे लिए ऐसा करना कदापि उचित नहीं।"

ब्राह्मणो ह्येकपार्श्वेन नरान् रोद्धुमिहार्हति।
न तु मूर्धाभिषिक्तानां विधि प्रत्युपवेशने।। II.111.17

"ब्राह्मण ही एक करवट लेकर,धरना देकर मनुष्यों को अन्याय से रोक सकता है। परन्तु राजतिलक ग्रहण करने वाले क्षत्रियों के लिये इस प्रकार धरना देने का विधान नहीं है। तुम्हारे लिये इस प्रकार की ज़बरदस्ती करना शोभनीय नहीं है।"

परन्तु जब उस विख्यात सेतु का निर्माण करना आवश्यक था, वानर सेना को दूसरे पार ले जाने के लिये और समुद्र उनकी बात अनसुनी कर रहा था, उस समय श्री राम ने स्वयं क्या किया? क्या वे भूल गए कि वे क्षत्रिय हैं? ऐसा ही लगता है। इन सब स्थितियों में परिणामतः एक औचित्य काम करता मालूम होता है। भरत अपने प्रयास में सफल नहीं हुए। श्री राम ने भी क्षात्र धर्म के विपरीत ही प्रायोपवेश का निर्णय लिया और वे भी तीन दिन और तीन रात भूख हड़ताल कर पड़े रहे, जागरण करते रहे, चिन्ताग्रस्त रहे, परन्तु समुद्र देवता ने दर्शन नहीं दिया। तब वे भी कहते हैं कि, "मैं प्रायोपवेश छोड़ता हूँ।" जब उन्होंने समुद्र देवता को धमकाया, डराया और धनुष बाण लेकर कहा, "मैं इस समुद्र को शुष्क बना दूँगा, सुखा दूँगा," तब कहीं समुद्र देवता ने प्रकट होने का निश्चय लिया। ध्यान देने की बात है कि अन्ततः बल प्रयोग ही सफल हुआ, नरम प्रयत्न कोई काम नहीं आया। 'रामायण' में प्रायोपवेश के अन्य प्रसंग भी हैं। सुग्रीव ने सीता की खोज में वानरों को चारों दिशाओं में भेजा था। इसके लिए सभा भी निश्चित की गई थी। हनुमान अंगद आदि के साथ दक्षिण दिशा की ओर गए, शेष तीन दिशाओं की ओर गए। एक मास पूर्ण होने पर वानर निराश लौट आए। लौटने की अवधि बीत जाने के कारण अंगद आदि वानरों ने विचार किया कि निर्धारित अवधि बीत जाने पर वे सुग्रीव से नहीं मिल सकेंगे क्योंकि अब उनके लिए सुग्रीव के हाथों मृत्युदंड के अतिरिक्त कुछ शेष न था। अंगद की अगुवाई में वे सब भूमि पर लेट

गए। जीवन का अन्त करने की इच्छा से प्रायोपवेश का आश्रय लिया। ऐसा लगता है, अंगद को प्रायोपवेश का बहुत चाव था। उन्होंने बार–बार इसका प्रयोग किया, तीन भिन्न–भिन्न अवसरों पर। अब वहीं पर एक वृद्ध गृध्र रहता था, जटायु का ज्येष्ठ भ्राता, सम्पाति। उसको यह पता चल गया कि उसके आस–पास ही अनेक मृत्यु होने वाली हैं। वह एक विकलांग पक्षी था जो भूख से बहुत व्याकुल था। वह शिकार के लिये इधर–उधर अधिक घूम भी न सकता था। अतएव, वह सोचने लगा यदि ये सब वानर मर जायेंगे तो कितना अच्छा होगा। क्योंकि वह अपने सौभाग्य को बोल–बोल कर सराह रहा था, इन वानरों ने हड़बड़ाहट में उसकी आवाज़ सुन ली और फिर उनका प्रायोपवेश का विचार समाप्त हो गया।

इस प्रायोपवेश प्रसंग को पूरा करना अनावश्यक है, किन्तु रोचक है। सुन्दरकांड में हनुमान ने भी कुछ ऐसा ही विचार किया था, यद्यपि उसे कार्यान्वित नहीं किया गया। इन सब प्रसंगों से यह निष्कर्ष निकलता है कि उस समय प्रायोपवेश को अनुचित नहीं माना जाता था। लंका में स्थान–स्थान खोज करने के पश्चात् सीता को ढूँढ न पाने पर हुनमान भी ऐसा सोचते हैं :

अदृष्ट्वा किं प्रवक्ष्यामि तामहं जनकात्मजाम्।
ध्रुवं प्रायमुपेष्यन्ति कालस्य व्यतिवर्तने।। V.12.8

"जनकनन्दिनी सीता को देखने में असफल होकर मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा। सुग्रीव के निश्चित किए हुए समय का उल्लंघन कर देने पर अब मैं आमरण अनशन करूँगा।"

'रामायण' से यदि प्रायोपवेश के विषय में कुछ शिक्षा मिलती है, तो वह यह है कि यह निरर्थक है।

यह देखकर भी कि श्री राम उसे अनुचित ठहराते हैं, भरत तुरन्त उपवेश से नहीं उठे, वहीं के वहीं बैठे रहे। उन लोगों से, जिन्हें वे अयोध्या से साथ लेकर आए थे, भरत ने आग्रहपूर्वक कहा, "आप लोग भैया को क्यों नहीं समझाते हैं? देखिए न, वे कितने हठीले हैं। इनसे कुछ तो कहिए।" दोनों ओर की बात सुनकर यद्यपि उनकी हार्दिक इच्छा यही थी कि श्री राम अयोध्या लौट चलें, किन्तु वे लोग राम से ऐसा कहने का साहस न कर सके। वे बोले, "परन्तु, हम करें क्या? तुम्हारे भाई सत्यपथ पर लगते हैं, पिता की आज्ञा का पालन करने में प्रतिबद्ध हैं।" तत्पश्चात् श्री राम भरत से कहते हैं, "तुम देख रहे हो तुम्हारे अपने लोग भी तुम्हारा साथ छोड़ रहे हैं। भाई! तुम्हारा प्रायोपवेश सरासर ग़लत है। अब उठो, मेरे भाई! तुमने जो यह अनुचित कार्य किया उसका अब तुम्हें प्रायश्चित करना पड़ेगा। अब शीघ्र उठो, आचमन करके मेरा स्पर्श करो। इस प्रकार तुम्हारी शुद्धि हो जायेगी।"

भरत ने ऐसा ही किया, उन्होंने प्रायोपवेश छोड़ दिया। परन्तु जैसा कि मैंने बताया, उनकी युक्तियों का भंडार अभी ख़ाली नहीं हुआ था। वाद–विवाद का एक

अन्य चरण आरम्भ होता है। भरत राम से कहते हैं, "आप कहते हैं कि पिता जी ने ऐसी आज्ञा दी थी कि एक पुत्र राजा बने, दूसरा बने अरण्यवासी। ऐसा ही सही। यदि पिता जी की आज्ञा पालन करना ही अनिवार्य है, तो आप जाकर राजा बनिए और मैं बनता हूँ, अरण्यवासी। आप मेरी एवज़ कार्य करिये और मैं आपकी। हम अपने दायित्वों की अदला–बदली कर लें।"

यदि त्ववश्यं वस्तव्यं कर्त्तव्यं च पितुर्वचः।
अहमेव निवत्स्यामि चतुर्दश समा वने।। II.111.26

"पिताजी की आज्ञा पालन करने के लिए मैं यहाँ चौदह वर्ष व्यतीत कर लूँगा। आपको ऐसा करने की आवश्यकता नहीं।" तब राम ने नगरवासियों को सम्बोधन कर कहा, "देखिए, ज़रा इन महाशय को, जो आप सबको यहाँ लेकर आए हैं! वे कैसी मूर्खता की बातें कर रहे हैं। मुझे चौदह वर्ष के वनवास का आदेश मिला है। क्या मैं इसको हस्तांतरित कर सकता हूँ? क्या यह मेरे लिये उचित होगा? क्या मैं इस कार्य को किसी प्रतिनिधि (उपधि) द्वारा करवा सकता हूँ?" राम जनसमुदाय से निवेदन करते हैं। वे उनसे कहते हैं, भरत से नहीं :

विक्रीतमाहितं क्रीतं यत्पित्रा जीविता मम।
न तल्लोपयितुं शक्यं मया वा भरतेन वा।। II.111.28

"पिताजी ने अपने जीवन काल में यदि कोई ख़रीद–फ़रोख़्त का व्यापार किया हो, कोई वस्तु बेच दी है या धरोहर रख दी है, तो क्या (आज के उत्तराधिकारी की तरह) मैं उसके सम्बन्ध में जाकर मुक़दमा दायर करूँगा। न तो मैं और न ही भरत उसे लेशमात्र पलट सकते हैं। जो कुछ निर्णय पिता जी ने लिया था, हम तो केवल उससे प्रतिबद्ध हैं। मेरे लिए यह बहुत लज्जाजनक होगा, यदि मैं उसके विपरीत कुछ भी करता हूँ।"

उपधिर्न मया कार्यो वनवासे जुगुप्सितः।
युक्तमुक्तं च कैकेय्या पित्रा मे सुकृतं कृतम्।। II.111.29

"मुझे वनवास के लिये किसी को भी अपना प्रतिनिधि नहीं बनाना चाहिए क्योंकि सामर्थ्य के रहते हुए, प्रतिनिधि से काम लेना लोक में निन्दित है। कैकेयी ने उचित माँग ही प्रस्तुत की थी और मेरे पिताजी ने उसे देकर पुण्य कर्म ही किया था।"

'यहाँ देखिए,' शब्द–उपाधि है, जिसका उल्लेख मैंने पहले किया था। श्री राम अपने तर्क के संवेग में इतने बह गए कि कैकेयी को केवल मौन स्वीकृति देने के बजाय, वे उसका अनुमोदन ही करने लगते हैं, "कैकेयी को ऐसा करने का पूर्ण अधिकार था।"

वृतो राजा हि कैकेय्या मया तद्वचनं कृतम्।
अनृतान्मोचयानेन पितरं तं महीपतिम्।। II.111.32

"कैकेयी ने राजा से वर माँगा था और मैंने उसका पालन स्वीकार कर महाराज दशरथ को बचाया था। अतः भरत! अब तुम भी जाओ और उस वर का पालन कर असत्य के बन्धन से अपने पिता को मुक्त कराओ।"

तत्पश्चात् ही, महर्षियों और देवताओं ने जो इस दृश्य को देखने के लिये वहाँ उपस्थित थे, अपना निर्णय दिया, जिसका उल्लेख मैं पहले ही कर चुका हूँ। उन्होंने भरत से कहा, "आज के दिन श्री राम ने जो कुछ किया है, वह सर्वथा उचित है। उनके निर्णय ने राजा दशरथ को नर्क जाने से बचा लिया है। वे अब स्वर्ग में स्थित हैं क्योंकि उनका कैकेयी के प्रति जो ऋण था, भारी नैतिक ऋण था, चाहे वह कितना भी दुष्कर था, वह अब राम ने पूरा चुका दिया है। अब यदि तुम श्री राम को अयोध्या लौटने को कहते हो, तो राजा दशरथ का स्वर्ग से पतन हो जायेगा।" परन्तु भरत ने अब भी हार नहीं मानी। युक्तियाँ उनके पास अभी और भी थीं। वे श्री राम के चरणों में गिर पड़ते हैं और उन्हें अपने हाथों से दृढ़तापूर्वक पकड़ते हुए कहते हैं, "भैया! आप समझते हैं कि आपने तर्क मैं मुझे हरा दिया। कदाचित् यह ठीक है। परन्तु, मैं तो बिल्कुल नासमझ हूँ, मैं जाकर इस विशाल साम्राज्य का संचालन नहीं कर सकता। मेरी बात कौन मानेगा? सब लोग आपकी ही प्रतीक्षा कर रहे हैं और कहते हैं, हमें श्री राम चाहिएँ। शासन करना मेरे वश की बात नहीं, मेरे में सामर्थ्य नहीं। मैं क्या कर सकूँगा?"

रक्षितुं सुमहद्राज्यमहमेकस्तु नोत्सहे।
पौरजानपदांश्चापि रक्तान् रञ्जयितुं तथा।। II.112.11

"मैं अकेला इस विशाल साम्राज्य की रक्षा नहीं कर सकता, आप में अनुराग रखनेवाले इन पुरवासी तथा जनपदवासी लोगों को भी आपके बिना प्रसन्न नहीं रख सकता। जैसे शुष्क ऋतु की वर्षा में जब विलम्ब हो जाता है, किसान हाथ उठाकर आकाश की ओर देखते हैं और इन्द्र से प्रार्थना करते हैं, उसी प्रकार हमारे बंधु–बांधव, मित्र और प्रजाजन, मंत्रीजन आदि आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं और केवल आप ही को राजा के रूप में देखना चाहते हैं।"

ज्ञातयश्च हि योधाश्च मित्राणि सुहृदश्च नः।
त्वामेव हि प्रतीक्षन्ते पर्जन्यमिव कर्षकाः। II.112.12

फिर वे कहते हैं :

इदं राज्यं महाप्राज्ञ स्थापय प्रतिपद्य हि।
शक्तिमानसि काकुत्स्थ लोकस्य परिपालने।। II.112.13

यह श्लोक कुछ अस्पष्ट है। अतः मैं एक टीकाकार के अनुरूप ही इसका अर्थ करता हूँ। मेरी समझ से श्लोक का अभिप्राय इस प्रकार है– कोई अन्य उपाय न देखकर भरत कहते हैं, "भैया, यह राज्य आपका है, इसको ग्रहण करें और फिर यदि

आप चाहें, तो एक प्रतिशासक नियुक्त करके शासन भार उसे सौंप दीजिए। जिसको आप चुनें और नियुक्त करें, वह ही इस प्रक्रिया के आधार पर शासन का संचालन करने के लिए अधिकृत होगा। अतः आप इस राज्य को राज्य को अपना कर किसी को नियुक्त कर दें, जो आपकी ओर से और आपके अनुज्ञा से शासन का कार्य देखेगा।" श्री राम यह बात सुनकर प्रसन्न हुए और बोले :

आगता त्वामियं बुद्धिः स्वजा वैनायिकी च या।
भृशमुत्सहसे तात रक्षितुं पृथिवीमपि।। II.112.16

"तात! तुम्हें जो स्वाभाविक विनयशील बुद्धि प्राप्त हुई है। इससे मुझे प्रमाण मिल गया है कि तुम इस बुद्धि द्वारा समस्त भूमंडल की रक्षा करने में समर्थ हो सकते हो।"

अमात्यैश्च सुहृद्भिश्च बुद्धिमद्भिश्च मन्त्रिभिः।
सर्वकार्याणि संमन्त्राच सुमहान्त्यपि कारय।। II.112.17

"इसके अतिरिक्त यदि तुम्हें कुछ शंका हो, तुम्हारे पास बहुत से लोग हैं, जिनसे सलाह ली जा सकती है। पुराने आमात्य, जिन्होंने पूर्व में राज्य के अनेक भागों में शासन चलाया है, सुहृदों और बुद्धिमान मंत्रियों से सलाह लेकर शासन चलाया जा सकता है। यदि तुम अब भी सोचते हो कि मेरे लौटने की कोई आशा है, ऐसा विचार मस्तिष्क से निकाल दो। ऐसा तो कदापि नहीं हो सकता।"

लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान् वा हिमं त्यजेत्।
अतीयात्सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः।। II.112.18

"अप्राकृतिक घटनायें चाहे घट जायें, वस्तुयें अपने सहज गुणों की त्याग दें, चन्द्रमा से उसकी ज्योत्सना अलग हो जाये, हिमालय हिम का परित्याग कर दे, समुद्र अपनी सीमाओं को लाँघकर आगे बढ़ जाये, किन्तु मैं अपनी पिता की प्रतिज्ञा नहीं तोड़ सकता अथवा धर्म को कदापि नहीं छोड़ सकता।"

यह श्लोक मैं पहले भी उद्धृत कर चुका हूँ। अतएव इसकी व्याख्या नहीं करूँगा। अन्तिम शब्द उनके थे कि भरत कैकेयी के दुष्कर्मों को भूल जायें और उनसे ऐसा ही बर्ताव करें जैसा माता के प्रति करना चाहिए।

इससे स्पष्ट हो गया होगा कि वाद–विवाद के आवेग में भी अथवा चरम समा की परिस्थिति में भी श्री राम अपने कर्त्तव्य को नहीं भूलेंगे, विशेषकर, उनके प्रति भी, जो उन्हें किसी न किसी रूप में अपना शत्रु मानते हों। कैकेयी उन्हें अपने पुत्र का प्रतिद्वन्द्वी समझती थीं, जिसको वनवास दिलवा कर पीछा छुड़ाया जाये, और जैसा कि टीकाकार कहते हैं, इस आशा से कि वनवास में ही उनकी मृत्यु हो जाये।

कामाद्वा तात लोभाद्वा मात्रा तुभ्यमिदं कृतम्।
न तन्मनसि कर्त्तव्यं वर्तितव्यं च मातृवत्।। II.112.19

"यह सत्य है कि माता कैकेयी ने जो कुछ भी किया, वह अनैतिक प्रयोजन से प्रेरित था। कामना से अथवा लोभवश, तुम्हारे लिये जो कुछ भी किया गया, उसको मन में न लाना। ऐसा करना उचित न होगा। उसके प्रति सदा वैसा ही बर्ताव करना, जैसा अपनी पूजनीया माता के प्रति करना चाहिए।"

मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरू तां प्रति।।
मया च सीतया चैव शप्तोऽसि रघुसत्तम। II.112. 27-28

"मैं तुम्हें अपनी और सीता की शपथ दिलाकर कहता हूँ कि तुम माता कैकेयी की रक्षा करना, उनके प्रति कभी क्रोध न करना।"

तदनन्तर इस नाटक का अन्तिम दृश्य घटित होता है। सहसा, मानो किसी जादू से भरत एक जोड़ी सुवर्ण विभूषित चरण–पादुकाएँ पेश करते हैं। प्रतीत होता है, ये भी उसी सामान का एक अंग थीं, जो साथ लाया गया था, इस विचार से कि यदि श्री राम अभिषेक के लिये राज़ी हो गए, तो इनकी (पादुकाओं) की आवश्यकता होगी। इसीलिए वे चरण–पादुकाएँ वहाँ उपलब्ध थीं। वसिष्ठ जी के संकेत पर भरत ने वे चरण–पादुकाएँ बाहर निकालीं। तब भरत श्री राम से बोले, "भैया! मेरे लिये इतना अनुग्रह करें– ये चरण–पादुकाएँ हैं। एक बार इन पर खड़े होकर उतर आइये।" ऐसी मान्यता है कि जब श्री राम उन पादुकाओं पर खड़े हुए, तब किसी रहस्यमय प्रक्रिया से उनकी महानता उन चरण–पादुकाओं में स्थानान्तरित हो गई। भरत उन चरण–पादुकाओं को घर ले गये और उन्हें प्रतिस्थापित करके, उनके प्रति वैसा ही आदर भाव प्रदर्शित करने लगे, जैसा कि वे अपने ज्येष्ठ भ्राता के प्रति करते थे। यह सब इस लिये किया कि उन पादुकाओं से उन्हें आवश्यक नैतिक प्राधिकार चाहिएँ और समय–समय पर प्रेरणा भी मिलेगी, जो एक वास्तविक शासक की भूमिका निभाने के लिए चाहियें। दूसरे शब्दों में, वे राज्य में कुछ सीमा तक श्री राम के प्रतिशासक हो सकते थे। ऐसा कहा जाता है कि श्री राम द्वारा एक बार प्रयोग हो जाने के बाद भरत ने बड़े आदर और श्रद्धाभाव से उन्हें ग्रहण करके शिरोधार्य किया। इस पूरी कार्यवाही के प्रति भरत की कैसी भावनायें थीं, इसका पता 115वें सर्ग में मिलता है :

एतद्राज्यं मम भ्रात्रा दत्तं सङ्न्यासवत्स्वयम्।
योगक्षेमवहे तस्य पादुके हेमभूषिते।। II.115.14

भरत कहते हैं, "श्री राम अभी भी राजा हैं। उन्होंने यह राज्य मेरे पास केवल धरोहर रूप में रखा है। वस्तुतः राजा तो वे ही हैं। मैं केवल उन्हीं के लिये शासन कार्य कर रहा हूँ, मैं तो केवल न्यासधारी हूँ।"

'सन्न्यासवत्स्वयम्' का प्रयोग सामान्य अर्थ में नहीं हुआ है, बल्कि एक दृढ़ और स्पष्ट *'न्यास'* के अर्थ में हुआ है। आगे वे कहते हैं, "उनकी ये सुवर्ण विभूषित चरण–पादुकाएँ ही सबके योगक्षेम का निर्वाह करने वाली हैं।" ये ही राजा हैं।"

भरतः शिरसा कृत्वा साञ्चासं पादुके ततः।
अब्रवीद्दुःखसंतप्तः सर्वं प्रकृतिमंडलम्।। II.115.15

तत्पश्चात् भरत ने मस्तक झुकाकर उन चरण–पादुकाओं के प्रति राज्य समर्पित करके, दुःख से संतप्त होकर मन्त्री, सेनापति और प्रजा आदि से कहा :

छत्रं धारयत क्षिप्रमार्यपादाविमौ मतौ।
आभ्यां राज्ये स्थितो धर्मः पादुकाभ्यां गुरोर्मम।। II.115.16

"आप सब लोग इन चरण–पादुकाओं के ऊपर छत्र धारण करें। मैं इनको श्री राम के साक्षात् चरण मानता हूँ। मेरे गुरु की इन चरण–पादुकाओं से ही इस राज्य में धर्म की स्थापना होगी। इस राज्य में धर्म का निवास मेरे कारण नहीं, अपितु मेरे गुरु की इन चरण–पादुकाओं के प्रताप से ही होगा।"

तत्पश्चात् उन्होंने चरण–पादुकाओं का अभिषेक किया।

ततस्तु भरतः श्रीमानभिषिच्यार्यपादुके।
तदधीनस्तदा राज्यं कारयामास सर्वदा।। II.115.26

भरत, बड़े भाई श्री राम की उन पादुकाओं को राज्य पर अभिषिक्त करके उनके, अधीन रह कर राज्य कार्य कराते रहे। उस समय, जो कुछ कार्य उपस्थित होता था, जो भी बहुमूल्य भेंट आती थी, वह सब पहले उन पादुकाओं को निवेदन करके, भरत उसका यथावत प्रबन्ध करते थे।

यदा हि यत्कार्यमुपैति किंचिदुपायनं चोपहृतं महार्हम्।
स पादुकाभ्यां प्रथमं निवेद्य चकार पश्चाद्भरतो यथावत्।। II.115.27

अब हमारे लिये इस बात का निर्णय करना कठिन नहीं है कि श्री राम और भरत के बीच प्रकांड वाद–विवाद में कौन जीता। विचित्र बात यह थी, बाह्यरूप से तो भरत ही हारे। उनको अपने भाई को साथ लिये बिना ही अयोध्या लौटना पड़ा। परन्तु दूसरे अर्थ में वे विजयी हुए। कैकेयी की कामना थी, दशरथ का विचार था और अन्य सब लोग भी ऐसा सोचते थे कि श्री राम के निर्वासित होने पर, लक्ष्मण और सीता को उनके साथ चले जाने पर, भरत के लिये मार्ग सर्वथा निष्कंटक हो जायेगा। पहले वे युवराज बनेंगे और तत्पश्चात् राजा हो जायेंगे, एक प्रतिशासक के रूप में नहीं बल्कि पूर्णतया अधिकारिक रूप से। मंथरा की आशा थी, जिसको उसने बड़ी स्वामीभक्ति से कैकेयी को भी बताया था, कि इस चौदह वर्ष के अनिवार्य और अखंडित वनवास की लम्बी अवधि में लोग राम को भूल जायेंगे। सीता जी वसुधा की सर्वश्रेष्ठ सौन्दर्य की साक्षात् प्रतिमा है, स्त्रियों में अत्यन्त दुर्लभ रत्न हैं। वे भी किसी व्यक्ति के दुर्व्यवहार की शिकार हो जायेंगी। फिर श्री राम को युद्ध अवश्य करना पड़ेगा या कौन जाने सीता से हाथ भी धोना पड़ेगा। सीता के न रहने पर श्री राम का मरण भी निश्चित ही है, उनके साथ लक्ष्मण का भी। ऐसा होने की संभावना बहुत है– निन्यानवे प्रतिशत ऐसा

हो सकता है, ऐसा सब सोचते थे। अतएव, राजा भरत ही बन जायेंगे। मूलतः यह परिकल्पना थी, किन्तु भरत ने अपनी हठ से और एक के बाद एक युक्ति प्रस्तुत करके ऐसी संभावना को किंचित परिवर्तित कर दिया। उन्होंने श्री राम को यह स्वीकार करने पर विवश कर दिया कि स्पष्ट शब्दों में न सही परन्तु अपनी कार्य–निधि से, वनवासी होते हुए भी, राज्य के स्वामी श्री राम ही है और यह कि भरत राम की पादुकाओं के माध्यम से शासन करेंगे, जिनमें एक असाधारण, नैतिक उच्चता संचारित कर दी गयी थी। अतः मानना उचित ही होगा कि इस *'वाक्युद्ध'* के श्रेय का बँटवारा बराबर–बराबर हुआ। तथ्यरूप से श्री राम जीते और वैधिक एवं औपचारिक दृष्टि से भरत जीते। इसके अतिरिक्त, जैसा कि कवि कहता है, और सब लोग भी मानते थे, भरत की जीत इसमें भी थी कि उनको श्री राम की चरण–पादुकाओं के प्रताप से शासन करने का अधिकार, साहस, विवेक–बुद्धि, चतुर्दिक सतर्कता इत्यादि गुण प्राप्त होते रहे।

इस प्रकार 'रामायण' का यह लोक विश्रुत प्रसंग समाप्त होता है। यह सुशिक्षा और सदुपदेश से भरपूर है। जिनके पास समय है, उनसे मेरा अनुरोध है कि वे इन सुन्दर श्लोकों को बार–बार पढ़ें। सामान्यतः अन्य स्थलों पर कवि अनावश्यक और सम्बोधनात्मक शब्दों का प्रयोग व्यर्थ में और बहुतायत से करता है। असाधारण सौन्दर्य, असाधारण मनोहरता और असाधारण नैतिकता के काव्यांश प्रदान करते हैं, जिनसे हमारे हृदय और हमारे जीवन परिष्कृत होते हैं। किन्तु यहाँ तो व्यक्त विचार संकेन्द्रित है, थोड़े से शब्दों में बहुत कुछ कहा गया है और विषय वस्तु अत्यन्त उत्कृष्ट और अत्यन्त उपदेशात्मक है। अतः भाषा भी अनावश्यक शब्दाडम्बर से मुक्त है। भाषा और विषयवस्तु का जो घनिष्ठ संयोजन है, अप्रतिम सौन्दर्य, अप्रतिम गुणों का प्रयोग, वह हमारे हृदय को शुचिता और जीवन को पावनता प्रदान करने के हेतु हुआ है।

ग्यारहवाँ अध्याय

राम

इसके पूर्व कि मैं श्री राम चरित्र की परिचर्चा समाप्त करूँ, मुझे दो रोचक बिन्दुओं की चर्चा करनी है। ये ऐसे बिन्दु हैं, जो न केवल शताब्दियों से ध्यान आकर्षित करते रहे हैं, वरन् विवादियों के भावुकतापूर्ण विवाद का विषय भी रहे हैं। ये दो घटनायें काफ़ी विवादास्पद हैं। विवाद के पक्ष में और विरोध में दोनों ही ओर ऐसे विद्वान और विशेषज्ञ हैं, जिनकी सोच पर कोई प्रश्नचिह्न नहीं लगाया जा सकता और न ही मेरे लिए यह उचित होगा कि मैं किसी प्रकार का निर्णय लूँ, यह मानकर कि यह निर्विवाद है। लेकिन 'रामायण' के अध्येताओं के लिए यह लाभदायक होगा, यदि मैं समस्त मुद्दों को संकलित कर दूँ, जो इन समस्याओं के सन्दर्भ में उठाये गये हैं।

यहाँ मैं केवल बालि प्रसंग की चर्चा करूँगा। दूसरा प्रसंग, जो गम्भीर विवाद का विषय है— युद्ध कांड के अन्त में वर्णित श्री राम का सीता के प्रति आचरण, उसको किसी दूसरे अवसर पर लूँगा। कदाचित् यह उचित रहेगा कि मैं आरम्भ में ही उन बातों का संकेत कर दूँ, जिनकी ओर हम विशेष ध्यान देंगे। आलोचकों ने श्री राम पर यह आरोप लाया है कि श्री राम ने बालि का वध एक गुप्त स्थान में किया। यह भी आरोप लगाया जाता है कि उनका बालि का वध करना ही मानव धर्म के सर्वथा प्रतिकूल है। संयोग से, कम महत्त्व वाले प्रश्न मुख्य मुद्दों के साथ उलझ गये हैं। मैं पहले उनका उल्लेख करूँगा।

मेरे कुछ मित्र आधुनिक मनोवृत्ति से, जिसको अन्तर्राष्ट्रीयता कहा जाता है, ओतप्रोत हैं। उनकी दृष्टि में राजाओं और राजसी सत्ताधारियों के लिए किसी भी प्रकार का साम्राज्यवाद एक अवगुण है। हम आज परतंत्र लोग हैं। अतएव, हमारे लिए किसी भी अन्य सत्ता द्वारा किसी भी प्रकार का नियंत्रण घृणास्पद है। विशेषकर, इन दिनों जबकि (द्वितीय) विश्व महायुद्ध के परिणामस्वरूप के छोटे और बड़े देशों में स्वतन्त्रता की आकांक्षा है और स्वाधीनता एवं आत्माभिव्यक्ति की आवाज़ें उठाई जा रही हैं। ऐसे समय में आश्चर्य नहीं कि एक सत्ता का एक सम्पूर्ण देश पर प्रभुत्व अथवा एक राजा का बड़े सभी राजाओं के भूभाग पर शुल्क लगाने अथवा अपना अधिकार जमाने के प्रति लोगों में कोई सहानुभूति नहीं है। इसे हम स्वाग्रह का एक अभद्र रूप मानते हैं।

विशेषकर राजाओं में हम ऐसी प्रवृत्ति में और अत्यधिक अभीप्सा तथा कमज़ोर वर्गों पर अत्याचार करने की प्रवृत्ति में कोई अधिक अन्तर नहीं मानते। अपनी सफ़ाई में श्री राम बड़ी दृढ़ता से, बिना किसी शर्त के इस साम्राज्यवाद का पक्ष प्रस्तुत करते हैं। अतएव आज के हम लोगों को श्री राम का यह दावा, उनके चरित्र से कुछ मेल खाता हुआ प्रतीत नहीं होता। जो लोग एक प्राचीन काव्य और शताब्दियों पूर्व के एक महान शासक के चरित्र का अध्ययन कर रहे हैं, उन्हें मैं यह बता देना आवश्यक समझता हूँ कि हमें आधुनिक आकांक्षा की दृष्टि से श्री राम की आलोचना करने का कोई अधिकार नहीं है। हमें यह ध्यान में रखना होगा कि सन्तुष्टि तो केवल ब्राह्मण जाति का ही गुण माना जाता था, क्षत्रियों में यह कोई सद्गुण नहीं समझा जाता था। प्रायः यह असमर्थता का लक्षण माना जाता था। सबके लिये आदर और प्रतिष्ठा योग्य वही क्षत्रिय माना जाता था, जो अहिर्निश अपने राज्य की सीमाओं का विस्तार करने में प्रयत्नशील रहता, जो सम्पूर्ण महादेश में अपना प्रभाव और आधिपत्य बढ़ाने के लिए तत्पर रहता था। राजा की सत्ता के क्षेत्र का विस्तार करने हेतु विशेष यज्ञों का आयोजन किया जाता था। उस समय राजाओं के लिये यह कोई सराहनीय बात नहीं मानी जाती थी कि जो कुछ उन्हें विरासत में मिला है, उसे पर्याप्त मान कर सन्तुष्ट रहें। वह राजा राज्यसिंहासन के लिये सर्वथा अपात्र माना जाता था, यदि वह अपने राज्य गौरव को नहीं बढ़ाता था और अन्य विजातियों को अपनी छत्रछाया में नहीं लाता था। अतः यदि श्री राम ने इस सिद्धान्त का कुछ सुस्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया, तो यह तर्क संगत न होगा कि हम उनका मूल्यांकन अन्य मानदंडों के आधार पर करें। अतएव इस आरोप को श्री राम के प्रति अभियोग पत्र से निकाल देना चाहिए।

इसके अतिरिक्त उन्होंने इस बात को भी बलपूर्वक कहा कि बालि का वध करने में उन्होंने अपने भाई, भरत के प्रतिनिध की हैसियत से काम किया। भरत अयोध्या के राजा थे, अतः सम्पूर्ण भारतवर्ष उनके अधीन था। यदि किष्किन्धा में वहाँ का शासक कोई अनुचित आचरण करे, तो वह भरत द्वारा दंडनीय था। भरत की उस स्थल पर अनुपस्थिति में, भरत के भाई का अथवा उनके परिवार के किसी भी रिश्तेदार का, जो कि शाही परिवार का सदस्य होने का दावा करता हो, अधिकार था कि वह अपराध के अनुरूप उसे दंड दे। यह उसी साम्राज्यवादी सिद्धान्त का विस्तार था, जिसको श्री राम ने बिना किस शर्त के प्रतिपादित किया था। किन्तु फिर भी आधुनिक धारणाओं के परिप्रेक्ष्य में यह प्रश्न उठता है कि क्या श्री राम को वस्तुतः यह अधिकार था कि वे बालि के दुराचरण पर उसे दंड दे सकते थे? क्या उस समय के न्यायशास्त्र के अनुसार ऐसे व्यक्ति पर मृत्यु दंड लागू होता था, जो अपने छोटे भाई की पत्नी को अपनाने का दोषी हो? आपको भारत के इतिहास की एक घटना का स्मरण होगा, जबकि नन्दकुमार को जाली दस्तावेज़ बनाने के लिए मृत्युदंड दिया गया था। उन्हें, बिना किसी नैतिक संकोच के, उसे दंड देने में कोई झिझक नहीं थी,

जबकि भारतीय न्यायसंहिता के अनुसार जालसाज़ी के लिए मृत्युदंड का प्रावधान नहीं है। मुझे खेद से कहना पड़ता है कि बालि को मृत्युदंड देने में श्री राम भी कुछ ऐसी ही मनमानी के दोषी थे। इस सम्बन्ध में मैं आगे कुछ और कहूँगा।

फिर प्रश्न यह उठाया जाता है : राम का मुख्य उद्देश्य तो था, अपनी पत्नी को पुनः प्राप्त करना, तो मित्र रूप में राम ने बालि को क्यों नहीं चुना? बालि के लिए यह कार्य अत्यन्त सहज सुकर था। सामान्यतः ऐसा माना जाता था कि बालि एक अपरिमित शक्ति वाला वानर था, जो रावण को पहले ही जीत चुका था और उसे लगभग अपमानित भी कर चुका था। बालि की बजाय, उसके अपेक्षाकृत कमज़ोर भाई सुग्रीव को मित्रता के लिये क्यों चुना गया? एक अन्य छोटा–सा प्रश्न भी है, जो उठाया जाता है कि पहली ही मुठभेड़ में श्री राम ने बालि को क्यों नहीं मारा? क्यों उन्होंने उसको उस समय जाने दिया और क्यों सुग्रीव को फिर आकर उसको एक मल्लयुद्ध के लिये ललकारने के लिए कहा? श्री राम द्वारा दिया गया कारण अपर्याप्त माना जाता है तथा 'रामायण' के टीकाकारों तथा पाठक किसी ऐसी धारणाओं से प्रतिबद्ध नहीं हुए। यदि कोई व्यक्ति कष्टकर हो और पकड़ा जाये, तो उसका सफ़ाया ही आवश्यक था, ताकि वह आगे कण्टक न बने। प्राश्यक्षतः प्रयास रहा है, खोज निकालने के लिए कि श्री राम ने ऐसा अनुचित कार्य क्यों किया? एक प्रश्न में भी उठाना चाहूँगा, वह अब तक नहीं उठाया गया है– वह है : क्या श्री राम के स्वयं के आचरण में और उनके रूमा के प्रति रुख़ में (सीता के द्वारा) एकरूपता और संगति थी, जब उन्होंने यह विचार बनाया कि सुग्रीव की पत्नी, रूमा का उसके भाई बालि द्वारा हथियाना ऐसा आत्यन्तिक अपराध था, जिसके लिये मृत्युदंड उचित था। अब मैं इन कई प्रश्नों पर विचार करने करूँगा। मैं यह भी स्पष्ट कर दूँ कि पिछली परिचर्चाओं की भाँति यथासम्भव मैं अपने आपको वाल्मीकि द्वारा प्रस्तुत वृत्तान्त तक ही सीमित रखूँगा। मैं न तो उनके शब्दों से आगे जाऊँगा और न ही किसी अन्य पुराण अथवा 'रामायण' के अन्य प्रचलित रूपान्तरों से किसी की सहायता लूँगा। यह आवश्यक है कि हम केवल उसी पर अपनी दृष्टि जमाए रखें, जो कुछ वाल्मीकि ने कहा है, उसी के शब्दों को आधार बनायें। उससे बाहर जाने अथवा शास्त्रों में या शास्त्रीय व्याख्याओं में उठाए गए प्रश्नों के झमेले में पढ़ना व्यर्थ है।

कुछ लोग ऐसे भी है, जो स्वयं कवि के सुस्पष्ट शब्दों की उपेक्षा कर यह दावा करते हैं कि बालि पर शरसन्धान करते समय श्री राम छिपे हुए नहीं थे। वे इतना तो मानते हैं कि बालि को इसका पता नहीं था कि कोई व्यक्ति उस पर निशाना लगा रहा था। बालि इससे सर्वथा अनभिज्ञ था। यद्यपि वह अनभिज्ञ था, फिर भी उसका वध करने के लिये वे राम को दोषी मानने के लिए तैयार नहीं। वे निश्चयपूर्वक कहते हैं कि यह कार्य श्री राम ने खुले आम किया, कहीं छिप कर नहीं, तथापि यह धारणा वाल्मीकि के स्पष्ट मूलपाठ के प्रतिकूल है। पाठ में शब्द इस प्रकार हैं :

सर्वे ते त्वरितं गत्वा किष्किन्धां वालिनः पुरीम्।
वृक्षैरात्मानमावृत्य व्यतिष्ठन् गहने वने।। IV.12.14

"तदनन्तर, वे सब लोग बालि की राजधानी किष्किन्धा पुरी में गये और वहाँ गहन वन के भीतर वृक्षों की आड़ में अपने शरीर को छिपा कर वे खड़े हो गये।"

अब इन शब्दः *'वृक्षैः ....गहने वने'* का कोई और अर्थ नहीं हो सकता। जब बालि श्री राम पर शरसंधान के समय छिपे होने का आरोप लगाता है, तो वे उसका उत्तर नहीं देते। इससे आरोप की पुष्टि हो जाती है। वे आरोप को नकारते नहीं, उसको स्वीकार करते हैं, बल्कि उसके लिये सफ़ाई भी प्रस्तुत करते हैं। वे केवल यही कहते हैं, "हाँ, मैंने ऐसा किया। परन्तु तुम कौन हो, उस पर आपत्ति करने वाले? तुम तो केवल एक शाखा मृग वानर हो, मृगया की वस्तु हो। मेरे जैसे राजाओं को, विशेषकर राजकुल के लोगों को, का अधिकार है। मृगया, तुम्हारे शिकार करने की, शिकारी को छिपने की अथवा जाल का फैलाने की, और इस प्रकार के किसी भी काम करने की, जिसे *'कूट'* कहते हैं, स्वीकृति देती है। मेरे लिये यह अनिवार्य नहीं कि मैं यह मान कर तुमसे युद्ध करूँ, यह मान कर कि तुम मेरे समकक्ष हो। यह भी आवश्यक नहीं है कि मैं तुम्हें चेतावनी दूँ अथवा अपने साथ शक्तिपरीक्षण के लिये ललकारूँ," यह थी राम की सफ़ाई। सच्चाई तो यह थी कि बालि खुली लड़ाई अथवा आमने–सामने के युद्ध में नहीं मारा गया, किन्तु मुठभेड़ इस ढंग से थी, जो सामान्य योद्धाओं के लिये भी अत्यन्त अनुचित या मानी जाये। इस प्रसंग पर प्रकाश डालने के लिये दो महान भाष्यकारों की टिप्पणियों को पढ़कर सुनाता हूँ। गोविन्दराज, जिन से बड़ा रामभक्त होने का कोई और दावा नहीं कर सकता, स्वयं बिना किसी संकोच प्रश्न कहते हैं :

प्रतिज्ञातं च रामेण तथा वालिवधं प्रतीति प्रतिज्ञानिर्वाहाय
छद्मनाऽपि वालिवधः कृतः IV.16.37,38

श्री राम ने बालि का वध किया, यद्यपि धोखे से किया, सुग्रीव के प्रति अपनी प्रतिज्ञानिर्वाह के लिए इस प्रकार से किया।

फिर, मूलपाठ की विषयवस्तु से थोड़ा हटते हुए, वे दूसरे स्थान पर कहते हैं : *"यदि रामो वालिनः पुरतस्तिष्ठेत्"* अर्थात् यदि श्री राम बालि के सम्मुख खड़े होते, सम्भवतः वह अपने प्रतिद्वन्द्वी की रणकुशलता को जानते हुए, शरणागत हो जाता। ऐसी स्थिति में श्री राम युद्ध के लिये आगे नहीं बढ़ते।

तदा विदितत्तदीयप्रभावतया वाली प्रह्वो भवेत्,
तदा तद्वधो न युक्तः, प्रतिज्ञा च व्याहन्येत, तद्द्वारा
तन्मित्रं रावणोऽपि शरणं व्रजेत्, देवकार्यं च लुप्येत्।
अतः प्रच्छन्नो वालिनमवधीत्।। IV.18.45

शरणागत को वे तुरन्त अभयदान प्रदान कर देते। ऐसी स्थिति में उनकी की हुई प्रतिज्ञा विफल हो जाती। रावण भी, जो बालि का घनिष्ठ मित्र था, आकर कह सकता था, "मैं आपके चरणों में पड़ता हूँ, मुझे क्षमा कीजिए।" ऐसी अवस्था में देवकार्य पूरा नहीं हो पाता। अतः यह आवश्यक था कि शरसन्धान के समय श्री राम छिपे रहें।

अब प्रश्न यह है कि क्या ऐसा करना उचित था? क्या यह तत्कालीन क्षात्रधर्म के नियमों के अनुकूल था? इसके स्पष्टीकरण के लिए टीकाकारों को जो कठिनाई महसूस होती है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय में भी, इस प्रकार की लड़ाई को मर्यादासंगत नहीं माना जाता था। कोई भी सच्चा योद्धा आक्रमण नहीं करेगा, यदि उसके प्रतिद्वन्द्वी को उसकी उपस्थिति का ज्ञान न हो। मैं आपको इस विषय में एक विशेष उदाहरण 'रामायण' में से ही देता हूँ। अब थोड़ी देर के लिये मैं चाहूँगा कि आपका ध्यान इस महायुद्ध की एक अत्यन्त नाटकीय घटना पर जायें। इस युद्ध की एक घटना में दोनों ओर के योद्धा भाग ले रहे थे। श्री राम उस स्थल पर उपस्थित हैं। लक्ष्मण भी उपस्थित हैं। हनुमान, सुग्रीव, नील, और अप्य सब एक ओर हैं। दूसरी ओर, औरों के अतिरिक्त स्वयं रावण भी वहाँ है। युद्ध आरम्भ होने जा रहा है महान योद्धा आमने–सामने डटे हैं। रावण अपने पुराने प्रतिद्वन्द्वी, हनुमान को पहचान लेता है और अपनी हथेली से उसकी छाती पर प्रहार करता है। हनुमान प्रहार से लड़खड़ा जाते हैं, परन्तु शीघ्र ही संभल कर अपनी हथेली से रावण की छाती पर प्रहार करते हैं। अब लड़खड़ाने की बारी रावण की थी। उसने कहा, "तुम निश्चय ही एक बलवान व्यक्ति हो। तुमने ऐसा प्रहार किया कि मैं लड़खड़ा गया।" यह है, एक उदात्त योद्धा की विशिष्टता, अपने शत्रु के बल और कौशल की प्रशंसा करना। परन्तु, क्या आपको ज्ञात है कि हनुमान ने क्या उत्तर दिया? वे कहते हैं, "आपके लिए मेरी प्रशंसा करना समुचित है, परन्तु, मेरे लिए यह लज्जाजनक है। मैं लज्जित हूँ कि उस प्रहार के बाद भी आप मुझे बधाई देने के लिए जीवित हैं।" यह सुनकर रावण आग–बबूला हो गया और हथेली से सीधे प्रहार करने में बजाय, उसने अपने सीधे हाथ की मुट्ठी से भरपूर शक्ति से हनुमान ने वक्षस्थल पर प्रहार किया। हनुमान उस प्रहार को न झेल सके। उनकी आँखों के सामने अंधेरा छा गया और उन्हें सुध न रही कि आस पास में क्या हो रहा है। हनुमान कुछ समय के लिए असक्षम हो गए। तब रावण ने यह देख कर कि हनुमान कुछ क्षणों के लिए अशक्त हो गये हैं, अपना रुख़ नील की ओर किया, जो सेना का नेतृत्व कर रहे थे। उनसे युद्ध आरम्भ किया। इस बीच हनुमान होश में आ गए। वे उसका दिया लौटाने के लिए, यदि सम्भव हो, ब्याज समेत, वहाँ आ पहुँचे, जहाँ रावण खड़ा था। किन्तु यह देखकर कि वह नील के साथ युद्ध में सलंग्न था, उन्होंने उस अवसर का नजायज़ फ़ायदा उठाना पसन्द नहीं किया और रावण से कहा :

विप्रेक्षमाणो युद्धेप्सुः सरोषमिदमब्रवीत्।।
नीलेन सह संयुक्तं रावणं राक्षसेश्वरम्।
अन्येन युध्यमानस्य न युक्तमभिधावनम्।। VI.59.73,74

उन्होंने उससे रोषपूर्वक कहा, "इस समय तुम दूसरे के साथ युद्ध कर रहे हो, अतः अब तुम पर धावा करना मेरे लिये उचित न होगा।"

यह कह कर हनुमान आगे नहीं बढ़े। वे प्रतिरोध भावना को मन में धारण किए रहे। उसका प्रत्युत्तर देने के लिए वे रावण के पास तब ही गए, जब वह बिल्कुल अकेला था और उनकी ओर पूरा–पूरा ध्यान दे सकता था। इस प्रसंग में हनुमान ने क्षात्रधर्म का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। जब शत्रु किसी अन्य ओर उलझा हुआ है, जब वह सीधे–सीधे सामना करने की स्थिति में नहीं है, ऐसी अवस्था में अनुचित लाभ नहीं उठाना चाहिए। इस प्रसंग का विशेष उपयोग है, श्री राम के आचरण की समीक्षा के लिये। बात केवल यह नहीं है कि बालि श्री राम से युद्ध करने में असक्षम था, वह तो श्री राम की उस स्थान पर उपस्थिति से भी अनभिज्ञ था। अतः यह एक अशोभनीय संघर्ष का बहुत बढ़ा चढ़ा रूप है।

अब मैं थोड़ी देर के लिए इस पर सोच–विचार स्थगित करता हूँ कि श्री राम ने ऐसा किया क्यों? श्री राम की इस कार्यवाही के मूल में सम्भवतः क्या कारण रहा होगा, उनके मन में इस प्रकार का विचार आने का क्या कारण हो सकता था, यह समझने के लिये आवश्यक है कि वाल्मीकि के मूल पाठ के कुछ सर्गों को ठीक प्रकार समझा जाये। इस पाठ से थोड़ी सहायता मिलती प्रतीत होती है, किन्तु निश्चयपूर्वक– मैं ऐसा कहने का साहस नहीं कर सकता। परन्तु जैसे–जैसे हम पाठ के अंशों को पढ़ते हैं, यत्र–तत्र प्रयुक्त अलग–अलग शब्दों पर ध्यान देते हैं, तो इस विषय पर कुछ मन्द सा प्रकाश पड़ता है। पहले तो मैं आपका ध्यान एक विशेष बात की ओर आकर्षित करना चाहूँगा, जो इस समय तो विचार संगत नहीं है, परन्तु आगे चलकर महत्वपूर्ण होगी। बालि के प्रति सुग्रीव की दो शिकायतें थी। इनमें से एक वास्तविक तथा दूसरी केवल काल्पनिक थी। सुग्रीव ने हनुमान को बताया था और तत्पश्चात् श्री राम और लक्ष्मण को बताया कि बालि ने अपने भाई के साथ दो अन्याय किए थे। एक अन्याय तो यह था कि बालि ने सुग्रीव की पत्नी, रूमा को हथिया लिया था। दूसरी शिकायत, जिसको उसने अन्याय (यह कुछ विचित्र सी बात थी) के रूप में चित्रित किया, कि बालि ने सुग्रीव को अपने राज्य से निष्कासित कर दिया था। तथ्य तो यह था, वह राज्य बालि का ही था। उसने उसे सुग्रीव से केवल वापस ही लिया था क्योंकि अनजाने में सुग्रीव राजा बन बैठा था, किन्तु सुग्रीव और फिर हनुमान इस तथ्य को इस रूप में प्रस्तुत करते हैं, जैसे एक चीज़, जो उसकी ही थी, अवैध रूप से उससे छीन ली गयी हो। हनुमान जी लक्ष्मण से कहते हैं :

स हि राज्यात्परिभ्रष्टः कृतवैरश्च वालिना।
हृतदारो वने त्यक्तो भ्रात्रा विनिकृतो भृशम्।। IV.4.27

"सुग्रीव राज्य से निष्कासित कर दिए गए हैं। बालि के साथ उनकी शत्रुता हो गई है। उनकी स्त्री का भी अपहरण कर लिया गया है। उस दुष्ट भाई ने उनके साथ छल कर उन्हें घर से निकाल दिया है। इसलिए वे अत्यन्त भयभीत होकर वन में निवास करते हैं।"

अब सुग्रीव बड़े सुविचारित ढंग से श्री राम से कहते हैं :

वालिना निकृतो भ्रात्रा कृतवैरश्च राघव।
वालिनो मे महाभाग भयार्तस्याभयं कुरु।।
कर्तुमर्हसि काकुत्स्थ भयं में न भवेद्यथा। IV.5.24,25

"मेरे बड़े भाई बालि ने मुझे घर से निकालकर मेरे साथ वैर बाँध लिया है। मैं अपने भाई से भयभीत हूँ। वह मेरे से कहीं अधिक बलवान है। उसने मुझे निष्कासित किया और अपमानित भी किया। भय से पीड़ित हुए मुझ सेवक को आप अभय दान दीजिए, जिससे मेरे लिये किसी प्रकार का भय न रह जाये।"

केवल इतना ही उसने कहा। यहाँ बालि के वध का कोई संकेत नहीं है। परन्तु श्री राम उसको प्रोत्साहन देते हुए कहते हैं :

वालिनं तं वधिष्यामि तव भार्यापहारिणम्। IV.5.27

वध का ज़िक्र तो पहले श्री राम स्वयं ही करते हैं, "मैं तुम्हारी पत्नी का अपहरण करने वाले उस बालि का वध कर दूँगा।"

अमोघाः सूर्यसंकाशा ममैते निशिताः शराः। IV.5.27

"मेरे तूणीर में संगृहीत हुए ये सूर्यतुल्य तेजस्वी बाण अमोघ हैं।"

ध्यान दीजिए, यहाँ वे बहुवचन का प्रयोग करते हैं। स्पष्ट है, बालि का वध करने के लिए उनका इरादा कई बाणों के प्रयोग का था। वे बाण सर्वथा अचूक है। अमोघाः, सूर्यसंकाशाः, निशिताः– वे तीक्ष्ण बाण हैं, जिनका वार ख़ाली नहीं जाता। एक बार पुनः ध्यान दीजिए।

तमद्य वालिनं पश्य क्रूरैराशीविषोपमैः।।
शरैर्विनिहतं भूमौ विकीर्णमिव पर्वतम्। IV.5.29,30

श्री राम कहते हैं, "तुम देखना मैं अपने विषधर सर्पों के समान तीखे बाणों से बालि को पृथ्वी पर गिरा दूँगा। यह कार्य मैं आज ही करूँगा। वह इन्द्र के वज्र से टूट–टूट कर गिरे पर्वत के समान दिखाई देगा।"

इससे प्रतीत होता है कि इस समय श्री राम बालि के साथ आमने–सामने की टक्कर का ही सोच रहे थे, अन्यथा उनके मन में अनेक बाणों का ध्यान क्यों आता? एक बार पुनः राम सुग्रीव से कहते हैं :

उपकारपफलं मित्रमपकारोऽरिलक्षणम्।
अद्यैव तं हनिष्यामि तव भार्यापहारिणम्।। IV.8.21

"उपकार ही मित्रता का फल है, अपकार शत्रुता का लक्षण है।" एक बार फिर वे दृढ़तापूर्वक कहते हैं, "मैं तुम्हारी स्त्री का अपहरण करने वाले उस बालि का वध करूँगा और आज ही।"

पुराहं वालिना राम राज्यात्स्वादवरोपितः।
परूषाणि च संश्राव्य निर्धूतोऽस्मि बलीयसा।।
हृता भार्या च मे तेन प्राणेभ्योऽपि गरीयसी।। IV.8.32,33

"पहले की बात है कि बालि ने कटुवचन सुनाकर मेरा तिरस्कार किया और युवराज पद से नीचे उतार दिया। केवल इतना ही नहीं, मेरी स्त्री को भी, जो मुझे अपने प्राणों से अधिक प्रिय थी, उसको छीन लिया।"

एक–दूसरे स्थान पर भी श्री राम अपने बाणों (बहुवचन में) के विषय में बात दोहराते हैं :

अमोघाः सूर्यसंकाशा ममैते निशिताः शराः।
तस्मिन् वालिनि दुर्वृत्ते निपतिष्यन्ति वेगिताः।।
यावत्तं नाभिश्यामि तव भार्यापहारिणम्।
तावत्स जीवेत्पापात्मा वाली चरित्रदूषकः।। IV.10.32-33

"ये मेरे सूर्य के समान तेजस्वी बाण अमोघ हैं, जो दुराचारी बालि पर रोष पूर्वक बरसेंगे। वह तुम्हारा बालि, तुम्हारा शत्रु, जिसने तुम्हें इतना कष्ट दिया है। सदाचार को कलंकित करने वाला वह पापात्मा केवल जब तक ही जीवित है, जब तक मेरी दृष्टि उस पर नहीं पड़ती। जब मेरी दृष्टि उस पर पड़ जायेगी, वह समाप्त हो जायेगा।"

मैं आपका ध्यान इस बिन्दु पर टिकाना चाहूँगा कि राम की सोच किस प्रकार की थी। राम सोचते हैं कि तुरन्त बालि का वध करना आवश्यक है, और वह भी उसी दिन। इसके लिये कोई और सोच–विचार आवश्यक नहीं। इसमें भी सन्देह नहीं, वे उस समय सोचते हैं कि युद्ध आमने–सामने का होगा और अनेक शरों का उपयोग भी होगा। जब हम 12वें सर्ग पर आते हैं, जहाँ सुग्रीव राम की व्यक्तिगत शक्ति पर सन्देह करता है और सोचता है कि मनुष्य राम तुलना में बालि एक भीमकाय दैत्य है। वह श्री राम से अपनी शक्ति का कोई प्रमाण देने अथवा उसका प्रदर्शन करने का अनुरोध करता है, जिससे वह अपने मन में आश्वस्त हो जाये कि श्री राम सचमुच एक उपयोगी एवं कार्यकुशल सहायक मित्र सिद्ध होंगे। अतः वह उनके सामने दो परीक्षाओं का सुझाव प्रस्तुत करता है, जिनमें से एक में इस समय हमें कोई दिलचस्पी नहीं है। दूसरा यह था, वहाँ सात विशाल सालवृक्षों की क़तार थी। बालि के पराक्रम और बल का वर्णन करते हुए सुग्रीव श्री राम से कहता है, "मेरा भाई बालि इतना बलवान है कि

वह इनमें से एक–एक वृक्ष को बलपूर्वक हिलाकर पत्रहीन कर सकता है।" श्री राम को यह कथन कुछ अच्छा नहीं लगा कि ऐसी तुच्छ सी बात से उनके अपने निजी बल की परीक्षा ली जाये। इस पर उन्होंने बिना सोचे एकदम एक बाण लिया और उसे उन सात सालवृक्षों की ओर लक्ष्य करके छोड़ दिया। वह बाण सातों साल वृक्षों को एक साथ बींधकर आगे जाकर पृथ्वी के लोकों को छेदता हुआ पुनः अपने मूल स्थान पर लौट आया। यह देखकर सुग्रीव को बड़ा विस्मय हुआ। मेरा अनुमान है कि अब उसे कुछ पछतावा भी हुआ कि उसने एक महान योद्धा को निजी शक्ति का प्रमाण देने के लिये कहा। वह सचमुच उनके चरणों में पड़कर कहता है, "आप कितने शक्तिशाली हैं, मैंने तो ऐसा स्वप्न में भी नहीं सोचा था। यदि आप चाहें तो समस्त देवताओं को भी मार सकते हैं। आप विलक्षण हैं, मुझे आप पर गर्व है। इस संघर्ष के समय मैं आप जैसा सहायक सखा पाकर मैं धन्य हो गया। मैं बड़ा प्रसन्न हूँ।"

येन सप्त महासाला गिरिर्भूमिश्च दारिताः।
बाणेनैकेन काकुत्स्थ स्थाता ते को रणागतः।। IV.12.9

"जिन्होंने सात बड़े बड़े सालवृक्ष, पर्वत और पृथ्वी को केवल एक ही बाण से विदीर्ण कर डाला, उन्हीं, आपके समक्ष युद्ध में कौन ठहर सकता है?"

एक ही बाण का विचार अब सामने आता है, जबकि उनका पारस्परिक वार्तालाप चल रहा था। मैं चाहता हूँ कि आप इन छोटे–छोटे बिन्दुओं को पकड़ें। ये छोटी–छोटी बातें नहीं है क्योंकि हम श्री राम की मनोवृत्ति को समझने के लिये उलझन में हैं। हम योंही उन पर सब प्रकार की कुत्सित प्रवृत्तियों का आरोप नहीं लगा सकते। अतएव, स्मरण रखें कि पहली बार अब केवल एक विचार सामने आता है– यह विचार कि केवल एकमात्र बाण द्वारा क्या कुछ किया जाये, उसके द्वारा कितनी शक्ति का उपयोग हो सकता है, यदि वह बाण श्री राम द्वारा ठीक ढंग से लक्ष्य करके छोड़ा जा सकता है :

तमहैव प्रियार्थं मे वैरिणं भ्रातृरूपिणम्।
वालिनं जहि काकुत्स्थ मया बद्धोऽयमञ्जलिः।। IV.12.11

"आप तो महत्तम और बलिष्ठ योद्धा हैं, जिसके सदृश मैंने दूसरा नहीं देखा। मैं आपसे श्रद्धापूर्वक प्रार्थना करता हूँ कि आप आज ही बालि का, जो भाई के रूप में मेरा शत्रु है, वध कर डालिये।"

तत्पश्चात् वे किष्किन्धा गये और जैसा आप जानते ही हैं, सुग्रीव बालि को एकाकी युद्ध के लिये चुनौती देता है। श्री राम, लक्ष्मण और हनुमान एक गहन कुंज के भीतर वृक्षों की आड़ में अपने को छिपाकर खड़े हो गए। दोनों भाइयों में वाली अधिक शक्तिशाली होने के कारण सुग्रीव का कचूमर निकाल देता है। सुग्रीव मुड़कर देखता है, जहाँ राम दिखाई दे सकते थे। इसी बीच, कवि कहता है, अपने मित्र को घोर

संकट में देखकर, श्री राम ने अपना बाण लक्ष्य करना चाहा। बालि और सुग्रीव जब आपसी युद्ध में प्रतीयमानतः संलग्न थे, वे दोनों, आकार, वर्ण, गतिद्रुतता आदि इतने समान थे कि श्री राम को दोनों में अन्तर करना कठिन हो गया कि बालि कौन सा था और कौन सा सुग्रीव। अतः उन्हें अपना प्राणान्तकारी बाण छोड़ने में झिझक महसूस हुई। ऐसा न हो कि ग़लत व्यक्ति पर उनका निशाना लग जाये, जिससे उनके उद्देश्य में गहरी जोखिमें पैदा हों।

यद्भावगच्छत्सुग्रीवं वालिनं वापि राघवः।
ततो न कृतवान् बुद्धिं मोक्तुमन्तकरं शरम्।। IV.12.20

क्योंकि वह शर प्राणान्तक था, वे शरसन्धान न कर सके। तब सुग्रीव जान बचाने के लिए भाग खड़ा होता है, अपने स्थान, ऋष्यमूक पर्वत की ओर, जहाँ शीघ्र ही दोनों भाई हनुमान सहित उससे जा मिलते हैं। सुग्रीव अब धीरे से श्री राम को उलाहना देता है, "मेरे मित्र रघुनन्दन! यदि आप पहले से मुझे बता देते कि आप बालि को नहीं मारेंगे, तो मैं कदापि बालि को संघर्ष के लिये चुनौती न देता। ज़रा देखिए तो उसने मेरी क्या दशा बना दी है। मुझे स्वयं पर लज्जा आ रही है। क्यों आपने पहले नहीं बताया कि आप बालि को मारने के इच्छुक नहीं हैं?" तब श्री राम सफ़ाई में कहते हैं, "मैं भ्रान्ति में पड़ गया था।"

ततोऽहं रूपसादृश्यान्मोहितो वानरोत्तम।
नोत्सृजामि महावेगं शरं शत्रुनिबर्हणम्।। IV.12.32

"तुम दोनों के रूप की इतनी समानता देखकर मैं मोह में पड़ गया, तुम्हें पहचान न सका। इसलिए मैंने अपना महान वेगशाली शत्रुसंहारक बाण नहीं छोड़ा। उस भयंकर बाण से जो मेरे हाथ में था, मैं तुम दोनों में से एक को समाप्त कर सकता था। परन्तु, यदि वह तुम्हारे लग जाता, तो फिर मेरा क्या होता? लक्ष्मण और सीता का क्या होता? ज़रा इस पर विचार करो। यदि तुम्हारा,जो परम मित्र हो, वध हो जाता, तो इसका अर्थ होता कि मैंने अपने सम्पूर्ण जीवन और जीवन के मूल उद्देश्य का ही विनाश कर दिया होता।"

जीवितान्तकरं घोरं सादृश्यात्तु विशङ्कितः।
मूलघातो न नौ स्याद्धि द्वयोरपि कृते मया।। IV.12.33

"मेरा वह भयंकर बाण शत्रु के प्राण लेने वाला था। तुम दोनों की समानता से मैं सन्देह में पड़ गया और इस बाण को नहीं छोड़ा। सोचा, कहीं ऐसा न हो कि हम दोनों के मूल उद्देश्य का ही विनाश न हो जाये। यह विचार मेरे मन में था, इसीलिए मैंने बालि वध का विचार छोड़ दिया। अब ऐसा करो कि अपनी पहचान के लिए तुम कोई चिह्न धारण कर लो, जिससे तुम अपने भाई से अलग पहचाने जा सको। तत्पश्चात् पुनः बालि को जाकर युद्ध के लिए ललकारो। मैं अपना वचन पूरा करूँगा।"

तस्माद्युध्यस्व भूयस्त्वं मा मा शङ्कीश्च वानर। IV.12.36

"मेरे प्रति अब कोई शंका न करना।"

अस्मिन् मुहूर्ते सुग्रीव पश्य वलिनमाहवे।
निरस्तमिषुणैकेन वेष्टमानं महीतले।। IV.12.37

"यदि तुम अभी जाकर बालि को बाहर बुलाकर युद्ध के लिये चुनौती दोगे, तो तुम इसी मुहूर्त में बालि को मेरे एक ही बाण का निशाना बनाकर धरती पर लोटता देखोगे," यह था उनका वादा।

सर्वे ते त्वरितं गत्वा किष्किन्धां वालिपालिताम्।
वृक्षैरात्मानमावृत्य व्यतिष्ठन् गहने वने।। IV.14.1

कवि फिर वही बात दोहराता है। वे सब लोग शीघ्रतापूर्वक बालि की किष्किन्धापुरी में पहुँचकर एक गहन कुंज में वृक्षों की ओट में अपने आपको छिपाकर खड़े हो गए। राम एक बार फिर सुग्रीव को आश्वासन देते हैं :

अद्य वालिसमुत्थं ते भयं वैरं च वानर।।
एकोनाहं प्रमोक्ष्यामि बाणमोक्षेण संयुगे। IV.10-11

"मैं आज ही तुम्हारे भाई के भय से मुक्ति दिलाऊँगा, एक बाण द्वारा– केवल एक बाण द्वारा।"

देखिए, किस प्रकार आमने–सामने युद्ध और अनेक बाणों की आवश्यकता का विचार श्री राम के मन से दूर हो गया। उन्होंने बारम्बार सुग्रीव को यही आश्वासन दिया था कि वे केवल एक बाण द्वारा बालि को देखते ही समाप्त कर देंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि एक बाण का विचार उनकी धारणा बन गया। बारंबार बालि वध के लिए एक से अधिक बाण का प्रयोग नहीं करना है। जब हम इस काव्य में आगे बढ़ते हैं, कवि इस तथ्य को व्यक्त करता है कि बालि वध केवल एक बाण द्वारा किया गया, जो श्री राम के सामर्थ्य का महान प्रमाण है। इस प्रसंग में हमारे विचार चाहे कुछ भी हों, हमें यह मानने का अधिकार नहीं कि यह घटना असावधानी के कारण या अकस्मात घटी। यह सब कुछ सोच विचार कर ही किया गया था। श्री राम ऐसा कोई काम नहीं करते, यदि वह मर्यादा के विचार से असंगत होता। अब ज़रा और आगे बढ़ें। आप जानते ही होंगे कि बालि के दूसरी चुनौती स्वीकार करने से पूर्व उसकी पत्नी तारा उसको रोकने का प्रयास करती है। तारा उस पर अपनी पूरी वाक्पटुता का प्रयोग करती है। अपने ही पुत्र अंगद द्वारा, जो गुप्तचरों के सम्पर्क में था, उसे सूचना मिली थी कि सुग्रीव ने दूसरी बार आने का साहस इसलिए किया क्योंकि उसने किसी और अप्रतिरोध्य व्यक्ति की सहायता प्राप्त कर ली है। उसने यह सब कुछ सुना और अंगद ने श्री राम के विषय में सब कुछ उसे बता दिया है। यह देख कि वह आसानी से रोके जाने के लिये तैयार नहीं था, वह उसे सब जानकारी दे देती है, जो कि उसके पास

थी। वह पूछती है, "क्या आप जानते हैं कि आप किससे युद्ध करने जा रहे हैं? सुग्रीव से नहीं, वह तो केवल दिखाने के लिये आगे रखा जा रहा है। वास्तविक संघर्ष तो श्री राम से करना पड़ेगा।

रामः परबलामर्दी युगान्ताग्निरिवोत्थितः।
निवासवृक्षः साधूनामापन्नानां परा गतिः।।
अर्तानां संश्रयश्चैव यशसश्चैकभाजनम्।
ज्ञानविज्ञानसंपन्नो निदेशे निरतः पितुः।।
धातुनामिव शैलेन्द्रो गुणानामाकरो महान्।
तत्क्षमो विरोधस्ते सह तेन महात्मना।। IV.15. 19-21

"श्री राम शत्रुसेना का संहार करनेवाले तथा प्रलयकाल में प्रज्ज्वलित अग्नि के समान तेजस्वी हैं। वे साधु पुरुषों के आश्रयदाता कल्पवृक्ष है और संकट में पड़े हुए प्राणियों के लिये सबसे बड़ा सहारा है। वे आर्तपुरुषों के आश्रय, यश के एकमात्र भजन, ज्ञानविज्ञान से सम्पन्न तथा पिता की आज्ञा में स्थित रहने वाले हैं। जैसे गिरिराज हिमालय नाना धातुओं की खान है, उसी प्रकार श्री राम उत्तम गुणों के बहुत बड़े भंडार हैं। अतः उन महात्मा राम के साथ आपका विरोध करना कदापि उचित नहीं है।"

"आप जाकर उनसे युद्ध नहीं करेंगे। इन श्री राम से शत्रुता मत ठानो। उनमें यह है, वह भी है और भी बहुत कुछ है।" मैंने इन श्लोकों को केवल यह दिखाने के लिये दिया है कि तारा जैसा व्यक्ति ने भी, जिसने श्री राम को न देखा था, न आज से पहले उनके विषय में कभी सुना था, श्री राम को किस प्रकाश में देखा। अतएव वह अपने पति को अपने भाई से समझौता करने का परामर्श देती है। "सुग्रीव को दंड मत दो, समझौता कर लो।" फिर कहती है, "उसे युवराज नियुक्त कर दो।" ऐसा लगता है, वह युवराज भी नहीं था, वह बालि को एक परामर्श नही देती, उस पर मैं ध्यान दिलाना चाहूँगा। अनुपस्थिति में स्वयं राजा भी रह चुका था। वह पहली बार ही ऐसा कहती है, "तुम उसे युवराज बना दो।" लेकिन एक बात है, जिसके लिए वह परामर्श आपको स्मरण होगा– जब रावण विभीषण, कुम्भकर्ण इत्यादि से परामर्श लेता है, वे सब एक मत से सीता को उसके अपने पति राम को लौटाने का परामर्श देते हैं। तारा भी, जो कदाचित् कह सकती थी, कुछ मिलती जुलती परिस्थिति में ही सलाह दे रही थी, "सुग्रीव को रूमा लौटा दो, क्योंकि सुग्रीव की बड़ी शिकायत यही है। राज्याधिकार छीनना उसकी नाराज़गी का कारण है, परन्तु रूमा की बात भी परेशानी का एक बड़ा कारण है। यदि आप सुग्रीव से विरोध मिटाना चाहते हैं, तो न केवल आप उसका युवराज पद पर अभिषेक कर दें, प्रत्युत उसकी पत्नी को भी उसे लौटा दें।" यह दूसरी बात भाइयों के झगड़े के कारणों में से एक थी। तारा, जो इतनी समझदार और सावधान थी, उसने ऐसी सलाह क्यों नहीं दी? मैं स्वयं कुछ समझ नहीं पा रहा हूँ।

इस संघर्ष में भी सुग्रीव शीघ्र ही पिछड़ने लगा। यह देखकर कि वह हताहत हो गया, राम ने तत्क्षण एक ही बाण से बालि को मार दिया।

ततो धनुषि संधाय शरमाशीविषोपमम्।
पूरयामास तत्त्वापं कालचक्रमिवान्तकः।।
ततस्तेन महातेजा वीर्योत्सिक्तः कपीश्वरः।
वेगेनाभिहतो वाली निपपात महीतले।। IV.16.33.36

उन्होंने अपने धनुषपर विषधर सर्प के समान भयंकर बाण रखा और उसे ज़ोर से खींचा, मानो यमराज ने कालचक्र उठा लिया हो। उस बाण से वेगपूर्वक आहत होने के कारण महातेजस्वी पराक्रमी वानरराज, बालि तत्काल भूमि पर गिर पड़ा। इस प्रकार बालि का अन्त हुआ। मैंने यह दिखाने का प्रयास किया है कि एक ही बाण द्वारा बालि को वध करने के विचार को कुछ असाधारण दिया गया था। असाधारण महत्त्व उसका उसी दिन वध करने को भी दिया गया। शब्द *'अद्यैव'* (आज ही) कई बार दोहराया गया है। सुग्रीव अधीर हो रहा था और उसके मन में अनेक आशंकायें उठ रही थी कि न जाने क्या होने जा रहा है और पहली बार जब राम ने निशाना नहीं लगाया, तो उसे घोर निराशा हुई। किन्तु राम के गम्भीरता पूर्वक विश्वास दिलाने से वह कुछ आश्वस्त होकर लौटा, पर मेरे विचार में, उसके मन में थोड़ी सी शंका अब भी थी। अतएव, राम के लिये उस काम को शीघ्रातिशीघ्र पूर्ण करना आवश्यक हो गया था। स्थिति ऐसी नहीं थी कि राम को वाणी के अन्त में स्थगित कर सकते अथवा संघर्ष को खींच कर बढ़ाते। अन्यथा सुग्रीव का मन निराशा, खीज और शंका से भर जाता। संभवतः यही सही दिशा है, जिसमें, मुझे लगता है, हमें श्री राम का ऐसा करने का कारण खोजना चाहिए। समय की इतनी दूरी पर मैं किसी बात को बहुत निश्चय से नहीं कह सकता। मुझे लगता है, यदि हम उपरोक्त बातों को ध्यान में रखें, तो कुछ थोड़ा–बहुत प्रकाश इस सन्दर्भ में प्राप्त हो सकता है।

यह बालि आख़िर था कौन? आइये, थोड़ा इस पर विचार कर लें। मैं क्षण भर के लिये यह नहीं मानता कि राम आत्मसंशयी थे। बालि और राम के बल और पराक्रम की पारस्परिक तुलना के सन्दर्भ में एक क्षण के लिये भी संकेत देना नहीं चाहता कि श्री राम बालि से सीधी टक्कर लेने से डरते थे। ऐसा सुझाव देना कदापि मेरा अभिप्राय नहीं। परन्तु ध्यान देने की बात है, जैसा कि हमें आगे चलकर पता लगता है, कि राम रावण को भी बहुत आसानी से नहीं मार सके थे। ऐसा प्रतीत होता है कि संघर्ष के अन्तिम चरण में दोनों पक्षों में इतनी अधिक बराबरी थी कि परिणाम सर्वथा अनिश्चित था। देवता और महर्षिगण भी आकर इस संघर्ष को बड़े ध्यान से देख रहे थे। सब बड़े चिन्तित थे कि क्या कुछ होने जा रहा है। उन्हें इन्द्र से कहना पड़ा, "देख रहे हैं, आप दोनों के मध्य असमान युद्ध को? एक ओर तो रावण अपने रथ में आरूढ़ होकर युद्ध

कर रहा है, दूसरी ओर बेचारे राम पृथ्वी पर पैदल हैं। इसलिए उचित होगा कि तुम अपना रथ युद्ध के लिये दे दो।" इन्द्र ने ऐसा ही किया। इन्द्र का सारथी, मातलि स्वयं रथ लेकर आया और सारथी भी बना। राम को केवल रथ ही नहीं, प्रत्युत नये सिरे से एक कवच, एक धनुष और नये बाण भी उपलब्ध कराये गए। फिर भी, जैसा कि आप को विदित है, संघर्ष बराबरी पर था और यह भी निश्चित नहीं था कि विजय राम की ही होगी। एक बार पुनः महर्षियों ने अगस्त्य मुनि को श्री राम की सहायतार्थ जाने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने आकर श्री राम के कान में *'आदित्यहृदय'* स्तोत्र के पाठ का उपदेश दिया। यह स्तोत्र उनको सिखाना आवश्यक था। अन्तिम क्षण तक स्थिति अनिश्चित बनी हुई थी। एक बार पुनः मातलि ने उनसे कहा, "मैं आपसे कुछ अधिक नहीं कहना चाहता, किन्तु मेरी बात मानिए, अब समय आ गया है, आत्यन्तिक शक्तिशाली शस्त्र के प्रयोग करने का संकोच न करें, ब्रह्मास्त्र का उपयोग करें।"

आपने देखा किस प्रकार रावण के विरुद्ध संघर्ष में भी अनेक बार राम की सम्पूर्ण शक्ति की परीक्षा चरम सीमा पर पहुँच कर चमत्कारी सहायता ग्रहण करने की आवश्यकता पड़ गई। बालि रावण से कहीं अधिक बलवान था। इसका परिचय उत्तर कांड के एक प्रसंग से मिलता है। वहाँ इस प्रकार का वर्णन है कि पृथ्वी पर विचरण करते हुए जब एक बार रावण किष्किन्धापुरी में जाकर बालि को युद्ध के लिये ललकारने लगा, उसने बालि को दक्षिण सागर में पूजा सन्ध्या करता पाया। जैसे ही बालि को लगा कि कोई व्यक्ति उसके पीछे आकर खड़ा है, परन्तु किसी मैत्रीपूर्ण भाव से नहीं, उसने मानो नेत्रपृष्ठ से उस पर नज़र रखी और जैसे ही वह पापपूर्ण इरादे से उसके काफ़ी निकट पहुँचा, बालि ने उसे पकड़कर अपनी काँख में दबोच लिया। तत्पश्चात् रावण को काँख में दबाये हुए सब समुद्रों पर ले गया। अन्त में उसे भूमिपर पटक दिया, पूर्णतया एक भग्नदर्प और पराभूत व्यक्ति की भाँति। इस अद्भुत पराक्रम को देखकर रावण ने बालि के बल की प्रशंसा की।

अहो बलमहो वीर्यमहो गाम्भीर्यमेवं च।
येनाहं पशुवद्गृह्य भ्रामितश्चतुरोऽर्णवान्।।
त्रयाणामेव भूयानां गतिरेषा प्लवङ्गम।
मनोऽनिलसुपर्णानां तव चात्रन संशयः।। VII.34.37,39

"आप में अद्भुत बल है, अद्भुत पराक्रम है और आश्चर्यजनक गम्भीरता भी हैं। आपने मुझे एक पशु के समान पकड़कर चारों समुद्रों पर घुमा दिया। अभी तक मैंने ऐसी गति मन, वायु और गरुड़– इन तीन भूतों की ही सुनी थी। अब इस सूची में जोड़ने के लिये चौथा भी मिल गया, और वह निस्सन्देह आप हैं।"

इसके पश्चात् हनुमान को भी इस सूची में स्थान देना होगा। आगे रावण कहता है :

त्वया सह चिरं सख्यं सुस्निग्धं पावकागतः।।
दारा: पुत्राः पुरं राष्ट्रं भोगच्छादनभोजनम्। VII.34.40,41

"आइये, अब मैं अग्नि को साक्षी बनाकर आपके साथ सदा के लिये स्नेहपूर्ण मैत्री कर लेना चाहता हूँ। स्त्री, पुत्र, नगर, राज्य, वस्त्र और भोजन इन सभी वस्तुओं पर हम दोनों के साझे का अधिकार होगा। व्यवहारिक रूप से हम पूर्णतया एक हो जायें।" यहाँ ध्यान देने की विशेष बात यह है कि उसने *'दारा:पुत्रा'* को भी सम्मिलित किया। इससे पता चलता है कि उस समय पत्नी भी सम्पत्ति की केवल एक महत्त्वपूर्ण वस्तु समझी जाती थी। इस अवसर पर रावण बालि के घर एक मास तक इस प्रकार रहा, जैसे वह दूसरा सुग्रीव हो।

स तत्र मासमुषितः सुग्रीव इव रावणः। VII.34.44

बालि ने रावण के प्रति छोटे भाई जैसा व्यवहार किया, उसको भरपूर दुलार दिया और अच्छी प्रकार देखभाल की।

अब आप के विचार से राम के ऊपर क्या बीतती, यदि वे बालि के साथ आमने–सामने का संघर्ष चुन लेते। मैं ऐसा नहीं कहता कि उनकी पराजय होती। कथापि नहीं, मेरा यह बिन्दु नहीं है। परन्तु स्मरण रहे, राम–रावण युद्ध कवि के वर्णन के अनुसार सात दिन तक चलता रहा। इस पूरी अवधि में कोई शिथिलता नहीं आई, न ही तीव्रता में कोई अन्तर आया। एक क्षण के लिये भी दोनों प्रतिद्वन्द्वियों में से कोई भी अपनी सावधानी में नहीं चूका, न ही अपने अधिकतम बल प्रयोग में।

देवदानवयक्षाणां पिशाचोरगरक्षसाम्।
पश्यतां तन्महद्युद्धं सर्वरात्रमवर्तत।। VI.110.37

देवों, दानवों, यक्षों, पिशाचों, नागों और राक्षसों के देखते–देखते यह महान संग्राम सारी रात चलता रहा।

नैव रात्रं न दिवसं न मुहूर्तं न च क्षणम्।
रामरावणयोर्युद्धं विराममुपगच्छति।। VI.110.38

श्री राम और रावण का युद्ध न रात में बन्द होता, न ही दिन में। दो घड़ी अथवा एक क्षण भी उसका विराम नहीं हुआ।

यदि बाद में हुए राम–रावण युद्ध की यह स्थिति रही थी, तो बालि के साथ भी संग्राम कम से कम आठ दिन तक तो चलता ही रहता। ऐसी स्थिति में सुग्रीव का धैर्य समाप्त हो जाता। वह भय से आक्रान्त हो जाता। बालि को 'उसी दिन' समाप्त करने का श्री राम का वादा भी पूरा नहीं होता। आप यह भी समझिये, उन दिनों के युद्धों की शैली में शत्रु का वध तुरन्त नहीं होता था। पहला बाण तो कभी भी सफल नहीं होता था। एक बाण, दूसरे बाण द्वारा रोक दिया जाता था। फिर दूसरी बार, तीसरी बार, चौथी बार प्रयास किया जाता था। जब शत्रु थक कर चूर–चूर हो, और दूसरा पक्ष भी

निढाल प्रायः हो जाता, तब ही अन्ततः युद्ध का फ़ैसला होता था। सीधे युद्ध का भी ऐसा परिणाम होता। हम एक क्षण भी यह शंका न करें कि अन्ततः श्री राम ही विजयी होते, परन्तु साथ–साथ यह भी स्पष्ट है कि श्री राम को दोनों ओर से इस सुसंचालित संघर्ष में बहुत दिनों तक जूझते रहना पड़ता। तब तक सुग्रीव का धैर्य पूर्णतया टूट जाता।

हमारे टीकाकार, मूलपाठ से कुछ आगे जाकर, अनेक कथायें भी जोड़ते हैं। मैं नहीं जानता, मेरे लिये क्या उनका उल्लेख करना उचित होगा, किन्तु एक इन में से कुछ महत्त्वपूर्ण है, जिसका उल्लेख मैं आवश्यक समझता हूँ क्योंकि उसके लिये मूलपाठ में भी कुछ आधार है। इन्द्र ने बालि को एक स्वर्णमाला दी थी, जिसको उसे सदैव धारण करना था, विशेषकर उस समय जब वह शत्रु का सामना करने युद्ध में जाये। ऐसा विश्वास था, उस माला में कुछ चमत्कारिक शक्ति थी, जिसके प्रभाव से बालि की शक्ति में वृद्धि होकर उसकी विजय निश्चित हो जायेगी। इसके अतिरिक्त क्या उसमें कोई और भी गुण था, जिसका उल्लेख कवि ने नहीं किया। परन्तु किसी अन्य स्थान में उसका वर्णन प्राप्त है और टीकाकार गोविन्दराज इसकी चर्चा करते हैं :

एतत्काञ्चनमालाधारणकाले यः पुरो युद्धायागच्छति।
तस्य बलं सर्वं तवैव भविष्यतीति महेन्द्रेण दत्तामित्यर्थः।। IV.11.39

"इस माला को धारण करने से तुम्हारे शत्रु का पूरा बल तुम्हें प्राप्त हो जायेगा, यदि वह युद्ध के लिये आमने–सामने आये।"

मैं नहीं जानता इस कथा में कितना सत्य है, न ही यह कि क्या उसकी जानकारी श्री राम को थी। किन्तु टीका में कहा गया है कि कदाचित् अन्य कारणों के साथ एक यह भी एक था, जिससे इस लड़ाई में सुस्पष्ट छल–कपट करना आवश्यक हो गया था।

एक प्रश्न यह भी उठाया गया है, जैसा कि मैं पहले भी कह चुका हूँ, श्री राम ने पारस्परिक समझौता बालि के साथ करने के बजाय, कम शक्तिशाली भाई सुग्रीव से करना क्यों पसन्द किया? तथ्य तो यह है कि कबंध से मिलने के पहले और उसको ठिकाने लगाने के पूर्व श्री राम सुग्रीव के विषय में कुछ नहीं जानते थे। यह कबंध ही था, जिसने सर्वप्रथम उन्हें यह सूचना दी थी कि यदि वे ऋष्यमूक जाकर सुग्रीव से मिलें, तो वह अवश्य ही सहायता करेगा। कबंध ने यह भी बताया, "कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जो इस पृथ्वी को, उसके भूगोल को, उसकी स्थलाकृति आदि को इतनी भली भाँति जानता हो, जितना कि सुग्रीव। उसको इस रावण के सम्बन्ध में भी सब कुछ मालूम है, आप उसी से पूछताछ करें।" उसने आगे यह भी कहा, "सुग्रीव एक सीधा–सरल व्यक्ति है। आपके समान ही वह भी मुसीबत का मारा है। वह भी अपनी

पत्नी को खो बैठा है। अतएव, वह अवश्य ही आपके प्रति सहानुभूति प्रकट करेगा। आपको उसकी सहायता की आवश्यकता है, और उसको आपकी। आप दोनों एक–दूसरे के परस्पर सहायक मित्र उपयुक्त हैं। आप जाकर तुरन्त उसके साथ एक अनुबन्ध कर लें।" इसीलिये श्री राम सुग्रीव की खोज में आये। समान परिस्थितियों वाले व्यक्तियों के मध्य एक सूक्ष्म परस्पर सहानुभूति का प्रेमबंध पैदा हो जाता है। इस वास्तविकता ने कि उन्होंने भी अपनी पत्नी को खो दिया है, श्री राम को सुग्रीव का प्रिय बना दिया। श्री राम ने भी सोचा यह उपयुक्त व्यक्ति है, जो मेरी विपत्ति को समझ सकेगा। अतएव, एक ने दूसरे को सहायता का आश्वासन दिया।

अतः उसके लिये श्री राम के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। मैं नहीं मानता कि जो प्रश्न बालि ने अपने पतन के पश्चात् पूछा था, राम से, वह कोई वास्तविक प्रश्न था। पूछता है, "आपने इस विषय में मेरे से आवेदन क्यों नहीं किया? मैं रावण को आपकी पत्नी को लेकर यहीं आने को कह देता। वह तो स्वयं ही यहाँ दौड़ा आता।" बालि और रावण में घनिष्ट मैत्री थी और अनेक प्रकार की साझेदारी का वादा था। फिर भी यह अत्यन्त सन्देहास्पद है कि उस समय बालि ऐसा कुछ करता। अब जब सब कुछ समाप्त हो गया था, तो उसके लिये ऐसा कहना आसान था।

जब वह पहली बार सामने था? मैं श्री राम की कठिनाई के विषय में बता चुका हूँ। परन्तु बात तो यह है कि कोई भी इस बात पर विश्वास करने के लिए तैयार नहीं है कि सचमुच श्री राम के मन में सन्देह उपस्थित था कि दोनों भाईयों के बीच पहचान कैसे की जाये। वस्तुतः कोई भी नहीं मानता। कहते हैं, "नहीं, ऐसा बात नहीं थी। निश्चय ही श्री राम दोनों के मध्य अन्तर कर सकते थे।" पहली बात तो यह है कि जब दोनों का संघर्ष समाप्त हो चुका था और सुग्रीव पराजित हुआ लौट रहा था, श्री राम आसानी से समझ सकते थे कि कौन सा बालि था। इसके अतिरिक्त, हनुमान तो वहाँ उपस्थित थे ही, वे उनसे भी पूछ सकते थे। वे आसानी से बता देते और क्या आप कल्पना कर सकते हैं, राम शत्रु को न पहचान सकें? अतः इधर–उधर के अन्य कारण ढूँढने का प्रयास किया गया है। कोई बड़ी चतुराई दिखाते हुए कहते हैं, "यह तो पता ही है कि प्रत्येक प्राणी का जीवन काल पूर्वमेव निर्धारित होता है। बालि के जीवन के कुछ घंटे शेष थे। इसीलिए श्री राम इस समय निश्चेष्ट रहे और उन्होंने उसे प्राणान्तक बाण तत्क्षण नहीं मारा।" मैं बता ही चुका हूँ कि गोविन्दराज किस प्रकार इसके लिए सफ़ाई देते हैं। वे वस्तुतः कहते हैं, राम निश्चित रूप से जान सकते थे कि उन में कौन सा बालि था और कौन सा सुग्रीव, परन्तु उस समय उन्होंने यह जानने का प्रयत्न किया ही नहीं।

ईदृशे विषय एवंविधानृतवचनं न दोषायेत्यप्यनेन ध्वनितम्। IV.12.32

यह महान टीकाकार इस प्रकार कहते हैं : उस समय राम के मन में कुछ और भी विचार विद्यमान थे, किन्तु हम ठीक–ठीक नहीं जानते वे क्या थे। न ही हम इसका निरूपण कर सकते हैं। यह तो केवल अपनी सफ़ाई के लिए बहाना मात्र था कि वे दोनों भाइयों के बीच अन्तर न कर सके। यह सरासर झूठा बहाना था, ऐसा दोनों ही टीकाकारों का मत है और यह आश्चर्यजनक है। यह कह पाना, कि श्री राम उन दोनों भाइयों के बीच भेद नहीं कर सके, निस्सन्देह कठिन है, जबकि उनमें एक, दूसरे से इतना अधिक बलशाली था कि वह उसे सदा हरा देता था। किन्तु मैं एक सुझाव देना चाहूँगा। सम्भवतः मेरे लिए ऐसा करना एक धृष्टता हो, किन्तु मैं मानता हूँ, कवि के शब्दों में इसका समर्थन मिलता है। जब दोनों भाइयों की पारस्परिक मुठभेड़ आरम्भ हो रही थी, राम ने अन्तिम निश्चय नहीं लिया था कि वे आमने–सामने युद्ध करेंगे अथवा गुप्त स्थान से आक्रमण। कदाचित् अन्तिम क्षणों में उनके मन में ऐसा संकोच हुआ हो, "क्या मैं यह ग़लत काम करूँ, यह कायरता पूर्ण कार्य?" कदाचित् उन्हें कुछ इस प्रकार का संकोच हुआ हो, किन्तु स्मरण करके कि बालि को तुरन्त मारने का वचन भी दिया हुआ है, उन्होंने शीघ्र सात–आठ दिन की लम्बी लड़ाई करके सब कुछ अनिश्चितता में डालना नहीं चाहते थे। एक प्रसिद्ध श्लोक है, जिसका श्री राम के मन की गहराई परखने में कुछ महत्त्व है। आपको ध्यान होगा, स्वयं श्री राम का अपने अनुभव के आधार युद्ध के अन्तिम क्षणों पर विभीषण से कहते हैं, "जब किसी से युद्ध करने जाओ, तो मत सोचो कि किसी भी गुट के लिए जीत निश्चयी है। युद्ध सदा के लिये ही सन्देहास्पद होता है। कोई कभी नहीं कह सकता, कौन विजयी होगा?"

नैकान्तविजयो युद्धे भूतपूर्वः कदाचन।
परैर्वा हन्यते वीरः परान् वा हन्ति संयुगे।। VI.112.18

"युद्ध में किसी एक पक्ष को सदा ही विजय मिले, ऐसा पहले कभी नहीं हुआ है। वीर पुरुष संग्राम में या तो शत्रुओं द्वारा मारा जाता है अथवा स्वयं ही शत्रु को मार गिराता है। ऐसा हो सकता है कि तुम्हारा योद्धा अपने शत्रुओं द्वारा अभिभूत हो जाये। यह तो केवल आशा मात्र ही है कि वह सदा विजयी हो। रणक्षेत्र में किसी भी पक्ष की विजय की निश्चय रूप से भविष्यवाणी नहीं की जा सकती।"

स्वयं श्री राम ने इस महान तथ्य को प्रतिपादित किया। फिर क्यों न हम भी मान लें कि उनके मन में क्षण भर के लिये सन्देह उपस्थित हो सकता था, इसमें आपत्ति भी क्या है? अतएव, मैं मानता हूँ कि पहले अवसर पर जब उन्होंने अपने बाण का निशाना बालि पर नहीं बाँधा, वे क्षण भर के लिये ठिठक गए थे। वे सोचने लगे थे, क्या आगे जाकर वे बालि स्वयं को चुनौती दें? परन्तु, वे फिर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ऐसा करने के लिये समय अनुकूल नहीं है। अतएव, हो सकता है कि क्षणभर के लिए अनिश्चितता की स्थिति बन गई हो, ऐसा कदापि असम्भावित नहीं।

यद्यपि मैंने एक सम्भाव्य समाधान प्रस्तुत किया है, मैं फिर भी कहना चाहूँगा कि मैं स्वयं कोई कारण नहीं देखता कि क्यों हम इस पर विश्वास न करें कि उस समय श्री राम दोनों भाइयों के बीच अन्तर नहीं कर पाये। श्री राम के कथन को न मानने का हमें कोई अधिकार नहीं है। परन्तु यदि इस पर किसी प्रकार की सफ़ाई की खोज आवश्यक हो, तो कदाचित् मेरा सुझाव भी उतना ही विचारणीय होना चाहिए, जैसा कोई अन्य।

मैंने श्री राम के प्रकट साम्राज्यवादी सिद्धान्त का उल्लेख किया था, जिसे वे व्यक्त करते हैं, इस प्रकार :

इक्ष्वाकूणामियं भूमिः सशैलवनकानना।
मृगपक्षीमनुष्याणां निग्रहप्रग्रहावपि।।
तां पालयति धर्मात्मा भरतः सत्यवानृजुः।
धर्मकामार्थतत्त्वज्ञो निग्रहानुग्रहे रतः।।
तस्य धर्मकृतादेशा वयमन्ये च पार्थिवाः।
चरामो वसुधां कृत्स्नां धर्मसंतानमिच्छवः।।
ते वयं धर्मविभ्रष्टं स्वधर्मे परमे स्थिताः।
भरताज्ञां पुरस्कृत्य निगृह्णीमो यथाविधि।। IV.18.6,7,9,11

"सम्पूर्ण पृथ्वी इक्ष्वाकुओं की सम्पत्ति है। पर्वत, वन और काननों से युक्त सारी पृथ्वी इक्ष्वाकु राजवंशी राजाओं की है। अतः वे वहाँ के पशु–पक्षी और मनुष्यों पर दया करने के अधिकारी हैं। धर्मात्मा राजा भरत इस पृथ्वी का पालन करते हैं। उनकी ओर से हमें तथा दूसरे राजाओं को यह आदेश प्राप्त है, जिसके अनुरूप हम लोग धर्म प्रचार की इच्छा से स्वच्छन्द विचरते हैं। हम लोग, भरत की आज्ञा को सामने रखते हुए, धर्म–भ्रष्ट पुरुषों को विधिवत दंड देते हैं।"

वे स्वयं आपको एक 'पार्थिव' कहते हैं, इस अर्थ में नहीं कि वे एक वास्तव में एक शासनकर्ता थे, किन्तु वे एक शासक राजा के सम्बन्धी थे, अतएव उन्हें अधिकार प्राप्त था कि जब आवश्यकता हो या धर्म के विपरीत कोई बात हो, तो वे शासक के प्रतिनिधि रूप में कार्रवाही कर सकते हैं। "क्योंकि मैं भी अयोध्या के राजपरिवार का सदस्य हूँ, यह सब जगह मेरे न्याय–अधिकार के क्षेत्र में है और दोषी को मैं दंड दे सकता हूँ।" आप कहेंगे, ऐसा कहना तो सत्ता और प्रभुत्व का सर्वथा अनाधिकार ग्रहण है, जो किसी भी प्रकार से न्यायसंगत नहीं माना जा सकता। भरत ने राम को कभी भी अपना प्रतिनिधि नियुक्त नहीं किया था, किन्तु गोविन्दराज की टिप्पणी इस प्रकार है :

यद्यपि भरतेन नादेशः कृतः तथाऽपि नेदमसत्यम्।

यद्यपि भरत ने ऐसा कोई आदेश नहीं दिया, फिर भी हमें इसे असत्य नहीं कहना चाहिए।

यथाकथंचिद्भरतेन राज्यभरणस्य स्वीकृतत्वात्तदन्येषां तत्कुलीनानां तदादिष्टत्वं सिद्धिमिति हृदयम्।

गोविन्दराज कहते हैं कि इस तथ्य से कि भरत ने प्रभुसत्ता धारण कर ली है, उनके सभी सम्बन्धी प्रभुसत्ता के भागीदार बन जाते हैं। भरत की अनुपस्थिति में वे वही कार्यवाही कर सकते हैं और उनको अवश्य करनी भी चाहिए, जैसे कि भरत स्वयं विद्यमान होते।

तिलक की टिप्पणी कुछ थोड़ी अधिक चतुरतापूर्ण है। वे उनमें से कुछ बिन्दुओं को पहले से ही उठाते हैं, जिनको हम उठाने जा रहे हैं। पहली बात तो यह है कि श्री राम स्वयं ऐसा कहते हैं कि उन्हें ऐसा कार्य करने का अधिकार भरत से प्राप्त है। यद्यपि हमारी जानकारी में तो भरत ने कोई ऐसा अधिकार नहीं दिया था, तथापि श्री राम के कार्याधिकार कथन से ऐसे के अस्तित्व को अनुमानतः स्वीकार कर सकते हैं। दूसरी बात, वे कहते हैं, "क्योंकि भरत शासक है, उनके कुछ शासकीय अधिकार स्वयं ही उनके संबंधियों तक फैल जाते हैं। अतः राम भागीदार होने के नाते कार्यवाही कर सकते थे।" तीसरी बात, जो वे कहते हैं, वह वही है, जिसका उल्लेख मैं कर चुका हूँ अर्थात् भरत को राम ने अपना प्रतिशासक नियुक्त किया था। अतएव, राम जब वे चाहें, प्रदत्त अधिकार का प्रयोग स्वयं भी कर सकते हैं। वस्तुतः, जब भरत और राम का वाद–विवाद समाप्त हुआ, तब यह व्यवस्था निश्चित हुई थी कि वास्तविक दृष्टि से अर्थात् वैधरूप से श्री राम ही राजा रहेंगे और भरत उनके प्रतिनिधि। अतएव भरत प्रभुसत्ता प्रदत्त थे और अधिकार सौंपने वाला व्यक्ति निश्चित रूप से प्रतिशासक के स्थान कोई भी कार्यवाही कर सकता है। उनके अधिकार पर कोई आपत्ति नहीं की जा सकती।

अब मैं रूमा संबंधित अपने अन्तिम बिन्दु पर आता हूँ।

ज्येष्ठो भ्राता पिता चैव यश्च विद्यां प्रयच्छति। IV.18.13

राम बालि से कहते हैं, "बड़ा भाई, पिता, एवं गुरु जो विद्या देता है, वे सब पिता तुल्य माननीय पुत्र होते हैं। सुग्रीव तुम्हारा छोटा भाई है, तुम्हें उसको समान मानना चाहिए। जब तुमने उसकी पत्नी को हथियाया, वस्तुतः तुम अपनी पुत्रवधू के साथ अधर्म व्यवहार कर रहे थे।"

औरसीं भगिनीं वापि भार्यां वाप्यनुजस्य यः।। IV.18.22

"जो पुरुष अपनी कन्या, बहिन अथवा छोटे भाई की पत्नी के पास काम बुद्धि से जाता है, उसका वध करना ही श्रेयस्कर है।"

मैं इसकी चर्चा विशेष रूप से कर रहा हूँ, क्योंकि इसमें एक महत्वपूर्ण बिन्दु है। देवियों और सज्जनों! आपको स्मरण होगा 'रामायण' कथा में आगे, जब युद्ध के बाद राम द्वारा सीता को अंगीकार करने का समय आता है, श्री राम एक विकराल मुखाकृति

धारण कर लेते हैं। समस्त जन–समूह की उपस्थिति में सीता को बुलवाते हैं। फिर बड़ी गम्भीरता के साथ सम्बन्धविच्छेद और परित्याग का निर्णय उन्हें सुनाते हैं। यह केवल इस भय से की कहीं दुनिया वाले सीता के लिये, कुछ बुरा भला सोच कर, उन पर उंगली न उठायें। वे सीता से कहते हैं, "एक पूरे वर्ष पर्यन्त उस दुष्ट, निष्ठुर के व्यक्ति के नियन्त्रण में रहने के पश्चात् कौन विश्वास करेगा कि तुम पवित्र हो, यदि मैं ऐसा कह भी दूँ, तो क्या अन्य लोग ऐसा मान लेंगे? कदापि नहीं। अतः मैं तुम्हें अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार नहीं कर सकता।" क्योंकि हनुमान द्वारा प्रचुर, असंदिग्ध और पवित्र प्रमाण भी उनको मिल चुके थे कि सीता किस दशा में लंका में रही थीं और किस प्रकार रावण के विरुद्ध संघर्षरत रही थीं, ये सब साक्ष्य उनके पास मौजूद थे। तथापि थोड़ी देर तक उनके प्रति अविश्वास किया और अस्पष्ट और धुंधले सन्देह पर बड़ी निष्ठुरता से उन्हें स्वीकार करने से इन्कार कर दिया और बोले, "तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, चली जाओ। अब तुम से मेरा कोई प्रयोजन नहीं। अब तुम जो चाहो करो।" अब ज़रा स्मरण कीजिये, वे बालि से बार–बार कहते हैं कि वह '*भ्रातृभार्यापहारक*' है। "तुमने अपने छोटे भाई की स्त्री को छीन लिया है। "तुमने अपने छोटे भाई की स्त्री को छीन लिया है। तुमने अपनी पुत्रवधू को चुरा लिया है। तुम उसके साथ अवैध सहवास में रह रहे हो। तुम दुराचारी हो, तुम्हें दंड देना आवश्यक है और वह दंड है, मृत्युदंड।" ज़रा कल्पना कीजिये, उस समय सुग्रीव के मन में अपनी पत्नी के सतीत्व के विषय में कैसे विचार रहे होंगे, यह जानकार, स्वेच्छा या अनिच्छा से, वह उसकी पत्नी बनकर रह रही थी? फिर भी उसने राम से प्रार्थना की कि वे उसके भाई का वध करके उसकी पत्नी को वापस दिलवा दें। ऐसे पति और पत्नी के विषय में क्या कहा जा सकता है? राम स्वयं बालि से इस प्रकार कहते हैं, "तुम रूमा के साथ सहवास कर रहे हो।" अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसकी पवित्रता नष्ट हो चुकी थी। किन्तु सुग्रीव ने वास्तव में क्या किया? उसने रुमा से कोई अग्नि परीक्षा नहीं करवाई। एक दो दिवस प्रतीक्षा भी नहीं की। उसने सीधे–सीधे उसे ग्रहण कर लिया और जब लक्ष्मण श्री राम का भयंकर सन्देश लेकर सुग्रीव के पास पहुँचते हैं, तो वे उसे रुमा के साथ आलिंगन पाश में पाते हैं। जो उन्हें देखा, वह यह था :

रूमां तु वीरः परिरभय गाढं वरासनस्थो वरहेमवर्णः।
ददर्श सौमित्रिमदीनसत्वं विशालनेत्रः सुविशालनेत्रम्।। IV.33.66

सुग्रीव अपनी पत्नी रुमा को गाढ़ आलिंगन पाश में बाँधे हुए थे, ऐसा लक्ष्मण ने देखा।

यहाँ कवि अपनी विनोदशीलता के अनुरूप एक वैषम्य चित्रित करता है। वह दर्शाता है, दोनों ही लक्ष्मण और सुग्रीव के विशाल नेत्र थे (आश्चर्यचकित थे)। लक्ष्मण की आँखें तो इसलिये फटी की फटी रह गई क्योंकि उन्होंने ऐसा असाधारण दृश्य देखा, जिससे वे सर्वथा अननुभावी थे और क्योंकि लक्ष्मण ने एक अत्यन्त एकान्तिक

स्थिति में उन्हें देख लिया। स्त्री की पवित्रता के विषय में सुग्रीव को कोई अधिक संकोच न था। एक पत्नी, जो उसके भाई की रखैल बन कर रह चुकी थी, उसको वापस मिल जाने पर वह निस्संकोच उसे स्वीकार कर लेता है। मैं यह नहीं कहता कि ऐसी बातें वास्तविक रूप में नहीं होतीं। खेद का विषय है कि ऐसी बातें होती हैं। परन्तु कोई भी व्यक्ति, जिसकी पत्नी छिन गई हो, वह अन्य व्यक्ति से जाकर अपना ज़ोरदार दुःखड़ा नहीं रोयेगा ओर अपनी पत्नी को लौटाने के लिए उससे दोषी को मृत्युदंड देने को नहीं कहेगा। क्या वह केवल आभूषण एक थी अथवा एक मामूली वस्तु, जिसको कुछ समय के लिए दूसरे व्यक्ति ने हथिया लिया था? वह एक पत्नी थी– प्राणों से भी अधिक प्रिय। मुझे सुग्रीव के आचरण पर कोई अधिक आपत्ति नहीं। मैं तो केवल राम की स्पष्ट मानदंडों की असंगति की ओर आपका ध्यान खींचना चाहता हूँ। उन्होंने रुमा को, जो वास्तव में बालि के सहवास में रह चुकी थी, उसके असली पति को लौटा दिया और पति ने भी उसे स्वीकार कर लिया और उसके साथा पति की भाँति रहने लगा। उन्हें यह सब कुछ ज्ञात था और इसी प्रक्रिया में उन्होंने बालि का वध भी किया था। परन्तु अपनी पत्नी की प्रति अपना रवैया कितना क्या था। जबकि उनकी जानकारी केवल इतनी ही थी कि सीता असहाय वन्दिनी रही थी, एक ऐसे दुष्ट व्यक्ति के अधीन, जो अनेकों स्त्रियों के साथ बलात्कार के लिये और अन्य दूसरों के प्रति क्रूर व्यवहार के लिये, दुनिया भर में कुख्यात था। राम, रुमा और सुग्रीव के प्रति तो इतने विचारशील थे, किन्तु अपनी पत्नी के विषय में उनमें करुणा का लेशमात्र अंश भी नहीं था, वह भी ऐसी पत्नी के विषय में, जिसकी निर्दोषता (अग्नि परीक्षा के पश्चात्) दुनिया में चारों ओर घोषित हो चुकी थी।

◈◈◈

बारहवाँ अध्याय

राम

अब हम, रावण युद्ध के उपरान्त, सीता परित्याग के प्रसंग पर चर्चा करेंगे। बालि प्रसंग के समान ही 'रामायण' का यह अंश विशेष भी अत्यन्त विवादास्पद है। कुछ विद्वानों का मत है कि जिस प्रकार राम ने सीता का परित्याग किया, ऐसा करना आवश्यक नहीं था। अन्य लोग, जिनका विश्वास है कि राम कोई अनुचित बात कर ही नहीं सकते। वे यह समझने का प्रयास करते हैं कि और बातों की तरह इसमें भी उनका आचरण अनिन्द्य है। इतने पुराने समय की घटना के विषय में इस प्रश्न का निर्णय करना हमारे लिये कठिन है। कोई भी यह मानने का साहस नहीं कर सकता कि उसके द्वारा दी गयी टिप्पणी से एक ऐसे विषय का अन्तिम निर्णय हो गया, जो युग–युग से विवादास्पद बना हुआ है। फिर भी बुद्धिमान मनुष्यों की हैसियत से, जो 'रामायण' का अध्ययन श्रद्धाभाव से कर रहे हैं, हम सर्वविदित दृष्टिकोण का पुनरावलोकन कर लें। इस आशा से नहीं कि कोई नया प्रकाश मिलेगा, किन्तु इस विचार से कि हम यह जान लें कि दोनों पक्ष की ओर से क्या कुछ कहा जा सकता है।

आरम्भ में ही, दो बिन्दु, जो आदरणीय अध्येताओं द्वारा उठाये गये हैं, उनको स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। इनमें से एक विचित्र सा है, जिसके लिए कोई समर्थन वाल्मीकि से नहीं मिलता। इसका आधार कुछ अन्य रचनाएं हैं, जिनकी प्रमाणिकता कम है, किन्तु जो 'रामायण' की घटनाओं को सच्चे अर्थ में समझने का दावा करती हैं। उनके अनुसार सच्ची कथा इस प्रकार है कि जब रावण जनस्थान में सीता का अपहरण करने आया था, असली सीता अग्नि में प्रवेश करके अदृश्य हो गई। जो सीता परवर्ती कांडों में सामने आती हैं, श्री राम द्वारा परित्याग और अग्निपरीक्षा तक, वे माया रूपी सीता थीं। इस परिकल्पना का समर्थन कुछ वरिष्ठ विद्वानों द्वारा किया गया है और हममें से अधिकांश लोग ऐसे हैं, जो इस कहानी पर विश्वास करना पसंद करते हैं। परन्तु, ऐसा करने से कथा की सम्पूर्ण रसात्मकता ही समाप्त हो जाती है। सच बात तो यह है, एक केवल मायावी सीता की जीवन–कथा में हमें कोई गहरी अभिरुचि नहीं हो सकती। मेरे विचार में हमें स्वयं को यह विश्वास दिलाना अत्यन्त कठिन है कि जब राम और लक्ष्मण सीता के वियोग में विह्वल होकर विलाप करते हैं, जब वे सुग्रीव को सीता की खोज करने का अपना वादा पूरा न करने पर मृत्युदंड की

धमकी भी देते हैं, और तदनन्तर सीता को न पाकर बिलख–विलख कर रोते हैं, वे केवल मायावी सीता के लिए पूरे समय इतने व्याकुल रहे। मैं समझता हूँ यह एक बड़ी विचित्र बात है कि कोई भी ऐसा विश्वास करें कि इस कारुणिक महाकाव्य के अधिकांश भाग की सीता नक़ली थी और सीता यह जानते हुए भी, उसके भाग्यचक्र की घटनाओं में गहरी रुचि लें, उनके आनन्दित होने पर उल्लासित हों और उनके दुःखी होने पर दुःखी हों। मेरे विचार में तो यह एक असंभव स्थिति है। अतः मैं मायावी सीता की कथा को नितान्त निराधार मानता हूँ और उसे अस्वीकार करता हूँ। अन्यथा उससे पूरे नाटक में हमारी अभिरुचि समाप्त हो जाये।

एक अन्य छोटा सा बिन्दु है, जिसका उल्लेख आरम्भ में ही करना उचित है, जिससे सही दिशा से भटके बिना हम मूलपाठ को समझ सकें। कदाचित् यह ऐसा बिन्दु है, जिस पर मुझे आपकी उतनी सहमति भी मिले, जितनी कि मायावी सीता की कथा पर न हो। परन्तु, वास्तविकता चाहे जो कुछ भी हो, मैं अपनी अभिरुचि स्पष्टतया व्यक्त कर दूँ। मैं नहीं समझता कि मूलपाठ का उल्लेख आवश्यक है, परन्तु मुख्य बात यह है कि हमारे बीच कुछ रूढ़िवादियों का एक ऐसा वर्ग भी है, जो यह मानता है कि पुरुष जाति और स्त्री जाति के बीच अत्यन्त अधिक विषमता है। चरित्र और मानवीय सहानुभूति के विषय में स्त्री–पुरुष में बहुत अन्तर है। स्त्री, चाहे कितनी भी उदात्त क्यों न हो, कितनी भी पवित्र क्यों न हो, उसके लिए निजी प्रतिवाद वर्जित है, साहसी कथन वर्जित है, राय की स्वतंत्रता वर्जित है की स्वतंत्रता भी नहीं मिल सकती। ये लोग तो यहाँ तक भी मानते हैं कि अन्ततः सीता भी एक स्त्री थी, उन्हें पुरुषाधीन समझी जानी चाहिए। उन्हें किसी महत्वपूर्ण विषय पर अपना निजी दृष्टिकोण रखने का भी अधिकार नहीं था, विशेष क्षेत्रों में वे सही भी हो सकती थीं और ग़लत भी। परन्तु, प्रश्न सही और ग़लत का नहीं है, जिस पर लोग ध्यान देंगे। वे तो यही कहेंगे, "उनको स्वतंत्र रूप से कोई मत व्यक्त करने का अधिकार नहीं है।" इस पक्ष के समर्थन में वे मारीच के प्रसंग का स्मरण दिलाते हैं। जब मारीच राम को बहकावा देकर दूर तक ले गया और कुछ क्षण पश्चात् (राम के) स्वर में अत्यन्त कारुणिक कृतिम रोदन सुनने पर भी लक्ष्मण उस ओर जाने से संकोच करते रहे। उस समय सीता क्षुब्ध होकर इतना भूल बैठीं कि वे लक्ष्मण के प्रति अत्यन्त कटु और अशोभनीय शब्दों तक का प्रयोग करने लगीं। उन्होंने लक्ष्मण पर उनके पापपूर्ण व कलुष विचार रखने का भी घिनौना आरोप लगाया, उनके चरित्र को लांछित किया और अपनी छाती पीटनी आरम्भ कर दी। इस प्रकार उन्होंने लक्ष्मण को अन्ततः विवश कर दिया, उनकी चौकसी के कर्त्तव्य को छोड़कर राम की ओर जाने के लिये, उस व्यक्ति को अरक्षित छोड़, जिसकी सुरक्षा करने की आवश्यकता थी, उस व्यक्ति की सुरक्षा के लिये, जिसे किसी सुरक्षा की आवश्यकता नहीं थी। अपने आचरण से सीता ने लक्ष्मण– और इस सिद्धान्त के, कि पुरुष जाति स्त्री जाति से कहीं अधिक श्रेष्ठ है, समर्थक महानुभावों

को यहाँ तक कहने मजबूर किया कि सीता ने लक्ष्मण पर अनुचित लाँछन लगा कर अपने ऊपर इतना (*'उपपादितस'*) भारी पाप चढ़ाया कि तदनन्तर जो भी विपत्तियाँ आईं, वे सब इसी अपचार का दंड थीं।* मैं समझता हूँ कि यह सिद्धान्त और यह निष्कर्ष हमारे द्वारा माननीय नहीं है। आगे चल कर जब मैं सीता के चरित्र पर चर्चा करूँगा, तब एक दो शब्द उनकी सफ़ाई में कहूँगा, इस सन्दर्भ में भी, जहाँ उनके आचरण की आलोचना हुई है। इस समय तो इस परिकल्पित कहानी को भी दिमाग से निकाल दें कि कवि का अभिप्राय ऐसा था कि पाठक सीता की आपत्तियों को दंड के भिन्न–भिन्न प्रकारों के रूप में लें, जो उन्हें अपने आचरण की अमर्यादा के कारण भुगतने पड़े।

अब हम मूलपाठ का कुछ अनुसरण करें, बिल्कुल उस सीमा तक तो नहीं, जैसा पिछले अवसरों पर किया है, परन्तु जितना पर्याप्त हो इस कारुणिक व्यथा के दृश्य की अवधि में राम और सीता की मानसिक स्थिति दर्शाने के लिये ऐसा लगता है कि सीता के राम के सम्मुख उपस्थित होने से पूर्व ही राम के मन में एक प्रकार की उथल–पुथल आरम्भ हो गई थी। वे सीता को लाने के लिए विभीषण से कहते समय वे विशेष रूप से स्पष्टतया कहते हैं, "उनसे कहना, सिर से स्नान करके, अंगराग से सुवासित होकर और सब आभूषणों से विभूषित होकर मेरे सम्मुख आयें।" विभीषण उन्हें यह सन्देश सुना देते हैं। सीता कुछ द्विधा में पड़ जाती हैं। वे कहती हैं, "मैं जिस अवस्था मैं हूँ, उसी अवस्था में पति से भेंट करना अधिक पसंद करूँगी– मैली कुचैली, शोकार्त अश्रुपूर्ण, अभागिन। मुझे नहाने धोने और आभूषण धारण करने के लिए न कहिये, जैसे कि मैं यहाँ बड़े आनन्द और उल्लास में जीवन व्यतीत कर रही थी। जैसी मैं इस समय हूँ अर्थात् जिस अवस्था में मैं यहाँ रही हूँ, उसी अवस्था में मुझे उनके दर्शन करने दिया जाये।" विभीषण कदाचित् यह सोचते हुए कि वे पहले ही श्री राम के मुखमंडल पर परेशानी के चिह्न देख चुके हैं, सीता से कहते हैं, "मेरे विचार में तो उचित यही रहेगा कि आप अपने पतिदेव की आज्ञा का पालन करें।" इस प्रकार समझाये जाने पर कदाचित् उसको चेतावनी मानकर सीता ने वैसा ही किया, जैसा उनसे कहा गया। ऐसे अवसरों पर लोगों का शोर गुल एक सामान्य बात है। कुछ लोग हाथों में डंडे और लाठियाँ लिए सवारी के आगे–आगे चलकर लोगों को इधर–उधर हटने को कहते हैं। कदाचित् किसी–किसी पर डंडा भी पड़ जाता है, जिससे कोलाहल होने लगता है। उसी प्रकार वहाँ से हटाये जाते हुए वन वानरगण में भी कोलाहल होने लगा। यह सब कुछ राम को अच्छा नहीं लगा। उन्होंने क्रोधपूर्वक कहा, "इन लोगों को तंग मत करो। ये सब मेरे आत्मीय हैं। उन्हें सीता को देखने दो, इसमें कोई बुराई

* गोविंदराज की अग्नि प्रवेश के समय की टिप्पणी (VI.119.34,35) :

रावणागमनमारभ्य एतावत्पर्यन्तं सीतायाः। परमभागवतभूतलक्ष्मणापचारफलमुपपादितम्।।

नहीं। नारी तो अपने आचरण और चरित्र से ही सर्वथा सुरक्षित रहती है। ये बाह्य सुरक्षा की वस्तुयें– जो राजसी चिह्न हैं, एक राजसी घराने के ठाट–बाट और आडम्बर। ये सब अनावश्यक हैं। कनात् और चहार दिवारी आदि से कोई सुरक्षा नहीं। नारी के अपने निजी सदाचार ही उसके लिये श्रेष्ठ आवरण हैं। विपत्तिकाल में, शारीरिक या मानसिक पीड़ा के अवसरों पर, युद्ध में, स्वयंवर में, यज्ञ और विवाह आदि अवसरों पर स्त्री का दूसरों की दृष्टि में आना दोष की बात नहीं है। यह सीता इस समय विपत्ति में है, मानसिक कष्ट से भी संत्रस्त है। एक निर्मम युद्ध का तो अन्त हो गया है। विशेषतः वह इस समय मेरे पास है। इसलिये इसका परदे के बिना सबके सामने आना दोष की बात नहीं है। अतः जानकी पालकी छोड़कर पैदल ही मेरे सम्मुख आयें और ये भी वानर उनका दर्शन करें।" ऐसा कहकर राम बहुत क्षुब्ध दीखने लगे। यद्यपि वे कठोरता से बोल रहे थे, उनका सिर झुका हुआ था और एक ही दिशा में मुड़ा हुआ था। प्रत्यक्ष रूप में तो वे पर्दे की प्रथा के विरुद्ध बोल रहे थे, परन्तु वास्तव में वे इस बात से क्षुब्ध थे कि सीता को जनता से छिपाया ही क्यों जाये। उनका रुख देख कर जो लोग वहाँ उपस्थित थे, अत्यन्त व्यथित सहायक मित्र, सुग्रीव, विभीषण, स्वयं लक्ष्मण, सब को लगा, मानो वायुमंडल में विद्युत समा गई है। श्री राम की मनःस्थिति शान्त नहीं है, कुछ उलझन है। सीता उनकी ओर आ रही है, उन्हें पालकी से उतारा जाता है। श्री राम के आदेशानुसार वे कुछ पग चलकर श्री राम के समीप पहुँचती हैं। श्री राम के ठीक सम्मुख खड़ी सीता, अपने प्रियतम के सुन्दर मुख को, जिसके दर्शन से वे बहुत दिनों से वञ्चित थीं, उस मुखड़े को निहारने के लिये आतुर सीता और उसमें अपने भाग्य को भांपने के लिये उत्सुक सीता। उस सीता की कल्पना आप भलीभाँति कर सकते हैं। जैसे ही वे उनके मुख पर दृष्टिपात करती है, कोई अज्ञात आशंका उन्हें भयातुर कर देती है, जिसने वहाँ उपस्थिति सब लोगों को पहले से ही प्रभावित थे। सीता को भास होता है वे एक स्नेहमय प्रिय पति के संवेदनशील आलिंगन की ओर नहीं लौट रही हैं, जिनसे वह चिरकाल से बिछुड़ी हुई थीं। लगता तो ऐसा था, मानो वे एक उच्च–न्यायालय में प्रवेश कर रही हों, जहाँ किसी अपराधी को दंड सुनाया जाता था। जिस भाषण से श्री राम साक्षात्कार आरम्भ करते हैं (यदि आप इसे साक्षात्कार की संज्ञा देने में कोई हर्ज न मानें), वह सीता की घबराहट को शान्त करने वाला नहीं था। यह भाषण दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहले भाग में वे अपने सफल प्रयत्न प्रस्तुत करते हैं। वे बताते हैं कि अपने कर्त्तव्य को पूरा कर दिया, उन्होंने अपने वंश सुव्याख्यात इक्ष्वाकु कुल की मान मर्यादा को पुनस्थापित कर दिया, अपने पराक्रम की धाक बैठा दी और उन्होंने उस व्यक्ति का, उसके अनुचर सहित, विनाश कर दिया जिसने उनकी पत्नी का अपहरण करके उनका अपमान करने का दुस्साहस किया था। उस कलंक का परिमार्जन हो गया है। वे सीता को सम्बोधित करके कहते हैं, "तुम्हें मालूम हो कि मैंने यह युद्ध और इन मित्रों के पराक्रम से जो विजय प्राप्त की

है, यह सब तुम्हें पाने के लिये ही नहीं किया गया है, बिल्कुल नहीं।" जब वे ये शब्द कहते हैं, सीता तुरन्त समझ जाती है कि दुःखद भाग्य उनकी प्रतीक्षा कर रहा है। यहाँ कवि कहता है कि सीता ने अपनी दृष्टि ऊपर की ओर उठाई, उनकी आँखें उसी प्रकार का भीषण भय प्रकट करती प्रतीत हुईं, जैसे कोई व्याध (शिकारी) के प्रति हिरण अथवा हिरणी प्रकट करते हैं, जब व्याध उन पर अपना घातक बाण छोड़ देता है। तत्पश्चात् राम का प्रतिकूल रवैया कठोर से कठोरतम हो जाता है। वे एक कठोर दंडनायक की भाँति अपनी भृकुटी सिकोड़ते हैं। और इस प्रकार कठोर वचन बोलते हैं :

स बद्ध्वा भ्रुकुटीं वक्त्रे तिर्यक्प्रेक्षितलोचनः।
अब्रवीत् परुषं सीतां मध्ये वानरराक्षसाम्।। VI.118.12

फिर श्री राम का हृदय दो टूक हो गया।

पश्यन्तीं तु रामस्य समीपे हृदयप्रियाम्।
जनवादभयाद् राज्ञो बभूव हृदयं द्विधा।। VI.115.11 (मुंबई संस्करण)

उनके प्राणवल्लभ उन्हें अपने समीप देख रहे थे। परन्तु लोकापवाद के भय से उनका हृदय विदीर्ण हो रहा था। तत्पश्चात् उनके मुख से ऐसे शब्द निकालते हैं, जिनको आज भी, समय की दूरी के बावजूद, पढ़ने में अत्यन्त कष्ट होता है।

प्राप्तचारित्रसन्देहा मम प्रतिमुखे स्थिता।
दीपो नेत्रातुरस्येव प्रतिकूलासि मे दृढम्।। VI.118.17

"तुम्हारे चरित्र पर कलंक है।" क्या कोई कल्पना कर सकता है कि वे स्वयं इस प्रकार कह रहे हैं? "चरित्र में सन्देह का अवसर उपस्थित है। सन्देह के बादल उस पर छा गये हैं। फिर भी तुम मेरे सामने खड़ी हो, उससे मेरी आँखों में दुखन हो रही है। जैसे आँख के रोगी को दीपक की ज्योति नहीं सुहाती, उसी प्रकार तुम आज अत्यन्त अप्रिय लग रही हो।"

इस सन्दर्भ में एक टीकाकार बड़ी चतुराई से टिप्पणी करता है कि इस उपमा द्वारा राम स्वयं अपने आपको निन्दित करते हैं। इस उपमा के अनुसार प्रकाश में तो कोई दोष नहीं है, प्रकाश बिल्कुल ठीक है, उसने किसी का कुछ नहीं बिगाड़ा। रोग है, तो इस मनुष्य की आँख में है। तो फिर सीता पर दोषारोपण क्यों? ख़ैर, यह तो एक क्रूर परिहास मात्र है। इससे कुछ बनता नहीं।

तद्गच्छ ह्यभ्यनुज्ञाता यथेष्टं जनकात्मजे।
"जहाँ मर्ज़ी और जैसे मर्ज़ी जा सकती हो।"
एता दश दिशो भद्रे कार्यमस्ति न मे त्वया।। VI.118.18
"ये दसों दिशायें तुम्हारे लिये खुली हैं।"
कार्यमस्ति न मे त्वया।।
"मेरा तुमसे कोई प्रयोजन नहीं।"

कः पुमान् हि कुले जातः स्त्रियं परगृहोषिताम्।
तेजस्वी पुनरादद्यात्सुहृल्लेख्येन चेतसा।। VI.118.19

"कौन ऐसा कुलीन पुरुष होगा, जो तेजस्वी होकर भी परपुरुष के घर में लगभग एक वर्ष रही हुई स्त्री को पूरे विश्वास से, मन से ग्रहण कर सकेगा?"

रावणाङ्कपरिभ्रष्टां दृष्टां दुष्टेन चक्षुषा।
कथं त्वां पुनरादद्यां कुलं व्यपदिशन् महत्।। VI 118.20

"मैं सूर्यवंशी हूँ। मुझे गर्व है, मैं दशरथ की संतान हूँ, मैं रघुकुल में जन्मा हूँ। मुझे इस पर गर्व है। मैं तुम्हें कैसे ग्रहण कर सकता हूँ, जिसको लोगों ने कुछ समय तक रावण की गोद में देखा है।"

तदर्थं निर्जिता मे त्वं यशः प्रत्याहृतं मया।
नास्ति मे त्वय्यभिष्वङ्गो यथेष्टं गम्यतामितः।। VI.118.21

"मैंने जिस उद्देश्य से तुम्हें जीता था, वह पूरा हो गया। मैंने अपने पराक्रम से तुम्हें पुनः प्राप्त कर लिया। तुम्हारे बन्दीकर्ता उस दुरात्मा राक्षस से मोक्ष दिलाकर मैंने अपने यश को पुनः स्थापित कर लिया है। मेरे कुल के कलंक का परिमार्जन हो गया, जिसने कुछ समय के लिये मेरी प्रतिष्ठा पर कालिमा लगाई हुई थी।"

नास्ति मे त्वय्यभिष्वङ्गः
"अब मेरी तुम्हारे प्रति कोई ममता अथवा आसक्ति नहीं है।"
यथेष्टं गम्यतामितः
"अब तुम मुझसे अन्तिम विदा ले सकती हो और जहाँ भी जाना चाहो, जा सकती हो।"

इति प्रत्याहृतं भद्रे मयैतत् कृतबुद्धिना।

"भद्रे! मैंने इस विषय पर अच्छी प्रकार से सोच विचार कर लिया है। यह मेरा दृढ़निश्चय है। इसी के अनुसार आज मैंने तुम्हारे सामने ये बातें कही हैं," इतना कह कर उन्होंने सीता के लिये प्रतिवाद और विरोध के सब मार्ग बन्द कर दिए।

लक्ष्मणे भरते वा त्वं कुरु बुद्धिं यथासुखम्।।
सुग्रीवे वानरेन्द्रे वा राक्षसेन्द्रे विभीषणे।
निवेशय मनः सीते यथा वा सुखमात्मनः।। VI.18.22,23

वे चार जनों का उल्लेख करते हैं।* सीता से कहते हैं, "तुम चाहो, तो भरत अथवा लक्ष्मण के संरक्षण में सुखपूर्वक रहने का विचार कर सकती हो। तुम्हारी इच्छा हो, तो वानरराज सुग्रीव या राक्षसराज विभीषण के पास भी रह सकती हो। जहाँ तुम्हें

* मुंबई संस्करण के अनुसार शत्रुघ्न सहित पाँच का उल्लेख है।
"*शत्रुघ्ने वाथ सुग्रीवे राक्षसे वा विभीषणे।*" (VI.115.22,23)

सुख मिले, वहाँ आनन्दपूर्वक रहो, मुझे कोई आपत्ति नहीं। इनमें से तुम किसी को चुन सकती हो, अगर तुम चाहो।"

देखिये, सीता को कितनी स्वतंत्रता देते हैं, राम। यहाँ इतनी कठोर भाषा से उपहत होकर कुछ टीकाकारों को चिन्ता हुई है कि इन वचनों का कोई ख़राब अर्थ नहीं लगाया जाना चाहिए। अतएव वे कहते हैं कि यहाँ राम का आशय केवल यही हो सकता है कि सीता इन में से एक का चयन कर ले, जो उसे भरण–सत्ता दे सके, जिस से वह उसके पास जाकर इन में से एक के संरक्षण में रह सके। अतः टीकाकार कहता है, "राम का अभिप्राय ऐसा ही कुछ था।"* मेरे विचार में भाषा को कोमल बनाने की कोई आवश्यकता नहीं। राम ने जानबूझ कर कठोर बनना चाहते थे। वे बड़े रोष में थे, बड़े असंतुष्ट थे। उनके हृदय में एक प्रकार की उद्विग्नता थी। इसमें शक नहीं कि वे सीता के चरित्र पर सन्देह करते थे। इसीलिए वे कहते हैं, "तुम एक कलंक के साथ मेरे पास आयी हो, मैं तुम्हें किस प्रकार ग्रहण कर सकता हूँ? तुम्हें मैं पूरी आज़ादी देता हूँ। तुम मेरे योग्य नहीं हो।" जब कोई व्यक्ति क्रोध में बोलता है, वह कुछ भी बोल सकता है। हम सब जानते हैं कि एक क्रुद्ध व्यक्ति कुछ भी अनाप–शनाप बक सकता है। रोज़मर्रा के जीवन के क्या हम नहीं देखते कि एक ममतामयी माँ अपनी प्रिय पुत्री के केश उत्तम से उत्तम तेल और मुलायम से मुलायम कंघी का उपयोग करके प्रतिदिन प्रातः बड़े परिश्रम से संवारती है। केशों को दिन प्रतिदिन बढ़ते देखकर बड़े गर्व का अनुभव करती है। बड़े गर्व के साथ अपने पड़ोसियों से उनकी प्रशंसा करती है। क्या हमने सुना नहीं ऐसी स्त्री भी क्रोधावेश में यह कह देती है, "आग लगे तेरी इन लटों में?" ऐसी बातें हमारे अनुभव के बाहर नहीं। जब एक पिता क्रोध में हो, अथवा इसी बिन्दु पर है कि श्री राम भी एक माता कुपित हो या कोई पति रोष में हो, उस समय भाषा के प्रयोग में कोई मर्यादा नहीं रहती, उस पर कोई अंकुश नहीं रहता। सम्भवतः आप यह सोंचे, "क्या इस प्रकार की बातें हम राम पर भी आरोपित कर सकते हैं?" यदि आप मुझे समझ पायें हैं, तो स्पष्ट होगा कि मेरा पूरा अभिप्राय, मानवीय व्यक्ति ही थे। जबवे क्रोधावेश में होते थे, तो उस समय उनके मुँह से भी नासमझी की बातें निकल जाती थीं। जब वे शोकसन्तप्त होते तो बिलख–बिलख कर रोने लगते। उनकी मानवता को सन्देह नहीं। अतएव भाषा को कोमल बनाने की आवश्यकता भी नहीं। देखिए न, आगे वे क्या कहते हैं, उनके सुनिश्चित शब्द ये थे :

न हि त्वां रावणो दृष्ट्वा दिव्यरूपं मनोरमाम्।
मर्षयेत चिरं सीते स्वगृहे परिवर्तिनीम्।। VI.118.24

* गोविंदराज की टिप्पणी इस प्रकार है :

"अत्र लक्ष्मणादौ मनःकरणं नाम अनाथाया रक्षत्वेन तत्तद्गृहे वर्तनम्। भर्त्रा परित्यक्तायाः स्त्रिया बन्धुगृहे वासविधानात्। 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' इति स्मृतेः (मनु. 5.148)*। न त्वत्रान्यथा ग्रहीतुं युक्तम्। महापुरुषेण तादृशोक्त्योयोगात्।।"*

"तुम स्वयं जानती हो, तुम एक दिव्य सुन्दरी हो, पृथ्वी पर सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी हो, अत्यन्त मोहक हो। रावण एक बिल्कुल निरंकुश व्यक्ति है। वह निरा पशु है। क्या तुम्हारे कहने का यह अभिप्राय है कि तुम जो एक वर्ष पर्यन्त उसके घर में रही हो, पूर्णतया उसके वश में और उसकी दया पर दया निर्भर, वह तुम्हें भ्रष्ट किये बिना रह सकता था? क्या इसकी सम्भावना हो सकती है? यह कठोर प्रश्न वे करते हैं : *"'न हि त्वां रावणोः'* वह कदापि एक वर्ष तक अपने को वश में नहीं रख सकता। क्या ऐसी सम्भावना हो सकती है? यह कल्पना भी करना कोरी बकवास है। फिर *'स्वगृह,'* जब हर क्षण तुम उसके पूरे अधिकार में हो।" ध्यान देने की बात है कि सीता के आचरण के विषय में अशोकवन का अकाट्य साक्ष्य श्री राम को पूर्वमेव ही मिल चुका है। उनके अपने विश्वसनीय दूत हनुमान स्वयं अपने नेत्रों से सीता को देखकर आये थे और वहाँ का विवरण श्री राम को सुनाया था कि किस प्रकार उन्होंने रावण और उसके प्रणय सम्बन्धी प्रस्तावों उसकी अवज्ञा की थी। वे सदा ही राम नाम का बड़ी श्रद्धा से जाप करती रहती थीं। "उन (श्री राम) को मेरे विषय में बताना, मैं निरन्तर उन्हीं के ध्यान में लीन हूँ। मेरे मन में कोई अन्य विचार आता ही नहीं। मैं केवल उन्हीं के निमित्त जीवित हूँ। उन्हें बता देना कि मैंने रावण से प्रण लिया है कि वह एक वर्ष तक मेरा स्पर्श नही करेगा, और मैं आशा करती हूँ कि इस वर्ष की पूर्ति के पूर्व ही मुझे बचा लिया जायेगा।" इसलिये, यह मानने का कोई कारण नहीं है कि रावण ने उनका स्पर्श किया होगा । रावण ने उन्हें एक वर्ष तक की छूट दी हुई है कि रावण को शाप था यदि वह किसी स्त्री के साथ उसकी इच्छा के विरुद्ध बलात्कार करने की चेष्टा करेगा, तो उसका सिर फट कर टुकड़े–टुकड़े हो जायेगा। यदि यह भी मान लिया जाये कि राम को इस बात की जानकारी नहीं थी, किन्तु यह तो निश्चित था कि वे हनुमान द्वारा सुन चुके थे कि उन राक्षसियों द्वारा घिरी हुई सीता किस प्रकार का जीवन जी रही थी। वे केवल इसी आशा में जी रही थी कि राम उनका उद्धार करेंगे और उनका बचाव छूट की अवधि की समाप्ति से पहले ही हो जायेगा। ये सब प्रमाण उनके सामने थे। फिर भी उन्होंने इस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया। बाद में जब अग्निपरीक्षा समाप्त हो गयी, बड़े बड़े देवताओं की उपस्थिति में, स्वयं अग्निदेव ने प्रकट होकर, वैदेही को श्री राम को समर्पित कर दिया यह कहते हुए, "यह आपकी धर्मपत्नी सीता है, इसे ग्रहण करो। यह पवित्र है, अक्षरशः पवित्र है। इसने कोई पाप नहीं किया है। इसने ऐसा कुछ नहीं किया, जिसे तुम्हारे प्रति अपतिव्रत्य कहा जा सके। राम, इसे ग्रहण करो।" वे उनको सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं। बातों–बातों में वे यह भी कहते हैं, "वास्तव में मैंने सीता के चरित्र पर सन्देह नहीं किया था। क्या मैं नहीं जानता था कि वह अपने स्वयं के सतीत्व की ज्वाला से ही रावण को भस्मात् कर सकती थी, यदि उसने बलात्कार का प्रयत्न किया भी होता? क्या मैं यह नहीं समझता कि रावण ने अपने प्राणों को ही संकट में डाल दिया होता, यदि उसने कोई कुचेष्टा की होती?" ये बड़ी–बड़ी बातें वे बाद में

कहते रहे जब सीता उनको सर्वोच्च प्रमाणिकता से सौंप दी गई थीं। यदि आप इन बाद के कथनों को शत प्रतिशत मान्यता दें, तो उनके उस वक्तव्य में, जब उन्होंने सचमुच सीता को अस्वीकार किया था, कुछ कुटिलता और निष्ठुरता का आरोप भी श्री राम पर लगाना चाहिए। ये दोनों बातें सरसरी दृष्टि से तो परस्पर विरोधी हैं, । परन्तु, इसको सही अर्थों में समझाने का तरीक़ा यह है कि राम डावांडोल स्थिति में थे। अपने हृदय को टटोलिए और कल्पना कीजिये कि यदि आप ऐसी परिस्थिति में होते, तो क्या करते? आप भी उलझन में पड़े होते। एक ओर तो वे यह महसूस कर रहे थे, जहाँ तक सीता का सम्बन्ध है, सब कुछ ठीक है। उस पर अभद्र लान्छन लगाना अनुचित है। किन्तु, दूसरी और उनका ध्यान अन्य सम्भावनाओं की ओर भी गया। उन्होंने रावण की अनैतिक दुष्टता के विषय में सोचा, जिसका अन्तःपुर दुनिया भर से लाई हुई स्त्रियों से भरा हुआ था। यह सोचते हुए, जब उनका ध्यान उस सुन्दरी की ओर गया, जो उनके सम्मुख खड़ी थी, उनके क्रोध ने उन्हें अभिभूत कर लिया। वे इस प्रकार की द्वन्द्वात्मक भावनाओं के बीच डाँवाडोल थे। पहले पहल बदतर भावना उभर आई। वे पूर्णतया अभिभूत हो गए और उनके प्रभाव में सीता का घोर अपमान किया जो सहनशीलता से इन आशय से परे था। तत्पश्चात् लोक के सम्मुख उनका परित्याग कर दिया। यह परित्याग था, इसमें कोई सन्देह नहीं। परवर्ती भी सच्चा था। इसमें कोई सन्देह नहीं। परवर्ती पछतावा भी सच्चा था। पाठक ज़रा स्वयं का हृदय टटोलें और आप स्वयं भी अनिश्चित हैं और बाद में जब सब कुछ ठीक हो जाये और आपके चारों और लोग मुस्कराते हुए हों और आप अपनी पीठ भी थपथपाना चाहे, अपने अच्छे आचरण के लिये, तब क्या आप नहीं कहेंगे, "यह तो मैं पहले से ही जानता था। मेरी अन्तरात्मा कहती थी कि वह पवित्र है। मेरे सन्देह करने का कोई कारण नहीं था?" कहने का अर्थ यह है कि पहले नकारात्मक भावना का प्रभाव हुआ। इसके विपरीत भावना उभरी, जब सूर्य आलोकित हो गया का प्रकाश गया और समस्त जगत में सब कुछ ठीक ठाक हो गया। ऐसा मानने में कोई कपट था दोनों बार ही वे निष्कपट थे। केवल एक समय वे एक प्रकार की भावना से प्रभावित थे और दूसरे समय अन्य प्रकार की भावना से प्रेरित। इसमें कुछ भी अस्वाभाविकता नहीं। इस ऊपरी असंगति को समझने का केवल यही तरीक़ा है। वास्तव में मेरे मन में कोई सन्देह नहीं कि कवि का आशय भी यही दिखलाने का है कि राम भी अन्य मनुष्यों के समान ही थे। ऐसे दारुण और कष्टकर क्षणों में नकारात्मक भावना का उन पर ज़ोर रहा। परन्तु बाद में सशक्त प्रमाण मिलने पर, जब कुछ समय तक सारी दुनिया तुम पर उलटा घूम कर कहने लगती है, "अरे! तुमने कितने बड़े मूर्ख रहे हो," तुम कहने लगते हो, "नहीं नहीं, मैं मूर्ख नहीं था, मैं तो आरम्भ से ही यह बात जानता था।" हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि यद्यपि सीता के प्रति प्रथम कथन में ही इस प्रकार के कठोर मनोभाव एक के बाद एक प्रकट हुए, तथापि उनमें ऐसा कोई आदेश नहीं था कि सीता को किसी

प्रकार की परीक्षा देनी होगी अथवा कोई प्रमाण प्रस्तुत करना होगा। प्रमाण तो उन्होंने अपने लिये पहले से ही बना लिया था और उसी के अनुसार उनका आचरण भी था। सीता को दोषी ठहरा कर उनको चले जाने को कहा, जहाँ कहीं उनकी इच्छा हो। उन्होंने यह भी कहा, "मेरे लिए तुम्हारी कोई उपयोगिता नहीं है," जिसका आशय लगभग ऐसा ही था कि, "यदि तुम मर भी जाओ, तो मेरे लिये कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। तुम्हें कुछ भी हो जाये, मुझे कुछ मतलब नहीं।" यह कहकर उन्होंने अपनी सफ़ाई स्वयं देने के लिये बिल्कुल सीता पर छोड़ दिया। इस बात पर अपनी अप्रसन्नता प्रकट करते हुए वे दृढ़तापूर्वक कहती है कि एक कुलीन पति को कुलीन पत्नी के प्रति ऐसी भाषा का प्रयोग शोभा नहीं देता। रावण द्वारा स्पर्श के आरोप का यह कहते हुए खंडन करती है कि उस समय वे परवश थीं। वे कहती हैं :

यद्यहं गात्रसंस्पर्शं गतास्मि विवशा प्रभो।
कामकारो न मे तत्र दैवं तत्रापराध्यति।। VI.1198

"रावण के शरीर से जो मेरे इस शरीर का स्पर्श हुआ, वह मेरी विवशता थी। मैंने ऐसा स्वेच्छा से नहीं किया था। मैं बिल्कुल असमर्थ थी, यह मेरे दुर्भाग्य का दोष है। क्या यह सब कुछ आप समझते नहीं? फिर भी आप मुझसे ऐसी बातें कह रहे हैं, मानो मैं एक ऐरी–ग़ैरी नारी हूँ और आप एक साधारण पति।"

सीता कड़े शब्दों में उपालम्भ उत्तर देते हुए, कहती हैं :

न तथास्मि महाबाहो तथा त्वमवगच्छसि।
प्रत्ययं गच्छ मे येन चारित्रेणैव ते शपे।। VI.119.6

"आप मुझे जैसा समझते हैं, वैसी नहीं हूँ। मुझ पर विश्वास कीजिये। मैं अपने सदाचार की शपथ खाकर कहती हूँ कि मैं सन्देह योग्य नहीं हूँ।" वे एक अपतिव्रता स्त्री की भाषा नहीं बोलतीं।

पृथक्स्त्रीणां प्रचारेण जातिं तां परिशङ्कसे।
परित्यजेमां शङ्कां तु यदि तेऽहं परीक्षिता।। VI.119.7

"निम्न श्रेणी की स्त्रियों के आचरण देखकर यदि आप समूची स्त्री जाति पर ही सन्देह करते हैं, यह उचित नहीं। यदि आपने मुझे अच्छी प्रकार परख लिया हो, तो इस सन्देह को मन से निकाल दीजिए।"

उनकी किसी प्रकार की अनुमय–विनय का श्री राम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। यह देखकर कि उनके आकृति पर किसी प्रकार का लचीलापन नहीं आया, न ही कठोरता में किसी प्रकार की कमी आई, वे लक्ष्मण की और उन्मुख होकर कहती हैं :

चितां मे कुरु सौमित्रे व्यसनस्यास्य भेषजम्।
मिथ्योपधातोपहता नाहं जिवितुमुत्सहे।। VI.119.18

"अब मेरे लिए अग्निपरीक्षा के अतिरिक्त कोई और विकल्प नहीं है। अग्नि प्रज्ज्वलित करो। अब मुझे अग्नि देवता ही शरण देंगे। इस प्रकार की दुर्गति का केवल यही उपचार है, एकमात्र उपचार है। मेरे लिये चिता तैयार कर उसे प्रज्ज्वलित कर दो। मेरे इस दुःख का केवल यही उपचार है। मिथ्या कलंक से कलंकित होकर मैं जीवित नहीं रह सकती, प्रमाद शोक और अतीव भय के कारण।"

कवि कहता है, यद्यपि आदि दर्शकगण, लक्ष्मण, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान, शाश्वत बुद्धिमानी के आगार ऋक्षराज, जाम्बवंत आदि पर सन्नाटा छा गया, पर विरोध में एक भी आवाज़ न उठी। राम के व्यवहार के विरुद्ध किसी को बोलने की हिम्मत न हुई। कवि के ये शब्द हैं :

न हि रामं तदा कश्चित्कालान्तकयमोपमम्।
अनुनेतुमथो वक्तुं द्रष्टुं वाप्यशकत्सुहृत्।। VI.119.22

"उस समय श्री राम प्रलयकालीन संहारकारी यमराज के समान सब लोगों के मन में भय उत्पन्न कर रहे थे। उनका कोई भी मित्र उन्हें समझाने अथवा कुछ कहने का साहस न कर सका।"

प्रत्येक व्यक्ति ने अपना मुँह दूसरी ओर मोड़ लिया। उन्होंने श्री राम के चेहरे की ओर देखा तक नहीं। उनके चेहरे की ओर देखने तक से वे डरते थे, सभी काँपने लगे। मैं आपको पहले ही बता चुका हूँ, श्री राम अपनी नैतिक सर्वोच्चता की धाक सारी दुनिया में जमा चुके थे। इसका प्रमाण भी है कि वे जो कुछ चाहें, कर सकते थे। उनकी अनुचित बात के विरोध में किसी का कुछ कहने का साहस नहीं होता था। इसी प्रकार की बात फिर उत्तर कांड में भी होती है, जिसका उल्लेख मैं अभी करूँगा। मानो यह प्रदर्शित करने के लिये कि जब यह सम्पूर्ण कारुणिक दृश्य खेला जा चुका था, तब इस घटना से सबके हृदय करुणाविह्वल हो चुके थे और सब लोग मेल–मिलाप के लिये उत्सुक थे। कवि कहता हैं, देवताओं के मध्य उनके पिता वृद्ध राजा दशरथ स्वयं इन्द्रलोक से विमान द्वारा मृत्युलोक में आकर दर्शन देते हैं। वे राम से बातचीत करते हैं और फिर सीता की ओर उन्मुख होते हैं। सीता को *'बेटी'* कहकर पुकारते हैं, न कि *'पुत्रवधू।'* धीरे–धीरे मधुरवाणी में कहते हैं (मानो उनके लिये सफ़ाई देना आवश्यक था) :

कर्त्तव्यो न तु वैदेही मन्युस्त्थागमिमं प्रति।
रामेण त्वद्विशुद्ध्यर्थं कृतमेतद्धितैषिणा।। VI.112-34

"तुम्हें श्री राम द्वारा परित्यक्त होने पर अप्रसन्न नहीं होना चाहिए, न ही उन पर क्रुद्ध होना चाहिए। वे तुम्हारे हितैषी हैं। वे तुम्हारा हित करने के लिए उत्सुक थे। संसार के सामने तुम्हारे चरित्र की पवित्रता स्पष्ट करने के लिये ही उनसे ऐसा कहलवाया गया था, कहीं चली जाओ, अब मेरे लिये तुम्हारा कोई उपयोग नहीं। इन शब्दों को अक्षरशः न लो और इस कारण राम से अप्रसन्न न होओ।"

यह प्रसंग भी श्री राम के हृदयपरिवर्तन के बाद का है। ये सब घटना के बाद की ही बातें है। जब एक कारुणिक घटना घर चुकी थी, सीता का हृदय एक बार नैराश्य से छटपटा चुका था और फिर सब कुछ ठीक–ठाक हो गया था, तब निश्चय ही सब लोग इस घटना को एक सकारात्मक दृष्टि से देखने के लिये उत्सुक है और यह कहने के लिये कि अब सब कुछ ठीक ठाक हो गया है, "किसी के प्रति दुर्भावना नहीं रखनी चाहिए। अवश्य ही सब लोगों का प्रयोजन अच्छा ही रहा होगा।" इस अवसर पर राम के व्यवहार के मूलाधार को समझना होगा। सीता के प्रति उनके मन में अपातिव्रत्य का सन्देह अवश्य था। चाहे यह सन्देह निराधार ही था, यह उनके हृदय में कसक रहा था।

उत्तर कांड के सीता परित्याग की दूसरी घटना में कोई भारी औचित्य नहीं था। जो कुछ भी हुआ, उसका कारण तो अयोध्या की प्रजा का गली–गलियारों में निन्दात्मक मिथ्यापवाद था। श्री राम के पास इस प्रकार की सूचनायें पहुँचीं कि अयोघ्या के प्रजाजन उनके आचर पर मुक्त रूप से टीका–टिप्पणी कर रहे थे और एक–दूसरे से इस प्रकार की बातें कर रहे थे :

शृणु राजन् यथा पौराः कथयन्ति शुभाशुभम्।
चत्वारापणरथ्यासु वनेषूपवनेषु च।। VII.43.13

सुनिए राजन्! पुरवासी जन बाज़ार में, सड़कों पर, वन–उपवनों में खुलकर आपके विषय में शुभाशुभ बातें करते हैं। इन का इतना साहस हो गया है कि श्री राम और सीता के विषय में परिचर्या करते हुए वे आपस में कहते हैं, "उनके हृदय में सीता–सहवास जनित सुख कैसा लगता होगा, जिस सीता को रावण ने बलपूर्वक गोद में उठा कर अपहरण किया था और वह कुछ समय तक रावण के घर में भी रही?"

कीदृशं हृदये तस्य सीतासंभोगजं सुखम्।
अङ्कमारोप्य तु पुरा रावणेन बलाद्धृताम्।। VII.43.17

"तो भी श्री राम उनसे घृणा क्यों नहीं करते, उनके साथ वे आनन्द कैसे उठाते हैं? कल या परसों, यदि हमारी स्त्रियाँ भी दुराचार करें, तो हमें भी स्त्रियों की ऐसी बातें सहनी पड़ेंगी क्योंकि राजा जैसा करता है, प्रजा भी उसका अनुसरण करने लगती है।"

अस्माकमपि दारेषु सहनीयं भविष्यति।
यथा हि कुरुते राजा प्रजा तमनुवर्तते।। VII.43.19
एवं बहुविधा वाचो वदन्ति पुरवासिनः।
नगरेषु च सर्वेषु राजञ्जनपदेषु च।। VII.43.20

"चाहे आप नगरों की सड़कों पर जायें अथवा जनपद के देहातों में जायें। इस प्रकार की बहुत–सी बातें पुरवासी कहते हैं," जब इन बातों का विवरण श्री राम को दिया गया, निस्सन्देह स्वाभाविक था कि वे सोच में पड़ गये। भाइयों के समक्ष सर्वत्र

फैले हुए अपवाद की चर्चा करते हुए वे कहते हैं, "क्या ऐसी बेतुकी बातें फिर भी हो सकती है? पहले मुझे भी ज़रा सा सन्देह हुआ था, किन्तु सीता तो अग्निपरीक्षा दे चुकी हैं, जब सारी दुनिया देख रही थी। समस्त देवतागण ने उनकी पवित्रता को आकर प्रमाणित किया था।"

लङ्काद्वीपे महेन्द्रेण मम हस्ते निवेशिता।
अन्तरात्मा च मे वेत्ति सीतां शुद्धां यशस्विनीम्।। VII.45.10

"तभी मैंने उनका ग्रहण किया क्योंकि साक्षात् देवराज महेन्द्र ने आकर उनको मेरे हाथों में सौंपा था (अग्निदेव के बजाय, वे अब महेन्द्र हो जाते हैं)। मेरी अन्तरात्मा भी यशस्वनी सीता को शुद्ध समझती है। एक नेकनाम और एक बदनाम में बहुत अन्तर है।"

पारौपवादः समहांस्तथा जनपदस्य च।
अकीर्तिर्यस्य गीयते लोके भूतस्य कस्यचित्।।
पतत्येवाधर्माल्लोकान् यावच्छब्दः प्रकीर्त्यते।
अकीर्तिर्निन्हाते देवैः कीर्तिर्लोकेषु पूज्यते।। VII.45.12,13

"किन्तु, अब यह महान लोकापवाद फैलने लगा है। पुरवासियों और जनपद के लोगों में मेरी बड़ी निन्दा हो रही है। इसलिए मैं बहुत दुःखी हूँ। जिस व्यक्ति की अपकीर्ति लोक में चर्चा का विषय बन जाती है, वह अधम लोकों में गिर जाता है।"

श्री राम के अनुसार यह मानना पड़ेगा कि यदि कुछ लोग यह धारणा बना लें कि एक व्यक्ति विशेष का आचरण दूषणीय है और उसकी निन्दा करने लगें, तो ऐसा व्यक्ति नर्कवास करेगा– चाहे यह न्यायपूर्ण हो अथवा अन्यायपूर्ण। कवि इस विषय में कुछ नहीं कहता। ऐसा लगता है, इसके लिये केवल यही पर्याप्त है कि कुछ गिने चुने लोगों द्वारा आप निन्दित किये जायें, चाहे वे झूठ ही आपके विरुद्ध बदनामी फैला रहे हों। और जब तक पृथ्वी पर उसके अपयश की चर्चा होती है, तब तक वह नर्क में ही पड़ा रहता है। ऐसे लोग देवताओं द्वारा भी परित्यक्त हो जाते हैं। देवतागण लोक में अपकीर्ति की निन्दा और कीर्ति की प्रशंसा करते हैं।

कीत्यर्थं तु समारम्भः सर्वेषां सुमहात्मनाम्।
अप्यहं जीवितं जह्यां युष्मान् वा पुरुषर्षभाः।।
अपवादभयाद्भीतः किं पुनर्जनकात्मजाम्। VII.45.14,15

"समस्त श्रेष्ठ महात्माओं का सारा शुभ आयोजन उत्तम कीर्ति की स्थापना के लिये ही होता है," ये शब्द तीनों भाइयों को सम्बोधित करके कहे गये। जैसे ही उन्होंने इन अपवादों को सुना, श्री राम ने उन्हें बुलाया। वे कहते हैं, "बन्धुओं! मैं लोकनिन्दा से इतना भयभीत हूँ, यदि आवश्यक हो, तो मैं अपने प्राणों को और तुम सबको भी त्याग सकता हूँ।"

किं पुनर्जनकात्मजाम् VII.45.15

"फिर सीता को त्यागना कौन–सी बड़ी बात है?"

ध्यान देने की बात है कि इस क्रमस्थापन में सीता का क्या स्थान निर्धारित किया गया है। "मैं तुम्हें समाप्त कर दूँ, स्वयं को समाप्त कर दूँ, अपने नाम को लोकापवाद से बचाने हेतु।" सीता? उसका त्याग इतनी बड़ी बात नहीं है, जितना कि भाइयों का त्याग करना। क्योंकि जैसा मैंने पहले भी बताया था उस प्राचीनकाल में मान्यता थी कि नारी केवल पति की निजी सम्पत्ति है, जिस पर पति का पूर्ण अधिकार था। यह स्वामित्व की धारणा दूर तक जती है। यदि रावण जैसे व्यक्ति द्वारा उसके प्रति कोई अशिष्ट व्यवहार किया गया है, और उसका चरित्र कलंकित हो गया है, तो क्षति उसकी नहीं हुई, वरन् उसके पति के नाम की हुई है। उसका नाम बिगड़ गया, उसकी प्रतिष्ठा चली गयी, उसका कुल बदनाम हो गया। अतः उसके लिये प्रतिशोध लेना आवश्यक है। यह पुराना मत है। (अनेक समाजों में यह प्रथा अब भी प्रचलित है)। आपको इस बात को स्वीकार करना होगा, जब हम इन पुरानी कहानियों और वीरगाथाओं के सम्बन्ध में बात करते हैं, जहाँ इर्ष्या या सन्देह के प्रभाव में अनेक जघन्य अपराध कर दिये जाते हैं। इन लोगों के विषय में कोई धारणा बनाते समय हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि उस समय नारी के स्वतन्त्र अस्तित्व की मान्यता नहीं थी। यह स्पष्ट करने के लिये कि राम के इस परिस्थिति में व्यवहार को सही रूप में समझने का यही ढंग है। मैं एक अन्य महान कवि, कालिदास का साक्ष्य प्रस्तुत करता हूँ। बात ऐसी नहीं कि मैं तुलसीदास को वाल्मीकि की अपेक्षा अधिक मान्यता देता हूँ, किन्तु केवल इस दृष्टि से कि वाल्मीकि का इस सन्दर्भ में सही अर्थ लगाने के लिये हमारा आधार विश्वसनीय है क्योंकि स्वयं कालिदास जैसा महान व्याख्याता भी ऐसा कहता है :

निश्चित्य चानन्यनिवृत्ति वाच्यं त्यागेन पत्न्याः परिमार्ष्टुमैच्छत्।

यह निश्चित करके कि अपने नाम पर लगे इस कलंक को दूर करने का कोई अन्य उपाय नहीं था, सीता परित्याग के अतिरिक्त राम अपनी 'अनन्यवृत्ति', प्रतिष्ठा और महान ख्याति को पुनः स्थापित करना चाहते हैं। इसके बाद कवि की अपनी टिप्पणी इस प्रकार है :

अपि स्वदेहात्किमुतेन्द्रियार्थाद्यशोधनानां हि यशो गरीयः।– *रघुवंश*, 14.35

"यश को ही धन मानने वालों के लिए यश अपने शरीर से भी बढ़कर प्रिय होता है, फिर स्त्री आदि भोग की वस्तुओं की तो बात ही क्या!"

ये क्षत्रिय लोग, जिनका अपनी मर्यादाओं के प्रति भाव बड़ा विलक्षण होता है, इसको अत्यन्त भावना–प्रधान सीमा तक ले जाकर ऐसे प्रदेश में पहुँचते हैं, जहाँ साधारण मानव के लिये साँस लेना भी कठिन हो जाता है, क्योंकि क्षत्रिय का मर्यादा

का भाव बड़े अजीब ढंग से खिंचकर इतना सूक्ष्म हो जाता है कि वह हमारी समझ के बाहर होता है। उनका ढंग ही ऐसा होता है, उनकी धारणा ऐसी होती है कि उनका सम्पूर्ण धन यश ही है। उनके लिए यश उनके शरीर से भी बढ़कर है। वे सदा कहीं भी जाकर युद्ध के लिये तत्पर रहते हैं। चाहे अपनी प्रतिष्ठा के लिये पूरी सेना ही हो, एक अकेला योद्धा भी अपनी मर्यादा के लिये प्रायः उससे भिड़ने को पाया जा सकता है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं। राजपूत–चरित्र आख्यानों में प्रायः कथायें मिलती हैं कि किस प्रकार अनेक वीरों ने दुर्दम्य संकटों का सामना, एक वीर पुरुष के रूप में अपना नाम स्थापित करने के उद्देश्य से किया। उनके लिये यह एक आम बात थी, जहाँ पूरी क़ौम को इस परम्परा पर शिक्षित किया जाता था कि प्रतिष्ठा, व्यक्तिगत शौर्य और युद्धभूमि में गौरव का अर्जन करना ही सर्वोपरि है। आज भी पूरी दुनिया में वे इसे वीरता मानते हैं। वे तो इसे अपने सम्राट मिकाडो के प्रति एक प्रकार की स्वामिभक्ति समझते हैं। यदि कोई जनरल युद्ध या कोई जापानी हार जाता है, सैनिक हार कर पीछे हटता है, तो उसका यह कार्य मिकाडो के प्रति घोर राजद्रोह समझा जाता है। मिकाडो जापान का सम्राट ही नहीं, प्रत्युत चन्द्रदेवता माना जाता है, ऐसा उनका विश्वास है। इसीलिये ये अंग्रेज़ गोरे और अमरीकी सिपाही प्रायः कहते हैं, "ये जापानी अत्यन्त भयंकर लोग हैं क्योंकि जब संकट का समय होता है, हम तो भाग उठते हैं, किन्तु ये लोग डटे रहते हैं। वे मरने के लिये तत्पर रहेंगे, लेकिन भागेंगे नहीं।" रूस–जापान युद्ध काल की पोर्ट–आर्थर की इस घटना का प्रायः उल्लेख किया जाता है। एक समय उस बन्दरगाह को अवरुद्ध करना आवश्यक समझा गया, जिससे वह युद्धपोतों की जलयात्रा के लिये उपलब्ध न हो सके। बन्दरगाह का अवरोधन केवल तभी सम्भव हो सकता था, जब दो बड़े जहाज़ों को वहाँ डुबा दिया जाता। उनका डूबना भी सम्भव नहीं था, जब तक कि प्रत्येक जहाज़ में सवार सौ व्यक्ति सब तैयारी करने के बाद स्वयं को उन जहाज़ों के साथ डुबाने को तैयार न हो। कहा जाता है कि नौसेनाध्यक्ष ने दो सौ वॉलांटियरों की माँग की, किन्तु पाँच हज़ार आगे आये। उन सब ने अपने नाम रक्त से लिखकर अपनी अनुमति प्रकट की। यह है जापानियों के शौर्य का एक उदाहरण! हमारी वीरगाथाओं में भी हमारे राजपूत और उनके पूर्वज इसी प्रकार की बातों के लिए प्रसिद्ध थे। उनके लिये तो मान–मर्यादा की सुरक्षा ही सब कुछ था। कुछ भी ऐसा नहीं होता था, जिससे वे पीछे हटते। जब कोई मनुष्य अपना जीवन ही बलिदान करने के लिए तत्पर हो, तो उसके लिये और क्या शेष रह जाता है? सीता तो केवल काम–वासना पूर्ति का साधन मात्र थीं। जब कोई यह सब कुछ त्यागने के लिए तैयार हो, सचमुच तीव्र मानसिक व्यथा से ग्रस्त हो, विषाद से अभिभूत हो, शक्तिहीन हो गया हो, स्पष्ट सोच–विचार करने में असमर्थ हो, ऐसी परिस्थिति में उस व्यक्ति का मनोभाव एक स्त्री के प्रति कैसा होगा? उस स्त्री के प्रति, जिसका वह बहुत आदर करता है, जिससे वह प्रेम करता है, जो उसको अत्यन्त प्रिय है, जिसको वह ढेरों आभूषणों से सुसज्जित

करता है, जिसको वह बहुत महत्त्व देता है, जो पूरे जीवन भर उसके ऊपर शासन करती आई हो। किन्तु, ऐसे संकट के समय, जब उसका वास्तविक मूल्यांकन होता है, उस तराजू में तोला जाता है, तो उसका आस्तित्व केवल इन्द्रियार्थ तक रह जाता है– इन्द्रियों की तृप्ति का एक साधनमात्र और कुछ नहीं। अब राम आदेश देते हैं कि सीता को निष्कासित किया जाये। यहाँ राम काफ़ी निम्नस्तर पर पहुँच जाते हैं। इस बार वे नीचे से नीचे ही गिरते गए। न केवल अपनी आत्मा के साक्ष्य के विरुद्ध वरन् वे सीता को गुप्त रूप से निर्वासित करने को राज़ी हो जाते हैं। वे सीता को इसकी भनक भी नहीं देते। वे लक्ष्मण को उन्हें वन ले जाने का आदेश देते हैं क्योंकि गर्भवती होने पर उन्होंने स्वयं ही ऋषियों और ऋषिपात्नियों के सान्निध्य में एक रात्रि व्यतीत करने की अनुमति पहले ही माँगी थी और श्री राम भी इसके लिये अपनी सहमति व्यक्त कर चुके थे। वे चुपके से लक्ष्मण को आदेश देते हैं, "जाते समय सीता को तथाकथित कारण बतलाना कि उनकी इच्छापूर्ति के लिये उन्हें वन ले जाया जा रहा है। परन्तु वहाँ पहुँचने पर उनको वहीं छोड़ कर तुम वापस लौट आना।"

अब मैं एक रोचक बिन्दु पर आ रहा हूँ।

न चास्मिन् प्रतिवक्तव्यः सीतां प्रति कथंचन।। VII.45.19

वे अपने भाइयों तथा अन्य उपस्थितजन से कहते हैं, "सीता के विषय में तुम्हें मुझ से कोई चर्चा नहीं करना चाहिए, न ही विरोध करना चाहिए। मैंने सोच–विचार कर निश्चय किया है।"

इस प्रसंग में वे पुनः बहुत से शब्दों का प्रयोग करके अपनी बात दोहराते हैं, जो उन्होंने एक शब्द द्वारा कही थी *'कृतबुद्धिना,' 'नात्र कार्या विचारणा।* संकोच न करो।

अप्रीतिर्हि परा मह्यं त्वय्येतत्प्रतिवारिते।। VII.45.20

"अब तुम जाओ, इस विषय में कोई सोच–विचार अथवा झिझक न करो। यदि तुम यह कार्य नहीं करते हो, यदि मेरे इस निश्चय में तुमने कोई बाधा डाली, तो मैं तुमसे अप्रसन्न होऊँगा और मुझे महान कष्ट होगा।"

शापिता च मया यूयं भुजाभ्यां जीवितेन च। VII.45.21

वे कहते हैं, "मैं तुम्हें अपने चरणों और जीवन की शपथ दिलाता हूँ।"

चरणों की शपथ दिलाना बड़ी विचित्र बात है। इस प्रकार की शपथ 'रामायण' में दो या तीन स्थानों में पाई जाती है। मैंने इस प्रकार का प्रयोग बहुधा नहीं देखा है, परन्तु यह ऐसे ऐसे प्रसंगों में मिलता है, जहाँ एक ज्येष्ठ किसी एक छोटे से कोई कार्य सम्पन्न करने को कहता है और किसी न किसी कारण उसे ऐसा प्रतीत होता है कि वह व्यक्ति उस कार्य के प्रति अनिच्छुक है। ऐसी ही परिस्थिति श्री राम के सामने उपस्थित होती है, एक बार, अरण्य कांड में, जब लक्ष्मण द्वारा विरूपित की गई शूर्पणखा अपने भाई खर के पास पहुँचकर सारा वृत्तान्त सुनाती है। श्री राम द्वारा खर के भेजे हुए

चौदह राक्षसों के वध के पश्चात् चौदह हज़ार राक्षसों की सेना लेकर खर और दूषण जनस्थान से पंचवटी में श्री राम के आश्रम के समीप पहुँचकर दोनों भाइयों को सीता सहित संकट में डालते हैं। उस समय राम लक्ष्मण सीता समेत लक्ष्मण को गुफा में चले जाने और धनुष लेकर तैयार वहीं ठहरने को कहते हैं। वे लक्ष्मण से कहते हैं, "पर तुम बाहर मत निकलना। मुझे अकेले ही इन सबसे निपटने दो। मैंने प्रतिज्ञा की है कि मैं इनमें से एक–एक का जीवन समाप्त कर दूँगा। यह गौरव में किसी अन्य के साथ बाँटना नहीं चाहता।"

तस्माद्गृहीत्वा वैदेहीं शरपाणिर्धनुर्धरः।
गुहामाश्रय शैलस्य दुर्गां पादपसंकुलाम्।। III.24.12

"तुम धनुष–बाण धारण करके सीता को साथ लेकर पर्वत की उस गुफा में चले जाओ, जो वृक्षों से आच्छादित है।"

शापितो मम पादाभ्यां गम्यतां वत्स मा चिरम्।। III.24.13

"तुम मेरे इस वचन के प्रतिकूल कुछ कहो या करो, यह मैं नहीं चाहता। मैं अपने चरणों की शपथ दिलाकर कहता हूँ। शीघ्र चले जाओ।"

एक अन्य प्रसंग किष्किन्धा कांड का है। सुग्रीव श्री राम से बालि के साथ अपने वैर का कारण बतलाता है। मायावी के साथ अपने वैर का कारण बतलाता है। मायावी नामक एक दानव था, जो दुन्दुभि रात के समय किष्किन्धापुरी के दरवाज़े पर आकर बालि को युद्ध के लिये ललकारने लगा। जब उसने बालि और सुग्रीव को देखा, भाग निकला और धरती के एक बिल में घुस गया। तब बालि अपने छोटे भाई सुग्रीव से इस प्रकार बोला :

इह त्वं तिष्ठ सुग्रीव बिलद्वारि समाहितः।
यावदत्र प्रविश्याहं निहन्मि सहसा रिपुम्।। IV.9.13

"जब तक मैं इस बिल के भीतर प्रवेश करके युद्ध में शत्रु दुन्दुभि को मारता हूँ, तब तक तुम इसके द्वार पर सावधानी से खड़े रहो, यहाँ से हिलना नहीं। मुझे अकेले ही जाने दो।"

मया त्वेतद्वचः श्रुत्वा याचितः स परंतपः।
शापयित्वा च मां पद्भ्यां प्रविवेश बिलं महत्।। IV.9.14

"यह बात सुनकर मैंने बालि से स्वयं भी साथ चलने के लिये प्रार्थना की। किन्तु, वे अपने चरणों की सौगन्ध दिला कर अकेले ही बिल में घुस गए।"

यद्यपि यह चरणों की शपथ की बात कुछ अजीब लगती है, तथापित मेरे विचार में इसका कारण है– एक ज्येष्ठ के चरण नमस्कार करते समय एक कनिष्ठ के हाथ तथा मस्तक द्वारा प्रायः स्पर्श किये जाते हैं। अतएव, ज्येष्ठ के चरण कनिष्ठ के लिये बहुत आदर और श्रद्धा की वस्तु होते हैं। अतः इस प्रकार की शपथ केवल ज्येष्ठ की

कनिष्ठ को दिला सकता है। मुझे लगा कि यह एक विचित्र सी बात है, जिसके विषय में कुछ स्पष्टीकरण दे दूँ।

मैं अब एक प्रचंड मानवीय भावावेश के सम्बन्ध में चर्चा कर रहा हूँ। उन समस्त भावनाओं में, जो संवेदनशील मनुष्यों के हृदयों को झकझोर देती है और जिसके प्रभाव में मनुष्य स्वयं को भूल कर, उसके आदेश में पालन में वे पशुवत आचरण करते हैं, ईर्ष्या निकृष्टतम है। विशेषकर उस परिस्थिति में, जहाँ मनुष्य की पत्नी की सच्चरित्रता का प्रश्न होता है और वह सन्देह करता है कि कुछ अनैतिक हुआ है। ऐसी स्थिति में वह सब मर्यादा भूल जाता है। किसी प्रकार की मान्यताएँ और विश्वास उसे रोक नहीं सकते, उसको प्रतिशोध की चरम कार्यवाही करने से। ईष्या मनुष्यों में सबसे बुरा चित्त क्षोभ है। यह सबसे निकृष्ट होती है। जब मनुष्य में विशुद्ध महानता होती है और वह उच्चवंश से होता है, जब उसे स्वभावतः अपनी प्रतिष्ठा की परवाह अधिक होती है, जब वह अपनी पत्नी को एक सुन्दरी के रूप में देखता है, जो यद्यपि साध्वी है, फिर भी सम्भवतः दूसरों द्वारा अभिलषित हो सकती है। ऐसी परिस्थिति में एक सीधा–सच्चा कुलीन पुरुष भी अत्यन्त उत्कट कार्यवाही पर उतारू हो जाता है। श्री राम ने इसी प्रकार की ईर्ष्या के प्रभाव में आकर सीता के परित्याग का निर्णय लिया और उनसे कह दिया, "मेरे लिए तुम्हारा कोई उपयोग नहीं है। तुम्हारे साथ कुछ भी हो उससे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। तुम्हारे आचरण की कोई परख मैं नहीं करूँगा। मेरा तुम्हारे प्रति कोई उत्तरदायित्व नहीं होगा। पृथ्वी की चारों दिशायें तुम्हारे लिए खुली हैं। जहाँ भी जाना चाहो, जा सकती हो।" जब उन्होंने ये शब्द कहे, वस्तुतः उनका अभिप्राय यही था। एक अत्यन्त उदात्त व्यक्ति, एक ऐसा व्यक्ति, जो अपनी प्रतिष्ठा की अत्यधिक परवाह करता है, आत्मसम्मान जिस व्यक्ति में सर्वोत्कृष्ट प्रकार का होता है, एक ऐसा व्यक्ति, जब अपनी पत्नी के प्रति ऐसी भावनाओं और सन्देहों के बीच अन्तर्द्वन्द्व से ग्रस्त होता है, वह बुरे से बुरे काम करने में भी सक्षम हो जाता है।

यह आश्चर्य की बात है किस प्रकार कवियों ने लगभग एक ही प्रकार से विषय ईर्ष्या के विषय का निरूपण किया है, जबकि वे इस भावना के विकास का विश्लेषण करते हैं, इसका अध्ययन करते हैं, कैसे यह किसी व्यक्ति की अन्तरात्मा को भ्रष्ट करती हुई क़दम–क़दम आगे बढ़ती है। यहाँ तक की उस अन्तरात्मा में कुत्सित विचारों का जन्म होता है और अन्ततः इन विचारों से षड्यन्त्र तैयार होकर काली करतूतों का रूप ले लेते हैं। इस ईर्ष्या का यह क्रमिक विकास मानव हृदय में सर्वत्र एक सा ही होता है और इसका निरूपण करने में महान कवियों ने केवल एक से ही भाव प्रदर्शित किये हैं, अपितु उनकी भाषा तक में एकरूपता है। अब मैं आपको दुःखान्त नाटकों के एक अन्य धीरातिधीर पात्र के मनोभाव दिखाना चाहता हूँ। इससे कोई अन्तर नहीं यदि वह पाश्चात्य का और अंग्रेज़ी साहित्य का है। सब उत्कृष्ट

साहित्य मानवीय साहित्य है और सम्पूर्ण मानव जाति की सम्पत्ति हैं। अपने सुप्रसिद्ध महान नाटक "ऑथेलो (Othello) में नाटककार शेक्सपीयर (Shakespeare) ने इस ईर्ष्या के मनोविकार को इसके निकृष्टतम स्वरूप में चित्रित किया है। कवि यह दर्शाता है कि किस प्रकार ईर्ष्या ऑथेलो के महान चरित्र को भी विकृत करती है और अद्योगत तक पहुँचा देती है। वह एक विशाल हृदय व्यक्ति था, युद्ध भूमि का शूरवीर था, कि वह शंकालु स्वभाव से सामान्यतः मुक्त था। इस नाटक का कथानक बहुत संक्षेप में यहाँ दिया जाता है :

हब्शी ऑथेलो (Othello) वेनिस (Venice) के ड्यूक (Duke) का सेनापति था। उसके उदात्त चरित्र और पराक्रम से आकर्षित होकर डॅस्डेमोना (Desdemona) ने उससे विवाह किया था। इआगो (Iago) सेना में एक ध्वजवाहक था। ऑथेलो ने उसकी अपेक्षा कर कॅस्सिओ (Cassio) को पदोन्नत कर दिया था। एक अभियान के लिये ऑथेलो को सायप्रस (Cyprus) जाने का आदेश मिला। ऑथेलो ने इआगो की पत्नी एमिलिआ (Emilia) को डॅस्डेमोना की परिचारिका नियुक्त कर दिया। द्वेष के कारण इआगो कॉस्मिआ और ऑथेलो के विरुद्ध एक दुहरा षड्यंत्र रचता है। एक ओर तो कॅस्सिओ को डॅस्डेमोना से मिलवाकर ऑथेलो के मन में अपनी पत्नी के प्रति सन्देह उत्पन्न करा देता है, और दूसरी ओर डॅस्डेमोना का रूमाल, जो उसे ऑथेलो से प्रथम उपहार स्वरूप मिला था, कॅस्सिओ के कक्ष में छुपा देता है। जब ऑथेलो इआगो से डॅस्डेमोना के विरुद्ध प्रमाण माँगता है, तो वह उसे रूमाल के बारे में बताता है। ऑथेलो, प्रतिशोध की भावना से, इआगो से कॅस्सिओ को मरवा डालने का आदेश देता है और उसे कॅस्सिओ के पद पर नियुक्त कर देता है। ऑथेलो ने जब डॅस्डेमोना से वह रूमाल माँगा, तो वह उसको खोने का स्पष्टीकरण न कर सकी। इआगो अपने कपट से ऑथेलो के मन में भारी ईर्ष्या और सन्देह उत्पन्न कर देता है। ऑथेलो सबके सामने डॅस्डेमोना पर हाथ उठा देता है और उसका अपमान करता है। एमिलिआ अपनी मालकिन के चरित्र के बारे में विश्वास दिलाने का भरसक प्रयत्न करती है, परन्तु ऑथेलो कुछ सुनने को तैयार नहीं। एक रात ऑथेलो अपनी पत्नी के शयनगृह में जाकर उसका गला घोंट देता है। जब इआगो वहाँ पहुँचता है, तो एमिलिआ उसकी नीचता का परदाफ़ाश कर देती है। इआगो उसे छुरा घोंप देता है। मरते–मरते भी एमिलिआ डॅस्डेमोना की निर्दोषता प्रतिपादित करती है। जब सब रहस्य खुल जाता है, तो शोक से पागल ऑथेलो अपने सीने में ख़ंजर घोंप लेता है।

निम्नलिखित उद्धरण इआगो के स्वगत भाषण से है। इआगो ने ऑथेलो के हृदय से खिलवाड़ किया, उसमें सन्देह का विष भरा, अनेक छल–कपट से उस भावना को पुष्ट किया, फिर उसकी ज्वाला को हवा दी, और अब उसी अग्नि ने ख़ूब भड़क कर इतना प्रचन्ड रूप धारण कर लिया कि वह सब किसी को भस्मसात करने पर उतारू है। ईआगो अपनी पत्नी से ऑथेलो का रूमान छीन कर कहता है। मैं इसे

कॅस्सिओ के कक्ष में छोड़ दूँगा। फिर ईर्ष्या के विषय में बोलते हुए वह स्वगत कहता है :

तृणप्राय नगण्य तथ्य
वायु सम भार हीन
बन जाते परिपुष्ट प्रमाण
वेद–वाक्य सम ग्राह्य
शंकाशील हो यदि इंसान (ऑथेलो, III.iii.322-41)

जब हम इस महाकाव्य में ईर्ष्या जैसे उत्कट मनोवेग पर चर्चा करते हैं, जिस प्रकार उसे कवि वाल्मीकि ने प्रस्तुत किया है, तो यह उपयोगी और लाभकर होगा, मानव ऑथेलो जैसे एक अन्य महान चरित्र के जीवन में भी कुछ इसी प्रकार की घटनायें कैसे घटित हुई थीं। इसके आगे जो इआगो कहता है, वह श्री राम पर भी लागू होता है। ऑथेलो के पास कुछ तो था आधार सन्देह के लिए, एक रूमाल तो था। उसने कुछ सुना था, कुछ देखा भी था। राम के पास तो ऐसा कुछ भी नहीं था। अधिक से अधिक वे यही कह सके थे, "तुम दिव्यरूपा सुन्दरी हो और रावण एक दुष्ट है। जबकि तुम पूर्णतया उसके वश में थीं, तब कैसे सम्भव है, सब कुछ सामान्य रहा हो?" इससे अधिक उनके पास कुछ कहने को था ही नहीं, केवल एक प्रकार की नकारात्मक शंकाशील मनोवृत्ति ऑथेलो को लक्ष्य करके इआगो आगे कहता है :

हानिकर उड़ानें कल्पना की प्रकृत्या विषक्त
आरम्भ में लगता नहीं स्वाद उनका अप्रिय
रक्त में पहुँचे जब थोड़ा भी प्रभाव
गंधक खान सम डालें जला। (ऑथेलो, II.iii-3 26-9)

अन्तिम समय पर जब सब कुछ समाप्त हो गया था, डॅस्डेमोना का गला घोंटा जा चुका था और उसके प्राण पखेरु उड़ चुके थे, रहस्य खुल चुके थे, यथार्थ प्रत्यक्ष रूप में सामने आ चुका था। उस समय लोडोविको (Lodovico) भी, जो वेनिस से ड्यूक को लेकर आया हुआ था, वहाँ घायल कॅस्सिओ के साथ इआगो को बन्दी लेकर बनाकर घटनास्थल पर पहुँचता है और मरणासन्न ऑथेलो से पूछता है, "ऑथेलो, तुम तो जो इतने सुशील थे, इस नर्क योग्य दासी के षड्यन्त्र में फँस गये, किस प्रकार? दुनिया तुम्हारे लिये क्या कहेगी?" सुनिए उत्तर! कितना सत्य, कितना स्वाभाविक, कितना हू–बहू–सदृश राम के कथन के।

कह दो कुछ भी मुझको
सम्मान्य हत्यारा भी यदि चाहो
घृणा वश नहीं किया कुछ भी मैंने
मर्यादा–रक्षा हेतु बस केवल। (ऑथेलो, V.ii. 293-5)

"चाहे जो कुछ भी कह सकते हैं, यदि चाहें तो 'एक सम्मान्य हत्यारा' कह सकते हैं। जो कुछ भी मैंने किया, वह कदापि घृणा से प्रेरित होकर नहीं किया। केवल मर्यादा के लिये किया।"

अन्त में, बिल्कुल अन्त में विदा लेते हुए न केवल लोडोविको से, अपितु सबसे, दुनिया जहान से, मानो दुनिया को जताते हुए ईर्ष्या और शंका द्वारा कृत विनाश के प्रति ऑथेलो लोडोविको को सम्बोधित करता है, "जब तुम इन अशुभ घटनाओं का उल्लेख ड्यूक को भेजो, तो उस समय :

जैसा हूँ वैसा कहो, लेशमात्र मत कमी करो
न ही दुर्भाव से हो प्रेरित प्रति मेरे।
शायद कहोगे तुम 'प्रेम किया तो चढ़–बढ़ कर,
रहा विवेक का पर उसमें अभाव ही।
यद्यपि नहीं सहज ईर्ष्या सनु था वह
अत्युत्तेजित हो मति भ्रष्ट हुआ वह
अधम व्यक्ति की नाईं
फिर फेंक दिया जिसके हस्त ने
इस आवरित मोती को
मूल्यवान अत्यधिक सम्पूर्ण वंश से था जो,
आर्द्रता को यद्यपि अभ्यस्त नहीं,
झुकी झुकी उसकी आँखें
अश्रु बहाती टप–टप संत्वरा अपः
जैसे टपकाए गोंद कोई वृक्ष बबूल। (ऑथेलो, V.ii.342-351)

महान योद्धा, ऑथेलो एक कठोर व्यक्ति था, जिसने यद्यपि अपने चारों ओर अनगिनत गिरते हुए व्यक्तियों को देखा था, तथापि वह कभी भी प्रभावित नहीं हुआ, भावशून्य रहा। ऐसा पत्थर के समान वेदनाशून्य मनुष्य कहता है, "मैं अपने जीवन में कभी नहीं रोया, मैं जानता तक नहीं कि आँसू कैसे होते हैं।"

...जिसकी सदा नियंत्रण में रहने वाली आँखें
यद्यपि द्रवीभूत मनोदशा से सर्वथा अपिरिचित थीं,
वे अब बेरोक आँसू गिरी हैं,
जैसे बबूल के वृक्ष से
निरन्तर गोंद निकला करता है।

अब मैं मानव स्वभाव का उपरोक्त से उलटा पहलू दिखाना चाहता हूँ। हमने अभी–अभी देखा कि ईर्ष्या किस प्रकार मानव प्रकृति को भ्रष्ट करती है, जिसके प्रभाव में हमें ऐसी चीज़ें भी दिखाई देने लगती हैं, जिनका कोई अस्तित्व भी नहीं होता।

प्रत्यक्ष साक्ष्य के प्रति भी वह हमारी आँखों पर पट्टी बाँध देती है। हमें नर से पशु बना देती है। हाँ, ये सब विकृतियाँ मानव प्रकृति में आ जाती हैं। एक महान चरित्र, जिसका उल्लेख मैं करूँगा, वह है टेनिसन (Tennyson) की काव्यकृति ('King Arthur of the Round Table') का नायक। वह निजी मर्यादा और शौर्य का प्रतीक था। उसकी परोपकारिता की ख्याति दूर–दूर तक फैला हुई थी। वह सार्वभौमिक प्रेम से ओत प्रोत था। द्वेष और घृणा से सर्वथा रहित था। संकट ग्रस्तों की सहायता के लिये सदैव तत्पर रहता था, किन्तु दुराचारियों को दंड देने में कठोर भी था। वस्तुतः वह इन सब गुणों का पुंज था। उसने योद्धाओं के एक संघ की स्थापना भी की, इस उद्देश्य से कि इंग्लैंड निकृष्ट प्रकार के जंगलीपन और बर्बरता से उभर कर एक ऐसा देश बन जाये, जहाँ उच्च आदर्शों का बोल बाला हो और उच्चकोटि की संस्कृति स्थापित की जा सके। ऐसे थे, प्रिन्स आर्थर। लोगों की मान्यता थी कि उनके जन्म में एक अलौकिक तत्त्व का समावेश था। यह उन्हें स्वयं श्री राम के काफ़ी समीप ला देता है, जिनका जन्म भी कदाचित् अलौकिक ही माना जाता है। प्रिन्स आर्थर के विषय में ऐसा माना जाता है कि उनके जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य, उनका सब कुछ करा धरा कार्य, नष्ट हो गया, एक अति सूक्ष्म विष के कारण, जो सम्पूर्ण राज्य में फैल गया। वह विष था उसकी पत्नी गुइनीविये (Guinevere) की दुष्चरित्रता। वह कथा साहित्य की एक प्रसिद्ध सुन्दरी है, जिसने अनैतिक सम्बन्ध था। लान्सलौट (Lancelot) के साथ, जो आर्थर के बाद राउन्ड टेबिल (Round Table) संघ का सबसे प्रसिद्ध सदस्य था, बल और पराक्रम में कदाचित् आर्थर से भी अधिक। परन्तु उसके और गुइनीविये के मध्य एक गुप्त प्रेम सम्बन्ध उपजा, जो अनैतिकता की पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया गया था और जो कारण बना, कवि के शब्दों में, "Red ruin and breaking up of laws" (Guinevere, 423) रक्तरंजित विनाश तथा कानून और व्यवस्था का तितर–बितर होने का, एवं महान राउन्ड टेबिल के विघटन का एक महान शौर्यपूर्ण जीवन का समाप्त होना पड़ा, बदनामी और तिरस्कार में क्योंकि जिस महान कार्य को करने का बीड़ा उठाया गया था, वह अधूरा ही रह गया। जब गुइनीविये को अहसास हुआ की उसने अपने पति के सत्कार्य को चौपट कर दिया, वह पश्चाताप की भावना से अनुतप्त होकर एक मठवासिनी हो जाती है। उन्हीं दिनों प्रिन्स आर्थर अपने एक अत्यन्त घमासान रक्तपातपूर्ण युद्ध से लौटा। उसे लगा कि उसका अन्तिम समय आ पहुँचा है। यद्यपि वह घातक रूप से घायल था, किन्तु वह उस स्त्री अन्तिम बार मिले बिना, इस संसार से विदा लेना नहीं चाहता था, जिसने उसके सब काम को चौपट कर दिया था, जो उसके जीवन का लक्ष्य था। वह उस स्त्री से मिलने और अन्तिम विदा लेने की इच्छा से इस मठ में पहुँचता है। इस अन्तिम दृश्य में कवि अपनी सर्वोत्कृष्ट कला प्रदर्शित करता है। आर्थर मसीही धर्म का एक सच्चा अनुयायी था। अपनी पत्नी की कोई कठोर आलोचना करने के बजाय केवल इतना भर ही उससे कहता है कि उसने बड़ा पाप

किया है। परन्तु राम और ऑथेलो के आचरण के विपरीत वह उसको क्षमादान देने का प्रयास करता है। उसमें यदि कोई ईर्ष्या होगी भी, तो केवल बीज रूप में ही रही होगी। अब हमारा विश्वास है वह भी समाप्त हो गई थी। यह अत्यन्त ही असामान्य बात है। मेरे विचार से यथार्थ जीवन में ऐसे उदाहरण अत्यन्त दुर्लभ हैं। एक व्यक्ति जो ईर्ष्या के वशीभूत है, जिसकी पत्नी ने विश्वासघात किया है, वह शायद ही उसको क्षमा करे, जब तक कि वह इतना गिरा हुआ पुरुष नहीं हो, जो अपनी पत्नी के कलंक से लाभान्वित होना चाहता हो। ऐसे भी कुछ लोग होते हैं। सामान्यतः एक आत्मसम्मान वाले व्यक्ति को कदापि ऐसी बात अच्छी नहीं लगती। प्रिन्स आर्थर सामान्य व्यक्ति से कहीं अधिक ऊँचा था और जैसे मैंने पहले बताया है, उसमें कुछ दिव्य अंश का समावेश था। ऐसे ही व्यक्ति के लिये सम्भव हो सकता था कि वह ऐसी भाषा का प्रयोग करे, जो सामान्यतः मनुष्य जाति की पहुँच से लगभग बाहर प्रतीत होती है। कविता का यह अंश, जिसमें इस प्रसंग का उल्लेख है कुछ लम्बा है, कदाचित् बहुत से लोग उससे परिचित भी होंगे। परन्तु यह सोचना नितान्त भूल है कि यदि किसी लेखांश से हम सुपरिचित हों भी, तो उसके पढ़ने से कोई लाभ नहीं। एक लेखांश जिसका आशय गूढ़ हो, जिसकी रचना सुन्दर और मर्मस्पर्शी भाषा में हो, ऐसे लेखांश से पूर्णरूप से परिचित हो जायँ, ऐसा कभी कहा नहीं जा सकता। यदि कोई उद्धरण आपको कंठस्थ है, तो यह एक अच्छी बात है। उसकी आवृत्ति कर सकते हैं। क्योंकि कभी भी स्वयं ही उन पूरी पंक्तियों को आप जितनी बार पढ़ें, चाहे जितनी बार दोहरायें, प्रत्येक बार आपको एक उत्थापन की अनुभूति होगी। यदि आप बिल्कुल गये गुज़र नहीं हैं, तो निश्चत ही उस उद्धरण को पढ़ने के बाद पहले की अपेक्षा बेहतर मनुष्य हो गए होंगे।

ये पंक्तियाँ प्रिन्स आर्थर का गुइनीविये को सम्बोधन है, जब वह क्षमा याचना के लिये उसके पैरों में पड़ती है।

"प्यार अपने स्वामी के प्रति निभा न पाई यद्यपि
तुम्हें बिसार दिया स्वामी ने भी।
नहीं बना हूँ ऐसी कच्ची धातु का मैं,
कंटनकिता तिरिय! कैसे अपना पाऊँ तुझे?
सबसे बड़ा लोकशत्रु मानूँ मैं उसको,
स्वार्थवश या सन्तानों के कारण,
लोक निन्दा अपयश से बचने, जानबूझ जो,
पतिता पत्नी को पुनः गृहे स्थापित करता।
उसकी कायरता के कारण पुनः
प्रतिष्ठिता सर्वत्र पवित्र वह फिर कहलाये,
अदृष्ट पूर्व, अननुभूत रोग सम
रेंगे खुले आम, जन समूह मध्य वह,

नयन कटाक्ष कर निष्ठा हरे सुहृद जन की,
विचलित कर, विकार झकझोरे,
आधे तरूणो को तो करे विषाक्त।
शासनकर्ता यदि पति हो उसका,
तो बदतर उससे होगा कौन?
अच्छा इससे चौपट चुल्हा और व्यथित-हृदय राजा,
कि अपने आलोकित आसन पर फिर से आ बैठे तू,
मेरी प्रजा बने उपहास पात्र, फिर बने विनाशिनी उनकी।"
इतना कह वह रूका
इस बीच सरक आई वह कुछ निकट
और पकड़ लिए पति के चरण।
दूर कहीं तूर्यनाद हुआ।
द्वार पास प्रतीक्षारत, युद्ध अश्व फिर हिनहिनाया,
कोई सुहृद स्वर सुन मानो, और फिर वह ऐसे बोला :
"अपराध उछालने को तेरे मैं आया, ऐसा मत मानो,
ना ही गुइनीवीए, धिक्कार सुनाने मैं आया।
स्वर्णाभ जो शीश तेरा
अच्छे दिन थे जब था गर्व मेरा
अपने चरणों में अब देख उसे
भरी करूणा विशाल यह कहती है :
वह रोष मर ही क्यों न गया इससे पहले।
वह रोष किया था बाध्य जिसने
उस घोर विधान को और मनोभावों को मेरे
विश्वासघात का है जिसमें विधान-वश प्रज्ज्वलित विनाश
(पता चला था सर्वप्रथम जब, छुपी हुई हो तुम यहाँ)
वह रोष तो अब अतीत हुआ।
एक कसक उठी थी जब तोला था मैंने
तेरे हृदय को उस हृदय से,
था पूर्णतया जो निष्ठावान,
कपट था जिसमें कल्पनातीत,
जला डाला था तब अश्रुओं ने मुझको
वह पीड़ा भी अब हुई अतीत अंशतः।
वह सब कुछ अब अतीत हुआ, पापाचार जो हुआ,
सो लो, क्षमादान देता तुमको,
सत्य सनातन प्रभु जैसे हुआ कर देते सब पाप क्षमा :

कल्याण जीव अपने का करना हो तो तुम कर लेना,
अन्तिम विदा भी लूँ मैं कैसे
उस सबसे जो था प्रिय मुझे?
हे स्वर्णिम केश, खेला करता था मैं जिनसे,
राजसी रूप लावण्य तेरा, साँचे में ढला
कब हुआ प्राप्त किसी नारी को,
नहीं पता मुझको तब था वह
राष्ट्र अभिशाप बनेगा तुझ से।
मैं नहीं पियूँगा अधर तेरे, जो न रहे अब तो मेरे
लान्सलौट के अपितु ये,
थे ही नहीं कदापि नृप के।
हाथ भी कैसे तेरा गहूँ,
यह भी भाग उसी काया का, जिसमें तूने पाप किया है
और मेरी यह अपनी काया, देख तेरी प्रदूषित काया,
तिरस्कार से चिल्लाती, 'तुमसे मुझको भारी घृणा,'
फिर भी प्रेम मेरा, गुड्डनीवीए!
नहीं हुआ है कम पत्नीव्रत पाया है मैंने सदा ही"
(श्री राम के समान वह भी केवल एक ही स्त्री को जानता था)
...है प्रेम मेरा अब भी तुझ पर।
सोचे न सपनेहु कोई, कि न मेरा प्यार धरा तुझ पर है।
पिता मसीह निर्मल पर हो अवलम्बित अब तू
निज आत्मा को पवित्र बना
कदाचित्त बने फिर संयोग ऐसा,
जहाँ सब कोई, सब कुछ निर्मल है
उस महान प्रभु के समक्ष,
उस लोक में हो जाये मिलन हम दोनों का
और वहाँ लपक तुम पास मेरे आ जाओगी
और अधिकार पूर्ण बना
अपना पति मुझको पहचानोगी।
तेरा पति केवल न कोई निम्न जीव
न ही लान्सलौट, न ही अन्य कोई भी।

मैं एक बात ओर बल देकर कहना चाहूँगा। यद्यपि एक ऐसी दुराचारिणी स्त्री, जिसके पाप का परिणाम भयंकर विनाश में हुआ, उसको क्षमादान देना अति मानवीय लगता है। पर हमारी 'रामायण' में भी एक सन्दर्भ इसके समानान्तर है। अहिल्या

वाल्मीकि के अनुसार सती साध्वी नारी न थी। उसने भी अपने नाम को डुबोया और डुबोया गौतम का नाम भी, किन्तु गौतम ने क्या किया? प्रायः वाल्मीकि के सभी मापदंड अतिशयपूर्ण होते हैं। काल अवधि को भी बहुत बढ़ा–चढ़ा कर प्रस्तुत किया गया है। हज़ारों वर्ष तक वे एक–दूसरे से अलग रहे। जब गौतम वापस आते हैं, तो क्या देखते हैं कि अहिल्या राम और लक्ष्मण के पाद स्पर्श से पवित्र हो गई। गौतम ने उसे अपना लिया। यह था हमारे प्राचीन काल के लोगों का जीवन अत्यन्त साधारण, निष्कपट और अदूषित पाप तो रहता ही है। किससे पाप नहीं होता, कौन ऐसा है जो कभी ग़लती नहीं करता? भूल मानव की दुर्बलता है और क्षमा है, दैवी। क्षमादान हमारे चरित्र के परम गुणों में से एक है। सब काव्यों में क्षमा का गुण गान है। क्षमा के महत्वपूर्ण उदाहरण वहाँ हैं, जहाँ निजी भावनाओं को ठेस पहुँची है। गौतम जिन्होंने अहिल्या को क्षमा कर दिया और प्रिंस आर्थर गुइनीवीये से कहते हैं कि वह ऊपर पहुँच कर पवित्र हो गई थी, "उस देव लोक की दुनिया में हो जाये मिलन।"

इस प्रकार इन महान कहानियों का अन्त शिक्षा में होता है। जैसा कि कहा गया है कि ईर्ष्या मानवीय है और स्वाभाविक है और आम तौर पर सबमें पाई जाती है। किन्तु, इसका तात्पर्य यह नहीं कि यह मानवीय गुण है। यह एक मानवीय मनोभाव है और इसका परिणाम अपराध में होता है। अतः इसे यथासम्भव नियन्त्रण में रखा जाये और सुनिश्चित सीमा तक दबाया जाये, जैसा कि प्रिंस आर्थर कहते हैं, "पाप जब हो ही गया, तो क्षमादान भी अवश्यंभावी है।" यद्यपि क्षमादान मानवीय है, किन्तु दैवी गुण है। जब हम ईर्ष्या से अभिभूत होकर दूसरों को दंड देते हैं, तब भी हम मानव ही होते हैं। लेकिन इन उदाहरणों को स्मरण करते हुए, जब हम उन लोगों को क्षमा करते है हैं, जिन्होंने हमारे प्रति सद्व्यवहार नहीं किया था, उस क्षण हम केवल मानव नहीं होते, अपितु पूर्ण गौरव–गरिमा और भव्यता के उच्च पद पर पहुँच जाते हैं।

◈◈◈

तेरहवाँ अध्याय

भरत

मेरी पिछली कई वार्तायें श्री राम के चरित्र से सम्बधित रहीं। अब मैं उनसे विदा लेता हूँ। परन्तु फिर भी अनेक बार इस महाकाव्य के अन्य पात्रों पर चर्चा के सन्दर्भ में हम उनसे मिलते रहेंगे। इसके अतिरिक्त उनसे अधिक दूर होना या अधिक समय तक अलग रहना भी सम्भव नहीं। इस महाकाव्य के अध्येता इसके किसी न किसी पात्र के चरित्र के प्रति अपनी विशेष श्रद्धा अर्पित करने की इच्छा रखते हैं, और उसको अपना प्रिय या आदर्श बना लेते हैं। इस महाकाव्य में महान पुरुष और स्त्री पात्रों की इतनी विविधता है कि कोई आश्चर्य की बात नहीं कि एक व्यक्ति का सबसे प्रिय पात्र, दूसरे का सबसे प्रिय पात्र न हो। आपका सबसे प्रिय पात्र कौन है, यह बहुत कुछ इन पर निर्भर है कि आपके जीवन के आदर्श किस प्रकार के हैं, किस प्रकार की व्यक्तिगत विशेषतायें आपको प्रभावित करती हैं, आपकी शिक्षा और प्रशिक्षण की पृष्ठभूमि क्या है, किस प्रकार महापुरुषों ने विभिन्न पात्रों को आपके समक्ष प्रस्तुत किया है और आपका स्वभाव और निजी व्यक्तित्व क्या है। मैंने कुछ व्यक्तियों को भरत को 'रामायण' का सबसे अधिक उदात्त पात्र मानते सुना है, अन्यों को इसी प्रकार लक्ष्मण को सबसे अधिक महत्व एवं सर्वोच्च स्थान देते सुना है। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि उनके लिए तो हनुमान सबसे अधिक आकर्षक पात्र हैं। निस्सन्देह, जैसा कि आपको विदित है कि विभीषण की गणना सर्वोच्च भक्तों में की जाती है, कुछ लोग उन्हें लक्ष्मण के समकक्ष बैठाते हैं, कुछ उन्हें लक्ष्मण से भी ऊँचा स्थान देते हैं। जहाँ तक मेरा निजी सम्बन्ध है, मैं स्वयं इस काव्य के अतिरिक्त मैं किसी अन्य को अपना हृदय समर्पित करना पसंद नहीं करता। अन्य पात्र भी अपने–अपने ढंग से महान है, सराहनीय हैं, गुणान्वित है। वे किसी न किसी एक सद्गुण अथवा एक गुण समुच्चय के प्रतिरूप हैं। परन्तु मेरे लिये यह कहना कठिन है कि श्री राम के अतिरिक्त, मेरी श्रद्धा उनमें से किसी एक के प्रति किसी अन्य के प्रति मेरी श्रद्धा से अधिक है। मैं उन सबके चरित्रों का एक ही प्रकार से अध्ययन करता हूँ, बड़े आदर भाव से, उनकी वास्तविक प्रकृति को समझने के उद्देश्य से, जैसे कि उसको कवि द्वारा प्रतिपादित किया गया है, जैसा कि उनके विभिन्न कार्यों तथा विभिन्न उक्तियों द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

इस महाकाव्य में तीन महासाम्राज्यों का उल्लेख है– अयोध्या, किष्किन्धा और लंका का। 'रामायण' के पृष्ठों में इनका एक के पास से दूसरे को हस्तांतरण होता है। विचित्र बात यह है, इनमें से प्रत्येक स्थिति में साम्राज्य खोने वाला ज्येष्ठ भ्राता होता है, और पाने वाला होता है, उसका अनुज। अयोध्या में ज्येष्ठ भ्राता राज्य से हाथ धोता है, किसी अपनी ग़लती के कारण नहीं। वह इसे सहर्ष अपने छोटे भाई को सौंप देता है। अन्य दोनों स्थितियों में एक संघर्ष होता है, राज्य छिनने से पूर्व ही बड़े भाइयों को अपने जीवन से हाथ धोना पड़ता है। दोनों बार छोटे भाई, अपने बड़े भाइयों की मृत्यु के इच्छुक होते हैं। अयोध्या के विषय में एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य उभर कर सामने आता है। श्री राम न केवल सहर्ष साम्राज्य भरत के लिए त्याग देते हैं, अपितु भरत भी अपनी ओर से वैसे ही आत्मत्याग का प्रदर्शन करते हैं। वे राज्य को अवश्य ही श्री राम को लौटा देते, यदि श्री राम मान जाते। यह एक बड़ी विलक्षण बात है कि दोनों भाइयों में परस्पर होड़ है, राज्य लेने के लिये नहीं, अपितु उसको दूसरे को सौंपने के लिए। कुछ हद तक यह स्थिति ऐसी है, जैसे बच्चों में एक बड़े कद्दू को लेकर। "यह मुझे नहीं चाहिए," यह कहकर एक बच्चा उसे दूसरे की ओर खिसका देता है। दूसरा बच्चा उसे ज़रा छूकर यह कहता है, "यह मुझे भी नहीं चाहिए," और उसे वापस खिसका देता है। ऐसी ही कुछ बात अयोध्या के विषय में भी थी। अन्तर केवल इतना ही था कि वे दोनों अयोध्या को सड़ा कद्दू तो नहीं मानते थे, अपितु उसको एक महान पुरस्कार मानते थे, जिसको वे अपने लिए हथियाना उचित नहीं समझते थे। वे उदात्त भावना से प्रेरित होकर यही ठीक मानते थे कि उस राज्य को अपने भाई को भेंट कर दिया जाये। इस दृष्टि से अन्तर ध्यान देने योग्य है, किन्तु मैं नहीं चाहता कि आप ऐसा सोचें या यह मानें कि मैं ऐसा सोचता हूँ। सुग्रीव और विभीषण अवश्यमेव ही लोभी थे अथवा किसी दंभ भरी आकांक्षा से परिचालित थे या किसी प्रकार से निकृष्ट व्यक्ति थे। वे भी अच्छे लोग थे, अच्छों में भी बहुत अच्छे। तथापि वे अपने भाइयों से राज्य लेने के लिए अनिच्छुक भी नहीं थे। सच तो यह है, वे अपने भाइयों का महापापी समझते थे और उनके विचार में, वे राज्य के प्रति अन्याय कर रहे थे। वे सोचते थे, यदि राज्य उनके हाथों में आ जाये, तो वह अधिक समृद्ध हो सकता है। निस्सन्देह, वे उत्सुकतापूर्वक राज्य की इच्छा रखते थे। उन्हें इस बात में कोई आपत्ति नहीं थी कि उनके भाइयों का वध हो जाये, ताकि वे उनके उत्तराधिकारी बन सकें। हम सुग्रीव के बारे कुछ श्लोकों का अध्ययन करते आये हैं (IV.10.10,11,30; IV.8.39)। आपको स्मरण होगा कि सुग्रीव की इच्छा कितनी तीव्र थी कि श्री राम बालि को शीघ्रातिशीघ्र समाप्त कर दें, जिससे वह अपनी पत्नी रूमा को पुनः प्राप्त कर सके। राज्य को भी वह भूला नहीं था। जहाँ तक विभीषण की बात है, इस तथ्य का उल्लेख करना आवश्यक है कि जब वह अपने भाई से बचाव के लिये राम की शरण में आया था, श्री राम के प्रमुख परामर्शदाताओं ने ठीक ही अनुमान लगाया था कि विभीषण की

तत्समय महत्त्वाकांक्षा थी कि रावण के पश्चात् वह लंका का शासक बने। इस सन्दर्भ में भ्रान्ति की कोई गुंजाइश नहीं थी, क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि श्री राम भी ऐसा मानते हैं। वे स्वयं कहते हैं :

राज्यकाङ्क्षी च राक्षसः VI.18.13

"उनको इसमें कोई सन्देह नहीं था। यह राक्षस विभीषण राज्य पाने का अभिलाषी है, इसमें कोई सन्देह नहीं।"

जब युद्ध आरम्भ ही हुआ था, एक संकटपूर्ण स्थिति उपस्थित हो गई थी, श्री राम और उनके पक्ष का पलड़ा हल्का हो गया था। श्री राम और लक्ष्मण इन्द्रजित के भयंकर सर्पाकार बाणों के बन्धनों में बँधे हुए पड़े थे। इसी बीच श्री राम मूर्छा से जाग उठे। उन्होंने देखा लक्ष्मण अत्यन्त घायल और ख़ून से लथपथ पड़े हुए हैं। अतः वे आतुर होकर विलाप करने लगे। राम इतने हतोत्साहित हो गए कि वे यहाँ तक कहने लगे यदि लक्ष्मण की मूर्छा दूर नहीं होती और वे युद्ध भूमि में वीरगति को प्राप्त हो जाते हैं, ऐसी परिस्थिति में वे स्वयं का जीवन उसी क्षण समाप्त करना चाहेंगे। अपनी कल्पना में वे अन्तिम घड़ी के इतना समीप पहुँच गए कि उन्होंने सब लोगों से विदा भी ले ली, जो वहाँ उपस्थित थे। परन्तु उस समय उनके मन को एक विचार व्याकुल कर रहा था कि जब विभीषण शरणागति और सुरक्षा के लिये आया था, राम ने उसका सांकेतिक राज्याभिषेक तब बड़ी उतावली के साथ कर दिया था। किन्तु वास्तविक अभिषेक अभी तक हुआ नहीं था और उसकी सम्भावना भी प्रतीत नहीं होती थी। अतः श्री राम कहते हैं :

तच्च मिथ्याप्रलप्तं मां प्रवक्ष्यति न संशयः।
यन्मया न कृतो राजा राक्षसानां विभीषणः।। VI.49.22

"मैं विभीषण को राक्षसों का राजा न बना सका, जैसा मैंने वादा किया था। अतः यह मेरा मिथ्या प्रलाप मुझे सदा जलाता रहेगा।" स्वयं विभीषण भी यह देखकर कि विजय की आशा प्रायः समाप्त है, अपने भाग्य को कोसने लगा।

जीवन्नद्य विपन्नोऽस्मि नष्टराज्यमनोरथः।
प्राप्तप्रतिज्ञश्च रिपुः सकामो रावणः कृतः।। VI.50.19

अन्य बातों के साथ वह कहता है, "अब तो मैं जीते–जी मर गया। यद्यपि जीवित हूँ, परन्तु संकट में हूँ। मेरा राज्य विषयक मनोरथ नष्ट हो गया। सबसे बुरी बात तो यह हुई कि रावण की सभी इच्छाओं की पूर्ति हो गई।"

युद्ध कांड में एक उल्लेखनीय अंश है, जो इस सन्दर्भ में ध्यान देने योग्य है। आपको स्मरण होगा, जैसा मैंने बताया था, अयोध्या का राज्य भरत ने धरोहर के रूप में ग्रहण किया था, चौदह वर्ष शासन भी चलाया, श्री राम की चरण–पादुकाओं के अलौकिक मार्गदर्शन द्वारा। यह धरोहर उनके लिए परम पावन थी। वनवास की

अवधि पूर्ण होने पर जब श्री राम अयोध्या लौटे, भरत उनका हार्दिक स्वागत करते हैं। यह भी घोषित करते हैं कि उनकी सबसे बड़ी अभिलाषाओं की पूर्ति हो गई। राज्य का महत् पुनः प्रतिष्ठापन होगा, और सबसे श्रेष्ठ बात तो यह होगी कि वे राज्य की धरोहर को लोटा सकेंगे, जो उसके पास रखी हुई थी और जिसकी देख–रेख वे इतने वर्षों से कर रहे थे। सर्वप्रथम कार्य, जो उन्होंने किया था, वह था, श्री राम को पुनः चरण–पादुकायें धारण करने के लिये निवेदन करना।

पादुके ते तु रामस्य गृहीत्वा भरतः स्वयम्।।
चरणाभ्यां नरेन्द्रस्य योजयामास धर्मवित्। VI.130.52,53

धर्मज्ञ भरत ने स्वयं ही श्री राम की वे चरण–पादुकायें लेकर श्री राम के चरणों में पहना दीं।

अब्रवीच्च तदा रामं भरतः स कृताञ्जलिः।।
एतत्ते रक्षितं राजन् राज्यं निर्यातितं मया। VI.130.53,54

भरत ने हाथ जोड़कर उस समय कहा, "प्रभो! मेरे पास धरोहर रूप में रखा हुआ आपका यह सम्पूर्ण राज्य आज मैंने आपके श्री चरणों में लौटा दिया।"

अद्य जन्म कृतार्थं में संवृत्तश्च मनोरथः।।
यस्त्वां पश्यामि राजानमयोध्यां पुनरागतम्। VI.130.54,55

"आज मेरा जन्म सफल हो गया। मेरा मनोरथ पूरा हुआ, जो अयोध्या नरेश आप श्री राम को पुनः अयोध्या में लौटा हुआ देख रहा हूँ। मैंने तो आपको चौदह वर्ष पूर्व राजा बनाने का प्रयास किया था, किन्तु आप उसको लेने के लिये तैयार न हुए। यह लम्बी अवधि व्यतीत हो चुकी और आप लौट आये हैं। इस महत्वपूर्ण क्षण को देखने के लिये मैं जीवित हूँ। मेरे लिये इससे बढ़कर सौभाग्य और पर्ष का का विषय दूसरा क्या हो सकता है?"

अवेक्षतां भवान् कोशं कोष्ठागारं पुरं बलम्।।
भवतस्तेजसा सर्वं कृतं दशगुणं मया। VI.130.55,56

"कृपया आप राजकोष, कोठार, नगर, महल दुर्ग सेना का भी निरीक्षण कीजिये। आपके प्रताप और आपकी चरण–पादुकाओं के रहस्यमय गुणों के कारण, उनसे मिली प्रेरणा से इस अवधि में ये सब वस्तुयें पहले से दस गुनी हो गई हैं।"

इस समय एक अत्यन्त अद्भुत घटना घटती है। सुग्रीव, विभीषण और सब बड़े वानर आस पास खड़े हो जाते हैं और भाइयों के मध्य हो रहे वार्तालाप को बड़े चाव से सुनते हैं। एक भाई यशस्कर अभियान से अपनी पत्नी और प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करके अपने राज्य को पुनः ग्रहण करने के लिये लौटे हैं। दूसरा भाई उस राज्य को दसगुना बढ़ा कर बड़े आह्लादित हृदय से उसे वापस समर्पित करता है। यह दृश्य

इतना प्रभावी था कि वे भी इसके प्रभाव से अछूते न रह सके, क्योंकि उससे किसी भी हृदय में कोमल से कोमल मनोभाव उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकते थे। अतः कवि कहता है, उनकी आँखों के सामने घटित इस आश्चर्यजनित दृश्य को देखकर वे सब इतने भावविभोर हो गए कि वे अपने आँसू न रोक पाये।

तथा ब्रुवाणं भरतं दृष्ट्वा तं भ्रातृवत्सलम्।।
मुमुचुर्वानरा बाष्पं राक्षसश्च विभीषणः। VI.130.56,57

भ्रातृवत्सल भरत को इस प्रकार कहते देखकर, समस्त वानरों तथा राक्षसराज विभीषण के नेत्रों से आँसू बहने लगे। उनकी अन्तरात्मा, चाहे वानर की थी अथवा राक्षस की, यह दृश्य देखकर रसार्द्र हो गई, सभी अश्रुपात करने लगे।

मेरे मन में भी बड़ा कुतूहल है, यह जानने के लिये कि इस समय विभीषण और सुग्रीव के हृदयों में कैसी भावनायें आयीं होंगी? वे अपने भाइयों से कितने भयभीत थे, उनके प्रति उनकी भावनायें कैसी थीं, उनके विरुद्ध उन्होंने क्या–क्या योजनायें नहीं बनाईं और कौन से षड्यंत्र नहीं रचे। वे उनके विरुद्ध लड़े, उनको समाप्त कराने के लिये उन्होंने बड़ी याचनायें भी की थीं। उनके पश्चात् राज्य लेकर कितने प्रसन्न हुए। उनका ढंग अपने भाइयों के प्रति कितना विषम रहा था। जो कुछ वे अब देख रहे थे, उससे इसकी तुलना करके, उनकी आँखों में आँसू का आना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं थी। ये भावनाएँ ऐसी थीं, जो उनकी पहुँच से बहुत दूर थी। वे कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि किन्हीं दो भाइयों के बीच इतना अधिक परस्पर प्रेम और सम्मान भी सम्भव है।

मैं अब भरत के चरित्र पर कुछ विस्तार से चर्चा करना चाहता हूँ। तत्पश्चात् मैं क्रमशः सुग्रीव और विभीषण के सम्बन्ध में अपने विचार रखूँगा।

इन तीनों में से जिनकी परस्पर विषमता की दृष्टि से मैंने तुलना की है, भरत निश्चय ही एक अलग मंच पर विराजमान है। उनके भाषणों को पढ़कर और उनके आचरण को देख कर पता चलता है कि उनमें दृढ़ता और संकल्प प्रचुर मात्रा में विद्यमान थे। इन गुणों के कुछ प्रमाण हमें पूर्व में मिल चुके हैं, जब उन्होंने वाद–विवाद प्रतियोगिता में अपने भाई की बराबरी की अथवा बराबरी करने का प्रयास किया था। यह केवल उनके ज्येष्ठ भ्राता श्री राम ही थे, जो दृढ़ प्रतिज्ञता और उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति के प्रति दृढ़संकल्प में उनसे बढ़ कर हो सकते थे। केवल उन्हीं के आगे भरत को कुछ झुकना पड़ा था, अन्यथा यदि कोई और होता, तो उसके विरुद्ध पूरी दृढ़ता के साथ वे अपनी बात पर डटे रहते। आप उनकी प्रतिज्ञता को भी सराहेंगे। उनके कथन सर्वदा दृढ़, निश्चित और निश्छल हैं। उनमें न किसी अनिश्चय की झलक है, न अस्थाई रूपता है, न कोई अस्पष्टता है, ऐसा कुछ भी बिल्कुल नहीं। कोई प्रायः ऐसा सोच भी सकता हैं कि दीर्घकाल तक नाना और मामा के लाड़–प्यार में रहने से, मानो वे सिरचढ़े और बिगड़े हुए बच्चे के समान हो गये क्योंकि वे श्री राम के अतिरिक्त और

किसी से डरने वाले नहीं थे, वे किसी से भयभीत भी क्यों हो? हम चाहें, तो उनका वर्णन, 'एक अनसधाया छोकरा', इन शब्दों में भी कर सकते हैं। ऐसी परिस्थितियों में लक्ष्मण का आचरण कितना भिन्न रहा हो, तो इस सम्बन्ध में ज़रा अनुमान लगाना भी रोचक है। दोनों भाइयों में कितनी अधिक असमानता! उदारता विशाल–हृदयता और आत्मत्याग में समान होने पर भी, उन दोनों में इतना भारी अन्तर था कि आप एक को दूसरा समझने की भूल कभी नहीं कर सकते। लक्ष्मण तो तुरन्त ही ढेर हो जाते और बिना चूँ किये तुरन्त बात मान लेते हैं, यदि श्री राम एक बार भी यह कह दें, "ऐसा करो या वैसा।" चाहे उनकी सोच भिन्न भी हो, चाहे वे महसूस भी करें कि जो राम कह रहे हैं, वह ग़लत है या आवश्यकता से अधिक कठोर है, चाहे वे उनको उचित भी न मानते हों। तथापि यदि वे एक शब्द भी विरोध में बोलने का प्रयास करते, तो श्री राम का केवल एक इशारा ही पर्याप्त था और अपने आपको विरोधशून्य बनाने में लक्ष्मण को अत्यन्त हर्ष होता था। जहाँ तक श्री राम का सम्बन्ध था, वे केवल एक सेवक मात्र थे, एक महापुरुष के उद्देश्यों की पूर्ति करने का एक उपकरण, इससे अधिक कुछ भी नहीं। अन्तर केवल इतना था कि वे एक सजीव उपकरण थे, जिसमें यदा–कदा निजी बोध–विचार भी उभर आते थे। परन्तु वे प्रायः दबी अवस्था में ही वे कह देते, "भैया! मुझे भी एक शब्द बोलने दो, भैया।" आरम्भ तो उनका बड़ी विनम्रता में होता, परन्तु मन की बात कहने में ज़रा सी भी झिझक नहीं होती। यह कहना कुछ ग़लत न होगा कि उनका अपना अलग व्यक्तित्व था, एक सशक्त व्यक्तित्व, जिसको वे इस प्रकार अभिव्यक्त करते कि सहज ही उनके प्रति एक आदर की भावना उभर आती। अपने भाई के सम्मुख जिस उदारता से उन्होंने आचरण किया, उसके लिए आप अवश्य ही उनकी सराहना करेंगे और उनकी कुशलता के लिये जिसका प्रदर्शन उन्होंने प्रतियोगिता में किया, जब श्री राम से अपनी बात मनवाने के लिये, उन्होंने रणनीति बदल–बदल कर नये–नये तर्क प्रस्तुत किए। यह सब कुछ आप कर सकेंगे, परन्तु मुझे सन्देह है कि उनके प्रति आपका प्रेम भाव इतना ही उभर कर आयेगा, जितना लक्ष्मण के प्रति। लक्ष्मण के लिये आपकी इच्छा होगी कि उसको पकड़ कर हृदय से लगा लें, परन्तु भरत को तो आप नमन करेंगे, सलाम करेंगे और आप कहेंगे, "आप महान हैं, आप एक साधु पुरुष हैं।" आदर और प्रशंसा की भावनायें तो भरत मुझ से प्राप्त कर सकते हैं, जबकि लक्ष्मण मेरा सम्पूर्ण प्यार बटोर लेते हैं। मैं नहीं जानता कि क्या अन्यों में भी ऐसी ही भावनायें हैं। परन्तु इन विभूतियों के प्रति मेरी तो ऐसी ही भावनायें हैं। आइये, और आगे देखें। जब गुरु वशिष्ठ अपने पिता की अन्त्येष्टी करने के उपरान्त भरत के राज्य ग्रहण करने को कहते हैं, भरत उत्तर देते हैं, "नहीं, मैं ऐसा कुछ करना नहीं चाहता।" इस प्रसंग का वर्णन करते हुए कवि कहता है :*

---

* देखिए अ.10, पृ.149.

विललाप सभामध्ये जगर्हे च पुरोहितम्।। II.82.10

पूरी सभा के मध्य में वे फूट–फूट कर रोने लगे और साथ–साथ उस विशाल सभा में उन्होंने वयोवृद्ध धर्मगुरु की गर्हणा करने का साहस भी किया।

उन्होंने कहा, "मुझे आश्चर्य है, आप जैसे बुद्धिमान महानुभाव व्यक्ति मुझे राज्यग्रहण के लिये मनाने का प्रयास कर रहे हैं, जबकि इक्ष्वाकु कुल की परम्परा अनुसार यह अधिकार मेरे ज्येष्ठ भ्राता का है। आप मुझे यह ग्रहण करने को किस प्रकार कह सकते हैं? मैं इसे नहीं लूँगा। मैं स्वयं जाकर इसे उन्हें सौपूंगा।" भरत जैसे एक छोकरे के लिये एक वयोवृद्ध को भरी सभा के मध्य इस प्रकार अवमानित करने देने के लिये बड़ा साहस और आत्मविश्वास अपेक्षित है। इस प्रसंग के अतिरिक्त वे सदा साधु–वृत्त रहे। जब कौशल्या ने उन्हें बुलवाया और वे उनके सम्मुख पहुँचे, उस महिला ने बड़े स्वाभाविक ढंग से कल्पना की थी कि कैकेयी का षड्यन्त्र उसके पुत्र की सहमति से ही होगा। अतः जैसे ही वे पास आये, वे बरस पड़ीं।*

इदं ते राज्यकामस्य राज्यं प्राप्तमकण्टकम्।। II.75.11

"तुम राज्य चाहते थे न! अब यह राज्य तुम्हें निष्कंटक प्राप्त हो गया है।"

दुर्भाग्य से कौशल्या ने ऐसे शब्द का प्रयोग किया, जो कि भरत के लिये छुरे के प्रहार के समान था। भरत तो राज्य लेना ही नहीं चाहते थे, वे तो इसे लौटा देना चाहते थे। वे समझते थे कि उनकी माता ने यह ठीक काम नहीं किया। परन्तु कौशल्या *'राज्यकामम्'* (राज्य लेने के लिये अत्यन्त उत्सुक) शब्द का प्रयोग करती हैं। वे कहती हैं, "स्पष्ट है कि तुम मेरे पुत्र से राज्य लेने के लिये उत्सुक हो।" इस प्रकार बहुत सी कठोर बातें कहकर जब कौशल्या ने निरपराध भरत की भर्त्सना की :

विव्यथे भरतस्तीव्रं व्रणे तुद्येव सूचिना।। II.75.17

उनको इतनी तीव्र पीड़ा हुई, मानो किसी ने घाव में नश्तर डाल कर उसे घुमा रहा हो। परन्तु, मानो यह भी पर्याप्त न था, कौशल्या और भी कठोर भावनायें जोड़ती हैं। कदाचित् इन भावनाओं को स्पष्ट रूप से समझने के लिये यह स्मरण करना आवश्यक है कि जब राजा दशरथ को विदित हुआ, किस प्रकार राम से राज्य छीन कर भरत को दिया जा रहा था, उन्होंने अपने मर्मान्तक क्षणों में बहुत सी बातें कैकेयी से कही थीं। उनमें से एक यह भी थी, जो कौशल्या की उपस्थिति में कही गई थी, "यदि भरत सचमुच अपनी माता के दुराचरण का लाभ उठाने का इच्छुक है, राज्य लेना चाहता है, यदि उसका मन इस ओर है, तो मैं उससे अपना सम्बन्ध तोड़ दूँगा। मैं नहीं चाहता कि मेरी मृत्यु के बाद मेरी आत्मशान्ति के लिये वह कुछ भी करो।" इस प्रकार की बात हम प्रायः क्रोधावेश के क्षणों में कह देते हैं, जब हम किसी निकट सम्बन्धी से नाराज़ होते हैं, "जब मैं मर जाऊँ, तुम स्नान तक न करना। तुम्हें मेरे

* देखिए अ.29.

लिए कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं।" एक पुत्र के लिए ऐसा करना सम्भव हो सकता है। चाहे पिता और पुत्र के मध्य सम्बन्ध कितने भी कटु क्यों न हों, पुत्र को तो अपना कर्त्तव्य करना ही होगा। हमारे लिए ऐसा कहना मामूली बात है, यदि हम अपने पुत्र से नफ़रत करते हैं, हम नहीं चाहते कि वह हमारे लिए कुछ भी करे। अपने निकट सम्बन्धियों तक से कह देते हैं, "जब मैं मर जाऊँ, तुम स्नान तक न करना।" इसी प्रकार दशरथ ने भी कह दिया था :

भरतश्चेत्प्रतीतः स्याद्राज्यं प्राप्येदमव्ययम्।
यन्मे स दद्यात्पित्र्यं मां मा तद्दत्तमागमत्।। II.42.9

"तुम्हारा पुत्र यदि इस विघ्न बाधा से रहित राज्य को पाकर प्रसन्न हो, तो वह मेरे लिये श्राद्ध में जो कुछ पिण्ड अथवा जल आदि दान करे, वह मुझे प्राप्त न हो। मैं नहीं चाहता, उसके द्वारा किया जाने वाला दान मुझे पहुँचे।"

दूसरे शब्दों में, "मैं नहीं चाहता कि वह मेरी अन्त्येष्टि के लिये कोई भी धर्मानुष्ठान करे।" कौशल्या को यह स्मरण था। भरत को *'सत्यप्रतिज्ञ'* कह कर भी वे संतुष्ट न हुई। कौशल्या बोलीं, एक क़दम और आगे बढ़, "कृपया भरत! मुझे और सुमित्रा को इस स्थान को छोड़कर राम के पास जाने दो। हम चित्रकूट जायेंगे। अग्निहोत्र में अवश्य ही साथ ले जाऊँगी," जिससे अन्तिम संस्कार वहाँ विधिपूर्वक न हो सके।* क्योंकि वे ज्येष्ठ रानी थीं, जिनको राजा ने अपने साथ पटरानी बनाया था, अतः अग्निहोत्र उनके संरक्षण में था। इसीलिए उन्होंने उसे साथ ले जाने की धमकी दी।

अथवा स्वयमेवाहं सुमित्रानुचरा सुखम्।
अग्निहोत्रं पुरस्कृत्य प्रस्थास्ये यत्र राघवः।। I.75.14

"सुमित्रा को साथ लेकर और अग्निहोत्र को आगे करके स्वयं ही सुखपूर्वक उस स्थान को प्रस्थान करूँगी, जहाँ श्री राम निवास करते हैं।"

यह विश्वास है कि पिंडदान की फलोत्पादकता बहुत कुछ इस पर निर्भर है कि दिवंगत पूर्वज और जीवित पिंडदानकर्ता में कितना पारस्परिक प्रेम था। इस मान्यता का संकेत 'रामायण' में भी है। भरत जब श्री राम से वन में मिलते हैं, तो कहते हैं, "हमारे पिता जी चले गये। सब संस्कार मैंने कर दिये हैं। परन्तु आपको भी कुछ करना शेष है, आप वह कीजिये।" फिर वे कहते हैं :

प्रियेण किल दत्तं हि पितृलोकेषु राघव।
अक्षयं भवतीत्याहुर्भवांश्चैव पितुः प्रियः।। II.101.8

"ऐसा कहा जाता है, प्रिय पुत्र का दिया हुआ जल आदि पितृलोक में अक्षय होता है। आप ही पिता के परम प्रिय पुत्र हैं।"

* अथवा विधिपूर्वक हो सके, अर्थात् राम के द्वारा, क्योंकि जैसा कि दोनों बड़े टीकाकार निर्दिष्ट करते हैं, *"अग्निहोत्रमिति राजदेहस्याप्युपलक्षणम्।* 'अग्निहोत्र' शब्द संभवतः राजा के शरीर की ओर इशारा करता है।

त्वामेव शोचंस्तव दर्शनेप्सुस्त्वय्येव सक्तामनिवर्त्यं बुद्धिम्।
त्वया विहीनस्तव शोकरुग्णस्तवां संस्मरन् स्वर्गमवाप राजा।। V.101.9

"राजा दशरथ तो चले गए। उनके मन के अन्तिम विचार केवल आप ही थे। आपकी प्रतीक्षा कर रहे थे। वे आपको देखने के लिये तरस रहे थे। उनकी समस्त इच्छायें आप पर केन्द्रित थीं। आपके जाने के पश्चात् उनके हृदय की पीड़ा का किसी प्रकार शमन न हो सका। वे सदैव आप ही को याद करते रहे। वे तो चले गए। उनके प्रति जो कुछ भी आप अर्पित करेंगे, उसका स्वागत कहीं अधिक होगा, उससे, जो कि मैंने पूर्व में अर्पित किया है।"

जब कौशल्या ने भरत पर राज्य लालसा का आरोप लगाया था और अग्निहोत्र साथ लेकर चले जाने की धमकी दी थी, जिससे वे अन्त्येष्टि करने के साधन से वञ्चित हो जायें, मानो उस समय भरत का हृदय टूक–टूक हो गया। उनके शोक और व्यथा का पारावार न था, और जिन श्लोकों के अनुक्रम द्वारा इसे अभिव्यक्त किया गया है, वे विख्यात हो गए हैं। एक पूरे सर्ग (II.75) में वे शपथपूर्वक घोषणा करते हैं कि उनकी कोई ऐसी इच्छा नहीं थी कि श्री राम राज्य से वञ्चित होकर वन को चले जायें। वे स्वयं को धिक्कारते हैं कि यदि उनकी ऐसी कोई इच्छा रही हो, तो वे अभिशप्त हों। पूरे के पूरे सर्ग में श्लोकों का अन्त *'यस्यार्योऽनुमते गतः'* से हुआ है (जिसकी अनुमति से श्री राम बन गए हो, उस पापी को पाप लगे)। ये शब्द श्लोकों में बार–बार दोहराये गये हैं, उन सबका यहाँ देना आवश्यक नहीं। यह तो बिल्कुल स्पष्ट है कि उस समय भरत द्वारा ये श्लोक बोले नहीं गये होंगे। वस्तुतः स्वयं कवि ही का अभिप्राय रहा होगा और स्वयं मनुष्य के कर्त्तव्यों और सद्गुणों के पूरे चक्र का वर्णन करना। इस पूरे समूह का समावेश वह इन श्लोकों में करता है। उन्हें भरत के मुख से निःसृत करवाता है। भरत से कहलवाया जाता है, "मुझे उस व्यक्ति के जैसा पाप लगे, जो अमुक कर्त्तव्य में चूकता है अथवा अमुक पाप या अपराध करता है," इत्यादि। वस्तुतः, टीकाकार ऐसा कहते हैं कि कवि का आशय था, भरत की वाणी द्वारा मनुष्य के जीवन में कर्त्तव्य और सद्गुणों का सर्वांगीण वर्णन करना। इनमें दो श्लोक ऐसे भी हैं, जिनमें ध्वनियों का संयोग कुछ विलक्षण हैं। मुझे ऐसा प्रतीत होता है, जो लोग संस्कृत भाषा सीखना आरम्भ करते हैं, वे अपनी स्पष्ट उच्चारण की क्षमता की परीक्षा करने के लिए इन श्लोकों का उपयोग करें।

अधर्मो योऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमते गतः। II.75.23,25

"जिसकी अनुमति से आर्य श्री राम वन गये हों, वह उसी अधर्म का भागी हो," यह है तो एक सरल सा श्लोक, परन्तु यहाँ ऊष्म ध्वनियों का आधिक्य है, जिनका उच्चारण करते समय वाणी की लड़खड़ाने की सम्भावना है।

जब यह सशपथ अपनी निर्दोषता की सफ़ाई देने का क्रम पूरा हो गया, तो कौशल्या का हृदय भी पिघला। वे बोलीं, "नहीं ऐसा नहीं, मुझे खेद है, मेरे मुख से ऐसे शब्द निकल गए।"

दिष्टया न चलितो धर्मादात्मा ते सहलक्ष्मणः।
वत्स सत्यप्रतिज्ञो मे सतां लोकानवाप्स्यसि।। II.75.62

"वत्स, सौभाग्य की बात है, तुम भी बिल्कुल लक्ष्मण के समान हो। यह बात मैं पूर्णरूप से पहले समझ न पाई थी। तुम्हारा चित्त धर्म से विचलित नहीं हुआ। तुम 'सत्यप्रतिज्ञ' हो। तुम अपना उद्देश्य पूर्णतया प्राप्त करोगे। तुम्हें सत्पुरुषों के लोक अवश्य प्राप्त होंगे।"

इत्युक्त्वा वाङ्क्रमानीय भरतं भ्रातृवत्सलम्।
परिष्वज्य महाबाहुं रुरोद भृशदुःखिता।। II.75.63

ऐसा कहकर कौशल्या ने भ्रातृभक्त महाबाहु भरत को गोद में खींच लिया और अत्यन्त दुःखी होकर उन्हें गले से लगा कर वे फूट–फूट कर रोने लगीं। और भरत ने फिर क्या किया?

लालप्यमानस्य विचेतनस्य प्रणष्टबुद्धेः पतितस्य भूमौ।
मुहुर्मुहुर्निःश्वसतश्च दीर्घं सा तस्य शोकेन जगाम रात्रिः।। II.75.65

पृथ्वी पर पड़े हुए भरत की विवेकशक्ति नष्ट हो गई। वे अचेत से विलाप करते बार–बार लम्बी सांसें खींचते, फूट–फूट कर हिचकियाँ लेकर राम का नाम लेकर रोते रहे। इस प्रकार धरती पर लोटते हुए, शोक में ही रात्रि बीत गई। राम का नाम पुकारते, कभी जाने और कभी अनजाने।

तब वे निश्चय करते हैं कि अन्त्येष्टि के पश्चात्, जहाँ भी श्री राम होंगे, वहाँ जायेंगे और उन्हें लौटा कर लायेंगे। आपको स्मरण होगा, जब भरत श्री राम से वास्तव में मिले (इस प्रसंग पर हमने विस्तार पूर्वक चर्चा कर चुके हैं) उन्होंने कहा था, "यदि पिताजी के आदेश का पालन करने हेतु परिवार के किसी सदस्य को वन में निवास करना आवश्यक है, तो इस आदेश को पालन करने के लिये मैं चौदह वर्ष वन में रहूँगा। आप अयोध्या लौट जायें, मैं आपका स्थान ले लूँगा।" उत्तर में श्री राम ने कहा, "यह एवज़ी वाला समझौता करने का विषय नहीं है। प्रत्येक मनुष्य को अपना दायित्व स्वयं ही निभाना चाहिए।" भरत का यह विचार कि श्री राम के बजाय वे स्वयं वन को चले जायें, इस काव्य में बहुत पहले आता है। ऐसा नहीं था कि चित्रकूट में यह विचार सहसा उनके मस्तिष्क में आया हो। पूर्व में भी अपनी माता के साथ दुःखद भेंट के समय ऐसा प्रतीत होता है, भरत ने इस दिशा में सोचा विचारा था। पूर्व में ही उन्होंने अपनी माता से कहा था कि वे स्वयं ही वन जाकर माता के अभिप्राय को, जो उनको राजा बनाने का है, विफल कर देंगे। वे जाकर अपने भ्राता श्री राम को वापस ले आयेंगे

और उनका दास बनकर सुखी और संतुष्ट चित से जीवन व्यतीत करेंगे। यह सब माता के प्रति किसी दुर्भावना से प्रेरित होकर नहीं, अपितु निजी आत्म–सन्तुष्टि के लिये था।

निवर्तयित्वा रामं च तस्याहं दीप्ततेजसः।
दासभूतो भविष्यामि सुस्थितेनान्तरात्मना।। II.73.27

फिर वे कुछ और आगे बढ़े और कहने लगे कि श्री राम के प्रति दुराचरण के लिये वे प्रायश्चित करेंगे, वन में उनका स्थान लेकर।

आनाय्य च महाबाहुं कौसल्याया महाबलम्।
स्वयमेव प्रवेक्ष्यामि वनं मुनिनिषेवितम्।। II.74.31

"महाबली कौसल नरेश श्री राम को लोटा कर, उन्हें राज्य सिंहासन पर पदासीन करके मैं स्वयं मुनि जन सेवित जन में प्रवेश करूँगा।" पिता के श्राद्ध के पश्चात् चौदहवें दिन जब मंत्री मंडल ने भरत से राज्य ग्रहण करने का प्रस्ताव किया, उन्होंने अभिषेक सामग्री की परिक्रमा करके वहाँ उपस्थित हुए सब लोगों से इस प्रकार कहा :

रामः पूर्वो हि नो भ्राता भविष्यति महीपतिः।
अहं त्वरण्ये वत्स्यामि वर्षाणि नव पञ्च च।। II.79.8

"श्री राम ही हमारे बड़े भाई हैं। अतएव, वही राजा होंगे। उन चौदह वर्ष निर्वासन काल में मैं श्री राम के बदले में वन में रहूँगा।"

इसके परिप्रेक्ष्य में उनका उद्देश्य यह प्रतीत होता है :

न सकामां करिष्यामि स्वामिमां मातृगन्धिनीम्।
वने वत्स्याम्यहं दुर्गे रामो राजा भविष्यति।। II.79.12

"जिसमें लेशमात्र ही मातृभाव शेष है अर्थात् जो केवल नाम मात्र के लिए ही मेरी माँ कहलाती है, अपनी माता कहलाने वाली इस कैकेयी का मनोरथ कदापि सफल नहीं होने दूँगा। श्री राम ही अयोध्या के राजा होंगे और मैं दुर्गम वन में निवास करूँगा।"

इस प्रकार वे इस स्त्री से प्रतिशोध लेना चाहते हैं। "तुम मुझे राजा बनाना चाहती थीं, श्री राम को वनवासी। इस दुष्कर्म के लिए तुम्हें इस दंड देने के लिए हम अपनी भूमिकायें अदला–बदली करेंगे। मैं वन में जाऊँगा और इस प्रकार तुम्हें अति दुःखार्त बनाऊँगा," यह उनका अभिप्राय है। आपको स्मरण होगा, जब भरत श्री राम को लौटा लाने के लिये माताओं, पुरवासियों तथा सेना सहित शृंगवेरपुर में गंगा तट पर पहुँचे, उनकी भेंट निषादराज गुह से हुई। इस विशाल सेना को देखकर पहल गुह को भरत के प्रति कुछ शंका हुई। गुह श्री राम के परम मित्र थे। वे सोचने लगे कि निर्वासन के बाद इतना शीघ्र भरत इतनी विशाल सेना और पूरे राज महल सहित क्यों आये हैं?

उनका उद्देश्य क्या हो सकता है? उद्देश्य अच्छा तो नहीं मालूम होता। आतिथ्य अर्पित करने के पश्चात् निषाद राज सीधे–सीधे भरत से पूछते हैं, "एक बात बताइये, अनायास ही आप श्री राम के प्रति कोई दुर्भावना लेकर तो नहीं जा रहे हैं? आपकी यह विशाल सेना मेरे मन में शंका सी उत्पन्न कर रही है। मुझे बतायें, आपका अभिप्राय क्या है?" भरत जैसे ही अपना प्रयोजन बताते हैं, गुहराज संतुष्ट होकर कहते हैं :

धन्यस्त्वं न त्वया तुल्यं पश्यामि जगतीतले।
अयत्नदागतं राज्यं यस्त्वं त्यक्तुमिहेच्छसि।। II.85.12

"आप कितने महान हैं, आप धन्य हैं! बिना किसी प्रयत्न के आपको इतना विशाल राज्य प्राप्त हुआ, जिसको आप पूरे सम्मान के साथ ले सकते हैं। यदि आप ऐसा करते भी, तो आपको कोई दोष नहीं दे सकता था। तथापि आप उसका परित्याग करना चाहते हैं, एक ऐसे उद्देश्य की परिपूर्ति के लिये, जिसे आप अपना परम कर्त्तव्य मानते हैं। आपके समान धर्मात्मा मुझे इस भूमंडल पर कोई अन्य दिखाई नहीं देता।"

यह बात सुनकर कि श्री राम अपने साथियों सहित वहाँ एक रात नदी के तट पर ठहरे थे, भरत तीव्र व्यथा संकुल हो गए और निषादराज से कहने लगे, "यही वह स्थल है, जहाँ मेरे भैया और भाभी ने उन सब विलास सामग्रियों का परित्याग किया, जिनके वे अधिकारी थे। यहाँ वे कुशा पर लेटे और बैठे और यहीं उन्होंने अपनी साज–सज्जा सामग्री उतार डाली। यहीं वे जन साधारण के समान रहे। अब तुम मुझे ठीक–ठीक उस स्थान का बताओ, जहाँ मेरे भाई ने शयन किया था, जहाँ मेरी भाभी ने शयन किया था। मुझे वह सब कुछ बताओ उन्होंने क्या किया?" वर्णन, चाहे कितना भी विस्तृत था, किन्तु उन्हें संतोष नहीं हो पा रहा था। पूरी रात भर वे गुह से वृत्तान्त सुनते रहे। गुहराज ने यह भी बताया किस प्रकार श्री राम ने उनके द्वारा भेजे गए नाना भाँति के खाद्य पदार्थ स्वीकार किये, किन्तु क्षात्रधर्म को स्मरण करके ग्रहण नहीं किया और आदरपूर्वक लौटा दिए। सीता सहित श्री राम ने उस रात उपवास ही किया। लक्ष्मण जो जल लाये थे, केवल उसी को पीकर संतुष्ट हो गये। तत्पश्चात् गुह अपने स्थान पर लौट आये। किन्तु भरत अपने धड़कते हृदय को हाथ से दबाए वृक्ष की जड़ के पास जाकर उन स्थलों का निरीक्षण करने लगे क्योंकि वे स्थान उनके लिये भी उतने ही पवित्र थे, जितने गुह के लिए। उस स्थान पर पहुँच कर, जहाँ उनको बताया गया था कि सीता ने वहाँ शयन किया था, भरत कहते हैं :

मन्ये साभरणा सुप्ता सीतास्मिञ्शयने शुभा।
यत्र तत्र हि दृश्यन्ते सक्ताः कनकबिन्दवः।। II.88.15

"शायद सीता भाभी अपने आभूषण पहन कर ही सो गई होगी। और यहाँ–वहाँ मैं सुवर्ण मोती देख सकता हूँ।"

विचार यह है कि कठोर शैय्या से घिसट कर आभूषणों से कुछ कण गिर गये थे क्योंकि अधिक समय अभी नहीं गुज़रा था, चिह्न भी अभी शेष थे।

उत्तरीयमिहासक्तं सुव्यक्तं सीताया तदा।
तथा ह्येते प्रकाशन्ते सक्ताः कौशेयतन्तवः।। II.88.15

फिर उनका ध्यान दूसरी वस्तु पर जाता है। "और हाँ, यहाँ उस समय सीता भाभी की चादर (उत्तरीया) उलझ गई होगी। स्पष्ट दिखाई देता है, यहाँ चिपके हुए रेशम के कुछ तागे चमक रहे हैं।"

यदि सुवर्णकण आभूषणों से टूट कर इतने समय तक चिपके रह सकते थे, तो इससे मुझे लगता है कि उन दिनों मणिकार की कला कुछ अधिक विकसित नहीं रही होगी। यह उस स्थान पर देखकर कि श्री राम, सीता और लक्ष्मण ने अपनी सजधज त्याग कर अत्यन्त सादे जीवन का व्रत लिया था। वे कहते हैं :

अद्यप्रभृति भूमौ तु शयिष्येऽहं तृणेषु वा।
फलमूलाशनो नित्यं जटावीराणि धारयन्।। II.88.26

"आज से मैं भी ऐसा ही करने जा रहा हूँ। मैं भी पृथ्वी पर अथवा घास पर ही सोऊँगा। अब में कोमल शय्या पर शयन नहीं करूँगा। गद्देदार पलंग मेरे लिये त्याज्य हैं। केवल फल–मूल का ही भोजन करूँगा। सदा वल्कल अथवा मृगछाला तथा जटा धारण किए रहूँगा।"

तस्यार्थमुत्तरं कालं निवत्स्यामि सुखं वने।
तं प्रतिश्रवमामुच्य नास्य मिथ्या भविष्यति।। II.88.27

"वनवास के जितने दिन शेष है, उस काल तक मैं ही यहाँ सुखपूर्वक निवास करूँगा। मेरे भाई ने प्रतिज्ञा की है कि परिवार में से किसी को वन में रहना है। मैं यहाँ रहूँगा। ऐसा करने से श्री राम की की गई प्रतिज्ञा भी भंग न होगी। उसकी पूर्ति भी हो जायेगी।"

वसन्तं भ्रातुरर्थाय शत्रुघ्नो मानुवत्स्यति।
लक्ष्मणेन सह त्वार्यो ह्ययोध्यां पालयिष्यति।। II.88.28

"भाई के बजाय, वन में निवास करते समय शत्रुघ्न मेरे साथ रहेंगे और बड़े भाई, श्री राम लक्ष्मण को लेकर अयोध्या का पालन करेंगे।"

अभिषेक्ष्यन्ति काकुत्स्थमयोध्यायां द्विजातयः।
अपि मे देवताः कुर्युरिम सत्यं मनोरथम्।। II.88.29

"अयोध्या में ब्राह्मण लोग काकुत्स्थ भूषण श्री राम का अभिषेक करेंगे और उनको शासक बनायेंगे। देवता मेरी इस प्रतिज्ञा को सफल करें।" यद्यपि भरत ने अपनी पोशाक़ बदलने की बात तो कही थी, तथापि उन्होंने ऐसा तुरन्त नहीं किया। अगले दिन प्रातः काल वे भरद्वाज मुनि के आश्रम में पहुँचते हैं, और वहाँ कवि कहता है :

वसानो वाससो क्षौम पुरोधाय पुरोधसम्।। II.90.2

भरत केवल दो रेशमी वस्त्र धारण करके, पुरोहित वसिष्ठ को आगे करके, पैदल ही वहाँ गये। उनकी अन्तरीय और बाह्य पोशाक़ में दो टुकड़े थे।

मैं जानता हूँ, जब हम किसी पवित्र स्थान पर जाते हैं, तब रेशमी वस्त्र धारण करने की प्रथा है। उन्होंने चीर और वल्कल धारण नहीं किये। पोशाक़ के विषय में तो आप जानते ही हैं कि लोग कितने सावधान होते हैं। यदि किसी व्यक्ति को कोई विशेष पहनावा पसन्द है, आप वैसी ही पोशाक़ पहनकर उसके सम्मुख जायेंगे, तो वह अवश्य ही प्रसन्न होगा। किन्तु, जब भरत राम से मिलने गए :

जटिल चीरवसनं प्राञ्जलिं पतितं भुवि।। II.100.1

वे जटा और मोटा खुरदरा चीर वस्त्र धारण किये, हाथ जोड़ कर पृथ्वी पर पड़ गए।

इस प्रकार वे श्री राम से भेंट करने गए। श्री राम के पास पहुँचने से पूर्व उन्हें काफ़ी चढ़ाई चढनी पड़ी और चलते समय वे अपने हृदय के उद्‌गार बाहर उँडेलते हुए शत्रुघ्न को सुनाते रहे, जो उनके साथ चल रहे थे। वहाँ भी वे बड़े अलंकारिक ढंग से संवेदनात्मक रूप में अपनी भावनाएँ व्यक्त करते हैं। वे जो श्लोक कहते हैं, उनका अन्त इन शब्दों में होता है : *'न मे शानितर्भविष्यति'* अर्थात् "मेरी आत्मा को शान्ति नहीं मिलेगी, जब तक यह मेरी अमुक बात नहीं होती।"

यावन्न रामं द्रक्ष्यामि लक्ष्मणं वा महाबलम्।
वैदेहीं वा महाभागां न मे शांतिर्भविष्यति।। II.98.6

"जब तक श्री राम, महाबली लक्ष्मण अथवा महाभागा वैदेही सीता को न देख लूँगा, तब तक मुझे शान्ति नहीं मिलेगी।"

यावन्न चन्द्रसंकांशं द्रक्ष्यामि शुभमाननम्।
भ्रातुः पद्मपलाशाक्षं न मे शांतिर्भविष्यति।। II.98.7

"जब तक अपने पूजनीय भ्राता, श्री राम के कमलदल सदृश विशालनेत्र वाले सुन्दर मुखचन्द्र का दर्शन न कर लूँगा, तब तक मुझे शान्ति नहीं मिलेगी।"

सिद्धार्थः खलु सौमित्रिर्यश्चन्द्रविमलोपमम्।
मुखं पश्यति रामस्य राजीवाक्षं महाद्युति।। II.98.10

"निश्चय ही सुमित्रानन्दन, लक्ष्मण बड़े भाग्यशाली है। मुझे उनसे ईर्ष्या होती है। वे तो कृतार्थ हो गए, जो श्री राम के कमल सदृश नेत्रवाले महातेजस्वी मुख का निरन्तर दर्शन करते हैं। वह मुख, जो चन्द्रमा के समान निर्मल एवं आह्लाद प्रदान करने वाला है।"

यावन्न चरणौ भ्रातुः पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ।
प्रगृहीष्यामि शिरसा न मे शान्तिर्भविष्यति।। II.98.8

"जब तक भाई श्री राम के राजोचित लक्षणों से युक्त चरणारविन्दों में गिरकर उनको अपने हाथों में लेकर सिर पर नहीं रखूँगा, तब तक मुझे शान्ति नहीं मिल सकती।"

यावन्न राज्ये राज्यार्हः पितृपैतामहे स्थितः।
अभिषेकजलक्लिन्नो न मे शान्तिर्भविष्यति।। II.98.9

"जब तक राज्य के सच्चे अधिकारी आर्य श्री राम विभिन्न समुद्रों और पवित्र नदियों के अभिषेक जल से सिक्त होकर अयोध्या में पिता पितामहों के राज्य पर प्रतिष्ठित नहीं हो जायेंगे, तब तक मेरे मन को शान्ति नहीं मिलेगी।"

श्री राम की ओर से भी भरत के प्रति विश्वास असीम था। वन को प्रस्थान करते समय जब प्रजाजन नगर के बाहर तक पीछे पीछे आते हैं, वे लोग रोते पुकारते याचना करते है, "आप ही हमारे एकमात्र आश्रय है, लौट आइये। हमें किसी अन्य के भरोसे छोड़ कर नहीं जाइये।" तब श्री राम मुड़कर उनसे कहते हैं :

या प्रीतिर्बहुमानश्च मय्ययोध्यानिवासिनाम्।
मत्प्रियार्थं विशेषेण भरते सा विधीयताम्।। II.45.6

"अयोध्यावासियों का मेरे प्रति जो प्रेम और आदर भाव है, वह मेरी प्रसन्नता के लिए, भरत के प्रति और भी अधिक रूप से होना चाहिए।"

स हि कल्याणचारित्रः कैकेय्यानन्दवर्धनः।
करिष्यति यथावद्वः प्रियाणि च हितानि च।। II.45.7

"उनका चरित्र बड़ा सुन्दर है और सबके लिए कल्याणकारी है। कैकेयी नन्दन भरत सब कुछ सँभाल लेंगे और आप सबका यथावत प्रिय और हित करेंगे।" क्या आपने किसी राजा को जाते समय अपने उत्तराधिकारी के लिये इतना कुछ कहते सुना है?

ज्ञानवृद्धो वयोबलो मृदुर्वीर्यगुणान्वितः।
अनुरूपः स वो भर्ता भविष्यति भयापहः।। II.45.8

"वे अवस्था में छोटे होने पर भी ज्ञान में बड़े हैं। पराक्रमोचित गुणों से सम्पन्न होने पर भी स्वभाव में बड़े कोमल हैं। वे आप के लिये बड़े योग्य राजा होंगे। वे प्रजा के संकटों का निवारण करेंगे।"

यह बड़े मज़े की बात है कि श्री राम भरत से केवल एक दिन ही बड़े थे, फिर भी वे उनके लिए 'बाल' शब्द का प्रयोग करते हैं।

भरतः खलु धर्मात्मा पितरं मातरं च मे।
धर्मार्थकामसहितैर्वाक्यैराश्वासयिष्यति।। II.46.7

जब वे लक्ष्मण से वार्तालाप करते हैं, तो कहते हैं, "क्या तुम ऐसी कल्पना भी कर सकते हो कि हमारे पिता और माताओं को, जिनको हम पीछे छोड़ आये हैं, किसी प्रकार का कष्ट उनको होने की सम्भावना है? नहीं, भरत बहुत सच्चरित पुत्र हैं।"

भरतस्यानृशंसत्वं विचिन्त्याहं पुनः पुनः।
नानुशोचामि पितरं मातरं चापि लक्ष्मण ।। II.46.8

"जब मैं भरत के कोमल स्वभाव का बार–बार स्मरण करता हूँ, मूझे माता–पिता के लिये अधिक चिन्ता नहीं होती। भरत उनकी देखभाल उसी प्रकार करेंगे, जैसे मेरी और तुम्हारी उपस्थिति में करते थे।"

अरण्य कांड में जब लक्ष्मण कैकेयी के प्रति कठोर शब्दों का प्रयोग करते हैं, श्री राम तुरन्त उन्हें रोक देते हैं और कहते हैं :

न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कथंचन।
तामेवेक्ष्वाकुनाथस्य भरतस्य कथां कुरु।। III.16.37

"तुम्हें मझली माता कैकेयी की कभी निन्दा नहीं करनी चाहिए। यदि कुछ कहना भी चाहो, तो इक्ष्वाकु वंश के स्वामी, भरत की चर्चा करो। हमें उस सदात्मा भरत की चर्चा करना चाहिए। कैकेयी की चर्चा करके क्यों अपने को दुःखी बनाया जाये?"

निश्चितापि हि मे बुद्धिर्वनवद्वासे दृढव्रता।
भरतस्नेहसंतप्ता बालिशी क्रियते पुनः।। III.16.38

"यद्यपि मेरी बुद्धि दृढ़तापूर्वक व्रत का पालन करते हुए चौदह वर्ष तक वन में रहने का निश्चत कर चुकी है, तथापि प्रिय भरत के स्नेह से सन्तप्त होकर मेरी इच्छा होती है कि एक बार भरत को देख लूँ। तुम्हें याद है न, वह समय, जब हम पर्णकुटी में थे? मुझे भरत की प्रिय, मधुर, मन को भाने वाली अमृत के समान हृदय को आह्लाद करने वाली बातें याद आ रही है। तुम्हें भी याद है न?" वे कहते हैं, "क्या मैं कभी उन्हें भुला सकता हूँ?"

संस्मराम्यस्य वाक्यानि प्रियाणि मधुराणि च।
हृद्यान्यमृतकल्पानि मनः प्रह्लादनानि च।। III.16.39

ये विशेषण ध्यान देने योग्य हैं।

कदा न्वहं समेष्यामि भरतेन महात्मना।
शत्रुघ्नेन च वीरेण त्वया च रघुनन्दन।। III.16.40

"लक्ष्मण! ये चौदह वर्ष कभी समाप्त होंगे भी? कब वह दिन आयेगा, जब मैं तुम्हारे साथ चलकर महात्मा भरत और वीरवर शत्रुघ्न से मिलूँगा? क्या हम सब मिलकर एक बार फिर एकत्रित होकर एक कुटुम्ब के समान रह सकेंगे?"

अब हम युद्ध कांड पर आयें। रावण का वध हो चुका है। विभीषण का अभिषेक भी हो चुका है। सीता से सम्बन्धित अन्तिम दृश्य भी समाप्त प्राय हैं। श्री राम अयोध्या लौटने की तैयारी कर रहे हैं। विभीषण उनसे कुछ दिन और रुकने की विनती करते हैं,

"आपने इतनी दूर से आने की कृपा करी और विशाल राज्य दिलाने में मेरी सहायता की। अब कुछ थोड़े दिन ठहर कर मेरा आतिथ्य स्वीकार कर मुझे कृतार्थ कीजिये," इस प्रकार विभीषण यह कहते हैं। "क्या आप ऐसे ही चले जायेंगे, सर्वथा उचित नहीं?"

पूजितोऽहं त्वया सौम्य साचिव्येन परन्तप।।
सर्वात्मना च चेष्टाभिः सौहृदेनोत्तमेन च।
न खल्वेतन्न कुर्यां ते वचनं राक्षसेश्वर।।
तं तु मे भ्रातरं द्रष्टुं भरतं त्वरते मनः।
मां निवर्तयितुं योऽसौ चित्रकूटमुपागतः।।
शिरसा याचतो यस्य वचनं न कृतं मया। VI.124.17-20

श्री राम उत्तर में कहते हैं, "मेरे पास मित्र और उत्तम सचिव बनाकर तुमने सब प्रकार की चेष्टाओं द्वारा मेरा सम्मान किया। तुमने अपने शौर्य और पराक्रम से हार्दिक सहायता दी। मेरे लिये तो यही बहुत कुछ है। अब और आतिथ्य की क्या आवश्यकता है? मैं ऐसा क्यों कर रहा हूँ, राक्षसेश्वर? क्या तुम ऐसा सोच सकते हो कि मेरे मन में भी तुम्हें प्रसन्न करने और तुम्हारे प्रति अपना स्नेह प्रदर्शित करने की इच्छा नहीं है? तुम्हारे इस अनुरोध को मैं निश्चय ही अस्वीकार नहीं कर सकता। ऐसा कदापि नहीं सोचना कि मैं इतना अशिष्ट हूँ कि तुम्हारे निमंत्रण को अस्वीकार करूँ। किन्तु, मेरी विवशता यह है कि मैं यहाँ और अधिक रुक नहीं सकता क्योंकि इस समय मेरा मन अपने भाई को देखने के लिये आतुर है। मेरा ऐसा भाई, जो जनता, सेना और परिवार सहित मुझे लौटा ले जाने के लिये चित्रकूट आया था। मेरे चरणों में सिर झुकाकर याचना करने पर भी अपनी प्रतिज्ञा के प्रति दृढ़व्रतता के कारण, निष्ठुर बनकर, जिसकी बात मैंने नहीं मानी, वही बात अब मुझे खटक रही है।"

अब मैं भरत के चरित्र एक ऐसे अंश पर आता हूँ, जिसको छोड़ा नहीं जाना चाहिए। जब हम उनको श्री राम के भाई के रूप में देखते हैं, उनके चरित्र का एक ऐसा पहलू भी है, जिसकी चर्चा करना सुखद नहीं है। मैं उसका उल्लेख करूँगा, किसी छिद्रान्वेषण की दृष्टि से नहीं, न ही एक सचमुच महान चरित्र की गरिमा को किसी प्रकार कम करने के अभिप्राय से। मेरा उद्देश्य तो केवल यह दिखलाना है कि कुछ ऐसे लोग भी होते हैं, जिनके मन में किसी के प्रति किये गए अन्याय अथवा बुराई के कारण इतनी घृणा उत्पन्न हो जाती है कि उससे उनके व्यक्तित्व का सामंजस्य भंग हो जाता है। भरत में उस गुण का अभाव था, जो एक कर्त्तव्यनिष्ठ पुत्र में होना चाहिए। वे अपने पिता के प्रति पूर्णतया निष्ठावान और श्रद्धालु थे। उन्हें केवल यही पंसद था कि ज़रा जीर्ण अवस्था में वे कैकेयी की हर बात मान लेते थे और उन्होंने इन भावनाओं को काफ़ी कठोर शब्दों में अभिव्यक्त किया है। परन्तु इस समय तो मैं उनके अपनी माता कैकेयी के प्रति सम्बन्धों के विषय में सोच रहा हूँ। हम यह याद रखें कि

प्रायः हिन्दुओं में परम्परा से कैकेयी एक घृणित और कलंकित रूप में देखी जाती रही है। अपने इन दोषों के कारण उसे काफ़ी भारी क़ीमत चुकानी पड़ी है। अपने जीवन काल में भी उसके प्रति अपशब्दों की कोई कमी नहीं रही थी। परन्तु हम याद रखें, राजघरानों में इस प्रकार को षड्यन्त्रों का होना असामान्य नहीं है। एक स्त्री का अपने बेटे को राज्य दिलाने के लिये षड्यन्त्र रचना असाधारण नहीं है। दुःख केवल इस बात का था कि ऐसा इक्ष्वाकु कुल में घटा, जहाँ श्री राम प्रधान पात्र थे। परन्तु आप जानते हैं, कैकेयी एक भली महिला हुआ करती थी, जो राम को उतना ही प्यार करती थी, जितना कि भरत को, पर किस प्रकार एक चतुर षड्यन्त्रकारिणी ने उसे अनैतिक कार्य के लिये उकसाया।

लक्ष्मण और सीता सहित श्री राम के वनगमन के पश्चात् शोकाकुल दशरथ ने प्राण त्याग दिए। पाँच दूत केकय देश भेजे गए, जहाँ भरत शत्रुघ्न सहित अपनी ननिहाल में थे। दूतों को निर्देश किया गया था कि किसी प्रकार का शोक प्रकट न करते हुए भरत से केवल इतना कहें, "पुरोहित जी तथा समस्त मंत्रिमंडल ने आपको शुभकामनायें भेजी हैं, अब आप यहाँ से शीघ्र ही चलिए, अयोध्या में अत्यन्त आवश्यक कार्य है।" भरत को अपनी अनुपस्थिति में घटी घटनाओं की बिल्कुल जानकारी नहीं थी। ध्यान रहे कि दूत उन्हें वास्तविक नहीं बताते। वे शीघ्र ही प्रस्थान करते हैं। प्रस्थान से पूर्व वे दूतों से अपने परिवार के सदस्यों का कुशल–क्षेम पूछते हैं। कौशल्या, श्री राम, लक्ष्मण आदि के विषय में पूछताछ करते हैं। प्रत्येक के लिये किसी न किसी अच्छे शब्द का प्रयोग करते हैं। "क्या धर्मज्ञा आर्या कौशल्या को कोई कष्ट तो नहीं है? वीर लक्ष्मण और शत्रुघ्न की माता सुमित्रा स्वस्थ और सुखी तो हैं?" इस प्रकार हम देखते हैं वे कौशल्या और सुमित्रा के लिये वे *'धर्मज्ञा'* शब्द का प्रयोग करते हैं। किन्तु, जब वे स्वयं अपनी माता के विषय पर आते हैं, यद्यपि अभी तक कैकेयी द्वारा किए गये अनिष्ट का उन्हें कोई अनुमान भी न था, फिर भी वे इस प्रकार कहते हैं :

आत्मकथा सदा चण्डी क्रोधना प्राज्ञमानिनी।
अरोगा चापि मे मता कैकेयी किमुवाच ह।। II.70.10

"आत्मकामा अर्थात् जो सदा अपना ही स्वार्थ सिद्ध करने की कामना करती है और जो अपने को बहुत बुद्धिमती समझती है, उस उग्र स्वभाव वाली क्रोधशीला मेरी माँ को तो कोई कष्ट नहीं है? उसने क्या कहा है?" वे पूछते हैं।

अब मैं पूछता हूँ, आपकी माता, चाहे कितनी भी क्यों बुरी न हो, उसके आचरण के विषय में आपको धारणा कितनी भी ख़राब क्यों न हो, फिर भी क्या उसके पास से आये हुए दूतों के सामने आप इस प्रकार बोलेंगे? निश्चय ही आप उनको संबोधित करते समय इस ढंग से बातचीत नहीं करेंगे। इस प्रकार की कोई नैतिक बाध्यता तो नहीं कि आप अपनी माता के विषय में सदा सत्य ही बोलें, और बिना इस विषय में, किसी अनुरोध के। यह ऐसी च्युति है, जिसको मैं क्षमा नहीं कर सकता।

माता, चाहे कितनी भी अनैतिक क्यों न हो, एक पुत्र की उसके प्रति ऐसी मनोवृत्ति नहीं होनी चाहिए। मैं यह कहना नहीं चाहता कि वे अपनी माता की अकारण ही और मिथ्या भाव से प्रशंसा करता रहे। उन्हें ऐसा करने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि अन्य लोग उसकी बुराई भी करें, तो उन्हें चुप ही रहना चाहिए, एक शब्द भी अपयश का बोलना नहीं चाहिए। माता के प्रति एक वाक्युद्ध छेड़ देना अत्यन्त कलंककर और निन्दात्मक है।

बाद में घर लौटने पर जब उन्हें पता चलता है कि उनकी माँ ने उनके लिए क्या किया। वे पूरे दो सर्गों में अत्यन्त अक्षम्य भाषा में माँ की भर्त्सना करते हैं। मैं कुछ चुने हुए श्लोक आपके सामने प्रस्तुत करता हूँ, जो मुझे विशेष रूप से उल्लेखनीय लगते हैं।

त्वत्कृते मे पिता वृत्तो रामश्चारण्यमाश्रितः।
अयशो जीवलोके च त्वयाहं प्रतिपादितः।। II.74.6

"तुम्हारे ही कारण मेरे पिता की मृत्यु हुई, श्री राम को भी वन का आश्रय लेना पड़ा। मुझे भी तुमने इस जगत में पीढ़ियों–पीढ़ियों तक के लिए कलंकित कर दिया।"

मातृरूपे ममामित्रे नृशंसे राज्यकामुके।
न तेऽहमभिभाष्योऽस्मि दुर्वृत्ते पतिघातिनि।। II.74.7

"दुराचारिणी, पतिघातिनी, तुम माता के रूप में मेरी शत्रु हो। मैं तुमसे बात भी नहीं करता।"

न त्वमश्वपतेः कन्या धर्मज्ञराजस्य धीमतः।
राक्षसी तत्र जानासि कुलप्रध्वंसिनी पितुः।। II.74.9

"तुम बुद्धिमान धर्मराज अश्वपति की कन्या नहीं हो, भूल से उनके कुल में कोई राक्षसी पैदा हो गई, जो पिता के वंश का विध्वंस करने वाली हो।"

सा त्वमग्निं प्रविश वा स्वयं वा दंडकान् विश।
रज्जुं बधान वा कण्ठे न हि तेऽन्यत्परायणम्।। II.74.33

"अब तुम क्यों जलती आग में प्रवेश नहीं करती? अथवा जहाँ तुमने मेरे भाई और भाभी को भेज दिया है, तुम स्वयं भी उस दंडकारण्य में चली जाओ अथवा गले में रस्सी बाँध कर प्राण दे दो। इसके अतिरिक्त तुम्हारे लिए कोई गति नहीं है।"

अहमप्यवनिं प्राप्तो रामे सत्यपराक्रमे।
कृतकृत्यो भविष्यामि विप्रवासितकल्मषः।। II.74.34

"सत्य पराक्रमी श्री राम को जब मैं अयोध्या लौटा लाऊँगा, जब वे अयोध्या की भूमि पर पदार्पण करेंगे और मैं यह सब राज्य उन्हें सौंप दूँगा। तभी यह मेरा कलंक दूर होगा, तभी मैं कृतकृत्य होऊँगा।"

कुछ ही क्षण बाद एक अत्यन्त हास्यजनक दृश्य घटित होता है। मन्थरा, जो अपनी सेवाओं के लिये कैकेयी द्वारा पुरस्कृत की गयी थी, वह अंग प्रति अंग पर

आभूषण धारण कर, भाँति–भाँति के आभूषणों से सज–धज कर वहाँ आ पहुँचती है, अत्याधुनिक, राजरानियों के योग्य आभूषण शरीर पर धारण किये हुए। कवि ऐसा कहता है कि वह एक विभूषित वानरी के समान जान पड़ती थी। वह महल के उस स्थल पर आयी, जहाँ शत्रुघ्न उपस्थित थे। उस पर दृष्टि पड़ते ही द्वारपाल ने उसको पकड़ लिया और घसीट कर शत्रुघ्न को सौंपते हुए कहा, "इसी के कारण श्री राम को वन जाना पड़ा, आपके पिता ने शरीर परित्याग किया। वह क्रूर कर्म करने वाली पापिनी यही है। अब यह यहाँ आकर पुरस्कृत आभूषणों का प्रदर्शन कर रही है।" यह देखकर क्रोधोन्मत्त शत्रुघ्न ने एक बर्बरतापूर्ण अशिष्ट ढंग से कुब्जा को बालों से पकड़ लिया और आक्रोश में भर कर उसे ज़मीन पर घसीटने लगे। ऐसी अशिष्ट घटना कदाचित् आज नहीं घटेगी, परन्तु उन दिनों भावावेश उग्र होते थे और मनुष्य उनका नियन्त्रण करना नहीं जानते थे।

तस्या ह्याकृष्यमाणाया मन्थारायास्ततस्ततः।
चित्रं बहुविधं भाण्डं पृथिव्यां तद्व्यशीर्यत।।
तेन भाण्डेन संकीर्णं श्रीमद्राजनिवेशनम्।
अशोभत्त तदा भूयः शारदं गगनं यथा।। II.78.17,18

जब मन्थरा घसीटी जा रही थी, उसी समय उसके नाना प्रकार के विचित्र आभूषण कठोर धरती पर रगड़ खाकर टूट–टूट कर इधर–उधर बिखर गए, और सुवर्ण चिह्न वहाँ सब जगह छूट गए। आभूषणों के टुकड़ों से वह शोभनीय विशाल राजभवन नक्षत्रमालाओं से अलंकृत शरत्काल के आकाश की भाँति अधिक सुशोभित हो रहा था।

यह उद्धरण मैंने यह बताने के लिये दिये हैं कि उन दिनों स्वर्णकारों की कला पूर्णतया विकसित नहीं हुई थी। ऐसा प्रतीत होता है, मन्थरा ने अपने शरीर पर सौ या दो सौ आभूषण धारण किये होंगे। अन्यथा, वे पृथ्वी पर गिरते भी, तो उस स्थान का यह वर्णन नहीं किया जा सकता, कि मानो आकाश का एक टुकड़ा नक्षत्रों सहित पृथ्वी पर गिरा हो। उसको छुड़ाने के लिये उसकी सखियाँ जाकर कैकेयी से निवेदन करती हैं। कैकेयी उसे छुड़ाने के लिये वहाँ आती है। तब उन्होंने उसे धिक्कारते हुए उसके प्रति बड़ी कठोर बातें कहीं। उन्हें सुनकर कैकेयी को बहुत दुःख हुआ। वह शत्रुघ्न के भय से भरत की शरण में आई। भरत का ध्यान उनकी ओर बिल्कुल नहीं जाता है और शत्रुघ्न को क्रोध से भरा देखकर, भरत उनसे कहते हैं :

अवध्याः सर्वभूतनां प्रमदाः क्षम्यतामिति। II.78.21

"इसे क्षमा कर दो, सभी प्राणियों में से स्त्रियों का उत्पीड़न नहीं होना चाहिये," कैकेयी उसके लिये याचना करती है। फिर भरत शत्रुघ्न से कहते हैं :

हन्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टचारिणीम्।
यदि मां धार्मिको रामो नासूयेन्मातृघातकम्।। II.78.22

"यदि मुझे यह भय न हो कि धर्मात्मा श्री राम मातृघाती समझ कर घृणा करने लगेंगे, तो मैं भी दुष्ट आचरण करने वाली पापिनी कैकेयी को मार डालता। यदि मुझे ऐसा निश्चित होता कि मेरे भाई मुझसे नाराज़ नहीं हो जायेंगे, तो मैं भी इसे इसी जगह मार डालता।"

निस्सन्देह यह भाषा उचित नहीं है, जो किसी निष्ठावान पुत्र को अपनी माँ के प्रति प्रयोग करनी चाहिए।

इमामपि हतां कुब्जां यदि जानाति राघवः।
त्वां च मां च हि धर्मात्मा नाभिभाष्यिते ध्रुवम्।। II.78.23

"यदि धर्मात्मा श्री राम इस कुब्जा के मारे जाने का समाचार जान लेंगे, तो निश्चय ही वे मुझसे बोलना छोड़ देंगे।" जब भरत महातेजस्वी भरद्वाज मुनि के आश्रम पर पहुँचे, भरद्वाज भी उनके बारे में कुछ सन्देह करते हैं। भरत उन्हें पूर्णतया आश्वस्त कर देते हैं कि वे श्री राम को प्रसन्न करके अयोध्या लौटा लाने और उनके चरणों में वन्दना करने के लिये जा रहे हैं। भरद्वाज ने प्रसन्न होकर भरत से कहा, "ठीक है, अब कल तुम चित्रकूट की और प्रस्थान करना। अब आप इस आश्रम में विश्राम करो, अच्छा!"

मुनि भरद्वाज ने सेना सहित भरत का दिव्य सत्कार किया। भरत परिवार सहित मुनि का आतिथ्य ग्रहण करके रात भर उनके आश्रम में रहे। प्रातः काल भरत चित्रकूट के लिये प्रस्थान की आज्ञा लेने के लिये ऋषि के पास गये। मुनि ने चित्रकूट के मार्ग की सविस्तार जानकारी दी। यह सुनकर कि अब चित्रकूट के लिये प्रस्थान करना है, राजा दशरथ की स्त्रियाँ महर्षि को प्रणाम करने के लिये उनके चारों और खड़ी हो गईं। बारी बारी उन्होंने मुनि के चरणों का स्पर्श किया और परिक्रमा की। कवि विशेष रूप से इसका उल्लेख करता है कि उन्होंने सचमुच उनके चरण स्पर्श किये। प्रायः ऐसा आजकल नहीं होता क्योंकि कोई महात्मा आजकल अपने चरणों का स्पर्श नहीं करने देता। महामुनि ने भरत से पूछा, "तुम्हारी इन माताओं का विशेष परिचय क्या है? मैं जानना चाहता हूँ।" भरत ने कौशल्या और सुमित्रा का परिचय अतीव प्रशंसात्मक भाषा में दिया। वे कहते हैं, "ये जो देवी सी दृष्टिगोचर हो रही है, ये मेरे पिता की सबसे बड़ी महारानी कौशल्या हैं। इन कौशल्या देवी ने पुरुषसिंह श्री राम को जन्म दिया है। इनकी बायीं ओट में जो उदास मन से खड़ी है, वे महाराज की मंझली रानी सुमित्रा देवी है। मेरे दोनों भाई, लक्ष्मण और शत्रुघ्न इनके पुत्र हैं।" किन्तु, जब वे अपनी माँ के विषय पर आते हैं, तो कहते हैं :

यस्याः कृते नरव्याघ्रौ जीवनाथमितो गतौ।
राजा पुत्रविहीनश्च स्वर्गं दशरथो गतः।।

क्रोधनामकृतप्रज्ञां दृप्तां सुभगमानिनीम्।
ऐश्वर्यकामां कैकेयीमनार्यामार्यरूपिणीम्।।
ममैतां मातरं विद्धि नृशंसा पापनिश्चयाम्।
यतोमूलं हि पश्यामि व्यसनं महदात्मनः।। II.92.25-27

"जिसके कारण श्री राम और लक्ष्मण यहाँ से प्राण संकट की अवस्था वनवास में जा पहुँचे, तथा राजा दशरथ पुत्र वियोग के कारण स्वर्गवासी हुए, जो स्वभाव से ही बहुत क्रोधिनी, गर्वीली, अपने आपको अत्यन्त सुन्दरी, ऐश्वर्य लोलुपा मानतीं है, जो देखने में आर्या प्रतीत होती है, किन्तु वास्तव में अनार्या है, इस कैकेयी को मेरी माता समझिए। यही समस्त संकट की मूल है।"

स्वाभाविक ही था कि भरद्वाज अत्यन्त चकित हुए, यह देखकर कि एक पुत्र अपनी माता के विषय में इस ढंग से बात करे। उस समय भविष्यज्ञाता और श्री राम अवतार का प्रयोजन जानने वाले बुद्धिमान महर्षि भरद्वाज ने भरत से यह बात कही, "भरत! तुम कैकेयी के प्रति दोष–दृष्टि न अपनाओ। जो कुछ कैकेयी ने किया, उसका अभिप्राय तुम इस समय नहीं जानते। यह संकट निश्चय ही विश्व कल्याण के लिए हैं। श्री राम का यह वनवास भविष्य में बड़ा सुखद होगा। हम सबका भला होगा, जो कुछ कारणवश उसने किया है, उससे। अतः उसके प्रति इस प्रकार न बोलो।" परन्तु भरत के विचारों में किञ्चित परिवर्तन नहीं आया। यह स्मरण रहे कि इसके बावजूद कि कैकेयी यह प्रमाण दे चुकी थी कि उसके आचरण में बहुत सुधार आ चुका है– वह पुरानी कैकेयी नहीं रही, जिसने राजा दशरथ को आत्मगौरव की ऊँचाइयों के शिखर से दुर्दशा के गर्त में गिरा दिया था। यह स्पष्ट है कि वह भी जनसमूह को टोली में सम्मिलित हुई तथा कौशल्या और सुमित्रा के संग एक ही वाहन में आई (जैसा कि कवि कहता है)। इससे स्पष्ट है कि वह भी श्री राम की वापसी की इच्छुक थी। परन्तु फिर भी भरत का हृदय उसके प्रति किञ्चित मात्र भी नहीं पिघला। बाद में भी, जब वे उस महा वाद–विवाद में श्री राम से वार्तालाप करते हैं, तो वे फिर भी ऐसा कहते हैं :

प्रोषित मयि यत्पापं मात्रा मत्कारणात्कृतम।।
क्षुद्रया तदनिष्टं मे प्रसीदतु भवान् मम।
*धर्मबन्धेन बद्धोऽस्मि तेनेमां नेह मातरम्।।** II.106.8,9

"जब मैं परदेश में था, मेरी अनुपस्थिति में, नीच विचार रखने वाली मेरी माता ने मेरे लिए पाप कर डाला, वह मुझे अभीष्ट नहीं है। अतः आप उसे क्षमा करके मुझे पर प्रसन्न हों। मैं धर्मबन्धन में बँधा हूँ। इसलिए अनिष्टकारिणी माता को दंड देकर मारा भी नहीं सकता।

हन्मि तीव्रेण दण्डेन दण्डार्हां पापकारिणीम्। II.106.10

* देखिए अ.8, पृ.110.

अन्यथा मार देता।"

वे यह सब स्वयं राम से कहते हैं। इसके पश्चात् एक बार फिर इस पूरे प्रसंग पर विचार करते हुए वे कहते हैं, "मेरी माँ की करतूतों पर ध्यान न कीजिये। भैया! उस प्रसंग को मस्तिष्क से निकाल दीजिए। मेरी माँ का आचरण अनैतिक था, वह तो पापचारिणी थी, उसने षड्यन्त्र रचकर सब कुछ बर्बाद कर दिया। मैं तो उसे अभी मार कर यमलोग पहुँचा दूँ, परन्तु मैं धर्म के विचार से ऐसा करने से डरता हूँ।" एक बार फिर श्री राम एक अहम भूमिका अदा करते हैं। वे बड़ी गम्भीरता से कैकेयी का पक्ष लेते हैं। आपको स्मरण होगा, आठवें अध्याय में भरत और राम के बीच वाद–विवाद में मैंने कुछ श्लोक दिये थे, जब श्री राम कहते हैं, "तुम माता कैकेयी के प्रति कोई दुराचरण नहीं करो, मैं तुम्हें अपनी ओर सीता की शपथ दिलाकर कहता हूँ कि उनके प्रति कभी दुर्वचन का प्रयोग न करना, न ही किसी प्रकार का कष्ट देना अथवा अनादर करना।"

अब हम अन्तिम दृश्य पर आते हैं, जब अपने लक्ष्य की आधी सफलता के पश्चात्– मैं यह कहना न चाहूँगा कि उनका अभियान निष्फल हुआ– भरत घर लौटते हैं। यह उस दृष्य का अन्तिम श्लोक है।

ततः शिरसि कृत्वा तु पादुके भरतस्तदा।
अरुरोह रथं हृष्टः शत्रुघ्नेन समन्वितः।। II.113.1

कवि कहता है कि भरत सन्तुष्ट व सुखी थे। तदनन्तर श्री राम की दोनों चरण–पादुकाओं को अपने मस्तक पर रखकर भरत शत्रुघ्न के साथ रथ पर बैठे।

यहाँ कवि स्पष्टतया उल्लेख करता है कि भरत सन्तुष्ट और प्रसन्न थे। अतः भरत घर लौटते हैं। दृश्य का अन्तिम श्लोक यह है :

तं मातरो वाष्पगृहीतकाण्ठ्यो दुःखेन नामन्त्रयितुं हि शेकुः।
स त्वेव मातृरभिवाद्य सर्वा रुदन् कुटीं स्वां प्रविवेश रामः।। II.112.31

तीनों मातायें श्री राम से विदा लेना चाहती थीं क्योंकि वापसी का समय आ गया था। किन्तु, वे इतनी शोकातुर थीं कि आँसुओं की अविरल धारा से गला उनका रुंध गया। वे दुःख के कारण श्री राम को सम्बोधित भी न कर सकीं, विदा ले ही न सकीं।

उधर श्री राम की अवस्था क्या थी? क्या वे अधिक सुध–बुध युक्त थे? उनके मुख से भी एक शब्द भी न निकला। वे भी सब माताओं को प्रणाम करके रोते हुए अपनी पर्णकुटिया में चले गये।

सब टीकाकार विशेष रूप से '*मातुः*' शब्द के साथ '*सर्वाः*' जोड़ते हैं। कवि क्यों विशेष रूप से उल्लेख करता है कि कैकेयी को भी राम से अत्यन्त श्रद्धायुक्त प्रणाम प्राप्त हुए? टीकाकार भी कुछ अधिक ही कहता है। उसे ऐसा कहने की आवश्यकता नहीं थी।

अनेन कैकेय्या दोषराहित्यं सूचितम्।

श्री राम का चरित्र इतना उदात्त है कि यदि ज़रा सा कलंक कैकेयी में शेष रहा भी होता, फिर भी वे उनको अभिवादन करने से कर्त्तव्यच्युत नहीं हो सकते थे। अन्य माताओं की भाँति, वे भी उनकी माता थीं। वे लेशमात्र भी उनके प्रति अपने कर्त्तव्य को न भूले। वे कभी भी उन्हें उन आदरसूचक चिह्नों से वञ्चित नहीं रख सकते थे, जो वे कौशल्या और सुमित्रा के प्रति प्रदर्शित करते थे। इसमें कोई सन्देह नहीं।

इसके अतिरिक्त, जैसा कि मैं बता चुका हूँ, कैकेयी को अपने किये पर पश्चाताप भी हो रहा था। विशेष रूप से '*सर्वा*' शब्द के प्रयोग से कवि का क्या अभिप्राय हो सकता है, जिसके कारण टीकाकार को यह कहने का अवसर मिला कि कैकेयी को पश्चात्ताप हो रहा था। यद्यपि टीकाकार स्वयं ऐसा कुछ नहीं भी कहता, किन्तु जहाँ तक मेरी समझ में आता है, मैं कहता हूँ कि श्री राम भरत को मूर्तरूप से शिक्षा देने चाहते थे। क्योंकि भरत ने अपनी माता के विषय में अनर्गल शब्दों का प्रयोग किया था और अपने कर्त्तव्य को सर्वथा भुलाकर औरों के सामने ही कैकेयी को भी प्रणाम करके श्री राम ने भरत को ठोस प्रमाण दिया कि एक पुत्र का कर्त्तव्य माता के प्रति कैसा होना चाहिए। यही था, उनका उद्देश्य। टीकाकार ने एक शब्द और जोड़ दिया है, जो मुझे ऐसा प्रतीत होता है, कि व्याख्या शैली की विशेषता है, जो सामान्यतः इस देश में प्रचलित है। परन्तु यह सर्वथा भ्रमोत्पादक है। क्या मैंने अभी इस श्लोक का उल्लेख नहीं किया था :

रुदन् कुटीं स्वां प्रविवेश रामः।

कवि कहता है, "आँखों में आँसू भरे श्री राम अपनी पर्णकुटी में चले गये।"

इसको इतना ही कहकर क्यों न छोड़ दिया जाये? इन शब्दों में कितना सुन्दर भाव निहित है, जो कि हमारे भीतर श्री राम के प्रति प्रेम और श्रद्धामय भावना जाग्रत करता है। (मानो वे रो रहे थे अथवा रोने का अभिनय कर रहे थे) क्योंकि वे तो महान पुरुष थे, अलौकिक थे, उनका आँसू बहाना असामान्य ही प्रतीत होता है। उन्हें रोना नहीं चाहिए था, किन्तु वे तो सामान्य मानव की भाँति रोये। हम को तो उनका अपने जैसा व्यवहार ही अधिक पसन्द आता है। यही तो हमारे लिये उनकी सार्थकता है, उपयोगिता है। मैं तो '*रुदन*' को शाब्दिक रूप में लेना पसन्द करूँगा कि श्री राम अपने निष्कपट हृदय के कारण अपनी माताओं और भाइयों से, जो उन्हें अत्यन्त प्रिय थे, चौदह वर्ष के लिये बिछुड़ते हुए, विदाई के अन्तिम क्षणों में भावविभोर हो गए। केवल भगवान ही जानता था कि आगामी वर्षों में क्या कुछ होने वाला था। दिन–दिन क्या–क्या संकट झेलने पड़ेंगे, कुछ भी स्पष्ट नहीं था, सब कुछ अंधकारमय था, उस समय। यदि ऐसी स्थिति में राम रो पड़े, तो क्यों न हम विश्वास करें कि वे निष्कपट भाव से सचमुच रोये– सचमुच रोये।

◈◈◈

चौदहवाँ अध्याय

सुग्रीव

रामायण में चित्रित सुग्रीव का जीवन काल दो भागों में विभक्त है– एक छोटा और दूसरा बड़ा। पूर्ववर्ती भाग छोटा है। इस कालावधि में सुग्रीव को अपने लिए एक उचित स्थान बनाना था। वह अपना सब कुछ खो बैठा था। एक बड़े भाई की तुलना में, जो हरेक दृष्टि से उससे अधिक श्रेष्ठ था, उसकी अपनी कोई हैसियत नहीं थी। वह सदा उससे दबा रहता था और भयाक्रान्त भी। उसे बड़ी सावधानी से अपना मार्ग प्रशस्त करना था। उसके मन में लोगों के प्रति अविश्वास रहता था और स्वयं में आत्मविश्वास की कमी थी। क्योंकि प्रायः उसे अपनी सहायता के लिए सहायक मित्रों की खोज करनी पड़ती थी, वह घाटे की ही स्थिति में रहता था। जब उसने अपनी कठिन परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर ली और वह अपनी प्रतिभा प्रतिष्ठित करने में सफल हो गया, तो मानो उसकी वाणी भी अधिक सशक्त हो गई और वह अधिक दृढ़ता से बोलने देने लगा और निर्णय भी लेने लगा। स्वाभाविक ढंग से यह कुछ विचित्र सी बात थी कि जब उसने पहली बार श्री राम और लक्ष्मण को देखा, तो उसे लगा कि कहीं ये सब बालि के दूत ही न हों, जो उनका विनाश करने के लिए भेजे गये हों। वह अपनी आशंका हुनमान से व्यक्त करता है। हनुमान यह बात मानने के लिए तैयार नहीं हुए, वे उसे एक भ्रान्त धारणा मान कर सुग्रीव को झिड़क देते हैं, लगभग ऐसी भाषा में, जो केवल एक विश्वसनीय मंत्री लिये अनपेक्षित थी। वे सुग्रीव के मंत्रियों सबसे विशिष्ठ थे। अन्य भी योग्यता में कम न थे– जैसे नल, नील और तारा। प्रस्तुत करता हूँ, मैं एक श्लोक, जिसमें हनुमान बालि के कारण होने बालि सुग्रीव की घबराहट पर आश्चर्य प्रकट करते हैं। इस श्लोक से हम एक लाभप्रद शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं।

अहो शाखामृगत्वं ते व्यक्तमेव प्लवङ्गम।
लघुचित्ततयात्मानं न स्थापयसि यो मतौ।। IV.2.17

"आश्चर्य तो यह है कि इस समय यह दुर्बलता प्रदर्शित करके अपने वानरोचित चपलता ही प्रकट की है। इसीलिए आप अपने विचारों पर स्थिर नहीं हो पा रहे हैं।"

यहाँ हमें स्मरण रखना चाहिए कि सुग्रीव और हनुमान, वानर जाति के दो सबसे वरिष्ठ सदस्य थे। सामान्यतः वे मनुष्य जाति की तुलना में स्वयं को कुछ

अधिक अवर नहीं गिनेंगे, कम से कम पारस्परिक वार्तालाप के समय तो वे अपनी जाति के प्रति निन्दात्मक शब्दों का प्रयोग नहीं करेंगे। *'कपित्वं'* शब्द उनके लिए उलाहने का शब्द नहीं होना चाहिए, भले ही मनुष्य लोग इसे ऐसा समझें। आश्चर्य की बात तो यह है कि यह शब्द हनुमान द्वारा कहा गया, मानो वे उस जाति का उपहास कर रहे हों, जिसमें हनुमान भी उत्पन्न हुए थे, जिसके वे स्वयं भी एक विशिष्ट नमूने थे। इस असंगति का रहस्य हमें समझना चाहिए, वह यह है कि इस काव्य का रचयिता एक मानव था, वानर नहीं। *'कपित्वं'* शब्द को उपाहासिक रूप में प्रयोग करते समय वह तत्क्षण भूल गया कि वक्ता स्वयं भी एक कपि है। वह उन पर मनोभावनायें ऐसी आरोपित करता है, जिनकी हनुमान और सुग्रीव के बीच व्यक्त किये जाने की सम्भावना बहुत कम है।

श्री राम और सुग्रीव जैसे ही मित्रता के सूत्र में बँध जाते हैं, वैसे ही वे एक–दूसरे पर पूरा–पूरा भरोसा करने लगते हैं। कम से कम आरम्भ में तो दोनों ने एक–दूसरे पर पूर्ण विश्वास अभिव्यक्त किया।

ततोऽग्निं दीप्यमानं तौ चक्रतुश्च प्रदक्षिणम्।।
सुग्रीवो राघवश्चैव वयस्यत्वमुपागतौ।
ततः सुप्रीतमनसौ तावुभौ हरिराघवौ।।
अन्योन्यमभिविक्षन्तौ न तृप्तिमुपजग्मतुः।
त्वं वयस्योऽसि मे ह्यद्य ह्येकं दुःखं सुखं च नौ।। IV.5.16-18

साक्षी के रूप में अग्नि स्थापित करके सुग्रीव और राम ने उसकी प्रदक्षिणा की और दोनों एक–दूसरे के परम मित्र बन गए। एक–दूसरे का हाथ पकड़कर उन्होंने निष्ठा और कर्त्तव्य परायणता की शपथ ली। इससे दोनों बड़े प्रसन्न हुए। प्रत्येक सोचने लगा कि उसे उपयुक्त सहायक मित्र मिल गया। वे एक–दूसरे को देखते हुए तृप्त नहीं होते थे। उस समय सुग्रीव ने श्री राम से प्रसन्नतापूर्वक कहा, "आप मेरे प्रिय मित्र हैं। आज से हम दोनों का सुख–दुःख एक हैं।"

जब उनमें मित्रता हुई थी, अब ज़रा यह भी स्मरण करें कि रावण ने बालि से क्या शब्द कहे थे। यदि भूल गये हों, तो मैं याद दिलाता हूँ।

दाराः पुत्राः पुरं राष्ट्रं भोगाच्छादनभोजनम्।
सर्वमेवाविभक्तं नो भविष्यति हरीश्वर।। VII.34.41

"वानर राज! स्त्री, पुत्र, नगर, राज्य, भोग, वस्त्र और भोजन– इन सभी वस्तुओं पर हम दोनों का साझे का अधिकार होगा।"

आपमें से कदाचित् कुछ यह सोचें कि यह उत्तर कांड का श्लोक इतना प्रमाणिक नहीं, जितने कि अन्य कांडों के श्लोक हैं। परन्तु हमारे टीकाकारों का ऐसा ही अन्य ढंग है। जब वे उपयुक्त समझते हैं, उत्तर कांड के उद्धरणों का उपयोग करते

हैं, और जब वे अनुकूल नहीं होते, तो उनकी उपेक्षा कर देते हैं। किन्तु, साझे की वस्तुओं में रावण द्वारा '*दाराः*' (स्त्रियों) का सम्मिलित करना कुछ अजीब सा लगता है। मेरे विचार में तो यह केवल भाषा की अतिरंजना मात्रा है। अथवा, सम्भवतः, यह रावण के अपने अन्तःपुर में बहुत सी स्त्रियों के होने के कारण उनके प्रति अल्प आदर की भाषा का परिचायक है। अब एक छोटी सी बात का उल्लेख करते हैं, जो कुछ प्रबुद्ध वर्गों में टिप्पणी का विषय बन गई है। आप देखेंगे, जब वे दोनों मैत्री पक्की करते हैं, उस समय सुग्रीव श्री राम से बड़े मर्मभेदी प्रश्न करता है। श्री राम उनका उत्तर स्वयं न देकर, अपने भाई लक्ष्मण को उत्तर देने के लिए कहते हैं। यह राज्यभवनों के शिष्टाचार के नियमों के सर्वथा अनुकूल है। एक राजा अपने बराबर के दर्जे के राजा को सम्बोधित करता था। मंत्रियों को मंत्री सम्बोधित करते थे। अतएव, सुग्रीव, जो उस समय राजा नहीं था, उसका श्री राम को सम्बोधित करना शिष्टाचार विरुद्ध था। यह बात कुछ चुभने वाली है। इससे कुछ लोगों में ऐसी धारणा बन गयी कि ऐसे आचरण से सुग्रीव ने सचमुच श्री राम की महानता के प्रति अनादर भाव किया। कुछ विपत्तियाँ जो सुग्रीव पर बाद में पड़ीं, वे इसी अनादर भाव का परिणाम थी। परन्तु ऐसा सोचने का कोई ठोस आधार नहीं है क्योंकि उसी अवसर पर हम देखते हैं कि सुग्रीव ने एक वृक्ष की डाली को तोड़ कर एक ऐसा आसन बनाया, जिस पर वह और श्री राम साथ–साथ बैठ सकें। तुरन्त हनुमान भी वैसा ही करते हैं और लक्ष्मण को अपने साथ बैठाने के लिए आमन्त्रित करते हैं। इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता कि सुग्रीव के आचरण के पीछे श्री राम के गौरव के प्रति कोई अनादर भावना निहित थी। मैं यह भी मानने को तैयार नहीं हूँ कि इस स्वाभाविक युग्मन के फलस्वरूप किसी को ऐसा अहसास हुआ है कि मैत्री के आरम्भ में ही सुग्रीव किसी अपमान का दोषी था, जाने या अनजाने।

एक अन्य आरोप जो सुग्रीव पर लगाया जाता है, वह है जानकारी के छिपाव का। जब श्री राम ने उससे रावण का पता बताने के लिये कहा, तो वह कहता है :

न जाने निलयं तस्य सर्वथा पापरक्षसः।
सामर्थ्यं विक्रमं वापि दौष्कुलेयस्य वा कुलम्।। IV.7.2

वह (सुग्रीव) उत्तर देता है कि उसके पास रावण के विषय में पूरी जानकारी नहीं है। उसका यह वक्तव्य, "इन सब बातों को मैं सर्वथा नहीं जानता," इसका विस्सृत है कि यह जानबूझ कर छिपाव का आरोप लगाने के लिए अपर्याप्त है।

मेरा अपना भी यही विचार है कि यह बात टालने मात्र का प्रयास रहा है। सुग्रीव कदापि इतना अनभिज्ञ नहीं रहा होगा, जैसा उसके शब्द संकेत करते हैं। वह अवश्य ही बहुत कुछ जानता था, परन्तु कदाचित् इतना पर्याप्त नहीं कि जिससे तत्क्षण श्री राम के मन में विश्वास जमा सके। यदि उत्तर कांड की इस बात को ध्यान में रखा

जाये, तो सुग्रीव का यह आचरण अन्तरात्मा का बिल्कुल स्पष्ट उल्लंघन है। वहाँ स्पष्ट रूप से बताया गया है कि रावण बालि के निवास स्थान पर पूरे एक मास ठहरा था, और वह भी सुग्रीव के समान एक परिवार सदस्य के रूप में। ऐसी स्थिति में सुग्रीव का यह कथन सर्वथा अविश्वसनीय और ग़लत लगता है। परन्तु मुझे सुग्रीव पर श्री राम के साथ मैत्री के आरम्भ में ही विश्वासघात या आरोप लगाने में संकोच होता है, क्योंकि उसी श्लोक में वह ऐसा भी कहता है :

एवमुक्तस्तु सुग्रीवो रामेणार्तेन वानरः।
अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यं सबाष्पं बाष्पगद्गदः।। IV.7.1

श्री राम ने कहा कि जिस निशाचर ने उन्हें धोखे में डालकर सीता का अपहरण किया है, वह उनका घोर शत्रु है, वह उसका पता बता दें। श्री राम की ऐसी बातें सुनकर सुग्रीव की आँखों में आँसू भर आए और वे हाथ जोड़कर अश्रुद्गद् कंठ से बोले।

इससे प्रतीत होता है कि उस समय सुग्रीव ढंग से बोलने में भी असमर्थ था। अतएव, ऐसी परिस्थिति में मिथ्या वक्तव्य देने की संभावना बहुत कम थी। श्री राम को भी ज़रा सा सन्देह नहीं हुआ कि उनसे कुछ छिपाया गया है।

मधुरं सान्त्वितस्तेन सुग्रीवेण स राघवः।
मुखमश्रुपरिक्लिन्नं वस्त्रान्तेन प्रमार्जयन्।। IV.7.15

सुग्रीव ने जब मधुरवाणी में इस प्रकार सान्त्वना दी, तब श्री राम ने उसके आँसुओं से भीगे हुए मुख को वस्त्र के छोर से पोंछ लिया।

सुग्रीव के वचन से स्वस्थचित्त होकर श्री राम ने इस प्रकार कहा :

एष च प्रकृतिस्थोऽहमनुनीतस्त्वया सखे।
दुर्लभो हीदृशो बन्धुरस्मिन् काले विशेषतः।। IV.7.18

"सखे! तुम्हारे आश्वासन से मेरी चिन्ता सारी जाती रही। अब मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ। तुम्हारे जैसे बन्धु का विशेषतः ऐसे संकट के समय मिलना कठिन होता है।"

श्री राम का यह कथन स्पष्ट प्रमाण है कि सुग्रीव की ओर से किसी प्रकार का छल–कपट नहीं खेला गया था। श्री राम और सुग्रीव के बीच पूर्ण मैत्री आस्था थी, एक–दूसरे पर पक्का भरोसा था। उनके बीच किसी प्रकार का मानसिक भेद–भाव का कोई संकेत नहीं मिलता।

आपको स्मरण होगा कि मैंने पहले इस बात पर ध्यान दिलाना था, जो कदाचित् अल्पज्ञ पाठकों में प्रचलित मान्यता के विपरीत है, कि मूलपाठ से यह स्पष्ट है कि सुग्रीव ने समय पर सीता की खोज आरम्भ करने का आदेश दे दिया था। वह अपनी वानर सेना को समय से पहले ही बुलवाना चाहता था। मैंने इसका कुछ संकेत नहीं दिया, क्योंकि उस समय आवश्यकता नहीं थी कि वास्तव में उसने क्या क्या

क़दम उठाये थे। न केवल उसने यह आदेश दिया था कि सम्पूर्ण वानर सेना एक पखवाड़े में एकत्रित की जाये, अपितु इसके अतिरिक्त, उसने हनुमान अथवा सेनापति नील को, सम्भवतः दोनों को एक साथ ही, आदेश दिया था कि आगामी आवश्यक कार्यवाही में अविलम्ब लग जायें। मेरे विचार में यह उपेक्षा के सब आरोपों का निराकरण करता है। मैं पहले ही बता चुका हूँ कि किस प्रकार लक्ष्मण ने तारा के मुख से तथ्य जान लेने के पश्चात्, अपने द्वारा कठोर भाषा और अभद्र व्यवहार के लिए पूरा–पूरा खेद प्रकट किया। सुग्रीव ने नील से कह दिया था :

हरीश्व वृद्धानुपयातु साङ्गदो भवान् ममाज्ञामधिकृत्य निश्चिताम्।
इति व्यवस्थां हरिपुंगवेश्वरो विधाय वेश्म प्रविवेश वीर्यवान्।। IV.29.34

"यह मेरी निश्चित आज्ञा है। इसके अनुसार, इस व्यवस्था का अधिकार लेकर अंगद के साथ तुम स्वयं बड़े बूढ़े अनुभवी वानरों के पास जाओ," ऐसा कहकर सुग्रीव अपने महल में चले गये।

इस प्रकार की व्यवस्था से आश्वस्त होकर कि प्रत्येक कार्य समुचित रूप से संचालित होता रहेगा और निस्सन्देह उसका दोष इतना तो था कि वह अपना विलासमय जीवन कुछ आडम्बरी रूप से बिता रहा था, जो श्री राम को कुछ अच्छा नहीं लग रहा था। उसे श्री राम का लिहाज़ करके ऐसा नहीं करना चाहिए था। यदि उसमें कुछ समझदारी होती, तो अवश्य ही उसे इस बात का अहसास होना चाहिए था कि उसके उपकारी श्री राम अत्यन्त दुःखार्त थे। अतएव, रूमा के पुनर्मिलन से उत्पन्न हर्षोल्लास का प्रदर्शन कुछ कम कोलाहलपूर्ण होना चाहिए था।

अपने जीवन काल के पहले चरण में, सुग्रीव बड़ी सतर्कता बरतने वाला व्यक्ति था। वह सहज ही किसी की प्रशंसा नहीं करता था। इसका प्रमाण कुछ आगे चलकर भी मिलता है। जब लक्ष्मण के समान वह भी मत व्यक्त करता है कि विभीषण को राज्यसंघ में नहीं लिया जाना चाहिए, उसे यह बात बिल्कुल पसन्द नहीं आई कि एक ऐसा व्यक्ति, जो रावण के सान्निध्य से सीधा आ रहा हो, बिना एक कड़े परीक्षण–निरीक्षण के विश्वासपात्र मान लिया जाये। यह बात उसकी और श्री राम की प्रकृति के वैषम्य को भली भाँति प्रदर्शित करती है। श्री राम का परम सौभाग्य था कि उनके आस–पास सदा अत्यन्त सज्जन व्यक्ति उपस्थित रहते थे। महान विभूतियाँ उनके चारों ओर रहती थीं। परन्तु बहुत कुछ अंश तक, ये सब अत्यन्त पन्नी की भाँति उनके चरित्र को अधिक भव्यता से चमकाने का काम करते थे। हमें जान बूझकर महर्षि वाल्मीकि ने यह दर्शाने के लिये कि जगत में कोई व्यक्ति सर्वथा महान नहीं होता, उससे भी महत्तर और अधिक कहीं अधिक महत्तर हो सकते हैं। सुग्रीव, विभीषण, भरत, लक्ष्मण– सब अपनी–अपनी जगह महान हैं। फिर भी, इनके अतिरिक्त, उनकी अपूर्णताओं से रहित एक ऐसा परिष्कृत चरित्र भी हो सकता है, जो परिपूर्णता के शिखर को लगभग छूता है। यही प्रतिपादित करने के लिए कवि ने इन महान चरित्रों

को श्री राम से जोड़ा है। यह कवि का सोद्देश्य, योजना का भाग है। श्री राम अपने मत का प्रतिपादन करते है, जिसे इन महान व्यक्तियों में से कोई भी समझ नहीं सका था।

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम। VI. 18.33,34

"जो एक बार भी शरण में आकर 'मैं तुम्हारा हूँ,' ऐसा कह कर मुझसे रक्षा की प्रार्थना करता हूँ, उसे मैं समस्त प्राणियों से अभय कर देता हूँ। यह मेरा सदा का व्रत है।"

यहाँ हम देखते हैं एक ऐसा प्राणी, जो अपना राजपाट गँवा कर वानरों के साथ वन में विचरण कर रहा है और वह कहता है, "मैं बिना शर्त के संरक्षण दूँगा, जो मेरे पास आकर केवल इतना भर कहे, 'मुझ पर कृपा करें', इससे अधिक मुझे कुछ नहीं चाहिए। मैं उसे सब प्रकार के भय से समस्त प्राणियों से पूर्ण सुरक्षा दूँगा।" यह तो परोपकारिता की पराकाष्ठा है, नितान्त अकल्पनीय! फिर, मानो इतना कहना भर भी पर्याप्त नहीं था, वे अपनी कथनी को करनी द्वारा व्यावहारिक रूप भी देते थे, जैसा कि इस श्लोक से विदित होता है :

आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया।।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्। VI. 18.34,35

"अतः कपिश्रेष्ठ सुग्रीव! श्रेष्ठ सुग्रीव! वह विभीषण हो या स्वयं रावण आ जाये, तुम उसे ले आओ। मैंने उसे भी अभयदान दे दिया। मेरा सिद्धान्त केवल शब्दों तक सीमित नहीं है, इससे कहीं अधिक सम्पूर्ण है, कहीं अधिक सशक्त है। यदि सुरक्षा हेतु रावण भी आ जाये, तो मैं उसका आलिंगन कर पूरी सुरक्षा दूँगा।"

लक्ष्मण तो अल्पभाषी थे ही। प्रायः राम के सम्मुख अधिक नहीं बोलते थे, प्रतिवाद के लिये तो बिल्कुल नहीं। अपने बजाय, उन्होंने सुग्रीव को ही बोलने दिया। सुग्रीव स्वयं आश्चर्यचकित थे श्री राम के वक्तव्य में अधिक आत्मविश्वास की झलक देखकर उनके मत की उच्चता से प्रभावित हुए बिना न रह सके। उनके मुँह से एक भी शब्द न निकला।

किमत्र चित्रं धर्मज्ञ लोकनाथ सुखावह।।
यत्त्वमार्यं प्रभाषेथाः सत्त्ववान् सत्पथे स्थितः। VI. 18.36,37

"धर्मज्ञ! आपने जो यह श्रेष्ठ धर्म की बात कही है, इसमें क्या आश्चर्य है क्योंकि आत तो सब राजाओं के आदर्श हैं, महान, शक्तिशाली और सन्मार्ग पर स्थित हैं।"

वे आगे कहते हैं– यहाँ सुग्रीव की शीलता प्रकट होती है :

मम चाप्यन्तरात्मायं शुद्धं वेत्ति विभीषणम्।

अनुमानाच्च भावाच्च सर्वतः सुपरीक्षितः।।
तस्माद्क्षिप्रं सहास्माभिस्तुल्यो भवतु राघव।।
विभीषणो महाप्राज्ञः सखित्वं वाभ्युपैतु नः। VI. 18.37,38

"मेरी अन्तरात्मा भी विभीषण को शुद्ध मानती है। हनुमान ने भी अनुमान और भाव से परीक्षा कर ली है। इस प्रकार उनके पक्ष में मत बन जाने के उपरान्त हम उसका विरोध नहीं करेंगे। रघुनन्दन! विभीषण शीघ्र ही यहाँ हमारे–जैसे होकर रहें और हमारी मित्रता प्राप्त करें।"

सब भेदभाव समाप्त, सब अविश्वास समाप्त। सहायता देने अथवा सहायता लेने के लिए सहयोगशीलता का भी अब अभाव नहीं है। कुछ अत्याधिक सतर्कता के सम्बन्ध में यहाँ सब कुछ कहे जाने के बाद, उनके स्वभाव को ज़रा नज़र–अन्दाज़ करके हम सुग्रीव के व्यक्तित्व की विशालता का स्मरण करें। श्री हनुमान की लंका यात्रा, सीता का समाचार और सारा वृत्तान्त सुनने के पश्चात् श्री राम प्रसन्न हुए। किन्तु समुद्र की दुस्तरता का विचार करके वे अत्यन्त चिन्तित भी हुए और उनका उत्साह भी नष्ट हो गया। उस समय सुग्रीव ने उनको प्रोत्साहन दिया। जैसे ही वे समुद्र तट पर पहुँचे (अभी सेतु का निर्माण भी नहीं हुआ था), सुग्रीव कहता है :

दृष्ट्वा तां तु पुरीं लङ्कां त्रिकूटशिखरे स्थिताम्।।
हतं च रावणं युद्धे दर्शनादुपधारय। VI. 2.10,11

वह श्री राम को आश्वस्त करता है। वह एक महान नेता था, उसे अपने पराक्रम का पूरा–पूरा अनुमान था और अपने बल पर भरोसा था। अतः वह श्री राम को आश्वस्त करता है, "अब हम समुद्र तट तक तो आ ही पहुँचे हैं। अब तो केवल लंका देखने की प्रतीक्षा है। त्रिकूटपर्वत पर बसी हुई लंकापुरी एक बार दीख जाये, तो आप यह निश्चित समझिए कि युद्ध में रावण दिखाई दिया और मारा गया। मैं स्वयं उसका शव आपको लाकर दूँगा।" इतने आत्मविश्वास के साथ सुग्रीव बोले। तत्पश्चात् श्री राम के साथ वानर सेना ने प्रस्थान कर समुद्र तट पर पड़ाव डाला।

रावण ने इनमें से तीसरी योजना को कार्यान्वित करने के लिए शुक नामक राक्षस को आदेश दिया। रावण बोला, "तुम शीघ्र ही वानरराज सुग्रीव के पास जाओ और उनसे मेरा सन्देश कहो, 'मैं आपको भाई के समान समझता हूँ। यदि मुझसे आपको कोई लाभ नहीं हुआ है, तो मेरे हाथ से आपकी कोई हानि भी नहीं हुई हैं। राम की स्त्री हरण में आपकी क्या हानि है?'" रावण के आदेशानुसार निशाचर शुक तोते का रूप धारण करके तुरन्त आकाश में उड़ चला और सुग्रीव के पास जा पहुँचा। आकाश में ही ठहर कर उसने दुरात्मा रावण की आज्ञा के अनुसार फुसलाने वाली सारी बातें सुग्रीव से कहीं, जिनका संकेत कवि भी नहीं देता।

उधर हनुमान द्वारा लंका में किए गये घोर कर्म को देखकर रावण ने अपने मंत्रियों से सलाह माँगी। विभीषण ने राम को अजेय बताकर सीता को लौटा देने की

सम्मति दी। परन्तु, रावण द्वारा तिरस्कृत होने पर वे उसे फटकार कर वहाँ से चल दिए और श्री राम की शरण में पहुँच गए। विभीषण की सम्मति से श्री राम समुद्र से सहायता का अनुरोध करने के लिए तट पर धरना देकर बैठ गए।

इसी बीच दुरात्मा रावण के गुप्तचर शार्दूल ने वहाँ आकर वानर सेना को देखा और वापस लौटकर इसके विषय में रावण को सूचना दी। वे बोले, "अपने दूतों को भेजकर पूरा–पूरा पता लगा लें। तत्पश्चात् जैसा उचित समझें, वैसा करें। चाहे उन्हें सीता को लौटा दें अथवा सुग्रीव से मीठी–मीठी बातें करके उसे अपने पक्ष में मिला लें और श्री राम–सुग्रीव के बीच फूट डलवा दें।" उसके दूत, शुक को वानर उसे बलपूर्वक क़ैद करके उसे भूतल पर उतार लाये। उसका विलाप सुनकर श्री राम ने कहा, "इसे मत दुःख दो।" उनके अभय देने पर शुक आकाश में खड़ा हो गया और पुनः बोला, "रावण को मुझे आपकी ओर से क्या उत्तर देना चाहिए?" इस प्रकार पूछने पर वानरराज सुग्रीव ने उत्तर दिया।* उन्होंने स्पष्ट एवं निश्छल रूप से बता दिया कि वे एक मैत्रीपूर्ण, परन्तु दुश्चरित्र व्यक्ति के कहने से किसी प्रकार भी अपने कर्त्तव्यपथ से विचलित नहीं किए जा सकते, चाहे वह व्यक्ति मित्रता का दावा क्यों न करता हो। सुग्रीव ने कहा :

न मेऽसि मित्रं न तथानुकम्पयो न चोपकर्तासि न मे प्रियोऽसि।
अरिश्च रामस्य सहानुबन्धः न मेऽसि वालीव वधार्ह वध्यः।।
निहन्म्यहं त्वां ससुतं सबन्धुं राज्ञातिवर्गं रजनीचरेश।
*लङ्कां च सर्वां महता बलेन क्षिप्रं करिष्यामि समेत्य भस्म।।*VI.20.23-24

"दूत! तुम रावण से इस प्रकार कहना– वध के योग्य दशानन! तुम न तो मेरे मित्र हो, न दया के पात्र हो, न मेरे उपकारी हो, न ही मेरे प्रिय व्यक्तियों में से कोई हो। तुम तो श्री राम के शत्रु हो, इसी कारण अपने सगे संबंधियों सहित बालि की भाँति जनों सहित तुम्हारा संहार होना चाहिये। निशाचर! मैं बड़ी सेना के साथ आकर समस्त लंकापुरी को भस्मसात कर दूँगा।"

अब मैं आपका ध्यान सुग्रीव के एक अद्भुत कारनामे की ओर दिलाऊँगा। नल द्वारा सागर पर सेतु निर्माण होने पर वानर सेना उस पर पहुँच गई और पड़ाव डाल दिया। श्री राम ने लंका पर आक्रमण करने के लिये अपने सेनापतियों की नियुक्ति भी कर दी। श्री राम के सुझाव पर रात में निवास करने के लिये सब लोग सुवेल पर्वत पर चढ़ गये। यह प्रसंग युद्ध नियमित रूप से आरम्भ करने से पूर्व का है। वे सुवेल पर्वत पर पहुँच गए। सब ने रात सुवेल पर्वत पर ही बितायी। पूर्ण चन्द्रमा से प्रकाशित उज्ज्वल रात्रि में लंका का पर्यावलोकन किया और वहाँ की मोर्चाबन्दी को भी देखा।

---

* कवि कहता है : *सर्वमुक्तं यथादिष्टं रावणेन दुरात्मना।* (VI.20.15).
'दुरात्मा' का संदेश VI.20.10-12 में है।

त्रिकूट पर्वत का एक शिखर खंड बहुत ऊँचा था। रावण की लंका त्रिकूट के उसी शिखर पर बसी हुई थी। वानरयूथों से युक्त सुग्रीव सहित सुवेल पर्वत के सबसे ऊँचे शिखर पर चढ़े। दसों दिशाओं पर दृष्टिपात करते हुए, उन्होंने त्रिकूट पर्वत पर अवस्थित सुन्दर ढंग से बसी हुई लंकापुरी को देखा। आश्चर्यजनित रूप से रावण को भी देखा, जो अपनी सेना को हुक्म दे रहा था तथा साथ–साथ विरोधी खेमे का भी सर्वेक्षण कर रहा था, जिसका वहाँ डेरा डाल दिया गया था। सुग्रीव के मन में सहसा ध्यान आया कि अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने का अवसर सामने है। शूरवीर, पराक्रमी, क्रोध के आवेग से प्रेरित होकर, बिना सोच–विचार किये, आगा पीछे देखे एवं औरों की अनुमति लिए बिना, वे सुवेल के शिखर के गोपुर की छत से छलांग मर कर कूद पड़े और उन्होंने रावण को मल्लयुद्ध के लिए ललकारा। इस मल्ल्युद्ध की तुलना में आजकल के मुष्ठियुद्ध की समस्त प्रतियोगिताएँ, जो हम देखते हैं, वे तुच्छ सी प्रतीत होती है। वाल्मीकि एक सैनिक रहे होंगे, यदि नहीं, तो कदाचित् कम से कम मनोवृत्ति की दृष्टि से तो अवश्य ही होंगे क्योंकि पूरे युद्ध कांड में हम देखते हैं कि किस प्रकार अनगिनत संग्रामों का वर्णन अनगिनत विविध रूपों में करने में वे सक्षम हैं। यह ठीक है कि एक वर्गीय समानता इन वर्णनों में है। परन्तु, विलक्षणता इस बात में है कि किस ढंग से वे एक ओर, द्वन्द्वयुद्धों की विविधता और दूसरी ओर, योद्धा के बलप्रदर्शन का मेल मिलाते हैं। यहाँ सुग्रीव और रावण के बीच मल्लयुद्ध का एक पूरे सर्ग में बड़ी सुन्दर एवं ओजस्विनी भाषा में वर्णन है। सुग्रीव रावण से कहते हैं :

लोकनाथस्य रामस्य सखा दासोऽस्मि राक्षस। VI.40.10

"राक्षस! तुम जानते हो मैं कौन हूँ? मैं श्री राम का मित्र हूँ। मैं तुमको उनकी उद्देश्य प्राप्ति में सहायता देने आया हूँ। वे तो मुझे अपना सखा मानते हैं, जैसे मैं उनका समकक्ष हूँ। यद्यपि उनकी दृष्टि में मैं उनका सखा हूँ, किन्तु सच तो यह है कि वास्तव में मैं उनका दास हूँ।"

जब वे दोनों मुझे किष्किन्धा में मिले थे, तो उन्होंने एक–दूसरे का आलिंगन किया था और उनके बीच केवल बराबरी का नाता था। स्वयं सुग्रीव ने श्री राम की परीक्षा कई बार ली थी। परन्तु देखिए, समय के साथ कितना परिवर्तन हुआ। उनके व्यक्तित्व और पराक्रम को देख लिया था। अतएव वे अपेक्षाकृत अपना दर्जा घटा कर स्वयं को दास मानते हैं, वे अव स्वयं को सखा नहीं मानते।

द्वन्द्व युद्ध में सुग्रीव ने रावण के मुकुट को खसोट लिया। रावण अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। सुग्रीव पर नियन्त्रण न कर सकने के कारण, रावण माया युक्ति का सहारा लिया। सुग्रीव जानते थे कि श्री राम इस प्रकार की चालबाज़ी को उचित नहीं समझते। अतएव, माया का उत्तर माया से नहीं देना चाहिए। यह सोचकर कि उन्होंने रावण का घमंड पर्याप्त रूप से चूर कर दिया था, वे विशाल आकाश मार्ग लाँघकर वानरों की सेना के बीच श्री राम की बग़ल में आकर खड़े हो गये।

हरिवरगणमध्ये रामपार्श्वं जगाम ।। VI.40.29

एक टीकाकार '*रामपार्श्वम्*' शब्द का लाभ उठाते हुए कहता है, "सुग्रीव लज्जा के कारण श्री राम के सम्मुख आकर खड़ा होने में संकोच कर रहा था। अतः वह उनकी बग़ल में खड़ा हुआ।"

यह टिप्पणी चातुर्यपूर्ण तो है, परन्तु युक्तियुक्त नहीं। राम उलाहना देते हैं, "सुग्रीव! तुम तो बड़े तीसमारखाँ निकले! तुमने मेरी सलाह लिये बिना ही बड़े साहस का काम कर डाला। ऐसा करना उचित नहीं था। राजा लोग ऐसा दुस्साहसपूर्ण कार्य नहीं किया करते। तुमने मुझ को, वानर सेना को और विभीषण को भी संशय में डालकर यह साहसपूर्ण कार्य किया, इससे हम सबको बड़ा कष्ट हुआ। मेरे बाद, दूसरे नम्बर पर तुम ही तो सेनापति हो, यह सब कुछ जानते हुए भी एक तुच्छ सी बात के लिये बिना सोच–विचार करे अपने प्राणों को संकट में डाला। यद्यपि मैं तुम्हारे बल, पराक्रम को जानता था, तथापि जब तुम वहाँ संघर्षरत थे और जब तक तुम यहाँ वापस नहीं आए, सब कुछ अनिश्चित था। कोई भी अनुमान नहीं लगा सकता कि परिणाम क्या होगा। जब मैं यह दृश्य देख रहा था, तो मेरे मन में ऐसा विचार आ रहा था: 'सुग्रीव को यदि कुछ हो गया, तो मैं यहाँ से लौटूँगा नहीं। मुझे तो अपना जीवन लक्ष्य पूरा करना है। युद्ध में पुत्र, सेना और वाहनों सहित रावण का नाश करके, सीता का उद्धार करके लंका के राज्य पर विभीषण का अभिषेक कर दूँगा। तत्पश्चात् अयोध्या जाकर भरत को राज्य सौंप कर इस शरीर का त्याग कर दूँगा,'" नितान्त किंकर्त्तव्यविमूढ़ हुआ सुग्रीव अपनी सफ़ाई में केवल इतना कह सका :

तव भार्यापहर्तारं दृष्ट्वा राघव रावणम्।
मर्षयामि कथं वीर जानन् पौरुषमात्मनः ।। VI.41.9

"रघुनन्दन! अपने पराक्रम पर पूरा अनुमान लगाते हुए, मैं आपकी भार्या को बल प्रयोग से अपहरण करने वाले रावण को देखकर कैसे क्षमा कर सकता था? मेरे जैसे शूरवीर को अपने पर नियन्त्रण रखना सम्भव नहीं था।"

अब हम एक अन्य दृश्य पर आते हैं जिसमें सुग्रीव भी सम्मिलित है। मैं नहीं जानता कि इसमें उसकी भूमिका को यशस्कर कहा जाये अथवा अस्पष्ट। बड़ी कठिनाई से जगाये देने के बाद कुम्भकर्ण रण क्षेत्र में आ पहुँचा। आकृति में वह पर्वत के समान विशालकाय था और पर्वत के समान ही देखने में बेडोल और कुरूप था। उससे निपटना हनुमान और सुग्रीव जैसे योद्धाओं के लिए भी सहज नहीं था। उसने आते ही वानरों को पकड़–पकड़ कर अपने पाताल जैसे मुँह में डालना आरम्भ कर दिया। दो तीन सर्गों (60, 65, 67) में उसके असाधारण आकार और विलक्षण बल का उल्लेख है। उसके कार्य, जिनकी सोच के पीछे किसी शिष्टता का सर्वथा अभाव है, वे बड़े रोचक ढंग से सविस्तार पूर्वक वर्णित हैं। परन्तु वानर सेना में इससे किसी प्रकार

की खलबली या विस्मय नहीं होता। उनका सामान्य नायक भी उस नामी योद्धा से टक्कर लेने में नहीं हिचकता। अंगद के अचेत और धराशायी होने के पश्चात् कुम्भकर्ण शूल लेकर सुग्रीव की ओर दौड़ा। सुग्रीव ने एक शैल शिखर घुमा कर सहसा उसके ऊपर छोड़ा। उस पर्वत शिखर की चोट खाकर कुम्भकर्ण बड़ा क्रुद्ध हुआ। उसने भी शूल को घुमा कर सुग्रीव के वध के लिए घुमाया। परन्तु हनुमान ने शीघ्र उछलकर दोनों हाथों से उसे पकड़ लिया और बड़ी तीव्र गति से उसे तोड़ डाला। कुम्भकर्ण पुनः कुपित हुआ और मलय पर्वत का शिखर उठा कर सुग्रीव पर दे मारा। उससे आहत होकर सुग्रीव सुध–बुध खोकर युद्धभूमि पर गिर पड़े। यद्यपि सुग्रीव स्वयं एक विशालकाय वानर थे, तथापि वे कुम्भकर्ण के समकक्ष कुछ भी न थे। यह जानकर कि सुग्रीव वानर सेना के सेनापति थे, कुम्भकर्ण ने ऐसा अनुमान लगाया कि अब वानर सेना श्री राम सहित स्वतः ही नष्ट हो जायेगी। अब मैं लौटकर अपनी विजय की घोषण कर सकता हूँ। अतः वह सुग्रीव को अपनी बग़ल में दबाकर लंका की ओर चल दिया। अपेक्षाकृत अधिक आराम और निश्चिन्तता के, चलते–चलते उसने अपने हाथों से सुग्रीव को भींचकर कुचलना आरम्भ कर दिया। हनुमान ने, जो दोनों में अधिक बलशाली थे, यह सब कुछ दूर से देखा। क्षणभर के लिये तो वे दुविधा में पड़ गए कि ऐसी स्थिति में उन्हें क्या करना चाहिए। "यहाँ मेरे स्वामी पकड़ लिये गये हैं, क्या मैं केवल देखता रहूँ और उनकी सहायता न करूँ? यह तो ठीक बात न होगी। परन्तु सुग्रीव स्वयं एक बलशाली वानर हैं, उनको अपनी रक्षा करने के दाँव–पेंच आते हैं। उन्हें भी कुछ न कुछ उपाय अवश्य ही सूझेगा। मैं समझता हूँ, शिला के प्रहार से उन्हें गहरी चोट पहुँची है, उससे अचेत हुए वानर को अभी तक होश नहीं आया है। यदि मैं उनको बचाने जाऊँगा, तो सुग्रीव को प्रसन्नता न होगी। इसके लिये वे मुझे क्षमा नहीं करेंगे। यह इधर–उधर चर्चा का विषय भी बन जायेगा कि हनुमान द्वारा ही वे संकट से छुटकारा पा सके। इससे सदा के लिये उनका यश नाश हो जाने की सम्भावना है।" उधर कुम्भकर्ण हाथ और पैर हिलाते हुए सुग्रीव को लिये लंका में घुस गया। सड़क के दोनों ओर एकत्रित स्त्री–पुरुष फूलों की वर्षा करके कुम्भकर्ण का स्वागत कर रहे थे। गन्धयुक्त जल की वर्षा से सुग्रीव को धीरे–धीरे होश आ गया। जैसा कि पहले ही हनुमान ने अनुमान लगाया था, सुग्रीव बच निकलने का रास्ता स्वयं जानते थे। सुग्रीव ने सहसा हाथों के तीखे नखों द्वारा कुम्भकर्ण के दोनों कान नोच डालें, दाँतों से उसकी नाक काट डाली और पैरों के नखों से उस राक्षस की दोनों पसलियाँ फाड़ डालीं। कुम्भकर्ण का सारा शरीर लहुलुहान हो गया। तब उसने रोष में खीजकर सुग्रीव को घुमाकर पृथ्वी पर पटक दिया। उसी समय सुग्रीव सहसा गेंद के समान तेज़ी से आकाश में उछले और पुनः श्री राम से आ मिले।

सुग्रीव ने अनेक पराक्रम दिखाए। उन्होंने विरोधी पक्ष के तीन भीमकाय योद्धाओं का वध किया। कवि ने राक्षसों के वध का उल्लेख किया है, तीन का हनुमान द्वारा,

तीन का सुग्रीव द्वारा और तीन का अंगद द्वारा। जिन राक्षसों का नाश सुग्रीव ने किया था, वे थे– कुम्भी, विरूपाक्ष और महोदर। हनुमान के शिकार योद्धा कुछ इनसे उच्चकोटि के थे। महोदर के वध का वर्णन करते समय स्वयं कवि की भावनायें बड़ी आनन्दपूर्ण लगती है वह *'हर्ष'* शब्द के स्थान पर *'हरुष'* शब्द का प्रयोग करता है।

अथ विजयमवाप्य वानरेन्द्रः समरमुखे सुरयक्षसिद्धसङ्घैः।
अवनितलगतैश्च भूतसङ्घैर्हरुषसमाकुलतैः स्तुतो महात्मा।। VI.98.38

इस प्रकार वानरराज सुग्रीव युद्ध में विजय पाकर बड़ी शोभा पाने लगे। उस समय देवता, सिद्ध, यक्षगण, और भूतलनिवासियों के समूह भी बड़े हर्ष से उनका कीर्तिमान करने लगे। यह परिवर्तन न केवल मात्रा की दृष्टि से किया गया है, अपितु ऐसा प्रतीत होता है, एक उल्लासपूर्ण घटना होने के कारण इसके वर्णन के पीछे कुछ प्रफुल्लता का मनोभाव भी विद्यमान है।

अब मैं सुग्रीव की अनेक महान विशेषताओं में से एक की ओर ध्यान दिलाता हूँ। आरम्भ से ही प्रायः सभी ने उस पर कठोर दंड देने में बड़ी निर्दयता का आरोप लगाया है कि सुग्रीव छोटी से छोटी भूल पर भी प्रायः मृत्युदंड दिया जाता था। परन्तु विचित्र बात तो यह है कि सम्पूर्ण 'रामायण' में कहीं इस प्रकार का उल्लेख नहीं आया कि उसने किसी को इस प्रकार का दंड दिया हो। किन्तु, सबके मन में इस प्रकार की भय भावना विद्यमान थी। एक घटना ऐसी भी घटी थी, जबकि वह आक्रोश में आकर सैंकड़ों वानरों के विनाश का आदेश भी दे सकता था। यह सुन्दर कांड का प्रसंग है, जब हनुमान सीता से मिलकर, समुद्र लांघकर वापस आये थे और महेन्द्रगिरि के शिखर पर उतरे थे। सीता की खोज का समाचार सुनकर सब वानर अत्यन्त हर्षित हुए। वे उछलते–कूदते शिखर से चल दिए क्योंकि वे श्री राम को प्रिय संवाद सुनाने के लिये उत्सुक थे। सैंकड़ों की संख्या में वे एक सुन्दर वन में पहुँचे, जिसका नाम मधुवन था। सुग्रीव को यह वन बहुत प्रिय था। उसने उसके रख–रखाव के लिए बड़े कुशल मालियों को नियुक्त किया हुआ था। उसके मामा, महावीर दधिमुख उसकी रक्षा किया करते थे। अंगद ने गुरुजन की अनुमति लेकर वानरों को मधु पीने की आज्ञा दे दी। वहाँ के सुगन्धित फल–फूलों का रस पीकर वे मद से उन्मत्त हो गए। मधुवन को नष्ट किया जाना देखकर दधिमुख ने उनको ऐसा करने से रोका, परन्तु उन्होंने सुनी–अनसुनी कर दी। तब दधिमुख उन्हें बलपूर्वक रोकने की चेष्ठा करने लगे, तब वे सब मिलकर उसे बलपूर्वक घसीटने लगे। कवि कहता है कि उन रक्षकों के प्रति दिखाने तिरस्कार के लिए उन्होंने अपनी पीठ तक दिखाई। किसी प्रकार छुटकारा मिलने पर दधिमुख अपने सेवकों को लेकर सुग्रीव के पास गए। उन्होंने यह बताया कि हनुमान आदि वानरों ने मधुवन का नाश कर दिया, वन रक्षकों पर आक्रमण भी किया गया। किन्तु वन की क्षति का परिमाण और गुंडागिरी में सम्मिलित व्यक्तियों के विषय में जानने पर भी, लक्ष्मण द्वारा पूछे जाने पर, सुग्रीव ने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया, "आपके लिये

चिन्ता की कोई बात नहीं। वानर दधिमुख ने मुझे यह बताया है कि अंगद आदि वानर वीरों ने मधुवन का सारा मधु पी लिया। इससे यह अनुमान होता है कि वे जिस कार्य हेतु गए थे, उसे उन्होंने अवश्य ही पूरा किया है। वे कभी भी इतने मस्त नहीं हो जाते, यदि उन्होंने देवी सीता के दर्शन न कर लिये होता। विदेह नन्दिनी के दर्शन बिना वे वानर उस दिव्य वन का जाने–माने विध्वंस करने का कभी भी दुस्साहस न करते। यद्यपि वे अपराधी हैं, किन्तु मैं उन्हें कोई दंड देने नहीं जा रहा हूँ क्योंकि उन्होंने एक महान कार्य निष्पन्न कर लिया है, जिसके लिये हमारी हार्दिक इच्छा थी।"

अब मैं एक ऐसी बात का उल्लेख करूँगा, जिसे सुग्रीव जैसे प्रतिभाशाली व्यक्तित्व पर एक काली छाया माना जा सकता है। यहाँ मैं इस बात पर ध्यान दिलाना चाहता हूँ कि महान गुणों के बावजूद भी सुग्रीव में कुछ ऐसी बात थी, जिनसे प्रतीत होता है कि एक समय उसमें कुछ चारित्रिक दुर्बलता भी विद्यमान थी। एक प्रसंग गृध्रराज सम्पाति से भेंट होने से पूर्व का है, जिसने सीता और रावण का पता बताया था। जब तक हनुमान ने सीता की खोज के लिये समुद्र पर छलांग नहीं लगाई थी। सुग्रीव ने सब वानरों को बुलवा कर सीता की खोज के निमित्त उनकी टोलियाँ चारों दिशाओं में भेजी थीं। उनको आदेश दिया गया था कि वे एक मास पूरा होने तक वापस आ जायें, अन्यथा उनको मृत्युदंड दिया जायेगा। तीन दिशाओं में गए हुए वानर निराश होकर लौट आए। हनुमान, जाम्बवान, अंगद, तार आदि को दक्षिण दिशा की खोज का भार सौंपा गया था। उन्होंने काफ़ी समय तक खोज की, विन्ध्यपर्वत के आस–पास प्रदेश के दुर्गम बनों में ढूँढा। खोजते–खोजते वहाँ उन्हें एक गुफा दिखाई दी। वानर भूख प्यास से व्याकुल थे। पानी की खोज में वे इस गुफा में घुस गए। भीतर घुसकर उन्होंने देखा कि वह स्थान प्रकाशमान और मनोहर था। इधर–उधर खोज करते हुए उन्होंने थोड़ी ही दूर पर किसी स्त्री को देखा, जो तपस्या में ध्यानस्थ थी। पूछने पर पता चला कि उस स्त्री का नाम स्वयंप्रभा है और वह वहाँ के भवन की रक्षा करती है। उसने उन्हें शुद्ध भोजन और फल–फूल दिए। पूछे जाने पर हनुमान ने सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाया। हनुमान ने फिर देवी से कहा, "सुग्रीव ने हमें लौटाने के लिए जो समय निश्चित किया था, वह प्रायः समाप्त हो चुका है। अब हमें आप इस गुफा से बाहर निकाल दें।" बाहर निकलने पर उन्होंने भयंकर अपार महासागर देखा। वहाँ बैठकर वे सभी चिन्तामग्न हो गए। वे नहीं जानते थे कि किस प्रकार लंका पहुँचा जाये, न ही उन्हें पूर्ण विश्वास था कि सीता अवश्य ही लंका में होगी। सीता की खोज के लिये जो अवधि निश्चित की गई थी, वह बीत जाने पर बिना कार्य किए यदि हम सुग्रीव के सम्मुख उपस्थित होंगे, तो वह अवश्य ही हमें यमलोक भिजवा देंगे। ऐसी कल्पना करके वे अत्यन्त भयभीत थे। युवराज अंगद ने सुझाव दिया कि ऐसी अवस्था में आमरण अनशन करके आत्महत्या करना ही सर्वाधिक प्रतिष्ठित मार्ग होगा। यह सुनकर युवाराज अंगद के मामा, तार ने विचार व्यक्त किया कि ऐसा करना आवश्यक

नहीं। अच्छा तो यही होगा कि पुनः स्वयंप्रभा गुफा में प्रवेश किया जाये और वहीं निवास किया जाये क्योंकि वहाँ भोजन की वस्तुएँ उपलब्ध हैं। तार के विचारों का अनुमोदन अंगद ने किया, सभी वानरों को उस पर विश्वास हो गया। तार की बात, जो अंगद के भी अनुकूल थी, सुनकर तार के वक्तव्य पर हनुमान के मन में शंका हुई कि वानरों में पारस्परिक फूट पड़ने से बहुत से वानर अंगद का साथ देंगे। अतएव, हनुमान, जो सुग्रीव के विश्वस्त मंत्री थे, यह सब सोचकर अत्यन्त चिन्तित हुए। उन्होंने साम, दाम, दंड, भेद– इन चार उपायों से अंगद को तार आदि वानरों की ओर से मोड़ने का प्रयत्न आरम्भ किया। तार के सुझाव पर ध्यान न देने के लिए उन्होंने सब प्रकार के प्रलोभन भी दिए। अतः वे अंगद से कहते हैं, "सुग्रीव ने तुम्हारे लिए कितना कुछ किया है। वे अपने बाद में तुम्हीं को राज्यगद्दी पर बैठायेंगे। तुम्हारे चाचा, सुग्रीव सदा तुम्हारी प्रसन्नता चाहने वाले हैं, कदापि तुम्हारा नाश नहीं कर सकते। तुम्हारे सिवाय उनके पास कोई अन्य पुत्र भी नहीं है। इसलिए तुम्हें उनके पास चलना ही चाहिए।" यह सुनकर अंगद उलाहना देता है :

स्थैर्यं सत्त्वं मनःशौचमानृशंस्यमथार्जवम्।
विक्रमश्चैव धैर्यं च सुग्रीवे नोपपद्यते।।
भ्रातुर्ज्येष्ठस्य यो भार्यां जीवतो महिषीं प्रियाम्।
धर्मेण मातरं यस्तु स्वीकरोति जुगुप्सितः।।
कथं स धर्मं जानीते येन भ्रात्रा महात्मना।
युद्धायाभिनियुक्तेन बिलस्य पिहितं मुखम्।। IV.55.2-4

"सुग्रीव में स्थिरता, शरीर और मन की पवित्रता, क्रूरता का अभाव, सरलता, पराक्रम और धैर्य है। यह मान्यता ठीक नहीं जान पड़ती है, जिसने अपने बड़े भाई के जीते–जी, उनकी पत्नी को, जो धर्मतः उनकी माता के समान थी, कुत्सित भावना से ग्रहण कर लिया और स्वयं राजा बन बैठा। वह धर्म को जानता है, यह कैसे कहा जा सकता है? क्या उसे एक शूरवीर और कर्त्तव्यपरायण भाई कहा जा सकता है? जिस दुरात्मा ने मायावी नामक दानव के साथ युद्ध के लिये बिल में जाते हुए, भाई द्वारा बिल की रक्षा के कार्य में नियुक्त होने पर भी और यह जानते हुए कि उसका भाई, बालि बिल के अन्दर है, एक विशाल चट्टान से बिल का मुँह बन्द कर दिया, वह कैसे धर्मज्ञ माना जा सकता है?"

यह सब कुछ कह कर अंगद मरणान्त उपवास (प्रायोपवेशन) के लिए बैठ गए। निस्सन्देह दीर्घकाल के पश्चात् उस बिल से सहसा ख़ून की धारा निकलते देखकर सुग्रीव ने सोचा कि मरने वाला व्यक्ति मायावी नहीं, अपितु बालि था। किन्तु मायावी तो बालि द्वारा मारा जा चुका था। इस सोच का क्या आधार था? इसके विषय में कवि कुछ नहीं कहता, न ही स्वयं सुग्रीव। उसने एक वर्ष की प्रतीक्षा के बाद ख़ून बाहर बहते देखा। वह असुर का ख़ून हो सकता था और नहीं भी। सग्रीव की कल्पना में वह

ख़ून उसे बालि का प्रतीत हुआ और दुष्ट दानव को अन्दर ही बन्द करने का उद्देश्य से उसने एक विशाल चट्टान गुफा का मुँह पर रख दी। परन्तु, स्मरण रहे, यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठाया जा सकता है कि यदि उसको इस बात का पक्का निश्चय नहीं था, तो क्यों नहीं उसने अन्दर जाकर इस बात की पुष्टि की? लोगों के मन में भी इस प्रकार के प्रश्न उठ सकते हैं और उन्होंने अपने–अपने ढंग से निष्कर्ष निकाले होंगे। हम तो केवल इतना ही जानते हैं, कवि सुग्रीव के इस आचरण की कोई सीधी–सीधी निन्दा नहीं करता, अपितु एक उदार दृष्टिकोण अपनाते हुए कहता है कि सुग्रीव स्वयं राजा बनने के लिये कदापि उत्सुक नहीं था, ऐसा करने को तो उसके मंत्रियों ने उस पर दबाव डालकर उसे बाध्य किया। उसने तो औरों के हड़काने पर ही राज्यपद स्वीकार किया।

मैं यहाँ बताना चाहूँगा कि अपने जीवन के इस चरण में सुग्रीव के चरित्र में दृढ़ता की कुछ कमी थी। इसके चरित्र का पूरा विकास अब तक नहीं हुआ था। जब सामने दो विकल्प हों, जो दोनों ही युक्तियुक्त हों और एक रुचिकर रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हों, तो सामान्यतः अधिक सहज, सुकर और लाभदायक विकल्प चुनने की प्रवृत्ति मानवीय होती है। सुग्रीव भी उसी प्रवृत्ति से वशीभूत थे। अंगद ने, जो एक दायाद (पैतृक सम्पत्ति के भाग का अधिकारी) था और एक ऐसे व्यक्ति का पुत्र था, जिसका वध कर दिया गया था, इनमें से अधिक अशुभ अभिप्राय को ही मान्यता दी। हम किस प्रकार उसे दोष दें? सुग्रीव जल्दबाज़ी करता था और सदा अधिक सुगम विकल्प चुनता था, जिससे उसे लाभ हो।

अंगद ने सुग्रीव पर न केवल अपने भाई, बालि के प्रति अधम विश्वासघात का दोषारोपण किया, अपितु अपने घनिष्ठ मित्र श्री राम के प्रति घोर कृतघ्नता के लिये भी उनकी कड़ी निन्दा की :

सत्यात्पाणिगृहीतश्च कृतकर्मा महायशाः।
विस्मृतो राघवो येन से कस्य तु कृतं स्मरेत्।। IV.55.5

"जिन्होंने सत्य को साक्षी देकर उसका हाथ पकड़ा और पहले ही उसका कार्य सिद्ध कर दिया, ऐसे श्री राम को ही जब उसने भुला दिया, तब दूसरे किसके उपकार को वह याद रख सकता है?"

यहाँ अंगद ग़लती पर था। जैसा कि हम देख चुके हैं, श्री राम और लक्ष्मण को जब सच्चाई का पता चला कि सुग्रीव वानर सेना को एकत्रित करने में क़दम उठा चुका है, तो उन्होंने खेद प्रकट किया। परन्तु अंगद सुग्रीव को क्षमा करने को तैयार न था। यह उसकी बड़ी भूल थी। तथ्यों से तो वह भी अनभिज्ञ न था, परन्तु वह सुग्रीव पर श्री राम की और उनके प्रति अपने कर्त्तव्य को भुलाने का आरोप अवश्य लगाता है। आगे अंगद पूछता है, "क्या उसको अकृतज्ञ और अनैतिक कहे जाने का भय था, अगर वह सेना नहीं भेजता, अथवा लक्ष्मण के बाणों का भय था?"

लक्ष्मणस्य भयाद्धेन नाधर्मभयभीरूणा।
आदिष्टा मर्गितुं सीता धर्मस्तत्रिमन् कथं भवेत्।। IV.55.6

अंगद कहता है, "यह भय के कारण ही हुआ, न कि धर्म के अनुसार।"

यहाँ भी वह सुग्रीव से न्याय नहीं करता। फिर वह कहता है :

न चाहं यौवराज्येन सुग्रीवेणाभिषेचितः।।
नरेन्द्रणाभिषिक्तोऽस्मि रामेणाक्लिष्टकर्मणा। IV.53.30,31

"मैं नहीं मानता कि सुग्रीव ने युवराज पद पर मेरा अभिषेक किया है। अनायास ही श्री राम ने ही इस पद पर मेरा अभिषेक किया है।"

यह बात तो सत्य थी। अंगद का यह कहना कि श्री राम ने ही उसे युवराज बनाया था, यथातथ्य था। अंगद कहता है :

स पूर्वं बद्धवैरो मां राजा दृष्ट्वा व्यतिक्रमम्।।
घातयिष्यति दण्डेन तीक्ष्णेन कृतनिश्चयः। IV.53.-32

"मुझसे ग़लती अवश्य हुई है। राजा सुग्रीव ने तो पहले से ही मेरे प्रति वैर बाँध रखा है। इस समय आज्ञा उल्लंघन रूप मेरे अपराध को देखकर निश्चय पूर्वोक्त के अनुसार निश्चय ही तीखे दंड द्वारा मुझे मरवा डालेगा। यदि मैं लौटता हूँ, तो सुग्रीव को याद आ जायेगा कि मैं उसका दायाद हूँ और मैं उसके बाद राजा बनने की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। अतः वह मुझे कठोरतम दंड देगा।"

फिर कवि एक बात कहता है, जो बड़ी अर्थपूर्ण है। जब अंगद यह सब कुछ हनुमान और अन्य वानरों के सम्मुख कहता है, तो वह कहता है, "सब वानर मुझे यहाँ रहने की आज्ञा दें और अन्य सब अपने–अपने घर चले जायें। आप सब अपना रास्ता चुनने के लिये स्वतंत्र हैं। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं किष्किन्धापुरी वापिस नहीं जाऊँगा। यहीं मरणान्त उपवास करना पसन्द करूँगा। फिर भी, मैं आपका निर्णय मानने को तैयार हूँ।" वह स्वयं को अपने साथियों के अधिक परिपक्व निर्णय पर छोड़ देता है। अपने सोच–विचार की अपरिपक्वता को स्वीकार करने में उसकी तत्परता से वानर इतने प्रसन्न हुए कि उन सब वानरों ने उसका ही पक्ष लिया।

विवेश चाङ्गदो भूमौ रुदन् दर्भेषु दुर्मनाः।
तस्य संविशतस्तत्र रुदन्तो वानरर्षभाः।।
नयनेभ्यः प्रभुमुत्तुरूष्णं वै वारि दुःखिताः।
सुग्रीवं चैव निन्दन्तः प्रशंसन्तश्च वालिनम्।। IV.55. 17-18

अंगद धरती पर कुशा बिछाकर उदास मुख से रोते–रोते मरणान्त उपवास के लिए बैठ गये। उनके इस प्रकार बैठने पर सभी श्रेष्ठवानर रोने लगे और दुःखी होकर नेत्रों से अविरल आँसू बहाने लगे। सुग्रीव की निन्दा और बालि की प्रशंसा करते हुए उन सबने अंगद को घेर कर आमरण उपवास करने का निश्चय किया। उन वानरों ने

कहा कि सुग्रीव अनधिकारग्राही है और बालि एक अच्छा राजा था। मेरा ऐसा विचार है कि वानरों के ऐसा कहने के पीछे कोई किंवदन्ती थी, जो उस समय अधिक विश्वसनीय रही होगी।

किष्किन्धा कांड (सर्ग 38-39) में ही सुग्रीव की महान शक्ति का अनुमान दिया गया है। जो सेना श्री राम की सहायता के लिये मैदान में उतारी थी, वह अत्यन्त विशाल थी। यह वृत्तान्त काफ़ी मनोरंजक है। बालि का वध करके राम ने यह सब सुग्रीव को प्रदान किया। राम की कृपा से वह तुरन्त अति शक्तिशाली बन गया। जिसके अधीन इतना सैन्यबल हो, वह कदापि युद्ध में परास्त नहीं किया जा सकता।

◈◈◈

पन्द्रहवाँ अध्याय

विभीषण

सन् 1907 के आरम्भ में भारत के राजनीतिक जगत में एक घटना घटी थी, जो मेरे आज के व्याख्यान के लिए उपयुक्त भूमिका का काम करेगी। प्रसिद्ध 'दादा भाई नौरोजी कांग्रेस अधिवेशन' का समापन हो गया था। कांग्रेस सदस्यों में ऐसा लगता था कि सम्प्रति विखंडन की आशंका टल गई। सबका प्रयास यह होना चाहिए कि अगले वर्ष ऐसी स्थिति उपस्थित ही न हो। परन्तु जैसा कि सब जानते हैं, ऐसा यथार्थ में हुआ नहीं। सन् 1906 के अधिवेशन की समाप्ति के पश्चात् की कार्यवाही में प्रमुख भाग लिया था, श्री गोखले ने, जिन्होंने सोचा कि अधिवेशन की उपलब्धियों को कार्यान्वित करने के लिये भारत के विभिन्न भागों में लोकव्याख्यानों की एक शृंखला का आयोजन होना चाहिए। युवावर्ग को यह अवश्य जानना चाहिए कि अंग्रेज़ों से पूर्णतया नाता तोड़ने और सब अग्रेज़ी चीज़ों के पूर्णरूप से बहिष्कार की अविवेचित बातों का दुष्परिणाम एक संकटमय स्थिति हो सकती है। उन्होंने उत्तर भारत का दौरा किया और उनके पहले व्याख्यानों का प्रभाव अत्यधिक हुआ। जिन लोगों ने कांग्रेस को कमज़ोर करने के प्रयास किये थे, जो सब झगड़ो के जड़ में थे, उनके हृदय में इन व्याख्यानों से तीव्र व्यथा हुई। उन दिनों बंगाल में एक प्रसिद्ध दैनिक पत्रिका प्रचलित थी, जिसका नाम था, '*वन्देमातरम्*'। इसके सम्पादक श्री अरविन्द घोष थे। आरम्भ के व्याख्यान समाचार पत्रों में पूरे–पूरे छपे थे। एक प्रातः काल हम सब बड़े चकित हुए, जब हमने सम्पादकीय देखा जिसका शीर्षक था, 'विभीषण का निर्गमन।' अभिप्राय यह था कि स्वंय को अंग्रेज़ी सत्ता के पक्ष में और उमड़ते हुए राष्ट्रीय आन्दोलन का विरोध में घोषित करने से गोखले ने एक ऐसी ही निन्दनीय भूमिका अदा की है, जैसी विभीषण ने की थी। अब वह अपने भाई का साथ छोड़कर श्री राम के साथ मिल गए थे। स्वाभाविक था कि मेरे गुरु, श्री गोखले के ओर इस संकेत से मुझे बड़ी ठेस पहुँची, परन्तु इससे भी अधिक दुःख मुझे इस बात से हुआ कि विभीषण के नाम का प्रयोग एक देशद्रोही के सूचक के रूप में लिया गया था। मैं एक ऐसे परिवेश में पला था, जहाँ यह मान्यता थी कि विभीषण एक उदात्त चरित्र और प्रथम श्रेणी का भक्त था– एक ऐसा चरित्र, जिसका नाम धर्मपरायण व्यक्तियों के लिये धर्म, अनुराग के उदाहरण के

रूप में लिया जा सकता है। क्या विभीषण को लोक घृणा के लिये प्रदर्शित करना उचित था, मानो एक ऐसा व्यक्ति, जिसने एक गौरवपूर्ण उद्देश्य को त्यागकर अपने नाते रिश्तेदारों और अपने प्रदेश को विदेशी आक्रमण के संकट में डाल दिया था? परन्तु इस चरित्र को ऐसे दृष्टिकोण से देखने की शिक्षा मुझे देखने नहीं दी गई थी। अन्वेषण के बाद मुझे यह जानकर अत्यन्त दुःख हुआ कि प्रायः उत्तर भारत में विभीषण का नाम एक देशद्रोही, अपने राष्ट्रीय उद्देश्य के प्रति विश्वासघाती के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। इस बात से 'रामयाण' महाकाव्य के प्रति उत्तर भारत और दक्षिण भारत के दृष्टिकोण के बीच एक भारी अन्तर उजागर हुआ। परन्तु मुझे प्रसन्नता है कि मेरी बाद की पूछताछ से प्रमाणित हो गया कि अन्तर इतना भारी नहीं, जितना कि उस समय मैं समझता था। दक्षिण भारत में भी अनेक ऐसे उत्तेजित लोग हैं, जो किसी कारण से तत्कालीन राजनीतिक भावना से उत्तेजित होकर विभीषण को एक तिरस्कार और लांछन का पात्र मानते हैं। दूसरी ओर, भारत के अन्य भागों में भी बहुत से लोग हैं, जो इसके प्रतिकूल मत रखते हों। तथापि मेरे विचार में यदि इस विषय पर जनमत लिया जाये, तो दक्षिण भारत की अपेक्षा उत्तर भारत में अधिक लोग विभीषण की नेकनामी के विरोधी होंगे। मुझे यह दुर्भाग्य का विषय प्रतीत होता है कि हमारे सबसे महान महाकाव्य का एक पात्र, जिसे कवि ने स्वंय सम्मान दिया है, जिसे शताब्दियों से भारत ने एक आदर्श भक्त के रूप में माना है, एक ऐसा व्यक्ति, जिसने विशिष्ठाद्वैतवादिनों के अनुसार, एक *'प्रपन्न'* (शरणागत) के विकासोचित विभिन्न गुणों और चरणों की क्रमशः निष्ठापूर्वक साधना करके, एक अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया है, एक इतने उच्च कोटि के चरित्र को, किसी भी प्रकार, उस समय के राजनीति से प्रेरित व्यक्तियों द्वारा एक ऐसे पात्र के रूप में माना जाये, जिसको या तो त्याग देना चाहिए या जिसका उल्लेख केवल निन्दा के रूप में किया जाये। यह मुझे एक शोचनीय बात लगती है और इससे मैं कदापि समझौता नहीं कर सकता। आज एक ऐसे श्रोतागण के समक्ष बोलते हुए, जिनकी वाल्मीकि और उनके सामान्य विचारों के प्रति सहानुभूति है, मैं चाहता हूँ कि विभीषण को यथासम्भव उसके निन्दकों से बचाया जाये और उसे इस दृष्टि से प्रस्तुत किया जाये, जो मेरे विचार से यथातथ्य है। मेरी मान्यता है कि विभीषण अपने समय के मानदंडों के अनुसार एक सच्चरित व्यक्ति था और हमारे समय के मानदंडों के अनुसार भी है। अपना आशय स्पष्ट करने के लिए कुछ समय मैं विभीषण की प्रकृति के तत्त्वों को स्पष्टीकरण पर लगाना चाहता हूँ। पहला प्रश्न, जो मेरे मस्तिष्क में आ रहा है, वह है कि देशद्रोही कौन होता है? सामान्य बोलचाल में देशद्रोही उसको कहा जायेगा, जो अपने देश या राष्ट्र के साथ विश्वासघात करके उस शत्रु से मिल जाता है, जिसने देश पर आक्रमण किया हो अथवा उसके विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया हो। अर्थ विस्तार से निश्चय ही यह शब्द किसी भी राजनीतिज्ञ अथवा लोकसेवक के लिए लागू होगा, जो जानबूझ कर किसी निजी स्वार्थ अथवा

ख़िताब या किसी अन्य सर्वथा सांसारिक–अपेक्षाओं के निमित्त देश भक्तों द्वारा किये गये, अपने देश की मुक्ति के प्रयासों का विरोध करता है। दुर्भाग्य से मुझे उस परस्पर गहरी घृणा के प्रति सहानुभूति नहीं, जो आजकल के राजनीति दलों के बीच पायी जाती है। राजनीति के क्षेत्र के लोग मानवीय सम्बन्धी बातों की केवल सतह पर ही रहते हैं। वे मामलों की गहराइयों में न जाकर उनके मर्म को नहीं छू पाते, न ही हमारी वास्तविक प्रकृति के सत्य की गहराइयों पर पहुँचते हैं। वे हमारे पारलौकिक सम्बन्धों से भी अधिक परिचित नहीं होते, न ही उनको इस बात का कुछ पता है कि हम में सर्वशक्तिमान परमेश्वर की अनुकम्पा प्राप्त करने की भी क्षमता है। मैं नहीं समझ पाता कि एक राजनीतिक विचारधारा रखने वाले लोग दूसरे पक्ष के लोगों की न्निदा क्यों करते हैं? वे उन्हें राष्ट्र के भविष्य का शत्रु क्यों प्रदर्शित करने लगते हैं, कि चाहे उनका निजी चरित्र कितना भी उज्ज्वल क्यों न हो, चाहे अन्य क्षेत्रों में जनता के लिये उनकी उपयोगिता कितनी भी अधिक क्यों न हो, चाहे उनका आचरण कितना भी अनुकरणीय क्यों न हो? मैं तो यह मानता हूँ, राजनीति में सभी दलों का अपना–अपना स्थान है। किसी भी दल विशेष का सत्यता और राजनीतिक समझदारी पर एकाधिकार नहीं हो सकता। प्रत्येक दल को पारस्परिक सहायता की आवश्यकता रहती है, यदि हम यह मान लें कि राजनीतिक समझदारी और राजनीतिक सत्यता प्रत्येक संगठित दल के सिद्धान्तों में विद्यमान होती है। देश सेवा के कार्य के निमित्त हम सबको एक–दूसरे को सहायक मित्र मानना चाहिए। कदाचित् कार्य करते समय तत्कालीन आवश्यकतायें हमें किसी पारस्परिक प्रतिद्वन्द्वता में डाल सकती हैं और हम दो परस्पर विरोधी पक्षों के रूप में आमने–सामने हो सकते है, जिनमें हरेक का प्रयास दूसरे के कार्य को नकारना हो। परन्तु, यह आवश्यक नहीं कि हम दूसरे पक्ष के महापुरुषों के चरित्र को अयथार्थ रूप से प्रस्तुत करें। यह मैं जो कहने जा रहा हूँ प्राथमिक टिप्पणी के रूप में है। सम्पत्ति के विवादों से अधिक, अपनी पत्नियों की प्रतिष्ठा से भी अधिक, मुकद्दमेबाज़ी से भी अधिक, जो पारस्परिक सहानुभूति से विमुख कर देती हैं, इन सबसे कहीं अधिक– ऐसे प्रतीत होता है, कि राजनीतिक मत विरोध, हमारे लोगों में एक–दूसरे के प्रति सबसे घृणित भाषा का प्रयोग उत्पन्न करते हैं। यह एक चीज़ है, जो मेरी समझ में नहीं आती और मैं चाहता हूँ कि यह चीज़ हमारे बच्चों की शिक्षा से यथासम्भव सदा–सदा के लिये दूर कर दी जाये। किसी भी युवक को ऐसे विचारों की शिक्षा नहीं दी जानी चाहिए कि केवल इसीलिये कि संयोग से वह दूसरे पक्ष में है, एक उच्च ख्याति वाला राजनेता एक घृणित व्यक्ति है, जिसके प्रति अपशब्दों का प्रयोग किया जाये, जिसके लिये यह भी कहा जाये कि यदि भारत का भला करना है, तो श्रेयस्कर यही होगा कि वह मर जाये और यदि मरे नहीं, तो उसको समाप्त कर दिया जाये। मैं समझता हूँ कि वह व्यक्ति अपने समय का सबसे बड़ा उपकारी होगा, जो हमारे कॉलेज और स्कूलों के युवकों को यह शिक्षा दे सके कि

व्यक्तिगत गुण, मानव चरित्र का सौन्दर्य, मानव आचरण की गरिमा– ये सब राजनीतिक दलों में पाई जाती हैं, और एक नवयुवक के लिए अपनी संवेदना और हृदय की भावना को संकुचित करना उचित नहीं है। ख़ैर! यह तो एक ऐसी आकांक्षा है, जो कि मेरे जीवन में पूरी होने वाली नहीं। नई पीढ़ी के लोग पुरानी पीढ़ी के लोगों पर कीचड़ उछालने में आनन्द अनुभव करते हैं। मैंने स्वयं बहुत कुछ भुगता है। मैं अन्य व्यक्तियों को भी जानता हूँ, जो वास्तविक महानता के अधिकारी हैं और जिनके प्रति देश को कृतज्ञ होना चाहिए। परन्तु उन्हें भी अनुचित रूप से नई पीढ़ी के हाथों कष्ट सहना पड़ा है। यह लोकतांत्रिक राजनीति का एक वैशिष्ट्य है। यह बात उस समय नहीं होती थी, जबकि भारत में राजनीति का लोकतंत्रीकरण नहीं हुआ था। ये बातें अमरीका और इंग्लैंड में अधिक प्रचलित हैं, जहाँ राजनीतिज्ञों ने कई पीढ़ियों से जड़े जमाई हुई हैं। यदि आप मेरी सच्ची–सच्ची राय पूछें, तो मैं तो यही कहूगाँ कि इस समय लोकतंत्र के विपरीत अवस्था वहाँ कहीं अधिक देखने को मिलती है। लोकतंत्र द्वारा पहुँचे लाभ अथवा कुछ और समय के अन्दर उसके द्वारा पहुँचाये जाने वाले सम्भावित लाभ अपेक्षाकृत कम दिखाई देते हैं। निश्चय ही लोकतंत्र मानव द्वारा अभी तक चलाई गई प्रशासन प्रणालियों में सर्वश्रेष्ठ है। परन्तु यह वांछनीय है कि उसके चलाने वाले लोग साहसी, निष्ठावान, प्रथम श्रेणी के लोग हों। अपरीक्षित लोगों के हाथों में इसके दुरुपयोग की अत्यधिक सम्भावना अधिक रहती है। ये लोग सोचते हैं कि दुरुपयोग करना राजनीति का मुख्य तत्त्व है और भिन्न विचारधारा वालों के प्रति घृणा देश प्रेम का प्रमाणचिह्न है। इस उपदेश में मैंने जो कुछ कहा है, उसका एक कारण तो यह है कि मैं समझता हूँ कि ऐसी मानसिकता आजकल की ऐसी बुराई है, जो कि भारत में विदेशी मूल की है और जिसका निराकरण करना कठिन नहीं है। और दूसरा कारण यह है कि दुर्भाग्य से इसी मानसिकता के कारण विभीषण का ऊँचा नाम अप्रतिष्ठा का विषय बनाया गया है। यदि हमारी राजनीतिज्ञ आजकल के जैसे न होते, यदि शब्द 'देश प्रेम' का आधुनिक रूप में व्यवहार न किया गया व्यवहार होता, तो विभीषण का नाम हमारे आकलन में निर्मल और निष्कंलक रहता। अन्ततः देश प्रेम का अर्थ क्या है? अपने शब्दों के प्रयोग में मुझे बहुत सावधानी रखनी चाहिए क्योंकि जो लोग किसी नेता की बातों को किसी राजनीतिक झुकाव के साथ सुनते हैं, वे उसका अर्थ अपने–अपने ढंग से लगाते हैं, अपनी–अपनी अभिरुचि के अनुसार। आवश्यक नहीं कि यह अर्थ वक्ता के शब्दों के अनुकूल हो अथवा उसके अभिप्राय के अनुकूल। मेरी बात को उसी अर्थ में समझा जाये, जैसा कि मैं कहना चाहता हूँ, न कि उस अर्थ में, जैसा कि आप उसे समझ रहे हों।

मैं कहने जा रहा था कि यह आवश्यक नहीं कि 'देश प्रेम' मानवीय स्वभाव का एक गुण माना जाये। यह तो एक भावावेश है। देश प्रेम एक उच्च कोटि की भावना है, एक उत्कृष्ट हृदय का, एक उदात्त चरित्र का रुझान है। परन्तु देश प्रेम लाभप्रद सिद्ध

होता है या हानिकर, इस का परिणाम अच्छा होगा या बुरा, देशभक्त से देश का भला होता है या नहीं, अन्ततः यह सब निर्भर होता है, इस पर कि उस भावना का लक्ष्य किस दिशा में है। उदाहरण के लिए, माता का बच्चे के प्रति प्रेम को लें। माता अपने बच्चे के लिये अपना लहू बहा सकती है, उसके लिए अपनी जान भी दे सकती है। इस लोक में वह अपने बच्चे की भलाई के लिए क्या कुछ नहीं कर सकती? परन्तु हम जानते हैं, बहुधा मातायें, जो बच्चों को पालने की कला में सुशिक्षित नहीं होती, बच्चों की प्रकृति से सुपरिचित नहीं होती, वे उनका पालन पोषण ठीक प्रकार से नहीं कर पाती। यहाँ तक कि अज्ञानवश वे उनका सामान्य स्वास्थ्य भी बिगाड़ देती है। वह कितनी भी सद्भावपूर्ण, कितनी भी स्नेही, कितनी भी समर्पित, कितनी भी त्यागमयी क्यों न हो, एक अशिक्षित माता बच्चे का पालन पोषण उचित ढंग से नहीं कर सकती। अपने लाड़ के आधिक्य के कारण वह स्वंय बच्चे की कमज़ोरियों, दुर्गुणों का मूलकारण बन सकती है। कदाचित् उसका प्रेम बच्चे की दुष्टता का भी कारण बन सकता है। यह देखने में आता है कि ममता का दुरुपयोग होता है। यह भी हम जानते हैं कि दुर्भिक्ष या संकट के समय, दो या तीन बच्चों के भार से दबी स्त्रियाँ, उनके लिए दैनिक रोटी जुटाने में अपने को असमर्थ पाकर सोचने लगती है कि वे अपने जीवन का अन्त कर लें और इसकी प्रारम्भिक तैयारी के लिये अपने बच्चों को भी मार देना आवश्यक समझती हैं। देखिए, बात कहाँ से कहाँ तक पहुँच जाती है! मैं इस बात की ओर ध्यान दिलाने का प्रयास कर रहा हूँ कि भावनाओं में सबसे उत्कृष्ट प्रेम भी एक स्त्री को ऐसे कर्म करने के लिए प्रेरित कर सकती है, जिसका उल्लेख मात्र भी हमारे मन में वीभत्सा का भाव भरता है। दूसरी ओर, लीजिए एक बुद्धिमान पिता या बुद्धिमती माता, जिसने पुस्तकों के अध्ययन से यह जाना है कि बच्चों को किस प्रकार बुराइयों से दूर रखना चाहिए, जो उन्हें उच्च, उदार चेत्ता और निष्कपट व्यक्तियों के प्रति प्रेम भाव रखना सिखा सकती है, उन बातों से दूर रहना, जो अधोगति की ओर ले जा सकती हैं। ज़रा सोचिए, ऐसे चरित्रवान माता और पिता हमारे राष्ट्र के जीवन में भला करने के लिए कितनी महानशक्ति के धनी होते हैं। अब आप समझ गए होंगे, मेरा यह कहना कितना तर्कसंगत है कि हमारे बलिष्ठ भावावेशों और हमारे श्रेष्ठतम मनोभावों का स्वागत भी केवल उसी सीमा तक किया जा सकता है, जहाँ तक उनका उपयोग कार्यों के सुधार के लिए ऐसे व्यक्तियों द्वारा किया जाये, जिनके हृदयों मे वे विशिष्ट स्थान रखते हों। अतः देश प्रेम अपने परिणाम में अच्छा भी हो सकता है अथवा बुरा भी, उसके पीछे अभिप्राय चाहे कितने भी प्रतिष्ठित क्यों न हों। किसी भी मनुष्य में सब सद्गुण जन्मजात नहीं होते। यदि हम मानवीय कार्यों में उनका उद्भव परखना चाहें, तो कदाचित् पायेंगे कि उनकी उत्पत्ति एक साधारण भौतिक अवस्था से आरम्भ हुई। उस भौतिक अवस्था से धीरे–धीरे उनके सम्बन्धों की परिपूर्णता से, उनके उपयोग के उन्नयन से, ये नैतिक धारणायें अधिकाधिक परिष्कृत होती गई हैं।

यहाँ तक कि अब हम मानने लगे हैं कि शिक्षा का मुख्य उद्देश्य और प्रमुख लक्ष्य है, इन धारणाओं को नई पीढ़ी के मन में बैठाना।

अब मैं दिखाना चाहूँगा कि मानव इतिहास में देश प्रेम की भावना कैसे जन्मीं। आजकल देशभक्ति वह नहीं है, जैसा कि आरम्भ में इसका अर्थ था। पहले देश प्रेम अधिकतर क़बीलों और छोटी–छोटी उपजातियों तक ही सीमित था। पूर्णतया परिवारों और छोटे ग्रामों तक सीमित रहने के पश्चात् क्रमशः इसका विस्तार होने लगा और यह एक सुखद भावना के रूप में अपने बन्धु–बान्धवों के प्रति प्रेम, अपनी जाति के प्रति प्रेम के अर्थों में ली जाने लगी। हमारे इतिहास में कोसल, विदेह और अन्य इसी प्रकार के जनसमूहों का उल्लेख है। उस समय किसी का भी अपना निजी देश, प्रदेश, अथवा क्षेत्र नहीं था। एक मनुष्य किसी न किसी क़बीले विशेष अथवा जन समूह का सदस्य होता था और उसका ही कुशल–क्षेत्र समूह भूमि पर अपना स्थान बदलता रहता था। लोग जल्दी–जल्दी धरती के एक भाग से दूसरे भाग पर स्थान बदलते रहते थे। समुदाय और क़बीलों से धीरे–धीरे यह जुड़े होने की भावना जनसमूह से उस भूमि के लिए अन्तरित होती गई, जो उसके लिये मूल महत्त्व रखता था। इस प्रकार दीर्घकाल तक प्रयोग में आने के कारण शब्द *'देश प्रेम'* का प्रयोग अब उस समाज विशेष के प्रति भावना की तुलना में, जिससे हम जुड़े हैं, कहीं अधिक देश विशेष के प्रति प्रेम भावना के लिए होता है, जहाँ हमने जन्म लिया है। यह है, पतिवर्तन, जो शब्द *'देश प्रेम'* के पीछे निहित अर्थ में आया है। एक जातीय अथवा क़बीली सन्दर्भ से यह शब्द धीरे धीरे उस देश के लिए स्थानान्तरित हो गया, जहाँ ये जातियाँ अथवा वर्ग स्थायी रूप से जा बसे। अब मत यह है कि सर्वोच्च देश प्रेम वह है, जिसके अन्तर्गत अखिल भारत तथा उसमें बसने वाले सभी निवासी सम्मिलित हैं। जो लोग स्वयं को बम्बई वाले अथवा बंगाली कहते हैं, उन्हें हम अपरिपक्व पूर्णतया विकसित नहीं मानते हैं। देश प्रेम की इकाई अब सम्पूर्ण भारत देश हो गया है। यदि कोई कहे कि वह बंगाली है और उसे किसी अन्य बात से कोई प्रयोजन नहीं, तो हम समझेंगे कि उसके विचार बहुत अपरिष्कृत हैं। यदि कोई व्यक्ति स्वयं को पूर्णतया मुस्लिम कहे, अथवा हिन्दू या सिक्ख कहे और यह कि उसके प्रेमभाव में भारत का स्थान है, अथवा बिल्कुल नहीं, तो ऐसे व्यक्ति को हम देश प्रेम रहित मानेंगे, अथवा संकुचित अर्थ में, देशप्रेमी। लगभग बीस वर्ष पूर्व (अर्थात् सन् 1925 के आसपास) देश का प्रत्येक व्यक्ति यह कहने में गर्व करता था कि मैं भारतीय पहले हूँ और हिन्दू या मुस्लिम अथवा सिक्ख बाद में। मुझे याद है, जब मैं छोटा था तो एक सच्चे देशप्रेमी का प्रमान चिह्न यह भावना थी। खेद है, हमारे राजनीतिज्ञ कितने विकृत और भ्रष्ट हो गये हैं। आज ऐसे भी हैं, जो डंके की चोट पर कहते हैं, "मैं प्रथमतः मुस्लिम हूँ, द्वितीयतः, तृतीयतः भी मुस्लिम हूँ; भारतीय तो बिल्कुल नहीं।" हिन्दू भी जवाब में प्रायः ऐसा ही कहते सुने गये हैं। थोड़े समय में कितना परिवर्तन हो गया है। अब तो कुछ ही लोग ही ऐसा

सोचते हैं कि समस्त भारत के निवासी एक क़ौम हैं। यह भावना कुछ ही पीढ़ियों पूर्व पनपी है।

कुछ और भी मुझे कहना है। जबकि इस देश के वासी हम पिछड़ गये हैं और निम्न से निम्नतर में संकुचित हो गए हैं, दुनिया की अन्य क़ौमें क्या कर रही हैं? अन्य वहाँ के प्रबुद्ध–वर्ग और श्रेष्ठ प्रशिक्षित लोग क्या कर रहे हैं? वे न केवल अपनी राष्ट्रीय राजनीति को दुनिया में सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, अपितु वे अपनी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को भी दुनिया में सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। उनके चिन्तन में समस्त क़ौमें सारी पृथ्वी और विभिन्न सम्प्रदायों, देशों के लोग एक हैं, एक ही परिवार के हैं और मानव परिवार एक है। हम में केवल एक ही भावना होनी चाहिए, यह महान विचार आजकल के मनीषियों के मस्तिष्क और हृदय में पनप रहा है। ज़रा सोचिए कि यह विचार कि हम साम्प्रदायिक राजनीति की ओर लौटे कितना शोचनीय है, जबकि सर्वश्रेष्ठ लोग समस्त वसुधा को अपने देशप्रेम का अधिकारी समझते हैं। ऐसे भी लोग हैं, जिनका विचार है कि स्कूल और कॉलिज के युवा छात्रों की शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि वे इस प्रकार की देशभक्ति की भावना से प्रेरित प्रोत होकर निकलें।

यदि विभीषण श्री राम को देखकर, उनके स्वभाव को जानकर, यह भलीभाँति समझकर कि वे जगत में मानवीय सद्गुणों के आदर्शमूर्ति थे और मानवता की रक्षा के निमित्त ही वे जग में आये थे, ऐसे चरित्र की विभूति को पूर्ण रूप से समझ कर और उससे प्रभावित होकर उस सर्वोच्च और सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति की सेवा में खिंच कर आया और उसने अपने संकीर्ण एवं अनैतिक वातावरण का त्याग किया, तो क्या हम इस आचरण को मानवीय चरित्रहीनता का एक संकेत माना जाना चाहिए? सचमुच यह मेरी समझ से बाहर की बात है। यह तो है, जो कुछ विभीषण ने किया, केवल इतना ही। यही बिन्दु मैं आपको भली प्रकार से समझाना चाहता हूँ। अन्य लोगों से हटकर जिनके विचार में श्री राम केवल एक सच्चरित व्यक्ति थे, विभीषण ने समझा कि वे एक आदर्श पुरुष थे, अपने समय के श्रेष्ठ शूरवीर और वीरों में अग्रणीय थे, जिनके उदाहरण से न केवल बहुत कुछ सीखना चाहिए, अपितु जिनकी सेवा उसे करनी चाहिए और आज्ञा का पालन भी करना चाहिए। यदि उस दिव्य वाणी को सुनकर आप उसकी ओर खिंच नहीं जाते, यदि ऐसे महापुरुष का सामना होने पर आप उसके चरणों में नतमस्तक होने के लिए प्रेरित नहीं हो जाते, एक ऐसे पुरुष के सम्मुख, जिसका पृथ्वी के छोर तक अनुसरण करते रहना चाहिए, तो ईश्वर के लिए, कम से कम उस व्यक्ति की निन्दा तो न करो, जो ऐसा करता है। अपनी कमज़ोरियों के लिए दुखी होओ, अपने उलटेपन पर आँसू बहाओ, किन्तु उस व्यक्ति की निन्दा न करो, जो अपने सयम की भावनाओं से कहीं ऊपर उठ जाता था। कदाचित् इस बिन्दु पर मैं ज़रूरत से अधिक बल दे रहा हूँ। आपका यह पूछना भी उचित होगा, "क्या विभीषण ने भी उस समय सचमुच इस सार्वभौम देश प्रेम अथवा इस विश्व नागरिकता का सोचा

होगा, जैसा कि आप सोच रहे हैं?" नहीं, नहीं! मैं इस बात का दावा नहीं करता। मैं जो कह रहा हूँ, वह केवल यह है कि विभीषण को इस विश्व प्रेम की भावना का कोई आभास भी न था, जैसा कि हम लोग समझते हैं और उसने लंका तक को भी अपने प्रयत्नों के चरम लक्ष्य के रूप में नहीं सोचा था। उसने तो श्री राम और रावण– दोनों को ही बड़े ध्यान से परखा। एक को उसने घटिया धातु पाया, यद्यपि वह नातेदार और सहोदर भाई था, जिसने उसे अच्छा भोजन, अच्छी पोशाक और देश की राजसत्ता में एक प्रतिष्ठित स्थान देकर अपनी ओर आकर्षित किया, परन्तु राम यह क्या था? रावण के चरित्र में थी संयुक्त सब प्रकार की दुष्टतायें और ऐसे कर्म, जो कि सम्पूर्ण मानव जाति को बदनाम करने वाले हैं।

कुछ ऐसे भी लोग हैं जो कहते हैं, "यदि विभीषण की ऐसी धारणा थी कि रावण ऐसा व्यक्ति नहीं, जिसके लिए कुछ सेवा की जाये अथवा उसके साथ रहा जाये, तो उचित यही होता कि वह लंका से बाहर जाकर कहीं और भारत में चुपचाप रहने लगता। श्री राम की सहायता करने का क्या औचित्य था?" बिल्कुल यही बात इन्द्रजीत ने अपने चाचा से कही थी। इस प्रश्न का उत्तर पहले ही दे दिया जा चुका है। कोई भी व्यक्ति अच्छा हो सकता है या बुरा। किसी को तटस्थ रहने का अधिकार नहीं, जब तक कि वह यह न सोचे कि दोनों पक्ष अच्छाई में बराबर हैं। अन्तर तो अच्छाई और बुराई के बीच का है, धर्म और अधर्म के बीच। एक व्यक्ति घोर संकट से संत्रस्त है, अच्छाई और बुराई का घोर संघर्ष हो रहा हो, दुनिया का भविष्य ही अनिश्चयग्रस्त हो गया हो। कुछ समय तक वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ रहता है। परन्तु जब वह अच्छी प्रकार समझ लेता है कि वह अच्छाई के पक्ष में क्या कुछ कर सकता है। तो क्या वह उपयुक्त स्थान और उपयुक्त कर्मक्षेत्र चुनने के बजाय, हाथ पर हाथ रख कर अपने वैयक्तिक जीवन की सब आकांक्षाओं का त्याग कर सकता है? मैंने इस प्रकार का मार्ग अपनाने विरले ही देखें होंगे। जब श्री राम और रावण के विकल्प का प्रश्न विभीषण के सामने आया होगा, तो निश्चय ही उसको तटस्थता रास न आई होगी। मेरे विचार में भी इस प्रकार का सुझाव सही नहीं कि सम्भवतः तटस्थता विभीषण के लिए सबसे अच्छा विकल्प हो सकता था और तटस्थता की बात समझ में आ सकती है, यदि वह उस समय और स्थान के लिए उपयोगी हो। यदि सच्चाई और बुराई की दो शक्तियाँ लगभग बराबर की टक्कर की हों, और आप यह निश्चय नहीं कर पा रहे हों कि किस पक्ष को अपना समर्थन दें, जिससे बुराई पर अच्छाई की विजय निश्चय हो जाये। ऐसी स्थिति में भी आपको कुछ न कुछ निर्णय लेना आवश्यक है। टकराव में आपको सम्मिलित होना आवश्यक है। उससे अछूता रहना असम्भव है। मैंने किसी कथा साहित्य तक में नहीं पाया कि कोई तटस्थ पात्र एक महान चरित्र माना गया हो। लिट्टन (Lytton) के उपन्यासों में से एक के अन्तिम अध्यायों में एक अपने समय के महान व्यक्ति, कुलीन पुरुष का उल्लेख है, जिसे देश की तत्कालीन

परिस्थितियों में एक सम्मान्य भूमिका अदा करना सम्भव था, परन्तु जो दोनों में से किसी पक्ष की ओर निश्चित रूप से आकर्षण अनुभव न करने के कारण तटस्थ ही रहे। कदाचित् इस प्रकार का केवल यही एक उदाहरण है, जिसकी परिकल्पना कोई कहानी लेखक कर सका। जो लोग ऐसा कहते हैं कि जब विभीषण ने रावण का परित्याग करने का निश्चय किया, तो औचित्य का ध्यान रखते हुए उसे कम से कम मर्यादा की सीमा के अन्दर तटस्थ रहना चाहिए था, वे मानवीय प्रकृति की गरिमा को नहीं समझते, न ही उस उद्देश्य को, जिसके निमित्त मानव जाति इस पृथ्वी ग्रह पर विद्यमान है।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं, "कोई बात नहीं, यदि विभीषण राम से जा मिला, परन्तु उसने अपने आपको इतना क्रियात्मक क्यों बनाया? क्यों उसने श्री राम के पार्श्व में खड़े होकर कुम्भकर्ण, इन्द्रजीत, प्रहस्त आदि की ओर इशारा किया? क्यों उसने युद्ध के निर्णायक क्षणों में लंका और उसके मोर्चाबन्दी के सब भेद खोले, और अपना अत्यन्त बहुमूल्य परामर्श और सहयोग श्री राम को दिया?" ये प्रश्न केवल पूछने में ही अच्छे लगते हैं? राम के साथ जुड़ने पर उस पक्ष को पूरा–पूरा सहयोग देना सर्वथा उचित था। उसकी वहाँ उपस्थिति का उद्देश्य ही था धर्म की अधर्म पर, नैतिकता की दुष्टता पर विजय दिलाना, जीत उस पक्ष की जिसके साथ उसने अने आपको जोड़ लिया था।

एक अन्य प्रश्न भी उठाया जाता है, जिसके लिए भी मेरा उत्तर सीधा है। लोग कहते हैं, "यदि उसने अपनी पूरी कर्म शक्ति और कौशल का प्रयोग करके लंका के शत्रु राम को सफलता दिखाई और अपने सहोदर भाई का विनाश किया। ख़ैर! किन्तु स्वयं को राजा क्यों बनाना था? क्या वह यह नहीं कह सकता था कि उसे राज्य नहीं चाहिए?" क्योंकि काव्य के मूलपाठ में ही इस बात का वर्णन है कि राज्य ने ही उसके सम्पूर्ण प्रयत्नों को प्रेरित किया था। स्वयं विभीषण द्वारा एक या दो बार कहलाया गया है कि युद्ध में विजयश्री रावण के पक्ष में थी, मैं यहाँ केवल एक बृहत् टिप्पणी करता हूँ, जिसके दृष्टिकोण से मूलकाव्य का अध्ययन किया जाये। राज्य का परित्याग विभीषण किस प्रकार कर सकता था? वह रावण के कुल का एम मात्र जीवित पुरुष था। उस लंका द्वीप में अल्पव्यस्कों, वृद्धों, विधवाओं और अनाथों के अतिरिक्त कोई न बचा था। सभी योद्धा मारे जा चुके थे। राजपरिवार में उसके अतिरिक्त कोई शेष न था, और उसके पास केवल चार मंत्री रह गये थे। लंका में क्या शेष रह गया था? क्या एक राज्य के रूप में उस पर शासन करने के लिये वह किसी को आकर्षित करने के योग्य थी? उस भयंकर युद्ध के उपरान्त, जिसमें कोई भी उपयोगी वस्तु शेष न रही होगी, क्या रह गया था, जो किसी में राजा बनने की इच्छा जगाता? जबकि सभी वानर, जिनको विजेता पक्ष में होने का सौभाग्य मिला था, पुष्पक विमान द्वारा राम और सीता का राज्यभिषेक देखने के लिए अयोध्या गए। लंका से केवल विभीषण अकेला ही गया,

जाने को कोई अन्य था ही नहीं। इससे अधिक सजीव प्रमाण क्या हो सकता है, पूरी बर्बादी और निर्जनता का जो उस भूखंड पर छाई हुई थी। यह कहना ग़लत है कि विभीषण एक बहुत महत्त्वाकांक्षी और लोभी व्यक्ति था, जो लंका को हस्तगत करने के लिए लालायित था। उसने लंका को अंगीकार केवल कर्त्तव्य और सेवा की सर्वोच्च भावना से प्रेरित होकर किया क्योंकि उस घायल प्रदेश को एक बुद्धिमान, सच्चरित्र और निष्कपट शासक की आवश्यकता थी। मैं तो इस बात को इसी दृष्टिकोण से मानना ठीक समझता हूँ। हो सकता है कि उसमें लंका पर शासन करने की इच्छा रही भी हो। किन्तु, यह इच्छा केवल इसलिये थी कि उस द्वीप के लिए दूसरा विकल्प था ही नहीं। इसके अतिरिक्त वह एक ऐसे व्यक्ति के प्रभुत्व में आये कि जो अच्छाई और बुराई में भेद कर सकता था और अपने प्रजाजन के हित को सर्वोपरि समझ सकता था। राज्य को ग्रहण करने की इच्छामात्र भी निस्स्वार्थपरता का प्रमाण है, न कि स्वार्थपरता का। इसी चरित्र के प्रति मैं अगले अध्याय में भी आपका ध्यान आकर्षित करूँगा। तब मैं मूलपाठ के प्रासंगिक उद्धरण भी दूँगा, जिससे आप देख सकेंगे कि मैंने यहाँ जो कुछ दिया है, आप पूर्णतया वह स्वयं के लिये मूलपाठ के ही स्पष्टीकरण है। आप सम्भवतः समझ जायेंगे कि मैंने कुछ असंगत नहीं कहा। मैंने उसके चरित्र को चित्रित किया है। वस्तुतः मैं केवल यही चाहता हूँ कि आपको आमन्त्रित करूँ कि आप स्वयं ही विभीषण के चरित्र के प्रति न्याय करें, इससे अधिक कुछ नहीं। क्योंकि उस महान चरित्र को एक देशद्रोही, देश के प्रति विश्वासघाती, एक महत्वाकांक्षी और लोलुप व्यक्ति कहना, जो अपने उद्देश्यपूर्ति के लिए अपने सम्बन्धियों, और यहाँ तक कि अपने भाई का भी, जिसके प्रति वह सब प्रकार से ऋणी था, परित्याग कर सकता था, ग़लत समझना है। उसने अपने देश के प्रति विश्वासघात नहीं किया क्योंकि उसका यह उद्देश्य कदापि नहीं था कि लंका देश के शत्रु की सम्पत्ति बन जाये। राम भी लंका को उसके एक देशवासी को ही सौंपने वाले थे। अतः इस प्रकार का कोई विचार तक भी न था कि अपने देश के साथ विश्वासघात करके, उसको दूसरे का गुलाम होने दिया जाये और एक विदेशी शासन की राजनीतिक बुराइयों का विषय बना दिया जाये।

◈◈◈

सोलहवाँ अध्याय

विभीषण

मेरे एक परम मित्र ने, जिनकी विद्वत्ता के लिये मेरे मन में सर्वोच्च आदर भाव है, एक बार विचारार्थ एक समस्या प्रस्तुत की– क्यों राम ने विभीषण के लिये एक सांकेतिक अभिषेक का आयोजन कराया, और वह भी ऐसे समय में जबकि वास्तविक रूप से युद्ध आरम्भ भी नहीं हुआ था, किन्तु सुग्रीव के लिये ऐसा कुछ भी नहीं किया गया? उनका स्वयं का उत्तर बड़ा विद्वत्तापूर्ण था, परन्तु वह मुझे युक्तियुक्त नहीं लगा। आरम्भ में इन दो चरित्रों के मध्य वैषम्य को स्पष्ट करने के उद्देश्य से मैं कुछ कहना चाहूँगा। मैं आशा करता हूँ कि इसके बाद सम्भवतः इस समस्या का उचित उत्तर मिल जाये। हमें स्मरण रहे कि विभीषण भक्ति का प्रतिरूप माना जाता है, '*प्रपत्ति*' (अथवा अनन्य भक्ति) के रूप में अर्थात् राम की शरणागति में। इस महाकाव्य के कथा–वाचकों के लिए '*विभीषण शरणागति*' बार–बार लिए जाने वाली विषय–वस्तु है। उसने अपने भाई की प्रभुसत्ता के विरुद्ध विद्रोह करके और उसके दंड की धमकी से बचकर श्री राम की शरण की बात ली थी। दूसरी ओर, मज़े यह है कि श्री राम और सुग्रीव के मध्य पहली ही बातचीत में लक्ष्मण अपने भाई की ओर से हनुमान से कहते हैं :

अहं चैव हि रामश्च सुग्रीवं शरणं गतौ।।
एष दत्त्वा च वित्तानि प्राप्य चानुत्तमं यशः।
लोकनाथः पुरा भूत्वा सुग्रीवं नाथमिच्छति।।
पिता यस्य पुरा ह्यासीत्शरण्यो धर्मवत्सलः।
तस्य पुत्रः शरण्यश्च सुग्रीवं शरणं गतः।।
सर्वलोकस्य धर्मात्मा शरण्यः शरणं पुरा।
गुरुर्मे राघवः सोऽयं सुग्रीवं शरणं गतः।।
यस्य प्रसादे सततं प्रसीदेयुरिमाः प्रजाः।
स रामो वानरेन्द्रस्य प्रसादमभिकाङ्क्षते।। IV.4.47-21

"मैं और मेरे भाई, श्री राम– दोनों ही सुग्रीव की शरण में आये हैं। मेरे भाई, जो एक बड़े धनी थे, अयोध्या छोड़ने के पूर्व ही अपना सारा धन वैभव का दान करके

परम उत्तम यश प्राप्त कर चुके हैं। जो पूर्व में सम्पूर्ण जगत के नाथ (संरक्षक) थे, वे आज सुग्रीव को अपना रक्षक बनाना चाहते हैं। जिनके पिता पहले शरणागत पालक और धर्मवत्सल रहे हैं आज उन्हीं महाराज दशरथ के पुत्र, श्री राम सुग्रीव की शरण में आये हैं। जो मेरे धर्मात्मा बड़े भाई, श्री राम पहले सम्पूर्ण जगत को शरण देने वाले थे, वे आज सुग्रीव की शरण में आये हैं। जिनके प्रसन्न होने पर सदा यह सारी प्रजा प्रसन्नता से प्रफुल्लित होती थी, वे श्री राम आज वानर राज सुग्रीव की प्रसन्नता चाहते हैं।"

इस प्रसंग में अनेक श्लोक उद्धृत किये जा सकते हैं। इससे सुग्रीव और विभीषण की अभिवृत्तियों की विषमता पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है, जब वे राम के पास आये थे। राम को ही सुग्रीव के संरक्षण की आवश्यकता थी। इससे हरेक बात का पूर्ण समाधान हो जाता है। अतः हरेक दृष्टि से सुग्रीव श्री राम का समकक्ष था और दोनों को एक दूसरे की सहायता की आवश्यकता थी। अतः वे दोनों बराबरी में स्थान पर थे। यह दिखाने के लिए कि यह स्थिति अन्त तक अपरिवर्तित रही, हम देखें उस समय का दृश्य, जब राम वनवास से घर लौटे और पट्टाभिषेक के कुछ पूर्व सुग्रीव और विभीषण दोनों भरत से मिले, तब भरत ने किस प्रकार दोनों का स्वागत किया। कदाचित् इसे सूक्ष्म दृष्टि उसे देखने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु यह वैषम्य शिक्षाप्रद है और मेरा विश्वास है कि कवि का इस प्रकार का अभिप्राय है।

अथाब्रवीद्राजपुत्रः सुग्रीवं वानरर्षभम्।।
परिष्वज्य महातेजा भरतो धर्मिणां वरः।
त्वमस्माकं चतुर्णां तु भ्राता सुग्रीव पञ्चमः।।
सौहृदाज्जायते मित्रमपकारोऽरिलक्षणम्। VI.130.44-46

जैसे ही धर्मात्माओं में श्रेष्ठ महातेजस्वी राजकुमार भरत वानरराज सुग्रीव से मिले, उन्हें हृदय से लगाकर उनसे कहा, "सुग्रीव! तुम हम चारों भाइयों के पाँचवें भाई हो, तुम्हारा इस परिवार में स्वागत है। क्योंकि स्नेहपूर्वक उपकार करने से ही कोई भी मित्र बनता है, और वह मित्र अपना भाई ही होता है। अपकार करना शत्रु का ही लक्षण है।" जब विभीषण पहुँचे, भरत ने बड़े मृदु स्वर में सान्त्वना देते हुए उनसे कहा :

विभीषणं च भरतः सान्त्ववाक्यमथाब्रवीत्।।
दिष्ट्या त्वया सहायेन कृतं कर्म सुदुष्करम्। VI.130.46,47

"राक्षसराज! बड़े सौभाग्य की बात है कि आपकी सहायता पाकर श्री राम ने अत्यन्त दुष्कर कार्य सम्पन्न किया है।"

इतने ही शब्दों में विभीषण का अभिवादन समाप्त हो गया। इस प्रकार इन दो व्यक्तियों में वैषम्य स्पष्ट हो जाता है। सुग्रीव ने अनुबन्ध का अपना वादा पूरा करने के लिए एक शक्तिशाली वाहिनी मैदान में खड़ी कर दी। वह शक्तिशाली अपने बृहत्

परिमाण के कारण न थी, अपितु इसलिये थी क्योंकि उसमें जैसे हनुमान, जाम्बवान, अंगद, नल, नील आदि जैसे प्रमुख योद्धा सम्मिलित थे। विभीषण जब आया था, वह लगभग अकेला था। उसके साथ चार साधारण अनुचर थे, जिनसे नाम तक का उल्लेख करना कवि भूल जाता है।* विभीषण स्वयं वहाँ आया, यही बड़ी बात थी।

जिन्होंने 'रामायण' पढ़ी है और जो इसकी कथा से परिचित हैं, तुरन्त समझ सकते हैं कि लंका विजय के लिये सुग्रीव अपरिहार्य था, जबकि विभीषण के आने की कोई अपेक्षा भी न थी। वह सेतु निर्माण से ज़रा पहले आ पहुँचता है। कदाचित् हमें ऐसा लगता है कि वह यद्यपि अपने ही वहाँ आया था और उसके आने से श्री राम को बहुत लाभ भी हुआ। परन्तु ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि श्री राम ने अपने अभियान के लिये उसे नितान्त आवश्यक पाया, सहायता तो उससे बहुत मिली। वस्तुतः उसकी सहायता कुछ विशेष कठिनाइयों के समय अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुई, परन्तु ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि उसकी सहायता के बिना काम नहीं चल सकता था या वह इतनी महत्त्वपूर्ण थी, जितनी सुग्रीव की।

दूसरी बात यह थी कि पहली भेंट के समय सुग्रीव राम की महानता से अनभिज्ञ था। आरम्भ में तो वह यह भी नहीं जानता था कि राम कौन थे? जब राम ने आश्वासन दिया, "मैं तुम्हारी सहायता करूँगा," सुग्रीव को फिर भी उनकी सहायता देने की क्षमता पर सन्देह था। उसको विश्वास नहीं था कि राम उसके भाई, बालि के सामने ठहर सकेंगे। अतः उसने उनसे अपनी शक्ति और युद्धकौशल का प्रमाण देने को कहा। जब तक उसे पहले और दूसरे प्रमाण नहीं मिल गये, वह सन्तुष्ट नहीं हुआ। किन्तु जहाँ तक विभीषण का सम्बन्ध है, उसे राम की महानता, उनके पराक्रम और उनके नैतिक गुणों का पूरा–पूरा ज्ञान था।

सुग्रीव के अभिषेक के लिये पहले से कुछ तैयारी करने की आवश्यकता नहीं थी। बालि का वध तो उसी दिन हो गया था, जिस दिन परीक्षा पूरी हो गई थी, अद्यैव। सारा घटनाक्रम इतनी तीव्रगति से घटा और इतना अनपेक्षित था राम और सुग्रीव की मैत्री हुई, राम ने अपने युद्ध कौशल का प्रमाण दिया, सुग्रीव ने अपने भाई को युद्ध के लिये चुनौती दी, श्री राम ने अन्ततः उसका वध कर दिया और एक स्वभाविक ढंग से उसका अभिषेक सम्पन्न हो गया। कोई बड़ा युद्ध नहीं हुआ, जैसा कि रावण के साथ। पहले तो सेतुनिर्माण होना था। युद्ध में भी कई दिन लग गये। रावण की सेना को छिन्न–भिन्न करने, नष्ट करने और रावण के परिवार, भाइयों पुत्रों और मुख्य सेनापतियों को ठिकाने लगाने में और युद्ध क्षेत्र में अन्तिम मिटने वाला था– स्वयं रावण। जहाँ तक विभीषण का सम्बन्ध है, उसके लिये बड़ा कालान्तराल था और काफ़ी समय तक

* उनके नाम VI.37.7 में दिये गये हैं :
अनलः शरभश्चैव संपातिः प्रघसस्तथा।
गत्वा लङ्कां ममामात्याः पुरीं पुनरिहागताः।।

अनिश्चय और आशंका की स्थिति बनी रही। इतनी लम्बी अवधि तक विभीषण को श्री राम ने उससे कहा, "मैं तुम से यह पक्का वादा करता हूँ। निश्चय ही हमारे सामने अनेक कठिनाइयाँ हैं, परन्तु ऐसा मत सोचो कि इस कारण मैं अपना वादा पूरा न कर सकूँगा। समय तो काफ़ी लग सकता है, बड़े संकटों का सामना करना होगा, इससे पूर्व कि तुम राजा बनो। फिर भी यह बताने के लिये कि इस विषय में मैं गम्भीर हूँ, इस समय तो मैं यह सांकेतिक अभिषेक कर रहा हूँ। जैसे ही तुम्हारा भाई समाप्त हो जायेगा, इसको वास्तविक अभिषेक में बदल दूँगा।"

जहाँ तक सुग्रीव की बात है, वहाँ वादे के भरोसे रहने की कोई आवश्यकता नहीं थी। वादा किया गया और तुरन्त उसकी पूर्ति भी कर दी गई! मैं समझता हूँ कि इतनी ही बात स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है कि एक का सांकेतिक अभिषेक किया गया और दूसरे का नहीं।

यह भी देखने की बात है कि स्वयं अभिषेक की भूमिका क्या रही? जहाँ तक सुग्रीव का सम्बन्ध है, उसकी राम के प्रति सब सहायता सेवाएँ अर्थात उसके और राम के आपसी समझौते के अनुसार, उसके कर्त्तव्यों की पूर्ति अभिषेक के पश्चात् ही हुई। जानकी की खोज भी तत्पश्चात् ही आरम्भ हुई। परन्तु विभीषण के विषय में अभिषेक के बाद करने के लिए कुछ शेष नहीं बचा था।

इस वैषम्य से सम्बन्धित एक बात और है, जो शिक्षाप्रद है। जहाँ मैंने इतना कुछ कहा, जिससे ऐसा लगे कि सुग्रीव का स्थान विभीषण से कहीं ऊँचा था। मैं इस सन्दर्भ को समाप्त इस टिप्पणी से करता हूँ, जो मेरे विचार में प्रचुर मात्रा में यथातथ्य है। हो सकता है कि प्रतिष्ठा और महत्व की दृष्टि से सुग्रीव का स्तर कुछ ऊँचा था और राम के समकक्ष माना जाता था। यद्यपि जैसा कि आपको स्मरण होगा, वह स्वयं को राम का एक अपने *'दास'* ही कहता था।* वह कहता है, "राम तो मेरे साथ ऐसे व्यवहार करते हैं, मानो मैं उनका सखा हूँ। परन्तु मैं केवल उनका दास हूँ।" इससे यही पता लगता है कि सुग्रीव में एक मर्यादित शालीनता की भावना विद्यमान थी। जहाँ तक विभीषण का सम्बन्ध है, कदाचित् उसका स्थान सुग्रीव के बराबर न भी रहा हो, परन्तु प्रयुक्त भाषा और उनके पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर मुझे पूरा विश्वास है कि सुग्रीव की तुलना में विभीषण अयोध्या बन्धुओं का अधिक प्रेमपात्र और विश्वास पात्र था। आगे चलकर उत्तर कांड में ही इसका उल्लेख मिलता है कि राम के संसर्ग से उसे एक असामान्य अनोखा पुरस्कार प्राप्त हुआ— वह एक सर्वसार्विक 'चिरंजीवी' हो गया। हिन्दुओं में मान्यता है कि विभीषण भी महान चिरंजीवियों में से एक है (*'चिरंजीवी'* विशेष रूप से आठ देवत्व व्यक्तियों, ऋषियों के विशेषण हैं, जो अमर समझे जाते हैं : अश्वत्थामा, कृपाचार्य, परशुराम, बलि, मार्कण्डेय, विभीषण, व्यास और हनुमान)।

* देखिए VI.40.10 अ.14, पृ.238.

एक बात और विभीषण के सम्बन्ध में है, जो मैं बताना चाहता हूँ कि जब राम को विभीषण की प्रार्थना की सूचना मिली थी कि वह शरणार्थी के रूप में उपस्थित हुआ है और उनके दिल में प्रवेश चाहता है, ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय वे उसके विषय में सर्वथा अनभिज्ञ थे। किन्तु मूलपाठ में कई स्थानों पर ऐसे उल्लेख हैं, जिनसे संकेत मिलता है कि वे नितान्त अनभिज्ञ भी न थे, यद्यपि तत्काल इस सन्दर्भ में कुछ नहीं कहा गया। उदाहारणार्थ, अरण्य कांड (III.17-24) में जब श्री राम शूर्पणखा से उसका परिचय पूछते हैं, वह बताती है, "मैं तीन भाइयों की बहन हूँ। एक है विश्वविजेता महान लंका नरेश रावण, दूसरा है महाबली कुम्भकर्ण," और तत्पश्चात् वह तीसरे भाई, विभीषण का उल्लेख इस प्रकार करती है, "परन्तु वे धर्मात्मा हैं, वे लोकधर्म का पालन करते हैं और राक्षसों के आचार–विचार का पालन कभी नहीं करते।" स्वयं शूर्पणखा विभीषण की साधुता की गवाही देती है। इस प्रकार श्री राम विभीषण के विषय में सर्वथा अनभिज्ञ नहीं होंगे। दूसरा सन्दर्भ है, सुन्दर कांड (V.37.9) का जब सीता हनुमान से रावण और उसकी हठधर्मी के विषय में वार्तालाप करती है, वह कहती है, "मुझे विभीषण की ज्येष्ठ पुत्री, कला ने, जिसे उसकी माता ने गोपनीय वार्ता के लिये मेरे पास भेजा था, बताया कि सुना गया है कि रावण ने एक बार एक बड़े ज्योतिषी से, जो कि त्रिकालज्ञ और वयोवृद्ध है और जिनकी भविष्यवाणी प्रायः सच निकलती है, परामर्श लिया था। उसने बताया, यह सीता तुम्हारे लिए भयंकर भार सिद्ध होने जा रही है, उसे लौटा कर श्री राम से सन्धि कर लो। रावण ने इन हितकारी वचनों पर ध्यान नहीं दिया। दुष्टभावना से प्रेरित उसका हृदय अभी तक मेरे पीछे पड़ा है।" हम कल्पना कर सकते हैं कि इस बात की हनुमान ने राम को सूचना अवश्य दी होगी। इसके अतिरिक्त आपको स्मरण होगा, इसी सुन्दर कांड में आगे (V.52.2) उस दृश्य में, जबकि हनुमान रावण के समक्ष प्रस्तुत किये जाते हैं और रावण, उनके द्वारा लंका नगरी के विध्वंस के प्रतिक्रियाओं के कारण, उनके दुष्कर्मों से क्रोधाविष्ट होकर अपने अनुचरों को उस वानर को मारने का आदेश देता है। वैसे तो हनुमान को मारना किसे के लिये सम्भव न था, परन्तु ऐसा आदेश लंकापति द्वारा दिया गया। उस समय विभीषण ने इसका घोर विरोध किया, यह कह कर कि ऐसा करना उचित न होगा। "एक राजा अन्य राजा द्वारा भेजे गए दूत का वध नहीं करता है। इसमें सन्देह नहीं कि उसने बड़ा अपराध किया है। निश्चय ही इसने क्रोध को भड़काया है। दूत के लिए अन्य प्रकार के बहुत से दंड हैं, जैसे अंग–भंग कर देना आदि। परन्तु, मृत्युदंड उचित दंड नहीं। ऐसा करने से उच्चवर्ग में आपकी मान–प्रतिष्ठा घटेगी, जहाँ आपकी कीर्ति और नाम है।" इस बात तो रावण सुझाव मान लेता है और कहता है, "अच्छी बात, जैसा तुम कहते हो दंड के अन्य विकल्प भी मेरे पास हैं। मैं अपराधी के लिए कोई अन्य उचित दंड सोचता हूँ। वानरों को अपनी पूँछ बड़ी प्यारी होती है, वही इनका आभूषण है। अतः शीघ्रातिशीघ्र इसकी पूँछ में आग लगाकर इस पूरे नगर में घुमाया

जाये। जली पूँछ लेकर यह यहाँ से जाये, जिससे इसके कुटुम्बी जन इसकी हीन अवस्था को देख सकें।" आगे क्या हुआ, वह तो आप भली भाँति जानते ही हैं। यह एक और बात है, जिसको कदाचित् हनुमान भला न सके होंगे। जब विभीषण अपने चार अनुचरों के साथ आकाश में प्रकट होता है और अपना परिचय देकर नीचे खड़े वानरों से कहता है, "श्री राम के पास जाकर मेरे आगमन की सूचना दो और कहो शरणार्थी विभीषण आपकी सेवा में उपस्थित हुआ है।" मैं यह समाचार पाकर श्री राम अपने प्रमुख व्यक्तियों से परामर्श करते हैं— लक्ष्मण, जाम्बवान, हनुमान, सुग्रीव आदि से। लक्ष्मण सहित सुग्रीव ने श्री राम द्वारा विभीषण को अपनाने उका कड़ा विरोध किया। हनुमान ही अकेले ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने विभीषण को स्वीकार करने के लिये अपना मत व्यक्त किया। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह थी कि तत्समय हनुमान भी इसका उल्लेख करना भूल जाते हैं कि किस प्रकार जब वे लंका में थे, विभीषण ने सचमुच उनकी सहायता की थी, और विभीषण के ही कारण उनकी जान बच गई थी, और लंका के अधिकांश भाग को भस्मसात करने का सुअवसर उनके हाथ में आ गया था। सम्भव है कि इस बात का उल्लेख उन्होंने किया हो। शायद वे ऐसा कर भी चुके थे।* परन्तु, निश्चित रूप से अवसर उसके उल्लेख करने का था, जबकि विभीषण के स्वीकार करने के सम्बन्ध में तर्क–वितर्क हो रहे थे। ऐसा प्रतीत नहीं होता कि हनुमान ने श्री राम का ध्यान इस ओर दिलाया हो अथवा श्री राम को स्वीकार करने के पक्ष के तर्कों का स्मरण हुआ हो। जब मैं हनुमान पर आऊँगा, मैं फिर इस प्रसंग का उल्लेख करूँगा, जो कि उन तीन या चार अवसरों में इस तर्क का भी स्मरण है, जब हनुमान की स्मरण शक्ति ने उन्हें धोखा दे दिया था, ऐसा प्रतीत होता है। ऋषियों के बीच अपनी बाल चपलता के कारण हनुमान को यह शाप मिला था कि वे अपने पराक्रम और महानता को नितान्त भूल जायेंगे, जब तक कोई उन्हें निरन्तर उसका स्मरण कराता न रहेगा। इस सन्दर्भ में मैं यह मत व्यक्त करना चाहता हूँ कि *'शाप'* शब्द का अर्थ कुछ व्यापक रहा होगा। शाप शब्द में न केवल यह निहित था कि उनको अपने बल की विस्मृति रहेगी, अपितु यह भी तात्पर्य था कि वे अत्यावश्यक बातें भी भूल जायेंगे, जबकि उनकी आवश्यकता होगी। यही हनुमान चर्चा करते समय मैं दिखाने का प्रयास करूँगा कि तात्पर्य यही रहा होगा।

विभीषण के सम्बन्ध में यह भी उल्लेख करना आवश्यक है कि राम के शिविर में इस बात की सराहना की जाती थी कि मनोवृत्ति से वह एक धर्मात्मा था, न कि राक्षस, परन्तु ऐसा लगता है कि उसमें और इन्द्रजित के बीच घोर विद्वेष था। 'रामायण' के दो परिच्छेदों में वे एक दूसरे के प्रति बड़ी कटु भाषा का प्रयोग करते हैं। इन्द्रजित की भाषा पढ़ते समय आपको ऐसा लगेगा, मानो आप आजकल के राजनीतिक क्षेत्र के लोगों में से किसी एक को सुन रहे हों, जिनका वर्णन मैंने पहले किया था, जो

* देखिए अ.12, पृ.164-168.

इस भावना से ओतप्रोत हैं कि देशप्रेम सर्वोच्च सद्गुण है और यह कि अपने नाते–रिश्तेदारों के प्रति निष्ठा सर्वोपरि नैतिकता है। चाहे धर्म की परम आवश्यकताएँ भी संकट में क्यों न हों, फिर भी आपको धर्म की अपेक्षा अपने देश प्रेम का ही चुनाव करना श्रेय है। इस सिद्धान्त का इन्द्रजित बड़ी उपयुक्त भाषा में प्रतिपादन करता है, जिसको आप सराहे बिना नहीं रह सकते। इन्द्रजित विशेष रूप से विभीषण से घृणा करता है क्योंकि वह एक *'धर्मात्मा'* है।

सत्त्वेन वीर्येण पराक्रमेण शौर्येण धैर्येण च तेजसा च।
एकः कुलेऽस्मिन् पुरुषो विमुक्तो विभीषणस्तात कनिष्ठ एषः।।
ऐरावतो विस्वरमुन्नदन स निपातितो भूमितले मया तु।
विकृष्य दन्तौ तु मया प्रसह्य वित्रासिता देवगणाः समग्राः।।
सोऽहं सुरणामपि दर्पहन्ता दैत्योत्तमानामपि शोकदाता।
कथं नरेन्द्रात्मजयोर्न शक्तो मनुष्ययोः प्राकृत्योः सुवीर्यः।। VI.15.36.7

"पिता जी! आपके छोटे भाई कैसे हैं, जिनमें परिवार के महान गुणों में एक भी नहीं है। हमारे इस राक्षस कुल में छोटे चाचा, विभीषण ही एक ऐसे हैं बल, वीर्य, पराक्रम धैर्य, शौर्य और तेज से रहित हैं। एक मुझे देखिए! मैंने बलपूर्वक ऐरावत हाथी के भी दोनों दाँत उखाड़ कर, उसे स्वर्ग से पृथ्वी पर गिरा दिया था। उस समय वह ज़ोर–ज़ोर से चिंघाढ़ रहा था। तत्पश्चात् मैंने उन दाँतों का प्रयोग देवताओं पर किया और वे भाग गए। अपने इस पराक्रम द्वारा समस्त देवतागण को आतंक में डाल दिया था। एक ओर मैं और दूसरी ओर मेरे चाचा, विभीषण! वही, जो देवताओं तक का दलन कर सकता है, बड़े बड़े दैत्यों को भी शोकमग्न करने वाला है तथा जो बल–पराक्रम सम्पन्न है, मुझ जैसा वीर मनुष्य जाति के दो साधारण राजकुमारों का सामना कैसे नहीं कर सकता है?"

अपने से बुजुर्ग और चाचा के प्रति एक छोकरे द्वारा कहे गये इन वचनों से कुछ अप्रसन्न होकर, विभीषण भी कठोरवाणी में उत्तर देते हैं :

न तात मन्त्रे तव निश्चयोऽस्ति बालस्त्वमह्याप्यविपक्वबुद्धिः।
तस्मात्त्वया ह्यात्मविनाशाय वचोऽर्थहीनं बहु विप्रलप्तम्।।
त्वमेव वध्यश्च सुदुर्मतिश्च स चापि वध्यो य इहानयत्त्वाम्।
बालं दृढं साहसिकं च योऽद्य प्रावेशयन्मन्त्रकृतां समीपम्।।
धनानि रत्नानि विभूषणानि वासांसि दिव्यानि मणींश्च चित्रान्।
सीतां च रामाय निवेद्य देवीं वसेम राजन्निह वीतशोकाः।। VI.15.9.11.14

"तात! अभी तुम बालक हो, तुम्हारी बुद्धि अपरिपक्व है। तुम्हारे मन में कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का यथार्थ निश्चय नहीं है। इसीलिए तुम अपने विनाश के लिये बहुत सी निरर्थक बातें कर रहे हो, परिणाम को बिना सोचे–समझे। तुम्हारी बुद्धि बहुत छोटी है।

तुम्हें यहाँ क्यों लाया गया है, जहाँ वयोवृद्ध व्यक्ति विचार विनिमय कर रहे हैं, यह एक ग़लती है। तुम परिणाम को सोचे–समझे बिना अनेक निरर्थक बातें कह सकते हो। कृपया ज़रा सोचो, समझो।"

फिर रावण की ओर उन्मुख होकर कहते हैं, "यदि तुम लंका में निश्चिंत, निरपाय, ससम्मान और सुरक्षित रहना चाहते हो, तो जाओ राम के चरणाविन्द पर पड़ो और सीता को वापस कर बहुमूल्य पदार्थ भेंट स्वरूप दो। अन्यथा हम सबके लिए महान संकट उपस्थित है।" रावण प्रत्युत्तर में जो कहता है, वे शब्द साहित्य में ख्यात हैं :

वसेत्सह सपत्नेन क्रुद्धेनाशीविषेण वा।
न तु मित्रप्रवादेन संवसेच्छत्रुसेविना।।
जानामि शीलं ज्ञातीनां सर्वलोकेषु राक्षसः।
हृष्यन्ति व्यसनेष्वेते ज्ञातीनां ज्ञातयः सदा।।
नित्यमन्योन्यसंहृष्टा व्यसनेष्वाततायिनः।
प्रच्छन्नहृदया घोरा ज्ञातयस्तु भयावहाः।। VI.16.2.3.5

"भाई विभीषण, तुम मेरे ज्ञाति अर्थात् एक ही गोत्र के व्यक्ति हो, एक दायाद भी हो। एक दायाद सर्वदा अविश्वसनीय होता है। वह आंतरिक रूप से ईर्ष्या, असूया और वैरभाव का मूर्त्त रूप है। शत्रुवत् पड़ोसी और कुपित विषधर सर्प के साथ रहना पड़े तो रह ले। परन्तु जो मित्र कहलाकर भी शत्रु की सेवा कर रहा हो, उसके साथ कदापि नहीं। यदि आप सयाने हैं, तो ज्ञाति के साथ नहीं रहें, क्योंकि ज्ञाति बात तो करता है, मीठी–मीठी। परन्तु उसका हृदय शत्रु के साथ रहता है। वस्तुतः वह शत्रु का ही मित्र होता है। हे राक्षस! सम्पूर्ण लोकों में ज्ञातियों अर्थात् सजातीय बन्धुओं का जो स्वभाव होता है, उसे मैं भली भांति जानता हूँ। आपदाओं में ही ज्ञाती हर्ष मानते हैं। ज्ञातिओं का कभी विश्वास नहीं करना चाहिये। वे बड़े आततायी होते हैं। उनसे सदा किसी न किसी संकट की आशंका रहती है। अपना भनोभाव छिपाये रहते हैं, द्वेषयुक्त हृदय से अन्दर ही अन्दर मुस्कराते रहते हैं। अतएव क्रूर और भयंकर होते हैं।"

कई श्लोकों के बाद, जिनका अन्त *'तथानार्येषु सौहृदम्'* में होता है (VI.16.11-14), रावण यह कहते हुए विभीषण का परित्याग कर देता है, "यदि किसी अन्य व्यक्ति ने मुझसे ऐसा कहा होता, तो तुरन्त ही मैंने उसे समाप्त कर दिया होता। किन्तु, क्योंकि तुम मेरे भाई हो, यद्यपि परिवार के शत्रु हो, मैं तुम्हारा मात्र परित्याग करता हूँ। तुम काल के वशीभूत हो और उससे बच नहीं सकते। इसीलिए मेरी चेतावनी और सुरक्षा के प्रति वचनों को नहीं सुनते। तुम्हारा कल्याण हो। प्रसन्न रहो मेरे बिना, यदि रह सकते हो। ये मेरे शब्द दुष्कर्मों के प्रतिकूल चेतावनी तुम्हारे हृदय तक न पहुँचेगी। सावधान रहना, यह संसार की गति है। जब मनुष्य कालवश होता है, तो मित्रों की

चेतावनी अनसुनी रह जाती है।" तब वह वहाँ से चला जाता है और आकाश में ही स्थित रहकर और अपना परिचय देकर, उन वानरों से, जो श्री राम के आस–पास उपस्थित थे, कहता है, "मैं विभीषण श्री राम की शरण लेने आया हूँ। अपनी पत्नी और बच्चों को भी वहीं छोड़ आया हूँ। मैं यहाँ इस कारण आया हूँ क्योंकि मेरे भाई रावण ने कटुवचन बोलकर मेरी भर्त्सना की और तिरस्कार कर एक सेवक की भांति व्यवहार करने धृष्टता की।" यह तो आप जानते ही हैं कि उसके बाद सुग्रीव हुनमान आदि वानरों के साथ मंत्रणा की और फिर उसने जाकर श्री राम को सूचित किया। उसके बाद और जो मंत्रणा पारस्परिक हुई। उसके अन्त में श्री राम कहते हैं, "मैंने अपने सम्पूर्ण वैभवों का परित्याग, लंका का त्याग, और अपनी सम्पत्ति और परिवार का भी त्याग कर दिया है। मैं तो पूर्णतः आपका हूँ, समूचा आपका हूँ।" फिर राम शपथपूर्वक कहते हैं :

अहं हत्वा दशग्रीवं सप्रहस्तं सहानुजम्।
राजानं त्वां करिष्यामि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते।।
अहत्वा रावणं संख्ये सपुत्रबलबान्धवम्।
अयोध्यां न प्रवेक्ष्यामि त्रिभिस्तैर्भ्रातृभिः शपे।। VI.19.19,21

"समस्त उपस्थितजन को सम्बोधित कर मैं वचन देता हूँ कि प्रहस्त और उसके अन्य मंत्रियों तथा पुत्रों के सहित रावण का वध करके मैं तुम्हें लंका का राजा बनाऊँगा। मैं अपने तीन तीनों भाइयों की सौगन्ध खाकर यह कहता हूँ (ऐसा प्रतीत होता है कि उन दिनों अभिजात वर्ग में इस प्रकार की शपथ लेना बहुत उच्च व्यक्तित्व की बात थी, मानो उच्च व्यक्तित्व की एक निशानी) कि युद्ध में पुत्र और बान्धवों सहित रावण का वध किए और तुम्हे राजा बनाये बिना, मैं अयोध्यापुरी में प्रवेश नहीं करूँगा।"

कुल आगे चलकर हम एक स्मरणीय उद्धरण पर आते हैं, जिसमें इन्द्रजित और विभीषण की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका है। मैं इस प्रसंग पर कुछ समय लगाऊँगा क्योंकि यह इस महाकाव्य के अत्यन्त रोचक अंशों में हैं, जो कि अत्यन्त भावात्मक, अत्यन्त कौशलयुक्त वर्णन के उद्धरणों और उच्चकोटि की काव्यात्मक कल्पना से भरपूर है। जब इन्द्रजित दोनों भाइयों और वानर सेना का सामना करने के लिये रणक्षेत्र में प्रवेश करता है, वह अपने प्रायिक मायावी कौशल का प्रयोग करना नहीं भूलता। यहाँ उसे सर्पाकार बाणों के प्रयोग की युक्ति सूझी। इन ज्वलन्त और धुआँ छोड़ते हुए बाणों ने दोनों भाइयों के शरीरों पर आघात किये, और उनके शरीरों पर एक अंगुल भर भी रिक्त स्थान शेष न बचा। इन विनाशकारी सर्पाकार बाणों का प्रभाव इतना हानिकारक था कि सब सोचने लगे कि उनका जीवन समाप्त हो गया और शिविर में खलबली हो गई उनके बड़े–बड़े शक्तिशाली वानर भी न कुछ कर सके और न ही कुछ सोच सके। किन्तु विभीषण में विशेष प्रतिभा थी कि वह अदृश्य हुए

इन्द्रजित को देख सकता था, जबकि अन्य कोई उसे देखने में असमर्थ थे– सुग्रीव भी, जैसे कि अन्य वानर। परन्तु विभीषण को इस बात का ज्ञान था कि वे बाण घातक नहीं हैं। वे मूर्च्छा उत्पन्न कर सकते थे, परन्तु उन भाइयों का जीवन समाप्त नहीं कर सकते थे। विभीषण सबको सान्त्वना देता है, विशेषकर सुग्रीव को, जो सबसे अधिक सन्तप्त था। "सुग्रीव, दुःखी मत होओ, युद्ध में ऐसा होना अस्वाभाविक नहीं है। कभी तुम जीतते हो, तो कभी दूसरा पक्ष जीत जाता है। इस समय इन्द्रजित के पक्ष भारी है। ये बाण प्राणलेवा नहीं है। हमारे प्रियजन शीघ्र ही इस मूर्च्छा से मुक्त हो जायेंगे। वानर राज! तुम अपने को और मुझ को बदनामी से बचाओ।" इस प्रकार विभीषण अपने साथियों का ढाड़स बंधाता है। "आप लोगों ने और मैंने इस युद्ध में न्याय संगत पक्ष चुना है, जहाँ धर्म विद्यमान है। हमारी क्षति कैसी दुःख और कष्ट का संगत पक्ष चुना है। हमारी व्याकुलता और अशान्ति का कारण है, आधिक्य, केवल इन भाइयों के प्रति आशंका का अनुरक्ति। और, अनुराग का भी अतिरेक हो सकता है। इसी कारण इस समय जो करना है, वह करने के बजाय, आप लोग हतोत्साहित और निराश हो रहे हैं। मुँह लटकाये हुए हैं, रुदन कर रहे हैं और हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं। ऐसे समय में अधिक स्नेह का प्रदर्शन भी मृत्यु का कारण बन सकता है।" यह धारणा कि किसी भी चीज़ की 'अति' घातक सिद्ध हो सकती है, संस्कृत काव्यों में आम है। उदाहरणार्थ *'अतिस्नेहःपापशंकी'* [शकुन्तला IV. 19-20]। अरण्य कांड में जब राम को सान्त्वना देना आवश्यक हो गया था, लक्ष्मण राम से कहते हैं, "इस अवशोषक आसक्ति के कारण टूट मत जाना। एक बत्ती पानी में भीग गई है। यदि ऐसी बत्ती भी ऐसी जगह लाई जाये, जहाँ ख़ूब तेल हो, तो वह भी तेल सोख कर जलने लगेगी और पूरी जल जायेगी। इसी प्रकार यदि आपका हृदय प्रशान्त भी हो और उसमें अत्यधिक स्नेह की भावना भर जाये, तो इस कारण अत्यधिक हानि हो जायेगी।" इसी प्रकार की सान्तवना विभीषण ने सुग्रीव को दी, जब इन्द्रजित के शक्तिशाली बाणों ने दोनों भाइयों को केवल मूर्च्छित ही किया था, परन्तु प्राणहीन नहीं।

तत्पश्चात् एक अत्यन्त अप्रत्याशित दृश्य घटित हुआ। जब इन्द्रजित लौटकर पिता के पास पहुँचा, उसने बताया कि किस प्रकार दोनों भाइयों को धराशायी कर दिया था, जिससे शत्रु की समस्त सेना सेना स्तम्भित हो गई और दोनों मृत्यु को प्राप्त हो गए। इस बात को सुनकर रावण का हृदय हर्षातिरेक से खिल उठा। इसी के सदृश दूसरी ओर उदासी और विषाद छा गया, निराशापूर्ण सुझाव सुनाई देने लगे। उस समय रावण के मन में विचार आया कि ऐसी स्थिति का पर्याप्त लाभ उठाया जाये। उस क्षण का उपयोग सीता को यथासम्भव अति व्यथित किया जाये, जिससे वे अपने पति द्वारा उद्धार की आशा पूर्णतया छोड़ दे, और दूसरा आश्रय न देखकर, बड़ी सुगमता से उसकी योजना का शिकार बन जाये। अतएव, सीता की रक्षा करने वाली राक्षसियों को बुलवा कर उसने आदेश दिया कि पहले तो वे सीता से जाकर कहें कि इन्द्रजित

ने राम–लक्ष्मण को मार डाला और फिर पुष्पक विमान पर चढ़ाकर, उसे रणभूमि में ले जाकर मारे गए उन बन्धुओं को दिखा दें, जिनसे वह मुक्ति की आशा लगाये बैठी थी। तब वह पूर्णतया निराश होकर स्वयं ही उसकी सेवा में उपस्थित हो जायेगी। तत्काल पुष्पक विमान पर सीता को चढ़ाकर त्रिजटा उन्हें रणक्षेत्र पर ले आईं। वहाँ का दृश्य देखकर सीता करुणाजनक स्वर में विलाप करने लगीं, किन्तु त्रिजटा ने उन्हें सान्त्वना दी, "देवि! विषाद न करो, इनके मुखों पर दृष्टिपात करो। इन दोनों के मुखों की शोभी ज्यों की त्यों बनी हुई है, वे शव जैसे नहीं लगते। वे मरने वाले नहीं हैं।" परन्तु, स्वयं वानर भी इस सम्बन्ध में सन्तुष्ट नहीं थे और वे रुदन करने लगे थे। इसी बीच राम, नागपाश में बँधे होने पर भी अपने शारीरिक बल और शक्तिमत्ता के कारण, पहले मूर्च्छा से जाग उठते हैं और अपने सामने लक्ष्मण को रक्त से लथपथ धराशायी देख आतुर होकर विलाप करने लगते हैं। राम पर चर्चा करते समय मैं पहले भी इस प्रसंग का उल्लेख कर चुका हूँ।* तब वे बड़े हतोत्साहित और निराश होकर अपने सहायक मित्रों सुग्रीव आदि से कहते हैं, "सुग्रीव! तुमने मेरे प्रति निष्ठापूर्वक अपने कर्त्तव्य को निभाया। तुम सखाओं के राजा हो, तुम से और इन वानर शिरोमणियों से मुझे सब प्रकार की सहायता और सहयोग मिला। अब मैं आज्ञा देता हूँ, तुम सब जहाँ इच्छा हो, चले जाओ। लक्ष्मण आज मेरे ही कारण इस अवस्था पर पहुँच गये। लक्ष्मण यदि जीवित न रहे, तो मैं भी अपने प्राणों का परित्याग कर दूँगा। अब मुझे जीवित रहने में कोई उत्साह नहीं है।" देखिए, राम ने स्वयं को किस अवस्था में परिणत कर दिया था! इस समय, जबकि सारा वातावरण विषादयुक्त हो गया है और कोई अपना सिर भी ऊपर उठा नहीं पा रहा है, उस भयंकर विषाद से, जो उसने उत्पन्न किया है, कवि स्वयं उत्पीड़ित हो जाता है। इस तनावपूर्ण भावना को हल्का करने हेतु वह एक छोटी सी घटना यहाँ जोड़ देता है। आप सब को यह विदित होगा कि किस प्रकार करुणाकाव्य में प्रायः ऐसे प्रसंग प्रायः पाये जाते हैं। उस क्षण वहाँ प्रवेश किया, एक ढँपी, विचित्र, काले कोयले की राशि के समान आकृति ने। ऐसा प्रतीत हुआ कि वह व्यक्ति किसी आवश्यक कार्य के लिए आया है और बिना मुड़े, लपक कर वह सीधा उस ओर गया, जिस ओर दोनों भाई पड़े थे। सबको लगा कि वह स्वयं इन्द्रजित है, जिसने इतनी तबाही मचाई थी और वह दोनों भाइयों को समाप्त करने के इरादे से वहाँ आया। सब वानर मिलकर इस इन्द्रजित पर टूटने के बजाय, इधर–उधर भागने लगे और मानो एकमत होकर उस स्थान से पलायन कर गए। तब सुग्रीव ने ध्यानपूर्वक उस काली आकृति को देखा, तो पाया, वह विभीषण थे, जिन्होंने विजयसूचक आशीर्वाद देकर सुग्रीव तथा श्री राम की अभ्युदय कामना की। तब ऋक्षराज जाम्बवान ने भागते हुए वानरों को लौटाकर सान्त्वना दी। विभीषण का साक्षात्कार करके, उन्होंने भय का त्याग किया। वे सब पुनः लौट आए। श्री राम और लक्ष्मण की दशा देखकर

* देखिए अ.3, पृ.34.

विभीषण बहुत दुःखी हुए। मन ही मन वह शोक से पीड़ित होकर विलाप करने लगे, "मेरे इस कुटिल दुरात्मा भतीजे धोखा किया। मेरी लंका के राज्य पर प्रतिष्ठित होने की आशा पर पानी फिर गया। सबसे बुरी बात तो यह हुई कि अब रावण की विजय निश्चित है। उसने अपनी छाती ठोंक कर सीता को न लौटाने की प्रतिज्ञा की थी और मुझसे कहा था, 'मैं राम और लक्ष्मण का वध करने वाला हूँ।' उसकी यह प्रतिज्ञा पूरी हो जायेगी।" जैसे–जैसे विभीषण निराश में डूबने लगे, अब सुग्रीव की बारी थी, उन्हें सान्त्वना देने की। वे यह कह कर सान्त्वना देते हैं। "ये दोनों मरे नहीं हैं। उन्हें तो अभी रावण को मृत्यु के घाट उतारना है।" परन्तु सान्त्वना के वचन बोलकर उनको स्वयं सन्तुष्टि नहीं हुई। उन्होंने अपने श्वसुर से कहा, "होश आ जाने पर आप इन दोनों को साथ लेकर किष्किन्धा चले जाइये, मैं इस रावण के पुत्र और बन्धु–बन्धुओं को मार कर और सीता को मुक्त कर वहाँ ले आऊँगा।" यह सब कवि की ओर एक चतुर प्रयुक्ति है, यह बताने के लिए कि किस प्रकार लोग अपने मन में सुनिश्चित नहीं थे, चकराये हुए थे।

कुछ सर्गों के बाद एक दृश्य घटित होता है, जो प्रसिद्ध हो गया है। उस प्रसंग के कुछ महत्वपूर्ण अंशों को मैं आपके समक्ष प्रस्तुत करूँगा, जहाँ विभीषण एक प्रशंसनीय भूमिका अदा करता है। कुम्भकर्ण और सेनापति प्रहस्त– दोनों ही रावण की अनैतिक कामनाओं के विरुद्ध थे और दोनों ही सीता अपहरण को उचित नहीं मानते थे। उनका परामर्श राम की शरणागति और सीता को लौटाने का था। किन्तु प्रहस्त कहता है, "जब आपने हमें इस समय बुलाया है, हमारी राय पूछने के लिए, तो हम इस निश्चय पर पहुँचे हैं। तदनुसार मेरी सलाह तो यही है कि सबसे प्रतिष्ठापूर्ण विकल्प यही है कि सीता को लौटा दिया जाये क्योंकि आप उनको न लौटाने के लिए दृढ़निश्चय हैं, अतः हमें युद्ध करना ही पड़ेगा। आप इस हठधर्म पर तुले हुए हैं। निस्सन्देह आपने मुझे अनेक बार उपहारों और उपाधियों से सम्मानित किया है। मैं आपके हित के लिए क्यों न काम आऊँगा? आप मेरे उपकारी हैं। आप एक अनैतिक मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं। फिर भी मैं युद्ध में शामिल होने के लिए तैयार हूँ। मैं आपके लिए सब कुछ त्याग कर, अपने जीवन की आहुति दूँगा।" कुम्भकर्ण भी इसी प्रकार बातें करता है, "जो राजा अपनी शक्ति का सही अंदाज़ा लगाए बिना और शत्रुबल की अवहेलना कर ग़लत मार्ग अपनाता है, वह अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करने वाला है, जिसके फलस्वरूप अपने ऊँचे स्थान से नीचे उतार दिया जायेगा। हमने तुम्हें यह सलाह बहुत पहले ही दी थी, किन्तु तुमने अनसुनी कर दी। यही उचित मार्ग है। किन्तु आप तो दुःसाध्य व्यक्ति हैं, और अपनी रुचि के अनुकूल ही काम करते हैं। अब जैसी इच्छा हो वैसा करो।" रावण अपनी सफ़ाई देता है, "यह सच है, तुमने मुझे यह सलाह दी थी, परन्तु भ्रम से, अथवा कदाचित् अपने बल और पराक्रम के अभिमान से मैंने आप सबकी बात नहीं मानी। वह सब परामर्श अब बेकार

हो गया है, इसका विचार करो। जो हो गया, सो हो गया। कुम्भकर्ण! यदि तुम महान हो, यदि तुम शक्तिशाली और बलवान हो, तो अपने पराक्रम से मेरी अनीति जनित ग़लती को सुधार दो। सच्चा भाई वही है, जो संकट से ग्रस्त भाई को बचाता है।" रावण को इस प्रकार अधीर और दारुण वचन बोलते देखकर कुम्भकर्ण ने उसे सान्त्वना देते हुए कहा, "मैंने बन्धुत्व भाव और भ्रातृस्नेह के कारण तुम्हारे हित की वही बात कही थी, जो मुझे ठीक जँची थी। अब तुम मेरा युद्ध में पराक्रम देखना। आज रणक्षेत्र में मेरे द्वारा दोनों भाइयों के मारे जाने के पश्चात् तुम देखोगे कि वानर सेना किस तरह भागी जा रही है।" कुम्भकर्ण इस प्रकार चार श्लोक बोलता है। देखिए, जग कर्त्तव्यों के बीच ऐसा ही टकराव सामने आता था अर्थात् यह द्विविधा कि सब कर्त्तव्यों के बीच, जो सब एक बराबर प्रिय हैं, कौन सा चुना जाये। उन दिनों यह चुनाव भिन्न–भिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न–भिन्न प्रकार से किया जाता था। मैं न तो कुम्भकर्ण और न ही प्रहस्त को दोषी ठहराता हूँ और न ही महाभारत के भीष्म को। जब दो महान कर्त्तव्य एक ही समय हृदय को प्रभावित करते हैं, तब आप एक के पक्ष में चुनाव करते हैं, ख़ूब सोच–विचार के पश्चात, न ही उतावली में या पलभर में। क्योंकि हम सब की मनोवृत्तियाँ भिन्न–भिन्न हैं, और भिन्न–भिन्न प्रशिक्षण से हमारी पृष्ठभूमि बनी हैं, एक पक्ष को दूसरे पक्ष के लोगों की निन्दा, देशद्रोही अथवा कायर कह कर नहीं करनी चाहिए। हमारे महापुरुषों ने ऐसा ही रवैया अपनाया है। दोनों ही पक्ष स्पष्टतया सम्मान्य योग्य हैं। एक क्षण के लिए ज़रा देखें, रणक्षेत्र में अप्रतिम कारनामों के पश्चात् जब कुम्भकर्ण राम के हाथों मारा गया, तब यह दारुण समाचार सुनकर रावण पर कैसी प्रतिक्रिया हुई वह कहता है, "मेरा सीधा हाथ चला गया।" तदनन्तर पश्चात्ताप भरे उद्गार उसके हृदय से निकलते हैं, "एक बात जो मुझे व्यथित कर रही है, वह यह है कि मैंने उस महात्मा विभीषण को, जिसने उचित, भ्रातृत्व उत्तम परामर्श दिया था, उसे निकाल दिया। इस बात से अब मुझे बड़ा धक्का लग रहा है। राम के वास्तविक गुणों को समझ न पाने से, अपनी शक्ति का ठीक–ठीक अंदाज़ा न कर सकने के कारण, मैं इस दशा पर आ पहुँचा हूँ। मुझे अपने किये पर लज्जा आ रही है। हाय! मैंने उसे त्याग फेंका है," केवल क्षणभर के लिए ही रावण ने इस प्रकार सोचा।

तदनन्तर एक स्मरणीय वर्णन आता है, जहाँ विभीषण श्री राम को भारी सहायता देता है। इन्द्रजित एक बड़ा मायावी जाल रचने वाला था। यदि वह उसको विधिपूर्वक पूरा करने में सफल हो जाता, तो सर्वनाश हो सकता था। इन्द्रजित केवल अदृष्ट ही नहीं रहता, अजेय भी हो जाता। ठीक समय पर विभीषण ने आसन्न संकट के विषय में चेतावनी दी। विभीषण ने लक्ष्मण से कहा, "इन्द्रजित का न्यग्रोध या पीपल वृक्ष के नीचे जाने से पहले ही वध कर देना चाहिये।" लक्ष्मण इन्द्रजित को वृक्ष के नीचे पहुँचने से पहले ही ललकारता है। हतोत्साह इन्द्रजित मुड़ता है, वो अपने चाचा,

विभीषण को देखता है। वह कहता है, "आप मेरे पिता के संरक्षण में पाले पोसे गए हैं। आप मुझे हानि पहुँचाने का कैसे सोच सकते हैं? आप एक धर्म–दूषण हैं, आप कुल कलंक हैं। हम सब आप पर लज्जित हैं। आप विपक्ष के सेवक हो गये हैं। आप अपने कर्त्तव्य और अन्य कर्त्तव्य के मध्य महान भेद को नहीं देख पा रहे हैं। यह कहाँ और वह कहाँ?" आपको इससे सुन्दर देश भक्ति के दृष्टिकोण की दूसरी उक्ति नहीं मिलेगी। देखिए,

इह त्वं जातसंवृद्धः साक्षाद्भ्राता पितुर्मम।
कथं द्रह्यसि पुत्रस्य पितृव्यो मम राक्षस।।
न ज्ञातित्वं न सौहार्दं न जातिस्तव दुर्मते।
प्रमाणं न सोदर्यं न धर्मो धर्मदूषण।।
शोचयस्त्वमसि दुर्बुद्धे निन्दनीयश्च साधुभिः।
यस्त्वं स्वजनमुत्सृजत्य परभृत्यत्वमागतः।।
नैतच्छिथिलया बुद्धचा त्वं वेत्सि महदन्तरम्।
क्व च स्वजनसंवासः क्व च नीचपराश्रयः।।
गुणवान् वा परजनः स्वजनो निर्गुणोऽपि वा।
निर्गुणः स्वजनः श्रेयान् यः परः पर एव सः।।
यः स्वपक्षं परित्यज्य परपक्षं निषेवते।
स स्वपक्षे क्षयं प्राप्ते पश्चात्तैरेव हन्यते।। VI.87.11-16

"आपका भाई, जैसा आप कहते हैं, वैसा हो सकता है और इससे अधिक भी। फिर भी स्वजन, चाहे दुष्ट भी क्यों न हो, वह श्रेयस्कर है। एक परदेशी, तो परदेशी ही है। आप हमारे साथ विश्वसाघात कर, विपक्ष का साथ दे सकते हैं, लेकिन विपक्षी आपका पूरा लाभ उठाकर फिर आपको नष्ट कर देगा। दुर्मते! तुम में न तो कटुम्बी जनों के प्रति प्रेम है, न आत्मीयता है और न ही अपनी जाति का अभिमान है। तुम धर्मदूषण हो अर्थात् राक्षस वंश को कालंकित करने वाले हो। दुर्बुद्धे! तुमने स्वजनों का परित्याग करके दूसरों की गुलामी स्वीकार की है। अतः तुम सत्पुरुषों द्वारा न्निदनीय और शोक के योग्य हो। तुम अपनी शिथिल बुद्धि के कारण इस महान अन्तर को समझ नहीं रहे हो। दूसरे लोग चाहे कितने भी गुणवान क्यों न हों और अपने स्वजन कितने भी गुणहीन क्यों न हो, वे दूसरों की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। जो अपने पक्ष को छोड़कर दूसरों का सेवन करता है, वह अपने पक्ष के नष्ट हो जाने पर उन्हीं के द्वारा मारा जाता है। तुम अब तो हम से विश्वासघात करके शत्रुपक्ष का साथ दे सकते हो, लेकिन वे आपकी उपस्थिति का पूरा पूरा लाभ उठाकर फिर आपको नष्ट कर देंगे।"

विभीषण भी अपनी सफ़ाई देता है। जैसा प्रायः होता है, भर्त्सना और दोषारोपण सफ़ाई पक्ष के प्रतिवाद से अधिक तीव्र होते हैं। जैसे बालि प्रसंग में भी राम के विरुद्ध

उसके अभियोग, उनकी सफ़ाई की अपेक्षा अधिक ज़ोरदार प्रतीत होते हैं। विभीषण कहता है, "जान पड़ता है, तुझे मेरे स्वभाव का पता नहीं है, इसीलिये मेरे प्रति बुरा भला कह रहे हो। तुम्हें मालूम होना चाहिए, मेरा व्यक्तित्व और मेरी अन्तरात्मा राक्षसी नहीं है। यद्यपि मेरा जन्म क्रूरकर्मा राक्षसों के कुल में हुआ है, तथापि मेर शील–स्वभाव राक्षसों जैसा नहीं। मैं अवश्य तुम्हारे बीच हुआ हूँ, परन्तु तुम्हारे जैसा नहीं हूँ। ऐसे भाई का त्याग क्यों न किया जाये, जो दुष्ट हो, चरित्रहीन हो, दूसरे की सम्पत्ति हड़पने वाला हो या पराई नारी पर हाथ लगाता हो। उस दुरात्मा को इसी प्रकार त्याग देना चाहिए, जैसे जलते हुए घर को। इन्दीं दोषों के कारण मैंने अपने भाई और तुम्हारे पिता का परित्याग किया है। तुम काल पाश में बँधे हुए हो, इसीलिए कुछ भी बकवास कर सकतो हो।" तदनन्तर लक्ष्मण और इन्द्रजित का घोर युद्ध बहुत समय तक चलता रहा। लक्ष्मण के युद्धजनित श्रम का निवारण और उनके हित सम्पादन के लिए विभीषण युद्ध भूमि में आकर खड़े हो गए। वे वानरों को भी युद्ध के लिये प्रेरित करने लगे। वे इन्द्रजीत को इशारा करके कहते हैं :

अयुक्तं निधनं कर्तुं पुत्रस्य जनितुर्मम।
घृणामपास्य रामार्थे निहन्यां भ्रातुरात्मजम्।।
हन्तुकामस्य मे बाष्पं चक्षुश्चैव निरुध्यति।
तमेवैष महाबाहुर्लक्ष्मणः शमयिष्यति।। VI.90.17-18

"मैं इसके पिता का भाई हूँ। इस नाते से यह मेरा पुत्र है। अतः मेरे लिए इसका वध करना अनुचित है। तथापि श्री राम के लिए, इस कोमल भावना को त्याग कर मैं अपने इस भतीजे को मारने के लिए उद्यत हूँ। परन्तु जब मैं स्वयं इसको मारने के लिये हथियार चलाना चाहता हूँ, उस समय आँसू मेरी दृष्टि बन्द कर देते हैं। अतएव ये महाबाहु, लक्ष्मण ही इसका विनाश करेंगे।" देखने की बात है कि किस प्रकार धर्मसंकट इस मनुष्य के हृदय को क्षीण कर देते हैं।

विभीषण अपने सम्बन्धियों के छल–कपट को तोड़ने में विशेष रूप से कुशल था, इन्द्रजित तथा अन्य लोगों के मायावी प्रयोगों भलीभाँति परिचित था। जब कभी राम के पक्ष के लोग हतोत्साहित हुए या किसी भय से आशंकित हुए, उसका उसने भेदन किया। अनेक बार युद्ध के समय उसने सब प्रकार की सेवा और उपकार किये, समय से पहले चेतावनी और समयोचित सुझाव दिये, इस बात पर ध्यान दिये बिना कि उसने कार्यों से कदाचित् उन लोगों को कुछ क्षति पहुँचे, जिनको उसने सदाचार का शत्रु मानकर निन्दा की थी और अन्ततः परित्याग किया था। कथा के उस बिन्दु पर, जिस पर अब हम आ पहुँचे हैं, मैं आपका ध्यान एक प्रसंग पर दिलाऊँगा, जिसका उल्लेख पूर्वमेव किया जा चुका है।* जब इन्द्रजित ने एक कृत्रिम मायावी

* देखिए अ.4, पृ.49.

सीता का निर्माण करके और रणक्षेत्र में उसको लाकर उसका वध किया। यह घटना उस समय घटी, जब वह हनुमान और बड़ी संख्या में उसके साथियों के साथ संघर्ष में उलझा हुआ था। हनुमान ने वध रोकने का भरसक प्रयत्न किया, परन्तु जैसे ही वे बचाव के लिए बढ़े, राक्षसों ने उन्हें चारों ओर से घेर लिया और इस दृश्य को देयाकर शेष वानर भी वहाँ एकत्रित हो गए और वहाँ हंगामा हो गया, और हनुमान इस संकट स्थल तक पहुँचने में असमर्थ रहे। वे इप्द्रजित पर ज़ोर से चिल्लाये। परन्तु इप्द्रजित ने जवाब दिया, "युद्धस्थल में किसी नैतिक संकोच का कोई सोच–विचार नहीं होता। जिससे शत्रु दल को अधिक से अधिक आघात पहुँचे, वह सब उचित माना जाता है।" यह मेघनाद रवैया तो हिटलर जैसा प्रतीत होता है, लेकिन कहा सुनी को यह सिद्धान्त शताब्दियों पूर्व मालूम था। इसके पश्चात् जब इन्द्रजित अपनी तलवार मायावी सीता के शरीर में (*यज्ञोपवीत मार्गेण*) घोंप चुका था, शरीर में जो यज्ञोपवीत धारण करने का स्थान है, उस स्थान से मायावी सीता के दो टुकड़े हो चुके थे। इससे पूर्व कि वे बाहर आ सके, हनुमान निरन्तर युद्ध करते रहे, परन्तु वे अपने उद्देश्य में वे सफल न हो सके। यह उन अवसरों में से एक था, जबकि हनुमान को शत्रु के प्रति असफलता मिली। हनुमान न केवल सीता को बचाने में असफल रहे, जिसको उन्होंने इन्द्रजित का शिकार समझा था अपितु वे सफलतापूर्वक विरोधी दल का सामना भी न कर पाये। तत्पश्चात्, जैसा कवि बताता है, उन्होंने अपनी सेना की टुकड़ी को सुव्यतस्थित ढंग से पीछे हटा लिया। इससे अधिक वे कुछ न कर सके। तत्पश्चात, उन्होंने बड़े दुःख के साथ, जब कुछ देर बाद, सीता के वध की सूचना श्री राम को दी, शोकाकुल श्री राम मूर्छित होकर जड़ से कटे हुए वृक्ष की भाँति पृथ्वी पर गिर पड़े। लक्ष्मण तथा अन्य लोगों को उनकी देखभाल में लगना पड़ा। आपको कदाचित् याद होगा, किस प्रकार लक्ष्मण ने इस अवसर का उपयोग किया। ऐसा करना हमारे विचार से सर्वथा अनावश्यक था। कम से कम, मैंने तो यह प्रयास किया था कि आप भी ऐसा सोचें। उन्होंने धर्म और श्री राम के धर्मानुराग की खिल्ली उड़ाई, धर्मानुराग का उपहास किया। वे कहते हैं, "यह फल है, आपके धर्मानुराग का। काम की वस्तु तो अर्थ है" (क्योंकि अर्थ से ही सारी क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं)। ज़रा सी देर बाद विभीषण उस स्थान पर आते हैं। उन्होंने लक्ष्मण को शोकमग्न और श्री राम को मूर्च्छित देखा। लक्ष्मण से सीता वध की बात सुनकर, वे श्री राम के सम्मुख बोले, "राक्षस इन्द्रजित ने हनुमान को दुःखी होकर जो समाचार सुनाया था, वह कोरी बकवास है। राक्षस इन्द्रजित ने हनुमान और उनके साथियों को धोखा दिया है। जिसका उसने (इन्द्रजित) ने वध किया था, वह मायावी सीता थीं। ऐसा निश्चित समझिये।" कुछ श्लोकों में विभीषण अपने कथन के समर्थन में युक्तियाँ प्रस्तुत करता है :*

* देखिए अ.25.

मनुजेन्द्रार्तरूपेण यदुक्तं च हनूमता।
तदयुक्तमहं मन्ये सागरस्येव शोषणम्।।
अभिप्रायं तु जानामि रावणस्य दुरात्मनः।
सीतां प्रति महाबाहो न च घातं करिष्यति।।
याच्यमानस्तु बहुशो मया हितचिकीर्षिणा।
वैदेहीमुत्सृजस्वेति न च तत् कृतवान् वचः।।
नैव साम्ना न दानेन न भदेन कुतो युधा।
सा दुष्टुमपि शक्येत नैव चान्येन केनचित्।।
वानरान् मोहयित्वा तु प्रतियातः स राक्षसः। VI.84.9-13

"हनुमान ने अत्यन्त दुखी होकर जो समाचार आपको सुनाया है, ऐसा कदापि हो ही नहीं सकता। वह कोरी बकवास है। उसे मैं समुद्र को सोख लेने के समान असम्भव मानता हूँ। दुरात्मा रावण का सीता के प्रति क्या भाव है, यह मैं अच्छी प्रकार जानता हूँ। चाहे सीता के प्रति वह अन्य कुछ भी कर ले, परन्तु उनका वध वह कदापि नहीं कर सकता। वह उनके प्रति कितना अनुरक्त है कि वह उनके प्रति किसी प्रकार की हानि का विचार तक सहन नहीं कर सकता। मैंने अनेक बार उसका हित करने की इच्छा से सीता को लौटाने की याचना की, किन्तु उसने अनसुना कर दिया। सीता को कोई अन्य पुरुष साम, दाम, दंड और भेदनीति के द्वारा भी देख नहीं सकता, फिर युद्ध के द्वारा कैसे देख सकता है? चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं। मेरा भतीजा बड़ा चालबाज़ है। राक्षस इन्द्रजित आपके सभी वानरों को धोखे में डालकर चला गया है।"

विभीषण की बात सुनकर श्री राम अश्वस्त हो गए और पुनः युद्ध के लिए उद्यत हुए। रावण के साथ युद्ध करते उस समय उनका सामर्थ्य और पराक्रम इतना प्रचंड था कि कवि के अनुसार, अत्यन्त व्यथित होकर रावण को युद्ध से भागना पड़ा।

मेरी रुचि तो यहाँ केवल राम के प्रति विभीषण की निष्ठा और समर्पण में है। अतः अब मैं दूसरे बिन्दु पर आता हूँ। यह बिन्दु उस समय का है, जबकि राम और रावण अपनी अन्तिम मुठभेड़ में एक दूसरे से जूझ रहे थे। विभीषण न केवल परामर्श देने में चतुर थे, न केवल उन्होंने अपने सम्बन्धियों के दोषों का उद्घाटन किया और सलाह और सान्त्वना भी दी, और युद्ध में शौर्यपूर्ण कार्य भी किये। अन्तिम मुठभेड़ में रावण पर राम और लक्ष्मण द्वारा और अपने भाई विभीषण द्वारा भी, जो प्रायः गदा चलाते थे, बुरी तरह दबाव डाला गया। कहा जाता है, इस अवसर पर विभीषण ने तीव्र प्रहार किया और रावण के रावण के रथ के घोड़ों को मार गिराया। फलस्वरूप, रावण रथविहीन हो गया। अपने भाई पर बहुत क्रुद्ध हुआ, जिसने इतना बड़ा अनिष्ट कर दिया था। क्रोध से भरे रावण ने अपनी '*शक्ति*' निकाली (जो कि मैं समझता हूँ कि एक

प्रकार का भाला था) और उसे ज़ोर से सीधा विभीषण की ओर फेंका, यह कहकर कि वह विभीषण को समाप्त कर दे। तुरन्त लक्ष्मण दोनों के बीच में आ खड़े हुए और बोले, "इसे मैं अपने ऊपर ले लूँगा, वह विभीषण को स्पर्श तक न कर सकेगी।" युद्ध क्षेत्र में ऐसा पराक्रम, कितना महान कर्म था! परिणाम यह हुआ कि वह शस्त्र लक्ष्मण को लगा। लक्ष्मण मूर्च्छित होकर धराशायी हुए। यही मूर्च्छा प्राणलेवा प्रतीत होती थी। ये वे शब्द हैं, जो स्वयं रावण द्वारा कहे गये थे :

मोक्षितस्ते बलश्लाघिन् यस्मादेवं विभीषणः।
विमुच्य राक्षसं शक्तिस्त्वदीयं विनिपात्यते।।
एषा ते हृदयं भित्त्वा शक्तिर्लोहितलक्षणाः।
महद्बाहुपरिधोत्सृष्टा प्राणानादाय यास्यति।। VI. 101.28,29

"अपने बल पर घमंड रखने वाले, लक्ष्मण! तुमने ऐसा प्रयास करके विभीषण को बचा लिया। इसलिए अब उस राक्षस को छोड़कर मैं तुम्हारे ऊपर ही सीधा शक्ति का प्रहार करता हूँ। यह शक्ति शत्रुओं के ख़ून से नहाने वाली है। यह मेरे हाथ से छूटते ही तुम्हारे हृदय को विदीर्ण करके तुम्हारे प्राणों को अपने साथ ले जायेगी।"

वस्तुतः इस घटना के आगे के भाग के विषय में मैं पहले बता चुका हूँ, जबकि चर्चा लक्ष्मण के विषय में ही रही थी।* यहाँ चर्चा इस समय केवल विभीषण के सम्बन्ध में ही है। अतएव, इस प्रसंग को यहीं छोड़कर आगे बढ़ते हैं। इस प्रकार लक्ष्मण द्वारा बचा लिये जाने से विभीषण जीवित रहे और उन्होंने आगे चलकर अपने महान सखा के लिये इससे भी बढ़कर काम किये।

अन्त में हम युद्ध के अन्तिम दृश्य पर आते हैं, जबकि रावण मारा जा चुका था। देवता, मनुष्य और अन्य सब प्राणी आनन्द मना रहे थे। समस्त प्रकृति प्रफुल्लित थी, क्योंकि मानव जाति का एक शक्तिशाली शत्रु मृत्यु को प्राप्त हो गया था। वाल्मीकि की पद्धति में उनकी एक विशिष्टता है कि वे सम्बन्धियों को, जो आपस में कितने बड़े शत्रु क्यों न हों, तुरन्त शोक–सन्तप्त कर देते हैं, जब वे उन चीज़ों को देखते हैं, जिनकी उन्होंने कामना की थी और जिसके लिये बढ़ावा भी दिया था। जैसे ही रावण का वध हो जाता है, विभीषण अनुताप से आक्रान्त हो जाते हैं। वे शव के पास जाकर इस प्रकार विलाप करते हैं :

तदिदं वीर संप्राप्तं मया पूर्वं समीरितम्।
काममोहपरीतस्य यत्ते न रुचितं वचः।।
यन्न दर्पात्प्रहस्तो वा नेन्द्रजिन्नापरे जनाः।
नः कुम्भकर्णोऽतिरथो नातिकायो नरान्तकः।।
न स्वयं त्वममन्येथास्तस्योद्कोंऽयमागतः। VI.112.4-6

* देखिए अ.3, पृ.34.

ये शब्द अत्यन्त अनुपयुक्त और अशोभनीय होते, यदि मृत व्यक्ति जीवित होता। परन्तु जब वह अधोगामी है और उसकी सेना अभी भी आपके सामने मौजूद है; तब ये केवल एक दुःखद अनुस्मारक है, एक उपेक्षित चेतावनी का और उन विवेकपूर्ण परामर्शों का, जिनका तिरस्कार कर उन्हें अनसुना किया गया था। "वीरवर! आज जो संकट तुम्हारे ऊपर आकर पड़ा, उसके प्रति मैंने तुम्हें पहले से ही सचेत किया था, किन्तु उस समय काम–मोह से वशीभूत होने के कारण, तुम्हें मेरी बातें नहीं रुचिकर नहीं प्रतीत हुईं। अहंकार के कारण न तो प्रहस्त ने, न इन्द्रजित ने, न दूसरे लोग, न कुम्भकर्ण ने, न नरान्तक ने और न स्वयं तुमने ही मेरी बातों पर ध्यान दिया। महानुभवी लोगों ने आपको इस घातक आचरण से रोक लिया होता, यदि आपने उनकी बातें सुनी होतीं। उसी का यह कटु परिणाम है।"

पहले विभीषण के मन में विचार आया कि दिवंगत का एकमात्र जीवित सम्बन्धी होने के कारण उसका कर्त्तव्य बनता है कि वह उसकी अन्त्येष्टि स्वयं ही करे। अतएव, वह अपने भाई का अन्तिम संस्कार करने के लिये राम से अनुमति माँगता है, "यह मेरा भाई, जो अब भूमि पर पड़ा है, वह अपने जीवन काल में एक महान शक्तिशाली व्यक्ति था। वह वादान्यता और बल पराक्रम जैसे महान गुणों से सम्पन्न था। इसने याचकों को मुक्तहस्त दान दिए, सब प्रकार के भोग भोगे, अनेक नौकर चाकर उसकी सेवा में प्रस्तुत रहते थे। अपने मित्र एवं सहयोगियों को अपनी अतुल धन–सम्पत्ति प्रदान की। अपने शत्रुओं के लिए, वह एक विभीषिका और लोक कन्टक था। इसके अतिरिक्त उसने कठोर तपस्याएँ कीं, और वह सब शास्त्रविहित अनुष्ठानों में निपुण था। अब वह प्रेतभाव को प्राप्त हुआ है। अतः मैं आपकी कृपा से इसके प्रेत कृत्य करना चाहता हूँ।" विभीषण के करुणाजनक वचनों को सुनकर राम ने उन्हें रावण के लिए उत्तम लोकों को प्राप्त करने वाला अन्त्येष्टिकर्म करने की आज्ञा दी। वे बोले, "मृत्यु सब ऋणों से उऋण कर देती है। सब वैर मृत्यु पर समाप्त हो जाते हैं। मृत्यु के उस पार द्वेष और घृणा को नहीं ले जा चाहिये। रावण से अब घृणा भाव क्यों रखें? अब हमारा प्रयोजन सिद्ध हो चुका है। तुम और हम एक पवित्र मैत्री द्वारा एक हो गये हैं। इस समय जैसे यह तुम्हारे स्नेह का पात्र है, उसी प्रकार मेरा भी बड़ा भाई है। मैं भी इसकी अन्त्येष्टि करने का हक़दार हूँ और यह मेरा कर्त्तव्य भी है। यदि किसी कारण तुम यह कार्य न कर सको, तो मैं कर दूँगा।"

अब मैं एक दूसरी बात पर आता हूँ, जो अत्यधिक भावनात्मक प्रतीत होती है और प्रसंग कुछ हटकर है। मैं आपका ध्यान इस पर इसलिए दिला रहा हूँ क्योंकि यह हमारे बड़े टीकाकारों की शैली की कुछ विशिष्ट है।

मरणान्तानि वैराणि निर्वृत्तं नः प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव।। VI.112.26

टीकाकार राम के इन शब्दों की ओर ध्यान दिलाता है, "रावण अब मुझे कोई हानि नहीं पहुँचा सकता। पूर्व में उसने मेरी भार्या का अपहरण किया और मेरे प्रिय मित्र जटायु का वध किया, परन्तु अब मुझे कोई हानि नहीं पहुँचा सकता।"

इसी से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो राम स्वयं को स्मरण कराते हैं कि एक बार पहले भी विभीषण के स्वीकृत होने से पूर्व उन्होंने कहा था :

विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्। VI.18.35

"यदि स्वयं रावण भी मेरे पास आये, तो अवश्य ही मैं उसको भी स्वीकार कर लूँगा। क्या तुम सोचते हो यह बात मैंने परिहास में कही थी? मैं सचमुच हृदय से चाहता था कि रावण मेरे पास आये, मैं उसे अपनाऊँ और क्षमा कर दूँ। मैं उसकी कुछ भलाई करना चाहता था। परन्तु यह तो दुराग्रही था और उसकी प्रकृति की विकृति ने ही अन्ततः उस पर विजय प्राप्त की।"

माल्यवान ने रावण को श्री राम से सन्धि करने का सुझाव दिया था, परन्तु वह हितकर बात को भी सहन न कर सका और क्रोध से वशीभूत होकर बोला :

द्विधा भज्येयमप्येवं न नमेयं तु कस्यचित्।
एष मे सहजो दोषः स्वभावो दुरतिक्रमः।। VI.36.11

"मैं बीच से दो टुकड़े हो जाऊँगा, किन्तु किसी के सामने झुक नहीं सकूँगा। यह मेरा सहज दोष है। अपनी प्रकृति को कौन बदल सकता है?"

सोच कर कि मैं इस बात का उल्लेख करूँ, मेरे मन में यह विचार आया कि राम की प्रकृति जिस ऊँचाई को छू चुकी थी, यह सर्वथा उसके अनुरूप है। यदि उन्होंने इन शब्दों का प्रयोग इन्हीं अर्थों में किया था, जैसा कि मैंने अभी बताया है, तो यह उनके लिए कोई मान्य बात न थी। यह श्री राम के स्वभाव के अनुरूप ही थी। दुर्भाग्य से थोड़ी देर बार विभीषण अनुताप ग्रस्त हो जाते हैं। जैसा कि मैं पहले उल्लेख कर चुका हूँ, एक धारणा है, जो लोगों में प्रचलित है *, जैसे पहले थी, यद्यपि यह हमारी सामान्य पद्धति और शास्त्र के विरुद्ध है। वह प्रथा यह है कि एक व्यक्ति के ख़ून के रिश्ते से, चाहे सम्बन्ध कितना भी निकट क्यों न हो, यह आवश्यक नहीं कि उसकी मृत्यु पर आप उसके लिए कोई संस्कार करें, यह भी आवश्यक नहीं कि अप मृत्यु का अशौच मानें। जब हम अपने स्वजनों से क्रुद्ध होते हैं, तो ऐसा भी कह दिया करते हैं, "जब मैं मरूँ, तुम स्नान भी न करना।" क्रोधावेश में कुछ लोग ऐसा भी कह देते हैं, "तेरे मरने का सुनकर मैं ख़ूब दूध पीऊँगा, घी के दीये जलाऊँगा।" हम भरत को राम से यह कहते हुए सुन चुके हैं, "यह सच है कि मैंने पिता जी की अन्त्येष्टि की क्योंकि मैं ही वहाँ उपस्थित था। परन्तु पिता जी की आत्मा उतनी प्रसन्न न हुई होगी और अन्त्येष्टि कृत्य भी उतने प्रभावी न रहे होंगे, जितने आपकी उपस्थिति में होते। कहा जाता है कि अन्त्येष्टि कृत्य भी उतने प्रभावी न रहे होंगे, जितने आपकी

उपस्थिति में होते। कहा जाता है कि अन्त्येष्टि संस्कार अधिक फलदायक जभी होता है, जबकि वह प्रियजन द्वारा सम्पन्न हो। आपका विछोह सहन न कर सकने के कारण, पिताजी आपका ध्यान करते करते चल बसे। अतः आपके द्वारा अन्तिम संस्कार करने से ही दिवंगत आत्मा को शान्ति मिलेगी।" इसी प्रकार का शोक विभीषण को भी उस समय सता रहा था। उसे स्मरण आता है कि वे एक दूसरे से कितनी घृणा करते थे। वे स्वयं से पूछते हैं कि क्या उस भाई की अन्त्येष्टि करना उनके लिये उचित होगा? क्या उससे कुछ लाभ होगा? वे कहते हैं, "रावण बड़ा ही दुष्ट था, उसकी दुष्टता का कोई अन्त न था। कितनी सती–साध्वी स्त्रियों को उसने अपने जीव काल में बर्बाद किया। उसे दूसरों के प्रति अनैतिक कार्य करने में मज़ा आता था। सबके अहित में तत्पर रहने वाला यह रावण भाई के रूप में मेरा शत्रु था। यद्यपि ज्येष्ठ होने से वह मेरा पूज्य था, तथापि वह मुझ से सत्कार पाने योग्य नहीं है। अतः मैं उसकी अन्त्येष्टि करना उचित नहीं समझता हूँ। यदि मैं यह संस्कार न करूँ, मेरी यह बात सुनकर संसार के लोग सम्भवतः कहें मैं एक द्वेषपूर्ण और क्रूर व्यक्ति हूँ। कदाचित् वे मेरे विरुद्ध ऐसी धारणा बना भी चुके हों कि मैं एक ऐसा पाजी प्राणी हूँ, जो मृत्यु के बाद भी अपने भाई के काम न आया। परन्तु जब वे स्वयं रावण के दुर्गुणों को याद करेंगे, उसके पापाचारों के लिये उसे उत्तरदायी ठहरायेंगे कि कितनी स्त्रियों के साथ उसने बलात्कार किया तब वे मेरे इस विचार को उचित ठहरायेंगे।" आपको स्मरण होगा, किस प्रकार राम उसे ऐसा करने के विरुद्ध समझाते हैं। वे विभीषण को रावण की महानता की याद दिलाते हैं, उसकी तपश्चर्या का वर्णन करते हैं। वह भले ही अधर्मी और असत्यवादी रहा हो, परन्तु संग्राम में सदा ही तेजस्वी, शौर्यवान था। उसने घोर तपस्या के बाद देवताओं से अनेक वरदान प्राप्त किए। उसने अपनी तलवार के बल पर उसने देवताओं तक से युद्ध किया और उनको पराजित किया। उसे अनेक महान कार्य करने का भी गौरव प्राप्त था।

मैंने विभीषण के कृत्यों का पुनः निरीक्षण करने का प्रयास यह दिखाने के लिये किया है कि वस्तुतः उनके व्यक्तित्व कुछ भी ऐसा नहीं है, जो स्वार्थ या कमीनेपन से प्रेरित हुआ लगे। उनके चरित्र में कोई क्षुद्रता नहीं थी । उनके विरुद्ध, जो यह आरोप लगाया गया था कि उन्होंने अपने बन्धु–बान्धवों के साथ विश्वासघात किया, वह उन लोगों के लिये ग़लत निकला, जिन्होंने उसे पाला–पोसा, बड़ा किया था और उनको शक्तिशाली बनाने में सहायता की थी। मेरे विचार में तो यह आरोप महान और महत्तर विषयों में भेद न कर सकने के कारण ही लगाया जाता है। दुनिया में अपने बन्धु–बान्धवों के प्रति निष्ठा से भी अधिक महत्त्वपूर्ण बातें हैं। हम उस न्यायधीश की सराहना नहीं करते, न ही कर सकते, जो किसी के पक्ष में निर्णय केवल इसीलिए देता है कि वह एक सम्बन्धी है। इसके विपरीत, दूसरी ओर हम ऐसे राजाओं की बड़ाई करते हैं, जिन्होंने अपने पुत्रों तक को दंड दिया क्योंकि वे दोषी पाये गए। फिर भी

विभीषण के चरित्र का मूल्यांकन करते समय, हम ऐसा क्यों कहें कि उसको अपने भाई का साथ देना चाहिए था, चाहे वह मानवता के प्रति में कितना भी विद्वेषी क्यों न था? जितना शीघ्र हम इस धारणा को मन से निकाल दें और विभीषण को चिरंजीवियों* के मध्य पुनःस्थापित कर दें, उतना ही सबके लिए श्रेयस्कर होगा।

◈◈◈

* यह विचार कालिदास के आंकलन से मेल खाता है, जिसके अनुसार विभीषण का स्थान सुरक्षित है। दो चिरस्थायी सत्म्भों में से एक के रूप में। जिसमें दूसरे हनुमान हैं रघुवंश XV. 103 *"कीर्तिज्ञतम्भद्वयभिव"*।

सत्रहवाँ अध्याय

हनुमान

हनुमान के चरित्र में अनेक ऐसी बातें हैं, जो सबको आकर्षित करती हैं। मुझे बिल्कुल आश्चर्य नहीं होता कि लोगों के हृदय में उनके प्रति इतना गहरा लगाव है। वे हर अर्थ में महान थे। यदि उनके द्वारा सम्पन्न कारनामों को एक अम्बार के रूप में रखा जाये, तो शायद ही किसी अन्य पात्र द्वारा ऐसा संगृहीत अम्बार, परिमाण में भी उनके अम्बार के निकट पहुँचे। उन्होंने महान शौर्यपूर्ण और शारीरिक बल के द्वारा ऐसे कार्य किये, जो उस समय के किसी भी अन्य प्राणी के लिए अशक्य थे। उन्हें ऐसे कार्य, जिनके लिए विपुल बल और अत्यधिक संकल्प शक्ति अपेक्षित थी, करने पड़े और उनका निष्पादन उन्होंने बड़ी प्रशंसनीय सम्पूर्णता से किया। सच तो यह है कि पूरे 'रामायण' काव्य में कोई अन्य चरित्र उनके समान महान नहीं था, यदि हम राम और नकारात्मक अर्थ में, रावण के चरित्र को छोड़ दें। जैसा कि मैंने राम के चरित्र का वर्णन करते हुए किया था, मैं पहले हनुमान कथा के कुछ ऐसे बिन्दुओं पर चर्चा करना चाहता हूँ, जिनसे सम्भवतः उसकी महानता का कुछ अंश घटता प्रतीत हो। उन पर यथेष्ट चर्चा के पश्चात् मैं उन कारनामों पर आऊँगा, जिनके कारण वे विख्यात हैं और यह भी दिखाने का प्रयत्न करूँगा कि वे कार्य पूर्ण समर्पण, ऋजुता और कर्त्तव्यपरायणता के उच्च स्तर पर किए गये थे। जब हम उनका चिन्तन करते हैं, तो उनके चतुर्दिक मानो उत्तमता–सूचक शब्दों की भीड़–सी जमा हो जाती है। वे इस काव्य के बलिष्ठ सबसे व्यक्ति हैं, बालि या कुम्भकर्ण से भी किसी प्रकार अवर नहीं। राम के प्रति उनका अनन्य अनुराग था– मनसा, वाचा, कर्मणा कार्य करने में वे सदा तत्पर रहते थे और जो कुछ भी उनके हित में हो सकता था, उसको करने में सदा सचेष्ट थे, चाहे राम ने उसके लिये उन्हें आदेश दिया हो या नहीं। वे अत्यन्त बुद्धिमान थे, मंत्रणा में उनका परामर्श सदा संयत होता था। उनमें घटनाओं को घटने से पहले ही अनुमान लगाने की क्षमता थी। महानता में और महत्त्वपूर्ण कार्यों के सम्पादन में कदाचित् कोई विरल ही उनके निकट पहुँच सकते हैं।

यह सब कहने के पश्चात्, अब जो कुछ मैं आगे कहना जा रहा हूँ, उसके लिए मुझे ग़लत न समझें, न ही वाल्मीकि को, जिनके लिए मैं कुछ शब्द कहना चाहूँगा।

ऐसा करना मेरे लिए धृष्टता ही होगी! मुझे क्षमा करें क्योंकि अविवेकी होना उचित नहीं। हमें दोनों पहलुओं पर विचार करना चाहिए। अच्छी बातों पर भी और वस्तुतः जो अच्छी नहीं, उन पर भी। जब मैंने राम के भी चरित्र का वर्णन किया था, मैंने यह बताने की धृष्टता की थी कि वे अनेक आयामों में अन्य मनुष्यों के समान थे और अनेक आचरणों द्वारा उन्होंने यह प्रदर्शित किया कि उनकी प्रकृति मनुष्य के ही स्तर पर थी। मैंने यह भी दिखाया कि किस प्रकार वे मानवोचित दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त कर सद्गुण और सदाचार के उच्चतम शिखर पर पहुँच गये। हमें लगता है कि हम राम के बहुत निकट हैं, जब हमारा ध्यान उनकी कमज़ोरियों पर जाता है। हम एक आदर्श के रूप में, एक प्रेरणा के रूप में एक उत्थापक शक्ति के रूप में, उनकी सादर प्रशंसा करते हैं, जब हम देखते हैं कि किस प्रकार उन्होंने अपनी प्रकृति को देवत्व के स्तर तक उन्नत किया– यहाँ तक कि अब हम उनको दिव्य विभूतियों से भिन्न नहीं मानते। यह उच्च सद्चरित्र की ही विशेषता है। वाल्मीकि ने भी इस तथ्य को पूर्ण रूप से समझ लिया है। मैं समझता हूँ कि यही बात हनुमान पर भी लागू है। हनुमान वानर जाति के थे, जो कि नर जाति से कुछ अवर है। वानर प्रकृति से ही हनुमान इतने ऊँचे उठे। इस तथ्य से उनकी महानता के प्रति सम्मान और भी बढ़ जाता है। जब हम इस तथ्य को स्मरण करते हैं कि प्रकृति से, स्वभाव से, वे एक वानर योनि में विद्यमान थे। वाल्मीकि 'रामायण' में एक से अधिक बार यह प्रदर्शित करते हैं कि एक महान व्यक्ति बन जाने पर भी, एक यशस्वी कारनामों के कर्ता होने पर भी, यदा–कदा उनके नीचे कुल से होने के चिह्न उभर आते हैं। कोई बुरी बात नहीं। हम वैसे ही हैं, जैसा भगवान ने हमें बनाया है और विकसित होने दिया है।

ऐसा कहा जाता है कि बाल्यावस्था में ही हनुमान ने अपनी शक्ति का परीक्षण स्वयं सूर्य भगवान के विरुद्ध किया था। सूर्य भगवान ने उन पर प्रहार किया और उन्हें नीचे ज़ोर से पटक दिया था। वे एक पहाड़ी पर गिर पड़े और उनका बाँया गाल पिचक गया और इसी कारण वे हनुमान कहलाये। अपने पिता, वायु की हिमायत से उन्हें देवताओं के अनेक वरदान भी प्राप्त हुए। इनमें से एक वरदान था किसी भी अस्त्र या शस्त्र मृत्यु प्रतिरक्षा हो अर्थात् किसी भी अस्त्र–शस्त्र द्वारा उनकी मृत्यु नहीं हो सकती थी। बाल्यावस्था में भी वे इतने अनुपम बल–सम्पन्न थे कि वे निडर होकर ऋषियों के आश्रमों में जाकर उत्पात मचाकर उनके यज्ञ–अनुष्ठान में विघ्न डाल देते थे। कभी वे उनकी हविष इधर–उधर बिखेर देते, कभी अन्य उत्पातों द्वारा ऋषियों को उत्पीड़ित करते। उनके माता–पिता आते, उनको समझाते और याचना करते हुए, परन्तु फिर भी उनकी ये बचकानी हरकतें चलती रहती थीं। ऋषि–मुनि भी यह जानते कि वे देवलोक के कितने अधिक कृपापात्र थे, चिरकाल तक वे उनके उत्पात सहते रहे। किन्तु, हनुमान ने उनकी साधुता का अनुचित लाभ उठाया। परन्तु जब वे असहनीय हो गए, तब ऋषियों ने एक असमर्थता का शाप उन्हें दिया– वह था, कि उनको अपने निजी

बल की विस्मृति रहेगी, जब तक कोई अन्य व्यक्ति उनको उसकी याद न दिलायेगा। उचित समय पर, जब उनकी शक्ति का उपयोग होना चाहिए, वे अपनी शक्ति को भूल जायेंगे। यदि वह कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो और करणीय हो, तो उसके लिये यह आवश्यक था कि कोई अन्य व्यक्ति आकर उन्हें प्रेरित करे।

अगस्त्य ऋषि से वार्तालाप करते समय यह प्रश्न स्वयं राम ने किया था। राम ने उनसे पूछा था, "मैंने ऐसा सुना है कि हनुमान बालि और सुग्रीव से भी अधिक बलशाली हैं। फिर सुग्रीव के पक्ष में होते हुए भी क्यों बालि को समाप्त नहीं किया गया? ऐसा तो सम्भवतः बहुत पहले ही किया जा सकता था।" अगस्त्य मुनि ने बताया कि हनुमान को क्यों अपनी शक्ति का ज्ञान नहीं रहता था, परन्तु यह पूर्णतया यथेष्ट उत्तर नहीं था। क्या सुग्रीव को इस बात का पता नहीं था? उसने उनको प्रशंसा करके क्यों नहीं प्रेरित किया? बाल्यकाल से ही वे दोनों घनिष्ठ मित्र रहे थे, जैसे अग्नि और वायु। यह केवल उसी असमर्थता के कारण था, जो कि उन पर थोप दी गई थी, कि उनको अपनी शक्ति की बिल्कुल याद नहीं रही। जब बालि और सुग्रीव में अनबन हो गई और वे एक दूसरे के शत्रु बन गए, उस समय भी हनुमान ने अपनी पूरी शक्ति का प्रदर्शन नहीं किया और बालि को नहीं मारा। इसका कारण यह था कि वे नहीं जानते थे कि दोनों से वे अधिक बलशालीद हैं। वे इस बात से भी अनभिज्ञ थे कि वे स्वयं ही बालि और सुग्रीव से अधिक बलशाली थे, न सुग्रीव और न ही हनुमान इस तथ्य को जानते थे। हनुमान की स्मरण शक्ति का लोप हो गया था। आजकल इसको (amnesia) स्मृति–लोप की संज्ञा दी जाती है। प्रायः हम शब्द और नाम भूल जाते हैं। 'रामायण' में हनुमान की असमर्थता का उल्लेख केवल अपनी शक्ति के स्मरण की चूक के लिये ही किया गया है, परन्तु तीन या चार अन्य सन्दर्भों में भी इस प्रकार की दुर्बलता प्रदर्शन का संकेत मिलता है। मेरे मन में कोई सन्देह नहीं कि कवि का अभिप्राय भी यही है कि इन सबको हनुमान की दुर्बलता के रूप में समझा जाये। परन्तु मैं ऐसा दावा तो नहीं करता कि ऐसा समझ लेना सन्देह के परे हैं। मैं तो केवल इतना ही जानता हूँ कि कई अन्य अवसरों पर भी हनुमान की दुर्बलता प्रकट होती प्रतीत होती है। एक ऐसा अवसर तो विशेष रूप से मेरे ध्यान में आ रहा है, जो इसी सन्दर्भ से सम्बन्धित है, जब बालि अपने भाई के दुराचरण से चिढ़ कर, उसे यत्र–तत्र खदेड़ रहा था, एक देश से दूसरे देश तक, सारी दुनिया में उसका बराबर पीछा कर रहा था। उस समय सुग्रीव के साथ उसके अनुचरों में केवल ये चार थे– हनुमान, नल, नील और तार। बालि, जो अपनी अतिशय सामर्थ्य से एक समुद्र से दूसरे समुद्र तक छलांग लगा सकता था, सुग्रीव को पकड़ने में सर्वथा असमर्थ रहा। सुग्रीव बताते हैं कि उनको इतनी विस्तृत भौगोलिक जानकारी इसी भागमभाग के दौरान में प्राप्त हुई थी। ऐसा लगता है कि सहसा हनुमान को कुछ स्मरण आया, एक ऐसी बात, जिसकी याद यदि उनको पहले आ जाती, तो इतनी भागदौड़ के कष्ट का निवारण हो जाता। उन्हें याद

आ गया कि किष्किन्धा के ठीक सामने दिशा में एक पहाड़ी है, जिसका नाम ऋष्यमूक था। किसी ऋषि का शाप था कि यदि बालि या उसके द्वारा भेजा गया कोई अन्य व्यक्ति वहाँ आने का दुस्साहस करेगा, तो उसकी खोपड़ी सहस्र टुकड़ों में खंडित हो जायेगी। पहले तो हनुमान इस बात को सर्वथा भूल गए थे। सुग्रीव राम को बताते हैं कि सौभाग्य से हनुमान को बाद में इसकी याद आ गई और वे सब बच गए।

एक अन्य अवसर पर भी उनसे चूक हुई। आपको स्मरण होगा जब हमने लक्ष्मण के चरित्र का विश्लेषण किया था*, हम उस दृश्य पर आए थे, जहाँ तारा लक्ष्मण से बात करती है और उनसे कहती है, "आपको इतना क्रोध करने की आवश्यकता नहीं। मेरे पति सच्चरित्र व्यक्ति हैं और अपने मित्रों के प्रति निष्ठावान हैं। वे आपकी और आपके भ्राता की प्रसन्नता के लिए, किष्किन्धा को, मुझको और अन्य सब कुछ को भी बलिदान कर सकते हैं।" लक्ष्मण का क्रोध ठंडा करके वे उनसे कहती है, "मेरे पति ने अपने कर्त्तव्य की अवहेलना नहीं की है। उन्होंने पहले ही वानर सेना को एकत्रित होने का आदेश दे दिया है।" जब लक्ष्मण ने यह सुना, उन्हें महसूस हुआ कि उन्होंने ऐसे शब्द प्रयोग करने में कुछ जल्दबाज़ी की। बाद में उन्होंने भी खेद प्रकट किया कि सुग्रीव को बुरा भला कहने में उन्होंने ग़लती की। जब सुग्रीव ने अपनी विशाल सेना को पन्द्रहवें दिन एकत्रित होने का पहले आदेश दिया था, हनुमान को कहा गया था कि आदेश के पालन में किसी प्रकार की भूलचूक न हो। इन कर्त्तव्यों का भार हनुमान को सोंप कर और पूरा उत्तरदायित्व उनको देकर सुग्रीव ने निश्चित होकर अन्तःपुर के लिए प्रस्थान किया।** जब कुपित लक्ष्मण अन्तःपुर द्वार पर पहुँचे, वहाँ भारी खलबली मच गई। सुग्रीव हनुमान को उलाहना देते हुए कहते हैं कि उन्होंने तो बहुत पहले ही सेना को एकत्रित करने का आदेश देकर अपना कर्त्तव्य पूरा कर दिया था। तब हनुमान कहते हैं, मानो वे एक ऊँचे मंच पर चढ़कर नैतिक कर्त्तव्य पर भाषण दे रहे हों, "आपने राम के जिस कार्य का उत्तरदायित्व लिया था, उसका अब समय आ चुका है। आपने सीता की खोज के लिए जो समय निश्चित किया था, स्पष्ट है, आप इन दिनों प्रमाद में पड़ जाने के कारण, उसको भूल गए हैं। इसीलिए लक्ष्मण यहाँ आये हैं। जो सन्देश राम ने यहाँ भेजा है, वह निस्सन्देह कठोर शब्दों में है, परन्तु आप स्वयं ही इसके लिये ज़िम्मेवार हैं। अपराध आपकी ओर से हुआ है। इसलिए आप पुत्र और मित्रों के साथ हाथ जोड़कर मस्तक झुका कर लक्ष्मण को प्रणाम कीजिये और अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहिये। जैसे पत्नी अपने पति के वश में रहती है, उसी प्रकार आप सदा श्री राम के अधीन रहिये।" इस समय हनुमान भूल गए थे कि सुग्रीव अपना कर्त्तव्य पूरा कर चुके थे, और इस तथ्य को भी भूल गए थे कि इस विषय में दोषी व्यक्ति वे स्वयं ही थे। यदि निर्धारित कार्य आगे नहीं बढ़ा, उसका दोष हनुमान पर ही

* देखिए अ.4, पृ.54-55.

** देखिए अ.14, पृ.233.

था। एक निष्ठावान सेवक को क्या करना चाहिए था? उसको तो ऐसा कहना चाहिए था, "लक्ष्मण! आप सुग्रीव पर कुपित न हों, इसका दोषी तो मैं हूँ।" उन्हें कुछ आगे बढ़कर करना चाहिए था, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। दूसरी ओर, उन्होंने अपने स्वामी के ही विरुद्ध लक्ष्मण का समर्थन किया। इसका कारण क्या हो सकता था? यह कहा जा सकता है कि श्री राम और लक्ष्मण के प्रति हनुमान का अनुराग इतना अधिक था कि जब वे सुग्रीव पर क्रुद्ध हुए, तो उन्होंने उनका पक्ष लेते हुए स्वयं अपने स्वामी की भर्त्सना कर दी। एक दूसरी सफ़ाई इसके लिए यह हो सकती है कि हनुमान में भी वही आम कमज़ोरी प्रदर्शित होती है, जो सामान्यतः हमारे नौकरों में भी देखने को मिलती है, जो स्वामी के क्रोध करने पर, स्वयं भी और अधिक क्रुद्ध हो जाते हैं। परन्तु मेरे विचार में इन परिकल्पनाओं में से किसी से काम नहीं चलेगा। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि कवि का आशय यह दिखाना है कि यह भी उन प्रक्रियाओं में से एक वही थी, जिनके द्वारा ऋषियों का शाप ने अपना प्रभाव प्रकट किया।

एक अन्य स्थान पर हनुमान का भी भुलक्कड़पन अत्यन्त महत्वपूर्ण है, जब बालि का वध हुआ और तारा युद्धस्थल पर आकर विलाप करने लगी। विचित्र बात तो यह हुई कि उस समय तक बालि के प्राण नहीं निकले थे। वह पड़ा हुआ मृत के समान लग रहा था। हनुमान भी वहाँ आ पहुँचे। वे न केवल वीर और बलवान थे, अपितु सामान्य नश्वर मनुष्यों की क्षमता से कहीं अधिक बुद्धिमान थे, बड़े-बड़े राजदूतों के समान व्यवहार-कुशल थे, वे वाक्पटु भी थे। फिर भी, जब वे तारा को देखने के लिए आये, जो बालि के शरीर को गोद में लिए बैठी थी, उन्होंने ध्यान नहीं दिया कि बालि के प्राण अभी नहीं निकले थे। कदाचित् यह ग़लती भुलक्कड़पन के कारण नहीं, अपितु अपर्याप्त अवलोकन के कारण हुई। ये सब बातें उनके आद्यशाप की विविध अभिव्यक्तियाँ मात्र ही हैं। हनुमान तारा को समझाते हैं, "अब और अधिक रोना-धोना व्यर्थ है। वानर राज बालि आज अपनी प्रारब्ध निर्मित आयु की अवधि पूरी कर चुके हैं। वे अपना अन्तिम ऋण चुकाने चले गये हैं। अब वे वहाँ के लिये प्रस्थान कर चुके हैं, जहाँ महान वीर विभूतियाँ जाती हैं। अब आगे का कार्य देखना है, अब उसकी चिन्ता करनी चाहिए। इनमें से एक है, आपके पुत्र अंगद का अभिषेक करना। बेटे को किष्किन्धा की राजसिंहासन पर बैठा देखकर और स्वयं को राजमाता जानकर आपको बहुत संतोष होगा।" ज्ञात रहे कि जब से हनुमान का राम और लक्ष्मण से मिलन हुआ था, तभी से वे यह योजना बना रहे थे कि सुग्रीव बालि का उत्तराधिकारी बने। परन्तु अपनी नैसर्गिक उदार प्रवृत्ति के कारण उन्हें अंगद का वैध उत्तराधिकारी होने का ध्यान आ गया।

सर्वे हि हरिशार्दूलाः पुत्रश्चायं तवाङ्गदः।
इदं हर्यृक्षराज्यं च त्वत्सनाथमनिन्दिते।।

ताविमौ शोकसंतप्तौ शनैः प्रेरय भामिनि।
त्वया परिगृहीतोऽयमङ्गदः शास्तु मेदिनीम्।।
संस्कार्यौ हरिराजश्च अङ्गदश्चाभिषिच्यताम्।
सिंहासनगतं पुत्रं पश्यन्ति शान्तिमेष्यसि।। IV.21.8, 9,11

"ये सभी श्रेष्ठ वानर, ये तुम्हारे पुत्र अंगद तथा वानर, भालुओं का राज्य तुमसे ही सनाथ है, तुम्हीं इन सब की स्वामिनी हो। अतः इन्हें उचित आदेश देकर अपना नियन्त्रण स्थापित करो। ये अंगद और सुग्रीव– दोनों ही शोक सन्तप्त हैं। तुम इन्हें भावी कार्यों के लिए प्रेरित करो। तुम्हारे अधीन रहकर अंगद का राज्याभिषेक किया जाये। बेटे को राज्यसिंहासन पर देखकर आपको शान्ति मिलेगी और आप बालि के निधन को भूल जायेंगी।" क्या आप सोच भी सकते हैं सुग्रीव के घनिष्ठतम सखा द्वारा ऐसे शब्द प्रयुक्त किये जा सकते हैं, यदि वे होश–हवास में होते? यह एक और अवसर था जबकि उनकी स्मरण शक्ति की एक विचित्र चूक हुई। तारा ने फिर भी बुद्धिमत्ता और समझदारी से काम लिया। व्यवहार कुशलता में वह हनुमान से भी आगे बढ़कर निकली। वे हनुमान से बोलीं, "मुझे तो आपकी बात कुछ जंची नहीं। इस समय अंगद मेरे लिए कुछ भी नहीं है, न ही इसके अभिषेक से मेरा कोई मतलब है। इसके अतिरिक्त, बालि के दिवंगत होने के बाद सुग्रीव का ही उत्तराधिकार है। मुझ पर, इस राज्य पर और स्वयं अंगद के भाग्य पर भी सुग्रीव प्रधान है।" वह बड़ी दृढ़ता से हनुमान का परामर्श अस्वीकार कर देती है। यह एक अन्य उदाहरण है, जहाँ हनुमान की व्यवहार कुशलता पूर्णतया असफल हुई। तारा आगे कहती है, "अपने वीर पति का आलिंगन ही मुझे अंगद के समान सौ पुत्रों से भी श्रेष्ठ जान पड़ता है। मैं न तो वानरों की स्वामिनी हूँ, और न ही मुझे अंगद के लिए कुछ करने का अधिकार है। इसके चाचा, सुग्रीव ही समस्त कार्यों को करने में समर्थ हैं और वे ही मेरी अपेक्षा इसके अधिक निकटवर्ती भी हैं।"

इसके आगे एक पूरा सर्ग है, जिसमें बालि की मृत्यु पर स्वयं सुग्रीव विलाप करता है। इस पूरे सर्ग में निष्कपटता की गूँज मिलती है, जिससे प्रतीत होता है कि वह सचमुच अनुताप से अभिभूत था, जब उसे ध्यान आया कि उसका भाई कितना महान था, कितना शक्तिशाली और कुल मिला कर, उसके लिये कितना हितकारी था। दूसरी ओर उसका अपना व्यवहार उसके प्रति कितना विश्वासघाती रहा था। वह स्वयं को दोषी ठहराता है और कोसता है, "मैं कुल की हत्या करने वाला दोषी हूँ। अतएव, संसार में जीवन धारण करने योग्य भी नहीं हूँ। मैं अपने भाई का साथ देने के लिए प्रज्ज्वलित अग्नि में प्रवेश करूँगा। परन्तु, श्री राम आप मेरे से एक सेवा की अपेक्षा रखते हैं, अंगद उस कार्य की पूर्ति कर देगा। ये वानर वीर आपकी आज्ञानुसार सीता की खोज करेंगे। मेरी मृत्यु होने पर आपका सब कार्य सिद्ध हो जायेगा। इसलिए, मुझे प्राण परित्याग की अनुमति दीजिए।"

कोई यह धारणा नहीं बना सकता कि सुग्रीव केवल एक क्षणिक विषाद के आवेश में बोल रहा था। ये सब सीधे उसके हृदय के उद्‌गार थे। जब राम को अहसास हुआ कि उनके द्वारा क्या कुछ हो गया, जब उन्होंने तारा और सुग्रीव के शोक को देखा और यह भी देखा कि सारे वानर उस स्थल से विषाद और व्यथा के कारण दूर भाग गए, राम स्वयं भी दुःख से आक्रान्त हो गए। युद्ध में एक कारनामे के वेश में किये इस विचित्र कार्य की प्रचंडता का राम को भी अहसास हुआ। फिर क्यों न हम मान लें कि हनुमान भी संतापग्रस्त हुए होंगे और उन्होंने सोचा कि उचित प्रायश्चित तो यही होगा कि वैध उत्तराधिकारी, अंगद को राज्य सौंप दिया जाये? किस प्रकार हनुमान के विचित्र आचरण को समझा जा सकता है, जब तक यह न माना जाये कि यह सब ऋषियों के शाप के कारण ही हुआ। उनकी नैसर्गिक भावनाओं ने उन्हें अभिभूत कर लिया और उस समय वे इसी प्रकार बोल गए, जैसे कोई अन्य दर्शक वहाँ बोल रहा हो, न कि वह हनुमान, जो आरम्भ से ही सुग्रीव का साथी रहा था और उसके साथ–साथ बारम्बार समस्त पृथ्वी पर दौड़ लगा चुका था। परन्तु यह मान लेने में भी कोई हानि न होगी कि उस क्षण सचमुच वे भी, सुग्रीव और राम के समान, एक असामान्य स्वाभाविक भावनाओं से प्रभावित थे।

'रामायण' में इस बात का और कोई स्पष्टीकरण नहीं है और कुछ ऐसा भी नहीं है, जो इस मत के प्रतिकूल हो। मैं स्वयं यह मानने को तैयार हूँ कि कवि का आशय है कि उसके पाठ के अर्थ इसी प्रकार लगाये जायें। इस से मैं न तो कवि के, न ही हनुमान के प्रति कोई अन्याय कर रहा हूँ। हनुमान की महानता में भी कोई अन्तर नहीं पड़ता। उनकी अशक्तता के उदाहरणों से, जो कि मैंने प्रस्तुत किए हैं, सम्भवतः यह माना जा सकता है कि इस अशक्तता के पीछे अवश्य ही कोई तथ्य फिर भी है।

◈◈◈

अठारहवाँ अध्याय

हनुमान

मैंने सीता की खोज की तैयारी के सन्दर्भ में हनुमान के भुलक्कड़पन के प्रसंगों का उल्लेख किया था। सम्भवतः इस काव्य के कुछ अध्येताओं ने ऐसा सोचा हो कि मैंने कवि की भाषा को कुछ अधिक ही खींच–खाँच कर अर्थ लगाए हैं। इस सन्देह–निवारण के लिए, मैं कुछ और श्लोक इसी सन्दर्भ में प्रस्तुत करूँगा। मेरा अभिप्राय था कि सुग्रीव अपना कर्त्तव्य का पालन कर चुका था, जब लक्ष्मण ने उसके द्वार पर गर्जन–तर्जन किया। सुग्रीव का भारी दोष यह था कि वह भोग–विलास में इतना बह गया था, जो उसके नामी सखा, राम के लिये अत्यन्त क्लेशकर था। असंयम का दोषी होने के अतिरिक्त, यह उसके लिए एक अत्यन्त अविवेक का कार्य था, परन्तु उसने इस बात का पूरा–पूरा ध्यान रखा था कि जिस काम का उत्तरदायित्व उसने लिया था, वह यथोचित समय पर सम्पन्न हो जाना चाहिए। इस बात को उसकी पत्नी, तारा ने स्पष्ट रूप से बताया, जब क्रोध से उत्तेजित लक्ष्मण उसके सामने आये। उसने अपने पति के लिये सफ़ाई पेश की। जैसा कि मैंने पहले बताया था, यह उसकी वक़ालत कौशल का एक नमूना था। आरम्भ में तो उसने सुग्रीव को दोषी मानकर क्षमा याचना की। उसके पश्चात् उसने यह सिद्ध कर दिया कि उसका दोष बिल्कुल नहीं था। अतः उसके विरुद्ध कोई शिकायत मामला बनता ही नहीं। इस सन्दर्भ में गोविन्दराज की टिप्पणी इस प्रकार है :

> अपराधमङ्गीकृत्य सान्त्वयित्वा इदानीं विचार्यमाणे
> अपराध एव नास्तीत्याह।। IV.35.10,11

अपराध को स्वीकार करने से लक्ष्मण को शान्त कर उसने कहा कि अब विचार करने के लिये कोई अपराध है ही नहीं। तत्पश्चात् सुग्रीव लक्ष्मण की उपस्थिति में दुबारा हनुमान को आदेश देता है।

> *प्रेषिताः प्रथमं ये च मया दूता महाजवाः।*
> *त्वरणार्थं तु भूयस्तवं हरीन्संप्रेषयापरान्।।*
> *ये प्रसक्ताश्च कामेषु दीर्घसूत्राश्च वानराः।*
> *इहानयस्व तान् सर्वान्शीघ्रं तु मम शासनात्।।*

> *अहोभिर्दशभिर्यै हि नागच्छन्ति ममाज्ञया।*
> *हन्तव्यास्ते दुरात्मनो राजशासनदूषकाः।।* IV.37.10-12

"मेरी आज्ञा से पहले जो महान वेगशाली वानर भेजे गए हैं, उनको जल्दी काम करने के लिए प्रेरणा निमित्त पुनः दूसरे श्रेष्ठ वानरों को भेजो। जो वानर काम भोग में फँसे हुए हों तथा जो दीर्घसूत्री अर्थात् प्रत्येक कार्य विलम्ब करने वाले हों, उन सभी को यहाँ शीघ्र ले आओ। जो वानर मेरी आज्ञा से दस दिन से भीतर यहाँ न आ जायें, राजाज्ञा को कलंकित करने वाले उन दुरात्मा वानरों को मार डालना चाहिए।" इस बार, पन्द्रह दिन के बजाय सुग्रीव ने लौटकर आने की अवधि घटा कर दस दिन कर दी और उन्होंने हनुमान को आदेश दिया कि वे इस बात की जाँच करें कि प्रत्येक व्यक्ति नियत समय पर आ गया है या नहीं। दूसरी बार, हनुमान को ही सम्बोधित करके आदेश दिया गया है, "मेरे द्वारा पहले भेजे गये सन्देश वाहकों को शीघ्रता करने का आदेश दिया जाये।" सूचना इस प्रकार थी : *'प्रेषितदूतत्वरणार्थोक्तिः स्वस्य प्रकृतकार्ये पूर्वमेव सावधानतां लक्ष्मणाय द्योतयितुम।'* दूसरा आदेश, जिसमें नियत अवधि का समय कम इसलिये कर दिया था कि लक्ष्मण के मन में लेशमात्र भी सन्देह न रहे और यह स्पष्ट हो जाय कि सुग्रीव इस सम्बन्ध में आवश्यक कार्यवाही पहले ही कर चुका था। अतएव, यह विलम्ब हनुमान के भुलक्कड़ स्वभाव के कारण ही हुई, जिसको अन्यथा समझना कठिन है। इस सम्बन्ध में दो आदेश मिलने पर और पूरा उत्तरदायित्व सौंपे जाने के बाद लक्ष्मण का पक्ष लेते हुए, हनुमान को ऐसा कहना कि सुग्रीव दोषी था, उनकी चूक थी, जिसके लिए हनुमान की ओर से कोई सफ़ाई देना सम्भव नहीं। हनुमान उस समय भी स्मृतिलोप के रोग से प्रभवित हो गए थे।

अब मैं भुलक्कड़पन के एक अन्य प्रसंग पर आता हूँ, परन्तु जिसके फलस्वरूप कोई विशेष क्षति नहीं हुई थी। यह एक प्रसिद्ध घटना है, जिसे कवि ने स्पष्ट रूप से भुलक्कड़पन कहा है। इसलिए अपना दावा सिद्ध करने के लिए मुझे कोई विशेष प्रयास नहीं करना है। इस घटना का उल्लेख युद्ध कांड के 102वें सर्ग में है। आपको स्मरण होगा, जब रावण ने अपना अमोघ शक्ति अस्त्र को लक्ष्मण पर छोड़ा था, वह लक्ष्मण के वक्षस्थल में जाकर अटक गया। लक्ष्मण मूर्छित होकर धराशायी हो गए, जिससे सम्पूर्ण वानर सेना शोकसन्तप्त हो गई– विशेष रूप से उनके भाई अत्यन्त शोकाकुल हो गए। शोकसन्तप्त राम के मन में उस समय तरह–तरह के निराशाजनक विचार आ रहे थे। उस समय वहाँ एक सुषेन नामक वयोवृद्ध वानर, जिनको मैने 'द्वितीय जाम्बवान' का नाम दिया था, जिनको औषधियों का कुछ ज्ञान था, उपस्थित थे। उनको प्रसिद्ध आरोग्यकर संजीवकरणी पर्वत पर उगने वाली बूटियों का स्मरण आता है और वे हनुमान से अपने करतब को, जिसका विवरण मैं उचित स्थान पर दूँगा, पुनः दिखाने को कहते हैं। सुषेण द्वारा गये ब्योरो के अनुसार, उन बूटियों का पूरा–पूरा विवरण भी दिया गया था, जिससे एक व्यक्ति जिसने उन जड़ी बूटियों को

एक बार पहले देखा हुआ था, उनको तुरन्त पहचान ले। बिना किसी विशेष परिश्रम के हनुमान छलांग लगाकर उस पर्वत पर तो पहुँच गये, परन्तु जब वे पर्वत शिखर पर खोज करने लगे, तो वे उन औषधियों का ठीक–ठीक वर्णन भूल गए। इधर–उधर खोजने पर भी, वे उन बूटियों की पहचान करनें में असमर्थ रहे। उन्होंने याद करने का प्रयास किया। कवि ने इस स्थिति का वर्णन पाँच–छह श्लोकों में किया है। हनुमान कहते हैं, "अब मैं क्या करूँ? मैं उसी वस्तु को भूल गया, जिसे लेने यहाँ आया हूँ। क्या मैं छलांग लगाकर सुषेण के पास फिर जाऊँ?" तत्पश्चात् उन्हें स्मरण आया कि एक बार पहले भी वे सम्पूर्ण पहाड़ी उठा ले गए थे। बूटी की पहचान करना तो सुषेण का काम है, यह सोचकर वे पहाड़ी को हिलाते हैं और वह उखड़ आती है, उसे लेकर वे आ जाते हैं। सुषेण बूटी का रस निकाल कर लक्ष्मण को सुँघा देते हैं। लक्ष्मण होश में आ जाते हैं। विचित्र बात यह है कि इस अवसर पर कवि यह नही बताता कि हनुमान पहाड़ी को वापस उसी की उपयुक्त जगह पर ले गये। ऐसा लगता है, क्योंकि वह स्वंय इसे भूल गया।

इसके अतिरिक्त, कथा में दो अन्य सन्दर्भ भी हैं। वैसे तो कथा में उनका कोई विशेष महत्व नहीं है। मेरे विचार में कवि का आशय हनुमान के भुलक्कड़पन के और नमूनों को प्रस्तुत करना है। चित्र को पूर्ण करने के लिए, मैं उनको भी प्रस्तुत करूँगा। कदाचित् आपको स्मरण होगा, जब मैं भरत के चरित्र का वर्णन कर रहा था, मैंने उल्लेख किया था कि अयोध्या लौटते समय वहाँ पहुँचने से पूर्व, किसी भी सामान्य व्यक्ति के समान, राम के मन में भी कुछ सन्देह हुआ कि कहीं ऐसा तो नहीं कि उनके भाई, भरत को राजवैभव के प्रति कहीं कुछ अधिक लगाव हो गया हो। इसलिए वास्तविक स्थिति की टोल लेने के लिए उन्होंने हनुमान को पहले से भेजा। उनको आदेश था कि जब तक राम अयोध्या की और कुछ आगे बढ़ें, तब तक हनुमान लौट आकर उन्हें भरत की मन:स्थिति के विषय में सूचना दें।* यथार्थ में, अब यह होता है कि हनुमान निर्दिष्ट स्थान पर, जहाँ लौटकर आने को कहा गया था, वे आये ही नहीं। वे भरत के पास ही ठहर गए और भरत के साथ ही अगवानी के समय आये। इस प्रकार गोपनीय बातचीत का अवसर मिला ही नहीं। उनको तो भेजा गया था कि वे भरत के हाव–भाव की जाँच करें, सारा वृत्तान्त सुनाने के पश्चात् भरत की प्रतिक्रिया पर ध्यान दें और देखें कि किसी प्रकार की अधीरता तो प्रदर्शित नहीं करते, उनकी जो भावना राम के प्रति है, उसको जानने का प्रयत्न करें। हनुमान लौटकर क्यों नहीं आए? इस प्रश्न पर उनका ध्यान गया है, जिन्होंने पूर्व में इस काव्य का अध्ययन किया है, जबकि उन्हें स्पष्ट रूप से आदेश दिया गया था कि वे भरत से मिलकर लौट आयें। फिर भी उन्होंने ऐसा क्यों नहीं किया? वे इस प्रकार के सेवक नहीं थे, जो

* देखिए (VI.128.12-17) अ.8, पृ.113.

आदेश की अवज्ञा करते। मेरा तो अनुमान यह है कि भरत से मिलकर और उनको सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाकर, उनका मस्तिष्क कुछ अन्य विचारों से ओतप्रोत हो गया।

कदाचित् उन्होंने बहुत कुछ देखा और सम्भवतः भरत में किसी बात ने उनको इतना प्रभावित किया कि सौंपे गए कर्त्तव्य का ध्यान उनके मस्तिष्क के भीतर पूर्णतः लुप्त हो गया। परन्तु यह तथ्य सर्वथा उसके अनुकूल ही है, जिसे हम हनुमान की कमज़ोरी के नाम से जान चुके हैं। यहाँ मुझे कहना पड़ता है कि इस सन्दर्भ में उस विख्यात टीकाकार ने, जिसका अनुसरण हम प्रायः करते आये हैं, कुछ ऐसा अर्थ किया है, जिसको समझने में मैं असमर्थ हूँ। उनके द्वारा किया गया अर्थ मान्य हो ही नहीं सकता। उनके अनुसार, हनुमान को लौटने और सूचना उपलब्ध कराने का कोई दृढ़ आदेश नहीं था। उन्हें भरत और उनकी मनः स्थिति की जाँच दो वैकल्पिक दृष्टिकोणों से करनी थी और उनमें से यदि केवल एक विकल्प ही निशिचित हो, तब ही उनको लौटकर राम को सूचित करना था। इससे तो केवल टीकाकर की उत्सुकता ही प्रदर्शित होती है, यह दिखाने के लिए कि हनुमान किसी भूलचूक के दोषी नहीं थे। वे राम के शब्दों का यह विचित्र अर्थ लगाते हैं। हनुमान को इस बात की जाँच करनी थी कि भरत के मन में स्वयं राजा बनने की इच्छा ने तो जन्म ले लिया है। यह स्पष्ट अर्थ लगाने की बजाय, टीकाकर गोविन्दराज का कथन है कि राम का अभिप्राय यह था, "जब मैं वहाँ जाकर भरत से मिलूँगा, तो मेरा इरादा है कि भरत को राज्य सौंप कर उससे राजा बनने को कहूँ। वह राज्य को ग्रहण करे या न करे। मैं नहीं जानता कि जब मैं स्वेच्छा से इस भेंट को प्रस्तुत करूँगा, भरत इसे सहर्ष स्वीकार करेगा अथवा अस्वीकार कर देगा। यदि वह अस्वीकार कर देता है, तो तुम्हें लौटकर आने की आवश्यकता नहीं। परन्तु यदि उसका मन स्वीकार करने की ओर हो, तो मुझे आकर सूचित करना।" इस प्रकार वे राम के शब्दों की व्याख्या करते हैं। परन्तु अर्थ निर्णय सर्वथा कृत्रिम है। जहाँ तक हनुमान का सम्बन्ध है, उनके लिए यह सफ़ाई स्पष्ट है कि जब वे राम के भाई से मिले, जिनके विषय में वे बहुत कुछ सुन चुके थे, वे उस क्षण इतने भाव–विभोर हो गये कि सब कुछ भूल गए।

एक प्रसंग और है, जिसका समझाना कदाचित् और भी आसान है। इसकी और मेरा ध्यान हर बार जाता है, जब मैं इस काव्य को पढ़ता हूँ। जब हनुमान भरत से मिले, उन्होंने सीधी–सादी भाषा में सम्पूर्ण कथानक कह सुनाया, जब से राम, सीता और लक्ष्मण भरत से बिछुड़े थे। भरत भी सब वृत्तान्त सविस्तार जानना चाहते थे। पाठ में वृत्तान्त उसी रूप में है, जैसा हनुमान ने सुनाया था। इस विवरण में एक अहम् घटना का विलोपन, जिसका कारण भी स्पष्ट नहीं है– वह है, सीता की अग्निपरीक्षा, जिसको, रावण के नाश के बाद, बेचारी सीता को झेलना पड़ा था। मेरे विचार में यह एक साधारण सी बात नहीं है कि एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रसंग को छोड़ दिया गया, जिस पर कथानक बहुत कुछ निर्भर हैं। हनुमान उसका उल्लेख करना कैसे भूल गए?

क्या यह केवल भुलक्कड़पन की ही एक घटना थी? सम्भवतः वे भरत को एक ऐसी बात बताना चाहते थे, जिससे उनके मन में ऐसे भाव जाग्रत हो सकते थे, जो अपने भाई के प्रति स्वीकारात्मक नहीं होते। यदि यह बात थी, तो हमें कहना पड़ेगा कि हनुमान भरत के प्रति अत्यधिक संवेदनशील थे कि यह हृदयविदारक घटना उनके कानों तक न पहुँचे। प्रायः हम सभी इस प्रकार की ग़लती कर बैठते हैं। तथापि सामान्य व्यवहार पद्धति यही है कि किसी मामले का साफ़-साफ़ खुलासा करने के बजाय, हम ऐसा प्रदर्शित करें मानो कुछ हुआ ही नहीं, जब तक कि उसका भेद स्वयं ही खुल न जाये। हम दूसरों को अप्रिय समाचार बताना पसन्द नहीं करते, जब तक उसके कारण एक विषम स्थिति उपस्थित नहीं होती और वह स्वयं ही प्रकट नहीं हो जाती है। यदि यही बात है, तो ऐसा करना केवल एक सामान्य सी कमज़ोरी है, जो लोगों को खुलकर पूरी बात बताने में रुकावट डालती है।

अभी तक मैंने हनुमान के विषय में उन्हीं प्रसंगों का उल्लेख किया है, जो मेरे विचार में न्यूनाधिक तीव्र भुलक्कड़पन के उदाहरण हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त कुछ अन्य बातें भी हैं, जिनका उल्लेख मैं करना चाहूँगा। मैं उनकी दो सुस्पष्ट असफलताओं का पहले ही उल्लेख कर चुका हूँ। उनकी योग्यता, उनकी व्यवहार कुशलता और लोगों के समक्ष किसी पक्ष को प्रस्तुत करने की उनकी क्षमता सर्वस्वीकृत थी। फिर भी हम देखते हैं कि दो महत्वपूर्ण मामलों में वे असफल रहे। एक तो जब उन्होंने अंगद के अभिषेक के लिये तारा की स्वीकृति प्राप्त करने का प्रयास किया। आपको स्मरण होगा कि मैंने कुछ श्लोक प्रस्तुत किये थे, जिनमें उन्होंने स्पष्ट रूप से तारा को शोक त्याग कर उठ बैठने का निवेदन किया था और कहा था कि वह धैर्य धारण कर अंगद को राज्य देकर उसकी देखभाल करें। मैने इस बात का पता लगाने का प्रयास किया, दूसरे सर्गों से, कि इस अवसर पर इसी घटना ने सुग्रीव और अन्य लोगों को किस प्रकार प्रभावित किया? सम्भवतः उन्हें भी ऐसा लगा कि एक भीषण भूल हो गई है, जो लगभग एक अपराध के समान है। अतएव, उन्हें लगा कि इससे उत्पन्न होने वाले परिणामों निष्प्रभावित करने के लिये कुछ करना आवश्यक है। परिणामों में सबसे अहम् प्रश्न था, बालि के उत्तराधिकार का। हनुमान को कुछ ऐसा लगा कि सुग्रीव में कुछ सच्चाई थी, जब उन्होनें यह इच्छा व्यक्त की थी कि अपने भाई के उपरान्त उन्हें राजा बनना नहीं चाहिए। मैंने एक श्लोक पढ़कर भी दिया था, जिसमें स्वयं राम को अपनी आँखों से इन करुण दृश्यों को देखकर ऐसा लगा कि वातावरण में कुछ ऐसा था, जो कि किसी भूल का परिणाम था। दुःख से आतुर हो कर सुग्रीव के वचन सुनकर अन्यों ने समान श्री राम के नेत्रों में भी आँसू भर आये और क्षण भर के लिये आकुल हो कर मौन रह गए। यदि सुग्रीव की भावनाएँ निष्कपट थी, तो मैंने तर्क प्रस्तुत किया था कि हनुमान को अहसास हुआ होगा कि बालि के वध के पश्चात् अंगद को ही उत्तराधिकारी होना चाहिए, न कि सुग्रीव को। इसीलिए उन्होंने तारा से इसकी चर्चा

कर दी। किन्तु, अत्यधिक दुःख से अभिभूत होने पर भी उसे महिला का दिमाग़ ठीक ठिकाने पर था, वह आत्मसंयम बिल्कुल नहीं खो बैठी थी। वह कहती है, "ऐसा उचित नहीं होगा। हमारे इस मामले में बालि के पश्चात् सुग्रीव को ही सब कुछ लेने का अधिकार है (मैं समझता हूँ कि उसका आशय था, कि राज्य और स्वयं तारा पर भी सुग्रीव का ही अधिकार है)। अतएव, अंगद के विषय पर भी फ़ैसला सुग्रीव को ही करना है, मुझे नहीं।" कितनी असाधराण, और प्रतिभासम्पन्न महिला थी, वह! मैंने उसे एक बार प्राचीन पोर्शिया (Portia) की संज्ञा दी थी।

उनका अन्य असफलता भी देने योग्य है। यह प्रसंग उस समय का है, जब सीता की खोज करते-करते उनकी टोली स्वयंप्रभा की गुफा में पहुँच गई थी और वहाँ वे उस गुफा में उपलब्ध कन्द-मूल-फल खाने में व्यस्त होने के कारण कुछ अधिक समय लगाने के दोषी बन गए। इस प्रकार एक मास की अवधि, जोकि सुग्रीव ने उन्हें दी थी, वह समाप्त हो गई और वे उस अवधि में लौटने से चूक गए। जब वे हनुमान सहित बाहर आए, वे सुग्रीव द्वारा निर्धारित मृत्युदंड के भागी बन चुके थे। अंगद ने सुझाव दिया कि वानरों के लिए उपवास कर प्राण त्याग करना ही उचित रहेगा। इस पर अंगद के मामा, तार ने सुझाव दिया कि वे सब वहीं रुक जायें और एकबार फिर स्वयंप्रभा की गुफा में जाकर, वहाँ की सुख सामग्री का आनन्द लें। तार की बात अंगद के भी अनुकूल थी और वानरों को भी जँची। अंगद के पीछे रुकने का सुझाव हनुमान ने एक चिन्ताजनक अर्थ में लिया। वे सोचने लगे, "यदि अंगद यहाँ रुक जाता है और बहुत से वानर भी रुक जाते हैं, तो इस प्रकार फूट पड़ने पर बहुत से वानर अंगद का साथ देंगे। फिर कौन उसे उस भूभाग का राजा बनने मे रोक सकेगा, जो अब तक सुग्रीव के अधिकार में था? सुग्रीव का राज्य विभक्त हो जायेगा। सम्भव है कि अंगद सुग्रीव के लिये कंटक बन जाय।" ऐसी संभावना हनुमान के मन में उदय हुई। अन्ततः वे अपनी व्यवहार कुशलता का पूरा उपयोग करते हुए अंगद से कहते हैं कि उनका घर लौटना ही उचित होगा। वे कहते हैं, "मैं सुग्रीव को बहुत समय से जानता हूँ, वह तुम्हारा कोई अहित नहीं करेगा।" तत्पश्चात् बड़ी चतुराई से वे कहते हैं, "ये कपि लोग सदा से चंचलचित्त होते हैं, इनका कोई भरोसा नहीं। आख़िर, हैं तो सब वानर। ये कोई भी सुग्रीव से विरोध करके तुम्हारे प्रति अनुरक्त नहीं हो सकते। अपने स्त्री-पुत्रों से अलग रहकर तुम्हारी आज्ञा पालन करना उनके लिये असह्य होगा।" परन्तु, अंगद उनके सुझाव को अनसुनी करता है। वह कहता है, "मैं अपने चाचा का रुख़ अपनी तरफ़ अच्छी प्रकार से जानता हूँ। वे भूले नहीं हैं कि मैं बालि का पुत्र हूँ। इसके अतिरिक्त युवराज पद पर भी उन्होंने मेरा अभिषेक नहीं किया। अनायास ही श्री राम ने ही उस पद पर मेरा अभिषेक किया है। उनसे और क्या आशा की जा सकता थी?" इतना कहकर अंगद मरणान्त उपवास पर बैठ गए। अन्य वानरों ने भी अंगद को चारों और से घेर लिया और आमरण उपवास का निश्चय किया। यह एक अन्य

उदाहरण है, जहाँ हनुमान अपनी व्यवहार कुशलता और कूटनीतिज्ञता में असफल रहे, वह भी एक अंगद जैसे छोकरे के प्रति। यह सब किष्किन्धा कांड से है।

अब मैं अगले कांड पर आता हूँ। मैं उल्लेख कर रहा हूँ, केवल अन्य प्रसंगो का, जहाँ इस महान व्यक्ति की मानी हुई चतुराई भी सफल न हो पाई। जब वे सीता के साथ वार्तालाप कर रहे थे, सीता अपने कोमल और कारुणिक ढंग से (जो पाठकों को भी रुला देता है) उनको वह सब कुछ बताती है, जो कुछ उन्हें अशोक वाटिका प्रवास में झेलना पड़ रहा है। बीच–बीच में वह अपनी आशंका व्यक्त करती है। क्या उनके लिए जीवित रहकर, उन दोनों महान भाइयों के लिए चिन्ता का विषय बना रहना उचित है? क्या सबसे अच्छी बात यह नहीं होगी कि वे अपने जीवन का अन्त करके इन सबको परेशानी से मुक्त कर दे? वह प्रश्न करती हैं, "किस प्रकार मेरे पति और उनके भ्राता समुद्र को पार कर सकेंगे? किस प्रकार? क्या वानर सेना मेरे संकट के समय में मेरी सहायता के लिये आ पहुँच सकती है?" हनुमान अधिक सहन न कर सके। उन्होंने साहस जुटा कर निवेदन किया था, "आप इतना कष्ट क्यों भोग रही हैं? मैं आपकी सेवा में हूँ, बलवान और शक्तिशाली। जिस प्रकार मैं यहाँ आया हूँ, उसी प्रकार जा भी सकता हूँ। वैसे भी आप इतनी हल्की–फुल्की हैं। यदि आप मेरी पीठ पर बैठ जायें, तो अगले क्षण आप अपने पति के साथ होंगी। इस क्लेश, चिन्ता और विषाद को त्याग दीजिए। यह कार्य तो मेरे लिए हँसी खेल है।" आप याद रखें कि हनुमान उस समय केवल एक बिल्ली के आकार के थे। उन्होंने सीता की खोज में सम्पूर्ण लंका छान मारी थी। कोई व्यक्ति उन्हें पहचान न ले, इस लिये उन्होंने उतना छोटा रूप धारण कर लिया था। जब उन्होंने सीता को अपनी पीठ पर बैठाककर ले जाने का सुझाव दिया, तो निश्चय ही सीता को हास्यास्पद लगा। एक शालीन महिला होने के नाते, वे केवल उनकी बात पर मुस्करा दीं।

हनुमन् दूरमध्वानं कथं मां वोढुमिच्छसि।
कथं वाल्पशरीरस्त्वं मामितो नेतुमिच्छसि।
तदेव खलु ते मन्ये कपित्वं हरिपूंगव।। V.37.31,32

"हनुमान! तुम इतने दूर मार्ग पर मुझे कैसे ले चलना चाहते हो? तुम्हारे इस दुस्साहस को मैं वानरोचित चपलता ही समझती हूँ।" इस प्रकार विनोदपूर्ण टिप्पणी करके वह कहे बिना न रह सकी। "मुझे लगता है, जैसे तुम मुझे दीख रहे हो सचमुच वैसे ही हो। तुम्हारा शरीर तो बहुत छोटा है, फिर तुम मुझे मेरे स्वामी के पास ले जाने की इच्छा कैसे करते हो?"

सीता की बात सुनकर हनुमान को कुछ खीझ महसूस हुई। उन्हें अहसास हुआ कि जीवन में पहली बार उन्हें ऐसा घोर तिरस्कार मिला। उन्होंने अपने मन में कहा और सोचने लगे, "सीता मेरे बल और प्रभाव को नहीं जानतीं। मुझे यह दिखाना है कि वास्तव में मैं तुच्छ बिल्ली नहीं हूँ। इसलिए आज मेरे इस रूप को, जिसे मैं इच्छानुसार

धारण कर लेता हूँ, ये देख ले।" वे उस वृक्ष के नीचे कूदे और सीता के मन में विश्वास उत्पन्न करने के लिए कि वास्तव में वे बलवान और शक्तिशाली है, इस प्रकार होने की वे ढींग नहीं मार रहे थे, उन्होनें अपने शरीर को बढ़ाना और अपने वास्तविक आकार को धारण करना आरम्भ किया। बात ही बात में उनका शरीर मेरु पर्वत के समान ऊँचा हो गया। तत्पश्चात् वे सीता से बोले, "देवि! आप मुझे क्या समझती हैं? आप सोचती हैं कि आप अपने कोमल शरीर का उत्तरदायित्व थोड़ी देर के लिये मुझे सौंप नहीं सकती? मुझ में सम्पूर्ण लंका को उखाड़ देने की क्षमता है। मैं पर्वत, वन, अट्टालिका, चहार दीवारी सहित इस लंकापुरी को, इसके सब स्त्री, पुरुष और रावण सहित समुद्र के उस पार ले जा सकता हूँ, आपकी आशंका व्यर्थ है।" निस्सन्देह इसमें हनुमान की ओर से अतिरंजना थी। मैं आपको बता दूँ, जैसा कि आधुनिक समय में भी होता है, जब कोई व्यक्ति योद्धा के रूप में रणक्षेत्र में पदार्पण करता है, उसे स्वयं होश नहीं होता कि वह कितना यथार्थ की सीमा के भीतर रह सकता है। ऐसा भी नहीं है कि उसका इरादा अपने शब्दों का वास्तविक अर्थ का होता है, और न ही विपक्षी उसके शब्दों को महत्त्व देता है। स्वयं अपने को लड़ाई के लिये उकसाने के लिए वह कुछ ऊटपटांग शब्दों का प्रयोग करता है। यह दावा करने के लिये कि उनके पास भारी विध्वंस के यंत्र हैं, वे सर्वशक्तिमान है और शत्रु के छक्के छुड़ा सकते हैं। हनुमान के कोई शत्रु तो नहीं था, अपितु कुछ आलोचक अवश्य थे। अतएव, उन्होंने भी कुछ बातें बढ़ा चढ़ा कर कीं। अब सीता के लिये यह कहने की गुंजायश नहीं थी कि वे केवल एक साधारण वानर थे। वे जान गईं कि वे कितने शक्तिशाली थे। अब उन्हें हनुमान की वास्तविक शक्ति का ज्ञान हो गया। फिर भी उन्होंने उनका (हनुमान) अनुरोध टालने के लिए दूसरा तर्क प्रस्तुत किया, क्योंकि अधिकांश स्त्रियों के समान, वे बड़ी चतुर थीं। वे कहने लगी, "मुझे हर कर ले जायी जाती हुई देखकर दुरात्मा रावण की आज्ञानुकूल ये राक्षस तुम्हारा पीछा करेंगे। पानी के ऊपर ही तुम्हें संघर्ष करना पड़ेगा। यह एक बड़ी नाज़ुक परिस्थिति होगी। तुम भी राक्षसों द्वारा पराजित किए जा सकते हो। किसी भी युद्ध का परिणाम अनिश्चत होता है (बड़े आश्चर्य की बात है कि एक स्त्री व्यापक रूप से युद्ध के सम्बन्ध में एक सामान्यानुमान पर पहुँच सकती है)। यदि यह मान भी लिया जाये कि तुम मुझे लिए हुए, बड़ी चतुराई से बच निकल सकते हो, फिर भी तुम्हारे साथ न चल सकने का कारण एक और भी है। पति भक्ति की दृष्टि रख कर यह उचित न होगा कि जानबूझ कर स्वेच्छा से अर्थात् अपने संकल्प से मैं अपने पति के अतिरिक्त किसी दूसरे पुरुष का स्पर्श करूँ। मुझ से ऐसा नहीं हो सकता। तुम पूछ सकते हो, 'क्या रावण ने आपके शरीर का स्पर्श नहीं किया था?' हाँ, उसने किया था, परन्तु उस समय मैं असमर्थ और बेबस थी, क्या करती? और उसने ज़बरदस्ती मुझे स्पर्श किया। अब तुम कहते हो कि स्वेच्छा से मैं तुम्हारी पीठ पर सवार हो जाऊँ? इन दोनों परिस्थितियों में बहुत अन्तर है। क्या यह मेरे पति के लिए उचित

होगा कि रावण द्वारा मुझे गँवाकर, वे पसंद करेंगे कि मैं चोरी चोरी उनके पास पहुँचा दी जाऊँ? उन को स्वयं यहाँ आकर राक्षसों सहित, सपरिवार रावण को नष्ट करके लोक को दिखा देना चाहिए कि कोई भी व्यक्ति राम की महानता अथवा गौरव को अपमानित करने की घृष्टता करके अदंडित नहीं रह सकता। तत्पश्चात् ही मेरे उद्धार की बात होनी चाहिए। तुम तो मुझे केवल उसी प्रकार ले जाना चाहते हो, जिस प्रकार रावण मुझे यहाँ लाया था। यही उनके गौरव के अनुरूप होगा कि वे यहाँ आयें, अपने शत्रुओं का, विशेषकर रावण का नाश करके, विजयी बनकर मुझे वापस घर ले जाये।" हनुमान भली भाँति समझ गए कि ये बातें पहले उनकी बुद्धि में नहीं आई थी। सीता के ऐसे वचन सुनकर, उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और वे बोले, "आपके ये वचन राम की पत्नी के अनूरूप हैं। आपका कहना बिल्कुल युक्ति युक्त है। आपकी यह बात नारी स्वभाव तथा पतिव्रता की विनय शीलता के अनुरूप है। मैं आपकी सराहना करता हूँ और पूर्णतया सहमत भी हूँ। यह ठीक बात है कि आपके मन में ऐसी आशंका है कि कहीं शत्रु के राक्षस मुझ पर टूट न पड़ें। वह वास्तव में निराधार नहीं है। क्या संसार में कोई ऐसी अन्य नारी है, जो संकट की चरम सीमा पर पहुँचाई जाने पर भी कहेगी, 'मैं तुम्हारे साथ नहीं जा सकती। मैं प्रतीक्षा करूँगी एक उचित, चाहे विलम्बित ही, परन्तु सम्मानपूर्वक मुक्ति की।' आपने सब कुछ इस ढंग से कहा कि जिसको सुनकर राम को हर्ष होगा और वे आप पर गर्व महसूस करेंगे। विश्वास रखिए, मैं पूरा-पूरा विवरण राम को दूँगा, जो कुछ भी आपने कहा है, मैं अक्षरशः उन को सुनाऊँगा। यद्यपि मेरी ऐसी कोई ऐसी इच्छा नहीं कि आपकी भावनाओं को कुछ ठेस पहुँचाऊँ या आप जैसी यशस्विनी महिला के शरीर का स्पर्श करूँ, देवि! मैंने जो आपको अपने साथ ले जाने का आग्रह किया था, उसके अनेक कारण हैं। एक तो मैं श्री राम का शीघ्र ही कुछ प्रिय कार्य करना चाहता था। अतः बड़े स्नेहपूर्ण हृदय से मैंने यह बात कही थी। दूसरा कारण यह है कि लंका महाद्वीप में विशाल जल राशि द्वारा मुख्य भूमि से वियुक्त है और बड़ी सुहढ़ता से सुरक्षित दुर्ग है। विश्वास रखिए, इसकी घेराबन्दी करना अत्यन्त दुष्कर कार्य हैं। इन सब कारणों से लंका में प्रवेश करना अत्यन्त कठिन है। मुझे अपनी शक्ति का अनुमान है, इसलिये मैंने ऐसा प्रस्ताव किया था। आप कदापि न सोचें कि मेरा अभिप्राय कुछ और था। यदि आप इस प्रकार ले जाया जाना पसन्द नहीं करतीं, तो कृपया अपनी कोई निशानी दे दें, जिसको प्रमाण स्वरूप आपके पति को दिखाकर उन्हें विश्वास दिला सकूँ कि मैंने आपके दर्शन कर लिये हैं और आपके साथ वार्तालाप भी किया है।" यह एक अन्य प्रसंग था, जिसमें हनुमान अपनी बात मनवा लेने में असफल रहे। परन्तु अन्त में उन्हें प्रसन्नता ही हुई कि वे असफल रहे, क्योंकि सीता नें उन्हें स्वीकार करा दिया कि वही उचित मार्ग था।

अब हम 'रामायण' के अन्तिम भाग पर आते हैं। रावण के वध के उपरान्त, जब विभीषण का राज्याभिषेक भी हो चुका था और सब औपचारिक कार्य भी सम्पन्न हो

चुके थे, तब भारी विजयोल्लास से श्री राम ने हनुमान द्वारा सीता के पास सन्देश भेजा कि वे अब बन्दिनी नहीं रहीं। लंका के राज्यपद पर अब विभीषण का राज्याभिषेक हो चुका है। अतएव, अब वे एक स्वतन्त्र महिला हैं। यह समाचार लेकर अति हर्षोल्लसित हनुमान फूले नहीं समा रहे थे। वे इतने अधिक आनन्दित होकर यह समाचार सुनाते हैं कि सीता भी, जो उनकी बोली से अनभ्यस्त नहीं थीं, कुछ विस्मित रह जाती हैं। वे स्वगत कहती हैं, "यह हनुमान बहुत बातूनी है।" इस समाचार को पाकर जिसकी आशा से वे जीवित थीं, आनन्द विभोर होकर हनुमान से वे कहती हैं, "वीरवर! तुम्हारी वाणी उत्तम लक्षणों से सम्पन्न, माधुर्य गुण से विभूषित, बुद्धि के अष्ट अंगों से अलंकृत है। जितने भी लोगों को मैं जानती हूँ, उनमें से ऐसी वाणी केवल आप ही बोल सकते हैं।" कितना सुन्दर उपहार था यह, जो उन्हें सीता से प्राप्त हुआ! कोई भी क्या कुछ देने के लिए तैयार नहीं होता, सीता से ऐसी प्रशस्ति पाने के लिए? हमें हनुमान से ईर्ष्या नहीं होनी चाहिए। जैसे महान बेकन (Bacon) कहते हैं,* ईर्ष्या एक ऐसी भावना है, जो हम हृदय में संजोए रखते हैं, केवल उन्हीं के प्रति, जो कि न्यूनाधिक हमारे ही समान होते हैं। क्या कोई साधारण व्यक्ति इंग्लैंड के सम्राट् अथवा अमरीका के राष्ट्रपति रूज़वैल्ट से ईर्ष्या कर सकता है? इतना बड़ा, इतना महान यह उपहार पाकर कि जिसके सदृश कभी किसी के लिए घोषित नहीं किया गया, हनुमान का हृदय गर्व और आह्लाद से ओत प्रोत हो गया। उन्होंने सीता की भारी कृतज्ञता अनुभव की। परन्तु, प्रतिदान के रूप में हनुमान क्या पेश करते हैं? शायद आप में से कुछ लोग कहें, यहाँ कुछ भूल-चूक हुई है। तदनन्तर सीता के सामने खड़े हुए हनुमान उनसे बोले, "ये भयंकर रूप और उसी के अनुरूप आचरण करने वाली, अत्यन्त क्रूर दृष्टि वाली विकरालमुखी राक्षसियाँ, जो आपको इतने दिनों से बार बार कठोर वचनों से डाँटती फटकारती और डराती धमकाती रही हैं, अब इनके लिये आपका क्या सुझाव है? मैं इनकी करतूतों का मज़ा चखाऊँगा। मैं तरह-तरह से आघातों द्वारा इन सब का वध करना चाहता हूँ, इसके लिए केवल आज्ञा दे दीजिए। जो प्रशस्ति आपके द्वारा मुझे प्राप्त हुई है, उसके बदले में मैं यह वरदान चाहता हूँ।" मेरी दृष्टि में हनुमान अपने स्तर से बहुत नीचे गिर गए, अपने मर्यादा के मानदंड से बहुत नीचे गिर गए, जब उन्होंने राक्षससियों के प्रति न केवल शारीरिक बल, अपितु अपने दाँत और नखों का भी प्रयोग करने की पेशकश की। जब उनकी दृष्टि अपनी आदर्श महिला की उत्पीड़िकाओं पर पड़ी, उन्हें भारी रोष हुआ और उनका ख़ून खौल उठा, यहाँ तक कि उनकी निकृष्टतम भावनाएँ भड़क उठीं। मुझे तो कुछ ऐसा लगता है कि हनुमान ने ऐसे कठोर शब्दों का प्रयोग किया, जो उनके लिये अयोग्य थे और ऐसे अनुचित वाक्य बोले, जिससे सीता द्वारा दिए गए उत्तर में उनका करुणामय स्वभाव जाग्रत हो सके।

* "Envy is ever joined with the comparing of a man's self; and where there is no comparison, no Envy; and therefore kings are not envied but by kings." Bacon: 'Of Envy.'

सीता का उत्तर इस महाकाव्य के अत्यन्त उत्कृष्ट अंशों में से है।* क्षमादान, सहिष्णुता अथवा लोक हितैषिता के पक्ष में कोई भी तर्क उस ऊँचाई तक नहीं पहुँच सकता, जैसी कि सीता द्वारा बोले गए शब्दों में प्रदर्शित होती है। सीता उनको दंडित करने की बात कदापि मानने को तैयार नहीं थी। उन्होंने सोच विचार करके कहा, "ये बेचारी राजा के आश्रय में रहने के कारण पराधीन थी, कर भी क्या सकती थी? ये तो सब कुछ अपने स्वामी की आज्ञानुसार करती थी। अतः स्वामी की आज्ञा पालन करने वाली दासियों पर क्रोध क्यों किया जाये?" क्षमादान के लिए सीता कितनी तत्पर थीं! मुझे लगता है, यह सुनकर हनुमान के मन में औचित्य की भावना सहसा फिर लौट आई। तुरन्त ही उन्होंने अपना कपित्व त्याग दिया। इन शब्दों ने ठीक उनकी हृदय तंत्री को झंकार दिया। उन्होंने सोचा, अब उन्हें वहाँ से भाग चलना ही उचित होगा।

इस दृश्य और इस बिन्दु से विदा लेना चाहूँगा। परन्तु इससे पहले मैं दो अन्य प्रसंगों का उल्लेख करूँगा, जो इससे मिलते-जुलते हैं और स्वभावतः जिनकी ओर यह पाठकों का ध्यान ले जाता है। सीता अपने भाग्य को कोस रही थीं और स्वयं से पूछ रही थीं कि क्या उनके छुटकारे का कोई उपाय नहीं है। त्रिजटा वहाँ उपस्थित थी, उसने उस समय सीता को अपना एक सुन्दर स्वप्न सुनाया। स्वप्न में उसने रावण, कुम्भकर्ण और उसके दुष्ट अनुचरों को कलंकित और घोर संकट में फँसे देखा। राम और लक्ष्मण को दिव्य गजराजों पर आरूढ़ अपनी प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त कर अपने यथोचित्त स्थान पर देखा। सीता को भी उनके मध्य प्रतिष्ठित देखा। त्रिजटा कहती है, "मेरा यह स्वप्न शीघ्र ही साकार होने वाला है। हे दुष्ट राक्षससियों! तुम जो अब सीता को सता रही हो, हो सकता है कि तुम्हें राम का कोपभाजन बनना पड़े, जब उन्हें पता चलेगा कि किस प्रकार तुमने सीता के साथ व्यवहार किया है। तथापि अभी समय रहते इनकी शरण में आकर इनसे अभय याचना करो, क्योंकि राम की ओर से राक्षसों के प्रति घोर भय उपस्थित हुआ है।" त्रिजटा पहले भी इस प्रकार की बातें कर चुकी थी। सीता ने यह सब कुछ सुन लिया था, हनुमान ने भी सुना था। बाद में जब हनुमान फिर आते हैं, उन राक्षसियों को दंडित करने का प्रस्ताव प्रस्तुत करते हैं, सीता उन्हें रोक देती है। हमें त्रिजटा के स्वप्न का पुराना दृश्य स्मरण हो आता है। मुझे भी कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि कवि का आशय है कि हम दोनों दृश्यों दोनों को मिलाकर देखें। सच्चरित व्यक्तियों के स्वपन प्रायः सच होते हैं, चाहे पूर्णतया न भी हों। स्वप्न बहुधा भावी घटनाओं के सूचक होते हैं। त्रिजटा के स्वप्न के सम्बन्ध में मुझे संशय नहीं कि कवि चाहता है कि हम इन दोनों घटनाओं को अपने मन में जोड़ें, जिससे हमारे अन्दर यह भावना उत्पन्न हो कि दूसरा दृश्य निस्सन्देह सीता और हनुमान द्वारा एक अनजाने में पुनरावृत्ति थी, किसी ऐसी बात की, जो कि वे किसी पहले अवसर पर सुन चुके थे, किन्तु जिसका सुस्पष्ट रेखाचित्र वे भूल चुके थे।

* इन अंशों के अनुवाद के लिये देखिए अ. 27.

एक दो बातें और भी इस सन्दर्भ में कहना चाहूँगा। इनसे हनुमान की प्रतिष्ठा में कोई कमी नहीं आनी चाहिए। उनकी महानता और उनके कारनामों के महत्त्व को साधारण मानदंडों से आंकना असम्भव है। मैं पहले भी कह चुका हूँ कि यदि कोई ऐसा कार्य होता, जिसके सम्पन्न करने के लिए विशेष शारीरिक बल की आवश्यकता होती थी और जो किसी अन्य व्यक्ति के लिये असम्भव होता, तो वह हनुमान ही सम्पन्न करते थे। हमें अभी कुछ ऐसे अत्यन्त दुष्कर कारनामों का उल्लेख करना है, जिनका श्रेय हनुमान को है। आगे चलकर मैं हनुमान को एक स्तर पर प्रस्तुत करूँगा। बड़े परदे मैंने उनके भुलक्कड़पन के प्रसंगों को एकत्रित किया, उनकी असफलताओं और अन्य कमज़ोरियों को भी और उनके महान कारनामों को भी। इन सबका उल्लेख करने के पश्चात उनके जीवन की एक सबसे महत्त्वपूर्ण बात का वर्णन करने को फिर भी बच जायेगा। वह है, कि किस प्रकार वे अपने जीवन में अनेक संवेदनशील दृश्यों से गुज़रे और इन सबमें उन्होंने गौरवमय सफलता प्राप्त की। अतएव, मैं हनुमान पर अपनी चर्चा का समापन सुन्दर कांड के कुछ उद्धरण देकर करूँगा। यह सोचकर गर्व होता है कि कवि वाल्मीकि ने हनुमान चरित्र की कल्पना एक ऐसी भव्य शैली में की है और उसका भी अभिव्यंजना भव्य शैली में ही राक्षससियों से की है। सम्भवतः कुछ लोग ऐसा कहें कि कवि ने हनुमान के चरित्र को कुछ अधिक ही बढ़ा चढ़ा कर प्रस्तुत किया है। परन्तु हमारी अभिरुचि इसकी विशालता और परिमाण में नहीं, अपितु इन मनोभावों में है, जिनके द्वारा इसका सृजन हुआ है।

उन्नीसवाँ अध्याय

हनुमान

अब हनुमान के कारनामों के विषय के में चर्चा करेंगे। ये अनेक थे और महत्त्वपूर्ण भी थे। अचरज की बात तो यह है कि इनका आरम्भ हनुमान के संसार में पदार्पण के साथ–साथ ही हुआ। वे स्वयं ही सीता से अपने सदाशय का विश्वास दिलाते समय अपनी उत्पत्ति का वर्णन करते हैं, मानो यह दिखाने के लिये कि वे क्यों सदृश दिखते हैं, जबकि उन्होंने अपने को वायु पुत्र बताया। उनका जन्म ही कुछ असाधारण था। उनके पिता केसरी नामक वानर थे, जो सुमेरु नामक पर्वत पर एक छोटे से प्रान्त के राजा थे। समुद्र तट पर एक माल्यवान नामक पहाड़ी थी। गोकर्ण तीर्थ में शम्बसादन नामक असुर तीर्थ यात्रियों को सताया करता था। देवर्षियों ने उसके वध का कार्य केसरी को सौंपा था। इसीलिये वे अल्पकाल के लिये अपने घर में अनुपस्थित रहे। उनकी अनुपस्थिति में उनकी स्त्री के गर्भ से वायु देवता द्वारा उनका जन्म हुआ। उनकी स्त्री, अंजना का जन्म किसी श्रापवश वानरी के रूप में हुआ था, परन्तु एक समय, वह अतीव सुन्दरी थी। अपने पहले अस्तित्व का स्मरण करके, उसने नारी का रूप धारण कर लिया और वह अपने पास के उद्यान में घूमने चली गई। उसका सौन्दर्य इतना सम्मोहक था कि वायु देवता भी उस पर मुग्ध हो गए और उन्होंने उसके वस्त्रों को अव्यवस्थित कर, उसका सम्पूर्ण स्पर्श कर लिया। वह अत्यन्त कुपित होकर इधर–उधर देखने लगी। तब वायु की ओर से उत्तर आया, "तुम्हें परेशान होने की कोई आवश्यकता नहीं। मैं तुम्हारा कुछ बिगाड़ूँगा नहीं, तुम्हारे पति केसरी ने देवताओं के प्रति महान उपकार किया है और उसका प्रतिफल देने लिए, मैं तुम्हें एक ऐसा बालक प्रदान कर रहा हूँ, जिसकी ख्याति तीनों लोकों में फैलेगी और जो अनेक आश्चर्यजनक कार्य करेगा।" इस प्रकार पास की गुफा में उसने एक विलक्षण बालक को जन्म दिया। एक दिन उनकी माता फल लाने के लिए वन में चली गई। उस समय उस बालक को बड़ी ज़ोर से भूख लगी हुई थी। वह भूख से अत्यन्त पीड़ित होने के कारण ज़ोर–ज़ोर से रोने लगा। इतने में ही उन्हें बाल सूर्यदेव उदित होते दिखाई दिए। हनुमान ने उन्हें भी कोई फल समझा। वह एक सुन्दर लाल फल की भाँति बच्चे को प्रतीत हुआ। वह उस फल के लोभ से सूर्य की और उछले। बालक हनुमान बाल सूर्य को पकड़ने की इच्छा से आकाश में उड़ते चले गये। आगे की कहानी 'रामायण'

में ही दो भिन्न–भिन्न प्रकार से वर्णित है। एक बार बड़े विस्तार में, दूसरी बार संक्षेप में। समुद्र के पार छलांग लगाने के लिए हनुमान को प्रेरित करने के उद्देश्य से किष्किन्धा कांड में जाम्बवान उनको उनकी उत्पत्ति की कथा सुनाते है। यह एक सुन्दर अंश है, जिसमें हनुमान को स्मरण दिलाया गया कि शैशव में ही उन्होंने क्या क्या कुछ किया था। उन्हें अपनी शक्ति और क्षमता की याद दिलाना आवश्यक था क्योंकि उस समय जब उनकी आवश्यकता थी, वे अत्यन्त उदासीन भाव से अलग–थलग अकेले बैठे हुए थे। कदाचित् वे अंगद से हुए निराशाजनक वार्तालाप के विषय में मनन कर रहे थे। अंगद ने उनकी योजना विफल कर दी थी और उन्हें मनमानें ढंग से दावा दिया था। इसीलिए हनुमान अन्य वानरों से दूर जा बैठे थे। अंगद ने एक सभा बुलाई यह पता लगाने के लिये की क्या कोई ऐसा बलवान और शूरवीर है, जो लंका तक छलांग लगा सके। एक पूरा सर्ग ही इस सभा विशेष के लिए समर्पित है। वानर, जो अपने सामर्थ्य पर बहुत गर्व करते थे, वे भंयकर कोलाहल करते हुए उस विशाल जल के विस्तार को देख कर भयभीत हो गए। एक ने कहा, वह दस योजन तक की छलांग लगा सकता है। दूसरे ने कहा, बीस, तीसरे ने कहा, तीस इत्यादि। जब जाम्बवान की बारी आई, तो अपने सामर्थ्य के अनुरूप कोई संख्या बताने के बजाय, उन्होंने एक लम्बा संस्मरण सुनाना आरम्भ किया, "एक समय था, जबकि मैं भी बलवान था और मैंने पृथ्वी की परिक्रमा इक्कीस बार की थी। परन्तु अब मैं केवल नब्बे योजन ही लांघ सकता हूँ। अंगद ने कहा वह पूरे सौ योजन तक कर सकता है, किन्तु उधर से लौटने में मेरी ऐसी ही शक्ति रहेगी, वह निश्चित रूप से नहीं कर सकता। यद्यपि जाम्बवान अपनी पहली शक्ति खो चुके थे, तथापि उनकी वाक्पटुता और व्यवहार कुशलता सुरक्षित थी। वे अंगद से बोले, "यह मान भी लिया जाय कि तुम वापस लौटने में भी समर्थ हो, फिर भी हम तुम्हें अपने से अलग काम नहीं होने देंगे। तुम्हारे बिना हम काम नहीं चला सकते। जो सबको भेजने वाला स्वामी है, वह कदापि प्रेष्य नहीं हो सकता। तुम हमारे लिए '*कलत्र*' (पत्नी) के समान रक्षणीय हो ('*कलत्र*' का व्युत्पत्तिपरक अर्थ '*संरक्षण*' है)। तुम समझते हो, तुम यहाँ अध्यक्ष हो। यह सच है, परन्तु स्वामी सेना के लिए कलत्र के समान रक्षणीय होता है। तुम हमारे रक्षक हो और अपने रक्षक की रक्षा करना हमारा परम कर्त्तव्य है। हम तुम्हें किसी प्रकार का संकट मोल नही लेने देंगे।" वानर सेना को इस प्रकार विषाद में पड़ी देखकर, जाम्बवान हनुमान के पास पहुँचते हैं, जो एकान्त में बैठे हुए थे। उनकी प्रशंसा करते हुए वे बोले, "वानर शिरोमणे! तुम्हारा बल, बुद्धि, तेज और धैर्य समस्त प्राणियों में सबसे बढ़ कर है। फिर तुम स्वयं को समुद्र लांघने के लिए क्यों नहीं तैयार करते? हमें इस समय तुम्हारी सेवा–सहायता की आवश्यकता है। तम्हें अपने सामर्थ्य के विषय में ज्ञान नहीं। मैं तुम्हारे प्रादुर्भाव की कथा सुनाता हूँ। वानरों और जाम्बवान की प्रेरणा पाकर पवन कुमार हनुमान को अपने अतुल वेग पर विश्वास हो गया और उन्होंने तत्समय अपना

विराट रूप प्रकट किया। वेगपूर्ण छलांग लगाने के लिए वे महेन्द्र पर्वत पर चढ़ गए। सुन्दर कांड के प्रथम सर्ग में हनुमान की पूरी छलांग का वर्णन है। इसको एक छलाँग की संज्ञा नहीं दी जा सकती; इसको एक उड़ान कहना अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि मार्ग में वे अनेक संकटों से गुज़रे और उन्होंने कई साहसिक कार्य भी किये। एक या दो बार उनको रोका भी गया और उन्हें छोटी–मोटी लड़ाई भी करनी पड़ी। मैं इन सबका उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझता क्योंकि में समझता हूँ, आपको उनके विषय में मालूम होगा ही। इस कारनामे में केवल उनकी छलांग ही नहीं है, अपितु वे साहसिक कार्य भी सम्मिलित हैं, जो उन्होंने लंकाद्वीप में किया। एक अध्यवसायी खोज के उपरान्त उन्होंने सीता को खोज ही लिया। उनसे वार्तालाप के बाद, जब वे वहाँ से जाने लगे, तब वे मन ही मन विचार करने लगे, "मैंने सीता के दर्शन तो कर लिए, परन्तु मैं तुरन्त लौटूँगा नहीं। अभी मेरे कार्य का थोड़ा सा अंश, शत्रु की शक्ति का पता लगाना शेष है। एक स्वामी भक्त सेवक के नाते मेरा कर्त्तव्य बनता है कि मैं अच्छी प्रकार छानबीन करके यहाँ की स्थिति का आकलन करूँ और यदि आवश्यक हो तो अपनी योजना में परिवर्तन भी करूँ। राक्षसों के साथ हठात् युद्ध में सेना और सहायकों सहित रावण का सामना करके मैं उनके हार्दिक अभिप्राय तथा सैनिक शक्ति का अनायास ही पता लगा लूँगा।" अतएव, उन्होंने रावण के समक्ष उपस्थित होने और यदि सम्भव हो सके, तो उसे धमकी देने का निश्चय किया। परन्तु, रावण से भेंट कैसे की जाये? हनुमान ने इसके निमित्त एक छोटी सी अपनी योजना बनाई। "मैं यहाँ कुछ उत्पात मचाऊँगा," इस प्रकार उन्होंने मन ही मन सोचा, "मैं इस निर्दय रावण के इस सुन्दर अशोक–वन का विध्वंस कर डालूँगा और नगर के कुछ भाग का नाश कर दूँगा, जिससे ये लोग मुझ पर आक्रमण करने के लिए किसी न किसी को भेजेंगे।" यह तो आपको विदित ही होगा कि किस प्रकार उनकी लंका के रक्षकों के साथ मुठभेड़ हुई और किस प्रकार आत्मरक्षा के लिए उन्होंने राक्षसों के विरुद्ध अनेक पराक्रम दिखाए। उन्होंने रावण के पुत्रों में से एक, अक्षय कुमार का वध किया, जो कि एक सुप्रसिद्ध योद्धा था। और यह भी मालूम होगा कि किस प्रकार इन्द्रजित द्वारा उन्हें ब्रह्मास्त्र से पकड़ लिया गया था और फिर उन्हें सुदृढ़ रस्सों से बाँध लिया गया। रस्सों से बंध जाने पर हनुमान ब्रह्मास्त्र के बन्धन से मुक्त हो गए। क्योंकि इस अस्त्र का बन्धन किसी दूसरे बन्धन के साथ नहीं रहता। हनुमान यद्यपि बन्धन से मुक्त हो गए, तथापि उन्होंने ऐसा दिखाया मानो वे इस बात को जानते ही न हों। क्रूर राक्षस उन्हें पीड़ा देते हुए खींच कर ले चले। इस प्रकार वे रावण के पास पहुँचाये गए। आरम्भ में, वे अपने आप को श्री राम का दूत बताते हैं, जो कि बड़े विनम्र भाव से रावण के लिए सुग्रीव का सन्देश लेकर आया है, "सुग्रीव ने आपका कुशल समाचार पूछा है।" परन्तु बाद में वे उद्धत स्वर में बोलने लगते हैं और बात पूरी करने से पहले वे रावण को चेतावनी देकर कहते हैं, "श्री राम का अपराध करके साक्षात् इन्द्र भी सुख नहीं पा

सकते। फिर तुम्हारे जैसे साधारण लोगों की बात ही क्या है? इस प्रकार निर्भयतापूर्वक भाषण करने वाले हनुमान की बातें रावण को अप्रिय लगीं और उन्होंने सेवकों को उनका वध करने की अज्ञा दी। इस पर विभीषण ने, हस्तक्षेप करते हुए दूत का वध करना अनुचित बताया और कोई अन्य दंड देने का सुझाव दिया। रावण ने विभीषण के अनुरोध को स्वीकार कर लिया और आज्ञा दी कि राक्षसगण इसकी पूँछ में आग लगाकर समूचे नगर में घुमायें। हनुमान ने भी सोचा ऐसा करने से मुझे समूची लंका में विचरने और उसका निरीक्षण करने का अवसर मिलेगा।" जब सीता को यह भंयकर समाचार मिला, वे मन ही मन अग्निदेव की उपासना करने लगीं, जिससे वह शान्तभाव से जलने लगे। वायु देवता भी बर्फ़ीली हवा के समान शीतल होकर बहने लगे। हनुमान एक घर में आग लगा कर दूसरे घर में कूद पड़ते। इस प्रकार केवल विभीषण का घर छोड़ कर, अन्य सब घरों में आग लगा दी। हनुमान ने जब देखा कि सारी लंकापुरी जल रही है, तब उनके मन में सीता के लिए बड़ी चिन्ता हुई, परन्तु जब चारणों के मुख से सुना कि सीता पर कोई आँच नहीं आई, उनके हृदय में हर्षोल्लास छा गया। यह उनका प्रथम पराक्रम था–समुद्र लंघन और लंका में किए गये परवर्ती कारनामे। यद्यपि कवि द्वारा पराक्रम का वर्णन एक लम्बे सर्ग में बड़ी निपुणता के साथ किया गया है और प्रायः इसे हनुमान का सुमहान पराक्रम माना जाता है, परन्तु यह उनका सब से बड़ी कारनामा नहीं हैं। बाद के अन्य कारनामे थे, जो कहीं अधिक आश्चर्यजनक थे।

अगला शौर्यपूर्ण कार्य किया गया, जब पहली बड़ी लड़ाई हुई, जिसमें रावण अपनी सेना का नेतृत्व कर रहा था। उसका प्रधान सेनापति, प्रहस्त विरोधी दल के सेनापति, नील द्वारा मारा गया था। तब रावण कहता है, "मैं इस बलशाली शत्रु के प्रति असावधानी नहीं बरत सकता।" वह सेना का संचालन करने के लिए स्वयं रणक्षेत्र में उतरता है। वह अपनी विशाल सेना को एकत्र करता है और मैदान में आता है। हनुमान से उसका सामना होता हैं। उनका एक दूसरे से कुछ परिचय तो पहले हो चुका था, परन्तु व्यक्तिगत रूप से वे एक दूसरे के बल से अनभिज्ञ थे। अतः हनुमान प्रारम्भ में ही कह देते हैं, "मैं आपको बता दूँ, वानर कदापि धनुष–बाण का प्रयोग नहीं करते।" उनके अस्त्र–शास्त्र तो केवल वृक्ष और उनकी शाखाएँ होते थे, जिनको वे सुगमता से उखाड़ कर शत्रु के विरुद्ध प्रयोग करते थे अथवा छोटी–छोटी पहाड़ियाँ और बड़े–बड़े पत्थर जिनका अचूक निशाना लगा कर वे फेंकते थे। राक्षस दोनो में कुशल थे। उनमें से कुछ धनुष–बाण का प्रयोग कर सकते थे। कुछ बलिष्ठ राक्षस भी थे, जो द्वन्द्व युद्ध में प्रभावी मुक्कों का प्रहार कर सकते थे। रावण तो दोनों में ही अत्यन्त कुशल था। हनुमान ने अपना मुक्का दिखाया। पहला वार रावण ने किया, उसने हनुमान की छाती पर ज़ोर से थप्पड़ जड़ दिया। निस्सन्देह ही रावण के थप्पड़ बड़े प्रभावी थे और उनकी चोट खाकर हनुमान लड़खड़ा गये, किन्तु थोड़ी देर में ही

अपने को सुस्थिर करके वे खड़े हो गए। फिर उन्होंने भी कुपित होकर रावण पर थप्पड़ का प्रहार किया। रावण ने प्रहार तो झेल लिया, किन्तु प्रभाव इतना ज़बरदस्त हुआ कि तदनन्तर संभलकर उसने कहा, "शाबाश वानर, शाबाश। तुम पराक्रम में मेरे लिये एक सुयोग्य प्रतिद्वन्द्वी हो।" हनुमान ने उत्तर दिया, "मुझे आपकी प्रशंसा नही चाहिए, रावण! तुम अब भी जीवित हो, इसलिए मेरे पराक्रम को धिक्कार है। अब तुम एक बार मुझ पर प्रहार करो। तुम्हारे प्रहार के पश्चात् जब मेरा मुक्का पड़ेगा, तब वह तत्काल तुम्हें यमलोक पहुँचा देगा।" हनुमान के वचन सुनकर रावण का क्रोध भड़क उठा। उस राक्षस ने बड़े यत्न से अपना दाहिना मुक्का तान कर हनुमान की छाती पर वेगपूर्वक प्रहार किया। छाती पर चोट लगने से हनुमान पुनः विचलित हो गए। हनुमान से निपट कर, अतिरथी रावण रथ के द्वारा शीघ्र ही नील पर जा चढ़ा। जब हनुमान ने पुनः सम्भल कर युद्ध की इच्छा से रावण की ओर देखा, उस समय रावण नील के साथ उलझा हुआ था। हनुमान ने उससे रोषपूर्वक कहा, "ओ निशाचर! इस समय तुम दूसरे व्यक्ति के साथ युद्ध कर रहे हो। अतः मेरे लिये तुम पर वार करना उचित न होगा। मैं तुम्हारे निवृत होने तक प्रतीक्षा करूँगा।"* रावण ने आग्नेयास्त्र बाण का सन्धान कर सेनापति नील पर मारा। वे अग्नि से जलते हुए सहसा पृथ्वी पर गिर पड़े। यद्यपि नील ने पृथ्वी पर घुटने टेक दिए, तथापि पिता अग्निदेव के महात्म्य से और तेज के प्रभाव से उनके प्राण नहीं निकले।

तत्पश्चात् रावण लक्ष्मण की ओर बढ़ा और उनके साथ तीव्र बाणों का आदान–प्रदान हुआ। जब लक्ष्मण ने रावण का धनुष काट दिया, तब उसने बाणों का प्रयोग छोड़ कर ब्रह्मशक्ति उठा ली। शक्ति के प्रयोग में दक्ष होने के कारण, रावण द्वारा वेगपूर्ण चलाई हुई शक्ति सीधी लक्ष्मण के वक्षस्थल में घुस गई। उस शक्ति से आहत होकर लक्ष्मण मृतवत् अधोमुख पृथ्वी पर गिर पड़े। तब रावण ने एक अजीब हरकत की। लक्ष्मण को मृतवत् धराशायी देखकर उसके मन में आया कि लक्ष्मण की मृत्यु को निश्चित कर लेना चाहिए। यदि वैसे ही छोड़ दिया गया, तो वह पुनः होश में आ सकता है। अतः सहसा वह उनके पास आ पहुँचा और उनको अपनी दोंनो भुजाओं से उठाने का प्रयत्न करने लगा। परन्तु अपनी पूरी शक्ति लगाने के बावजूद भी वह उनको उठाने में समर्थ न हो सका। यहाँ कवि कहता है कि ब्रह्मशक्ति से छाती पर चोट खाकर गिर जाने पर भी, लक्ष्मण ने भगवान विष्णु के अचिन्त्य अंशरूप से अपना चिन्तन किया। उनका भार गणनातीत परिमाण में बढ़ गया और रावण उनको हिलाने में भी समर्थ न हो सका, अन्यथा वह उन्हें ले जाकर समुद्र में फेंक देता। रावण संभ्रान्त खड़ा रह गया। इसी समय अत्यन्त क्रोध में भरे हुए, हनुमान ने परिस्थिति का अंदाज़ा लगाया। वे रावण की ओर दौड़े और अपने वज्र जैसे मुक्के से रावण की छाती पर प्रहार किया। उस मुक्के के मार से रावण ने धरती पर घुटने टेक दिए। उसके दसों

* देखिए अ.11, पृ.163.

मुखों, नेत्रों और कानों से रक्त बहने लगा और वह चक्कर काटता हुआ, रथ के पिछले भाग में निश्चेष्ट होकर बैठ गया, तड़पता और छटपटाता रहा। तत्पश्चात् आहत लक्ष्मण को हनुमान दोनों हाथों से उठा कर श्री राम के निकट ले आये। यह जानकर कि अब जो आये हैं, वे उनके मित्र हनुमान थे, जो उनके प्रति समर्पित थे, लक्ष्मण हलके हो गए। उन्होंने पुनः अपने मूल स्वरूप विष्णु अंश का स्मरण किया और अपना अतिरिक्त भार त्याग दिया, जिससे हनुमान उन्हें सुरक्षित स्थान पर ले जा सकें। पराजित हुए लक्ष्मण को छोड़कर, शक्ति पुनः रावण के रथ पर लौट आई। लक्ष्मण भगवान् विष्णु के अचिन्तनीय अंश रूप से चिन्तन करके स्वस्थ और निरोग हो गए। वानरों की विशाल वाहिनी ने बड़े–बड़े वीर मार गिराए। यह देखकर रावण ने राम पर धावा किया। दोनों ओर से शरवर्षा देखकर देवतागण भी आश्चर्यचकित हो गए। तत्समय हनुमान ने श्री राम के पास आकर कहा, "प्रभो! जैसे भगवान विष्णु गरुढ़ पर चढ़कर दैत्यों पर प्रहार करते हैं, उसी प्रकार आप मेरी पीठ पर चढ़कर इस राक्षस को दंड दें।" मैं आपको वहन कर सकता हूँ।" यह बात सुनकर राम हनुमान की पीठ पर चढ़ गए और रावण पर आक्रमण करने लगे। रावण राम से इतना कुपित नहीं था, जितना हनुमान से। उसे पहले वैर का ध्यान आया* और उसने राम से पहले हनुमान के बाणों द्वारा अत्यन्त घायल कर दिया। जब उनके पूरे शरीर पर बाणों की बौछार हुई और वे उनके शरीर में घुस गये। तब हनुमान के, जो सामान्यतः सबको एक महान और विशिष्ट हस्ती लगते थे, तेज की दीप्ति और भी बढ़ गई रावण ने भी अनेक कौतुक दिखाए, परन्तु अन्त में राम उससे बाज़ी ले गए। उन्होंने एक अर्ध चन्द्राकार बाण हाथ में लिया और उसके द्वारा राक्षसराज का सूर्य के समान देदीप्यमान मुकुट सहसा काट डाला। रावण अत्यन्त अपमानित हुआ और भरसक प्रयासों के बावजूद उस दिन के युद्ध में उसकी हार हुई। जब वह असहाय मुकुटहीन निरस्त्रीकृत अवस्था में खड़ा था, राम ने मन ही मन सोचा, "मैं इस स्थिति का अनुचित लाभ नहीं उठाऊँगा, ऐसा करना क्षात्रधर्म के विरुद्ध होगा।" अब उन्होंने राक्षसराज से कहा, "मैं जानता हूँ, तुम युद्ध से पीड़ित हो। लंका में प्रवेश कर विश्राम करो और कल तरोताज़ा होकर आना, रथ, धनुषबाण सहित निकलना और फिर मेरा बल देखना।" राम के ऐसा कहने पर रावण अवसर का लाभ उठाकर सहसा लंका में गया। आप देखते हैं कि इस दिन की लड़ाई में स्वयं राम के बाद, उस दिन का श्रेय हनुमान को पहुँचता है। इसीलिये, हमने इस बड़े संघर्ष में रुचि ली है।

अगला पराक्रम, जिसका उल्लेख मैं इस घोर संघर्ष में करना चाहूँगा, उस समय का है, जब इन्द्रजित ने राम सहित पूरी सेना को ब्रह्मास्त्र का निशाना बनाया था। दोनों भाइयों को आघात पहुँचा और वे सब वानरों को चोट पहुँची अधोमुख धराशायी हो गए। इन्द्रजित ने सोचा कि उसने समग्र सेना का सफ़ाया कर दिया, जो

* जब राम ने अपने बाणों द्वारा जनस्थाननिवासी चौदह हज़ार राक्षसों का संहार कर डाला था।

समुद्र पार से आई थी और अपनी सफलता की सूचना अपने पिता को देने चला गया। रात हो चली थी और घोर अन्धकार सर्वत्र फैल चुका था। कुछ वानर निर्जीव हो गए और कुछ अन्तिम घड़ियाँ गिन रहे थे। इनमें से दो जो जागरूक थे, वे थे– हनुमान और विभीषण। हनुमान पर प्रभाव थोड़ी देर रहा और विभीषण पर तो वार हुआ ही नहीं था। जब ये दोनों मिले तो हनुमान ने कहा, "मेरे हाथ में मशाल है। हम दोनों रणभूमि में घूम कर और घायलों को सान्त्वना देकर यथासम्भव सहायता दें।" जब वे इस दुःखद कठिन कार्य में संलग्न थे, संयोगवश जाम्बवान भी मिल गए, जो बड़े कष्ट में थे। ऋक्षराज जाम्बवान बड़ी दयनीय आवाज़ में बोले, "क्या विभीषण आये हैं? स्वर से पहचान रहा हूँ। मेरे सभी अंग तीव्र बाणों से बिंधे हुए हैं। यह बताओ, रणक्षेत्र मे घूमते हुए क्या तुम्हें हनुमान दिखाई दिए कहीं?" तब हनुमान और पास आ गये। परन्तु विभीषण उनके प्रश्न का उत्तर न देते हुए बोले, "आज, जब इस भयानक दिन सभी आहत हुए हैं, आपने राम और लक्ष्मण के बारे में तो पूछा नहीं। आप मुझसे केवल हनुमान को पूछ रहे हैं? आप न तो राजा सुग्रीव और न ही अंगद पर वैसा स्नेह दिखा रहे हैं, जैसा हनुमान पर।" विभीषण की बात सुनकर जाम्बवान ने कहा, "सुनो! इस समय मेरा एक विशेष प्रयोजन है। यदि हनुमान जीवित हैं, तो सम्पूर्ण सेना जीवित हो जायेगी और यदि उनके प्राण निकल चुके हैं, तो हम सब जीते हुए भी मृतक के समान हैं। उनके बिना हम सर्वथा निकम्मे हैं। यदि हनुमान जीवित हैं, तो मृततुल्य होने पर भी हम पुनः जीवित हो सकते हैं। "हनुमान की बड़ी विशेषता यह है कि वे अपने पिता वायु के समान ही शक्तिशाली हैं। यदि वे जीवित हैं, तो हमारी आशा भी जीवित है।" अपने पुराने मित्र से ऐसी भारी प्रशंसा सुनकर हनुमान ने स्वयं को प्रकट कर दिया और बड़े विनीत भाव से उन्हें प्रणाम किया। उन्होंने कहा, यह तो उनकी महानता है कि उन्होंने इस प्रकार मेरी प्रशंसा की। हनुमान की बात सुनकर जाम्बवान, जिनकी सारी इन्द्रियाँ बाणों के प्रहार से पीड़ित थीं, बोले, "अब मेरा पुनर्जन्म हो गया। अब हम सब तुम पर ही निर्भर हैं। तुम ही इन सबके परम सहायक हो। यह समय तो तुम्हारा पराक्रम का है– अपनी पूरी कुशलता और पूरी शक्ति के प्रदर्शन करने का। मैं किसी अन्य को इस योग्य नहीं देखता कि वह हमारी सहायता कर सके। तुम इस रीछ और वानर सेना को हर्ष प्रदान करो और इन दोनों भाइयों को बाणों से मुक्त करो, जो इनका दम घोट रहे हैं।" फिर वे चार अद्भुत शक्तिशाली जड़ी–बूटियों के विषय में बताते हैं और उनको लाने का आग्रह करते हैं। ये औषधियाँ हिमालय के दो बहुत ऊँचे पर्वतों–ऋषभ तथा कैलाश के बीच में स्थित पर्वत पर मिलती हैं। वे हैं 'संजीविनी बूटी,' जो मृत को भी पुनरुजीवित कर देती हैं। दूसरी है, 'विशल्यकरणी,' जो शरजनित घावों को भर देती है। तीसरी है, 'सवर्णकरणी,' जो मृत्यु के समीप विवर्ण शरीर का वर्ण लौटा देती है और अन्य है, 'संधानकर्णी,' जो शरीर के वियुक्त भागों को जोड़ देती है। वह शत्योजन छलांग, जो हनुमान ने पहले लगाई थी, इसकी तुलना में

कुछ भी नहीं है। जाम्बवान की यह बात सुनकर हनुमान को अपनी पूरी शक्ति का बोध हुआ और वे असीम बल से भर गए। अपना पूरा बल लगा कर उछल कर वे प्रचंड वेग से आकाश में उड़ गये। जो छलांग उन्होंने अब लगाई, वह पहली छलांग से कहीं अधिक बड़ी थी, जिसकी कवि ने भूरि प्रशंसा की थी। कवि वर्णन करता है कि दिव्यलोक निवासियों ने भी इस अद्भुत प्रदर्शन का अवलोकन किया। हनुमान ने वहाँ पहुँचकर कैलाश पर्वत और ऋषभ पर्वत को देखा। तत्पश्चात् उनकी दृष्टि सब औषधियों पर पड़ी। वे कूद कर गिरिराज पर चढ़ गए और चारों ओर औषधियों की खोज करने लगे। उस उत्तम पर्वत पर विद्यमान महौषधियाँ अवबोध सम्पन्न थीं। वे जान गईं कि उन्हें कोई लेने की इच्छा से आया है। उन्होंने स्वयं से कहा, "हम छिप जायें," और वे तत्काल अदृश्य हो गईं। जब हनुमान ने देखा कि औषधियाँ कहीं दिखाई नहीं दे रही हैं, तो उनके लिए पूरे पर्वत को ले जाने के अतिरिक्त अन्य विकल्प नहीं था। उखाड़ कर, हनुमान ने बड़े भयंकर वेग से आकाश में उड़ चले। वे छलांग लगाकर त्रिकूट पर्वत पर कूद पड़े और वानर सेना के मध्य में आ उतरे। जब उन्होंने महौषधियों को लाकर रणभूमि में रखा दिया, वायु ने उनकी सुगन्ध चारों ओर फैला दी और जैसे–जैसे वह सुगन्ध हताहत, हुए वानरों की नाक में पहुँची, वे धीरे–धीरे होश में आने लगे और उठ बैठे। दोनों राजकुमार भी सुगन्ध लेकर एक बार पुनः सम्पूर्ण क्षेत्र अनुप्राणित और सजीव हो गया। तब वानरों ने भयंकर कोलाहल मचाया और वे लंका के भीतर घुस गए और भारी हल्लागुला करते हुए चारों ओर विध्वंस किया।

यहाँ एक बात उल्लेखनीय है, जो कि बहुत छोटी सी है, परन्तु बड़ी अर्थपूर्ण। यह सब कुछ रणक्षेत्र में ही घटित हुआ, जहाँ राक्षस और वानर परस्पर भिड़े थे। महौषधियाँ के लिये राक्षस और वानरों में कोई भेदभाव नहीं था और उनका प्रभाव दोनों पक्षों पर समान रूप से पड़ सकता था। युद्ध में काम आये राक्षसों की संख्या हज़ारों लाखों में रही होगी, परन्तु वे दिखायी नहीं दे रहे थे। कवि कहता है, "देवता जिन्हें नष्ट करना चाहते हैं, उनकी मति पहले से ही हर लेते हैं।" लंका में जबसे युद्ध आरम्भ हुआ, तभी से वानरों द्वारा जो जो राक्षस मारे जाते, वे सब रावण की आज्ञानुसार प्रतिदिन मरते ही समुद्र में फेंक दिए जाते थे। यह इसलिए किया जाता था कि यदि वे रणभूमि पर रहेंगे, तो शत्रु उनकी गणना करके जान सकेगा कि कितने राक्षस जीवित शेष थे। इस कारण सब हताहत राक्षस स्वस्थकरणी महौषधियों की सुगन्ध से वञ्चित रहे। यह जानते हुए कि प्रकृति में कोई विस्थापन नहीं करना चाहिए, हनुमान ने पुनः उस पर्वत को हिमालय पर ही पहुँचा दिया, और इस प्रकार, जैसे उसको अस्तव्यस्त किया ही गया न हो। दूसरे अवसर* पर भी हनुमान ने ऐसा ही किया होगा, यद्यपि कवि पर्वत के पुनः स्थापन का उल्लेख करना भूल गया है। पर्वत शिखर को हिमालय तक वापस ले जाने और लौट कर राम के पास पहुँचने पर केवल

* देखिए अ.18, पृ.288.

चौथाई–चौथाई श्लोक हैं। मैं समझता हूँ कि कवि का उद्देश्य यह दिखाना है कि इस अवसर पर हनुमान ने यह कार्य कितनी तत्परता से और शीघ्रतापूर्वक किया।

अब मैं एक अन्य पराक्रम का उल्लेख करता हूँ, जो कुछ भिन्न प्रकार का है। हनुमान ने रणक्षेत्र में भी अपनी शक्ति के असाधारण कौतुक दिखाये। जिसका उल्लेख हम पहले एक कर चुके हैं– वह था रावण के पुत्र, अक्ष का वध। इस महत्त्वपूर्ण अवसर पर उन्होंने कई जाने–माने राक्षसों का वध किया, जो अत्यन्त शक्तिशाली थे। सबसे अधिक महल के राक्षसों में से, जिनका उन्होंने वध किया, तीन नाम उल्लेखनीय हैं– देवान्तक, त्रिशिरस और निकुम्भ। निकुम्भ सबसे महत्तम था। एक बड़ी रोचक बात यह है कि जब कभी कवि प्रत्येक राजा के मुख्य मंत्रियों की गणना करता है। चार ही प्रमुख होते है। बालि, सुग्रीव और रावण– प्रत्येक के चार–चार मंत्री थे। बालि के मंत्रियों के नाम कवि ने नहीं दिए। रावण की सूची में सबसे ऊपर थे– दुर्धर, प्रहस्त, महापार्श्व और निकुम्भ। निकुम्भ सबसे अधिक विश्वस्त पात्र था, जिसकी बुद्धिमानी पर रावण अधिक भरोसा करता था। रावण ने जब प्रहस्त से कहा, "मेरे कितने ही योग्य सेनापति इस युद्ध की भेंट हो गए हैं। यह वानर सेना अत्यन्त भयंकर प्रतीत होती है। इनके द्वारा हमारे बहुत से श्रेष्ठ योद्धाओं को जीवन से हाथ धोना पड़ा है। तुम मेरे सर्वश्रेष्ठ योद्धाओं में से एक हो। मुझे आशा है, तुम्हें औरों से अच्छी सफलता मिलेगी। नगर के अत्यन्त निकट वानर सेना छावनी डाले हुए हैं। तुम्हारे अतिरिक्त केवल चार और हैं, जिनमें मुझे कुछ विश्वास है– स्वयं मैं, कुम्भकर्ण, इन्द्रजीत और निकुम्भ। मैं नहीं जानता कि इस नगर की रक्षा किस प्रकार सम्भव है, यदि तुम्हारे अतिरिक्त इस लड़ाई के लिये किसी और को भेजा जाये।" इस प्रकार वह प्रहस्त को उसके अनिष्ट की और अग्रसर करता है।

अब हम युद्ध के उस मोड़ पर आ पहुँचे हैं, जब कुम्भकर्ण के दो पुत्रों, कुम्भ और निकुम्भ का रणक्षेत्र में प्रवेश हुआ। कुम्भ सुग्रीव द्वारा मारा गया था। वह अत्यन्त कुपित और वानरों को सबक़ सिखाने का संकल्प लिये रणक्षेत्र में पहुँचता है और उसका सामना हमारे नायक (हनुमान) से होता है। उस दिन के निकुम्भ हनुमान जैसा ही था। क्योंकि हनुमान तीर–कमान का प्रयोग नहीं कर सकते थे, निकुम्भ ने कहा, "मैं हनुमान से हाथों द्वारा ही लड़ूँगा।" मेरे मन में भी यह विचार आया है कि कवि द्वारा इन युद्धों के वर्णन के एक नमूने के रूप में इस पूरे सर्ग का अनुवाद दूँ, जिसमें निकुम्भ और हनुमान के पारस्परिक युद्ध का विवरण है।

हनुमान द्वारा निकुम्भ का वध : (VI.77)

सुग्रीव द्वारा मारे गए अपने भाई, कुम्भ को निकुम्भ ने पृथ्वी पर गिरा देखा। उसने सुग्रीव की ओर इस प्रकार देखा मानो उन्हें अपने क्रोध से भस्मसात कर देगा। उस धीर–वीर ने मन्दार पर्वत के शिखर जैसा एक सुन्दर विशाल गदा हाथ में ली, जो

फूलों की लड़ियों से अलंकृत थी और जिसमें पाँच–पाँच अंगुल चौड़े लोहे के पत्र जड़े हुए थे। उस गदा में सोने के पत्र भी जड़े थे और उसे हीरों और मूंगों से भी विभूषित किया गया था। यह गदा यमदंड के समान भयंकर तथा राक्षसों के भय को नष्ट करने वाली थी। उस इन्द्रध्वज के समान तेजस्वी गदा को घुमाता हुआ, वह महतेजस्वी पराक्रमी राक्षस निकुम्भ मुँह फैला कर ज़ोर–ज़ोर से गर्जना करने लगा। उसके वक्षस्थल में सोने का पदक था, भुजाओं में बाज़ूबंद सुशोभित थे, कानों में विचित्र कुंडल जगमगा रहे थे, गले में विचित्र माला भलमला रही थी। इन सब आभूषणों से युक्त होकर गदा को धारण करके निकुम्भ वैसा ही शोभायमान था, जैसे विद्युत और गर्जना से युक्त मेघ इन्द्र–धनुष से सुशोभित होता है। जब उस महाकाय राक्षस ने गदा को घुमाना शुरू किया, तो उससे टकराकर प्रवह–आवह आदि सात महावायुओं की सन्धि टूट–फूट गई तथा वह भारी गड़गड़ाहट के साथ धूमरहित अग्नि की भाँति प्रज्ज्वलित हो उठी। निकुम्भ के गदा घुमाने से विटपावती नगरी (अलकापुरी) गन्धर्वों के उत्तम भवन, तारे, नक्षत्र, चन्द्रमा तथा बड़े–बड़े ग्रहों के साथ समस्त आकाश मंडल घूमता–सा प्रतीत होने लगा। वास्तव में उसके क्रोधावेश से परिधि के हीरे अत्यधिक प्रज्ज्वलित हो उठे और गर्जन करती प्रचंड प्रलयकाल की अग्नि के समान उसके वेग से समस्त हृदय आक्रान्तित हो उठे। उस समय राक्षस और वानर भय के मारे हिलडुल भी न सके। केवल महाबली हनुमान ही अपनी छाती खोलकर उसके सामने खड़े हो गए। निकुम्भ की भुजाएँ गदा के समान थी। उस महाबली राक्षस ने उस सूर्य तुल्य तेजस्वी गदा को बलवान वीर हनुमान की छाती पर दे मारा। हनुमान की छाती बड़ी सुदृढ़ और विशाल थी। उससे टकराते ही उस गदा के सहसा सैकड़ों टुकड़े होकर बिखर गए मानो आकाश से सौ–सौ उल्काएँ एक साथ गिरी हों। महाकवि हनुमान गदा से आहत होने पर उस प्रहार से विचलित नहीं हुए, जैसे भूकम्प होने पर भी पर्वत नहीं गिरता है। अत्यन्त महान बलशाली वानर शिरोमणि हनुमान ने इस प्रकार गदा की मार खाकर अपनी मुट्ठी बाँधी। वे महान तेजस्वी पराक्रमी, वेगवान और वायु के समान बल–विक्रम से सम्पन्न थे। उन्होंने मुक्का तान कर बड़े तीव्र वेग से निकुम्भ की छाती पर मारा। उस मुक्के की चोट ने निकुम्भ की विशाल काया को झंझोड़ दिया और उसकी छाती से रक्त की धारा बहने लगी। मानो मेघ में बिजली चमक रही हो। उस प्रहार से निकुम्भ विचलित हो उठा, फिर थोड़ी देर में सम्भल कर उसने महाबली हनुमान को पकड़ लिया। उस समय युद्धस्थल में निकुम्भ द्वारा महाबली हनुमान को उठाया देखकर, लंकानिवासी राक्षस भयानक स्वर में विजय गर्जना सूचक करने लगे। परन्तु उनकी यह प्रसन्नता कुछ ही क्षणों तक टिकी रही। उस राक्षस द्वारा इस प्रकार अपहृत होने पर भी हनुमान ने अपने वज्रतुल्य मुक्के से उस पर प्रहार किया। फिर वे उसके चंगुल से अपने को छुड़ा कर पृथ्वी पर खड़े हो गए। तदनन्तर हनुमान ने भी तुरन्त निकुम्भ को पृथ्वी पर दे मारा। इसके बाद उन

वेगशाली वीर ने बड़े प्रयास से निकुम्भ को पृथ्वी पर गिराया और ख़ूब रगड़ा। फिर वेग से उछल कर वे उसकी छाती पर चढ़ बैठे। दोनों हाथों से उसकी गर्दन मरोड़ कर उन्होंने उसके मस्तक को उखाड़ लिया। गर्दन मरोड़ते समय वह राक्षस भयंकर आर्तनाद कर रहा था। रणभूमि में हनुमान द्वारा निकुम्भ के मारे जाने पर, सभी वानर बड़े हर्ष के साथ गर्जना करने लगे। सम्पूर्ण दिशाएँ कोलाहाल से भर गईं। पृथ्वी चलायमान–सी प्रतीत हुई, आकाश मानो फट गया हो तथा राक्षस सेना में भय समा गया।

अन्तिम पराक्रम जिसका मैं उल्लेख करूँगा, वह है हिमालय पर्वत की दूसरी उड़ान। इसका उल्लेख मैं पहले ही कर चुका हूँ।* यह वह अवसर था, जब लक्ष्मण रावण की शक्ति के प्रभाव से मूर्च्छित पड़े थे। महौषधियों द्वारा उन्हें राहत पहुँचाना बहुत आवश्यक था। चिकित्सक, वानर सुषेण ने हनुमान से अनुरोध किया कि वे अपने पूर्व प्रदर्शित पराक्रम को एक बार पुनः दोहराने की कृपा करें। इस अवसर का वर्णन दक्षिणी संस्करण में तो नहीं मिलता, परन्तु इतालवी संस्करण, जिसमें पूर्वी पाठ दिया गया है, एक रोमांचक विवरण है, किस प्रकार हनुमान को मार्ग में विघ्नबाधाओं का सामना करना पड़ा। यह पता चलने पर कि हनुमान महौषधियों की खोज में रवाना हो चुके हैं और संजीवनी बूटी ला सकते हैं, रावण ने कालनेमी नामक असुर को हनुमान को मार्ग में रोकने का आदेश दिया। यह एक साहसिक कारनामा है और इससे हनुमान को काफ़ी विलम्ब गया। मारीच के समान कालनेमी भी अनेक रूप धारण करने में प्रवीण था। वह एक साधु का रूप धारण कर हनुमान से आतिथ्य का अनुरोध करता है। कुछ समय के लिए तो सीधे–सीधे हनुमान उससे झाँसे में आ जाते हैं। किन्तु, सहसा उन्हें अहसास होता है कि वह केवल षड्यन्त्र था, जो उनको महत्त्वपूर्ण कार्य से रोकने के लिए रचा गया था। वे कालनेमी का वध कर देते हैं और सफलतापूर्वक औषधी ले आते हैं। सुषेण ने उन जड़ी बूटियों से सम्बन्धित ठीक–ठीक जानकारी दे दी थी। किस प्रकार वे चमचमाती हुई द्युतिमान बूटियाँ तुरन्त उनकी आँखों को आकर्षित कर लेंगी। किन्तु इस संस्करण में ऐसा दिया गया है कि कालनेमी के साथ युद्ध और उसके साथ लम्बे भाषण से उत्तेजित हो जाने के कारण, वे जड़ी–बूटियों का सटीक वर्णन भूल गए।** पर्वत सहित लौटने पर वे सुषेण से खेद प्रकट करते हैं और क्षमा माँगते हैं। महौषधियों को पीस कर सुषेण लक्ष्मण को लगाते हैं, जिससे वे पुनर्जीवित हो जाते हैं।

अब तक की सूची में मैं एक–दो बात और कहना चाहूँगा, हनुमान के बारे में, मुख्यतः उनके ही मुख से। परन्तु, मैं उनको आगे के लिए स्थगति करता हूँ। आगे, मैं

* देखिए अ.18, पृ.287.

** देखिए VI.102.32 पर तिलक की टीका : "*चिन्तामभ्यगमच्छीमानजानंस्तां महौषधीम्।*"
'*पूर्वदृष्टानामप्यपरिचये पुराणान्तरोक्तकालनेमियुद्धकृतचित्तचाञ्चल्यं हेतुरिति बोध्यम्।*'

हनुमान के बहुमुखी चरित्र के एक दूसरे पहलू पर प्रकाश डालूँगा। हम देखेंगे, किस प्रकार उन्होंने सीता की खोज की, खोज करने के पश्चात् किस प्रकार उन्होंने सीता को अपना परिचय दिया और उनके निराशाग्रस्त मन में विश्वास जाग्रत किया और किस प्रकार उन्होंने राम और लक्ष्मण के सीता विषयक आगामी कार्यक्रमों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण और हृदयस्पर्शी विचारों का आदान–प्रदान किया। सुन्दर कांड में सीता भी अपने चरित्र की प्रभा से आलोकित हैं। यद्यपि मेरा विचार सीता पर दो अध्याय पृथक् रूप से देने का है, पर हनुमान पर अलग से विचार करना असम्भव है। मुझे सीता को भी यदा कदा आगे लाना होगा। यद्यपि सुन्दर कांड अपने नाम के अनुरूप स्वयं ही सुंदर है, इसकी सुन्दरता तो उन कोमल मनोभावों के स्वरूप में है, जिनका आदान–प्रदान हनुमान और सीता के मध्य वार्तालाप में हुआ। उसका सौन्दर्य तो इस बात में है कि उसमें इन दोनों की प्रकृति की आन्तरिक प्रभा सदा–सदा के लिए प्रकाशमान है।

बीसवाँ अध्याय

हनुमान

कठिन और दुष्कर कार्यों में प्रवृत्त अधिकांश लोगों की भाँति, हनुमान भी आत्मविश्वास और निराशावाद के मनोभावों के मध्य डोलते थे। कभी तो उन्हें लगता कि अवश्य ही उस कार्य को वे पूरा कर सकते थे, जिसका बीड़ा उन्होंने उठाया है, और कई बार उन्होंने अपने उत्तरदायित्व के घेरे को बढ़ाया तक भी। अन्य अवसरों पर उनमें अपने दायित्व को पूरा करने के सामर्थ्य में भी सन्देह हुआ। कवि भी उन्हें कभी एक मनोदशा में, कभी दूसरी मनोदशा में दिखाता है, जिसके लिए उन्हें प्रायः एक महान पराक्रम का श्रेय मिलता है। वह वस्तुतः, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, उनके द्वारा सम्पन्न कारनामों में महत्तम नहीं है। उनकी शैशवकाल की छलांग और उन कारनामों की तुलना में, जो वे भविष्य में करने वाले थे अर्थात् जब उन्होंने हिमालय तक छलांग लगाई, एक पूरे पर्वतशिखर को उखाड़ लाये और फिर उसे यथास्थान रख आये, समुद्रलंघन कुछ भी नहीं। परन्तु पाम्बन के पार उनकी छलांग ऐसा कारनामा है, जिसके साथ 'रामायण' में उनका नाम सबसे अधिक जुड़ा हुआ है क्योंकि इसी के फलस्वरूप सीता के ठिकाने और सीता के ठिकाने का पता चला और यही उनकी उच्चकोटि के पराक्रमों की प्रस्तावना बनी। जब उन्होंने इस छलांग का कार्यभार लिया था, तो उस समय ऐसा सामान्यतः विश्वास था कि केवल उनके पिता वायु और गरुड़ ही ऐसा करने में सक्षम हैं। हनुमान, सीता और राम के बीच यह भाव 'रामायण' में पाँच बार व्यक्त हुआ है कि भूलोक के सब प्राणियों में से केवल तीन– गरुत्मान, वायु और हनुमान ही समुद्र लंघन का चमत्कार कर सकते थे। यद्यपि रामायण में इस बात को पाँच बार दोहराया गया है, किन्तु आश्चर्य की बात है कि स्वयं वाल्मीकि ने कुछ नाम और भी दिये हैं, जो इस प्रकार के कार्य कर सकते थे। यह किञ्चित कवि वाल्मीकि की आदत के अनुरूप ही है। वे प्रायः किसी बात का एक से अधिक पाठान्तर देते हैं, जिससे महत्त्वपूर्ण विवरण में मीन–मेख निकालने वालों के लिए कुछ अवकाश रहता है। उदाहरणार्थ सुन्दर कांड के तीसरे सर्ग में कुमुद, अंगद, सुषेण, मैन्द, द्विविद, सूर्यपुत्र, वानर कुशपर्व, सुग्रीव, केतुमाल और हनुमान के नाम दिए गये हैं। युद्ध कांड के तीसरे सर्ग में (V.2.30) जो नाम दिए गये हैं, वे हैं : अंगद, द्विविद, मैन्द, जाम्बवान,

पनस, नल और सेनापति नील। टीकाकारों का मत है कि कवि का यह स्वभाव है कि वह अवश्य कोई बात एक से अधिक बार दोहराता है, परन्तु कुछ न्यूनाधिक महत्त्व के परिवर्तनों के साथ। उदाहरणार्थ सुन्दर कांड के तीसवें सर्ग में जब सीता को खोज निकालने के पश्चात् हनुमान इस सोच में थे कि किस प्रकार वे अपनी जानकारी सीता को दें, राम की निशानी उन्हें भेंट करें और उन्हें सान्त्वना और आश्वासन दें। उस समय, उनके मन में यह आशंका हुई कि ऐसा न हो कि सीता यह समझ लें कि छद्मवेश में रावण स्वयं ही आ पहुँचा और भयभीत होकर चीत्कार कर बैठें। यदि ऐसा हुआ, तो राक्षस लोग संकट की चेतावनी देंगे और रावण के अनुचर उस घटना स्थल पर आ पहुँचेंगे और परिणाम स्वरूप उन्हें शायद राक्षसों से घोर संघर्ष में उलझना पड़े। ऐसी स्थिति में क्या उनमें छलांग लगाकर लौट जाने का पर्याप्त सामर्थ्य बना रहेगा या वे इतने अशक्त अथवा विकलांग हो जायेंगे कि उनके लिए लौटना असम्भव होगा। उन्हें लगा कि इस प्रकार का झगड़ा मोल लेना बुद्धिमानी नहीं होगी, जिससे उनका अस्तित्व ही लोप हो सकता है अथवा वे इतने अशक्त हो सकते हैं कि अपना शेष उत्तरदायित्व ही पूरा न कर सकें। "निस्सन्देह, मैं उनको कड़ा दंड दूँगा, परन्तु फिर मैं क्या लौटने योग्य रहा जाऊँगा? मान लो मैं मारा गया अथवा बन्दी बना लिया गया, तो राम का कार्य सम्पन्न कैसे होगा? क्या वानर सेना में कोई ऐसा अन्य व्यक्ति है, जिसे यह महान कार्य सौंपा जा सके, इस आशा से कि वह सफलतापूर्वक सम्पन्न किया जा सकेगा?" वे उसका नकारात्मक उत्तर देते हैं, "मुझे तो कोई अन्य व्यक्ति ऐसा नहीं दीखता, जो राम के इस कार्य में सहायता कर सके। मेरे चले जाने के पश्चात् मेरे नातेदारों में भी कोई अन्य ऐसा नहीं, जो इतनी बड़ी छलांग लगा सके। युद्ध में चाहे हज़ारों राक्षसों को समाप्त करने की क्षमता भले ही मुझमें हो, परन्तु इस प्रकार के संघर्ष में अपनी शक्ति व्यर्थ गँवा देने के पश्चात् समुद्र पर छलांग लगाना दूभर हो जायेगा। हर एक लड़ाई में, चाहे आरम्भ में कितना भी आत्मविश्वास क्यों न हो, एक अनिश्चितता बनी रहती है। मैं समझता हूँ कि इस कार्य को संकट में डालना कदापि उचित न होगा," इत्यादि, इत्यादि। इस प्रकार मन में तर्क–वितर्क करने के बाद उन्होंने यह निश्चय किया कि वे राम का गुणगान करते हुए अपने को सीता के समक्ष प्रकट करेंगे। ऐसा करने से उनके मन का डर कम हो जायेगा और उनके प्रति विश्वास उत्पन्न हो जायेगा। कुछ समय पश्चात्, जब वे सीता से वार्तालाप करते हैं, वे इस प्रकार कहते हैं, "सम्पति से वार्तालाप करने के पश्चात् हम सब समुद्र तट पर आये, उस समय करोड़ों वानर निराशा से उदास हो गए। जब मेरे साथियों ने सामने सौ योजन तक फैले हुए अथाह समुद्र पर दृष्टि डाली, वे सब हताश हो बैठ गये। उन्हें इस प्रकार उदास और निराश देखकर मैंने उनकी हिम्मत बढ़ाई और उनका मनोबल बढ़ाकर मैंने उन्हें विश्वास दिलाया कि मुझमें यह कार्य करने करने की क्षमता है और

मैंने यह कार्य सम्पन्न भी कर लिया। उनमें से कोई भी स्वयं को इस छलांग लगाने में सक्षम नहीं समझता था।"

अब एक अंश है, जो कुछ उलझन में डालने वाला है। जब हनुमान सीता से विदा लेने वाले थे, वे पूछती हैं, "वानर सेना किस प्रकार इस दुष्पार जलराशि को पार कर सकेगी? वे संख्या में चाहे कितने भी बढ़ चढ़ कर क्यों न हो, परन्तु इससे क्या होगा, यदि वे इस पार आ न सकें?" मेरे भाग्य का तो फ़ैसला अपनी बिल्कुल मेरे भाग्य का तो फ़ैसला हो गया। स्वाभाविक निराशावाद की मनोदशा में सीता यह निष्कर्ष निकालती हैं, "कोई साधन नज़र नहीं आता, जिसके द्वारा उनका समुद्र पार करना सम्भव हो सके। राम और लक्ष्मण मानव जाति के हैं, वे भी यह कार्य नहीं कर सकते। इस संसार में समुद्र लांघने की शक्ति तो केवल तुम में, गरुड़ और वायु देवता में ही देखी गई है। कोई चौथा प्राणी नहीं, जो ऐसा कर सके। इस मास के अन्त में, जब रावण यहाँ आयेगा, उस समय मेरे सामने केवल दो ही विकल्प होंगे– या तो मैं उसकी पत्नी बनूँ या क्योंकि यह असम्भव है, मृत्यु का आलिंगन करूँ।" हनुमान को लगा, किसी न किसी प्रकार सीता का मनोबल ऊँचा रखना बहुत आवश्यक है और उन्हें ऐसी दशा में प्राण त्यागने पर छोड़ देना उचित नहीं। अतएव, उन्हें सान्त्वना देने के लिए, उन्होंने अत्यन्त उत्साह से पूर्ण होकर, एक बड़ा झूठ गढ़ा, "आप उनको नहीं जानतीं, क्या–क्या महान कार्य उन्होंने किए हैं! वायु पथ का अनुसरण करते हुए, उन्होंने न जाने कितनी ही बार समुद्र और धरती को पार करते हुए, पृथ्वी की परिक्रमा करके (यह एक कपोल कल्पना है)। "सुग्रीव की सेना में लाखों करोड़ों मेरे समान तथा मुझसे भी बढ़कर पराक्रमी वानर हैं। उनके पास कोई ऐसा वानर नहीं है, जो बल–पराक्रम में मेरे से कम हो। सबसे लघु मैं ही हूँ। जब मैं आसानी से आ गया, वे सब आसानी से छलांग लगा लेंगे (यह सब तो अपने उदाहरण का व्यापकीकरण है, जो वस्तुतः सत्य नहीं है)। राजा लोग प्रायः अपने सर्वश्रेष्ठों को दूत बनाकर नहीं भेजा करते। दूत कार्य के लिए साधारण कोटि के लोग ही भेजे जाते हैं। यही उनकी प्रथा है। इसी के अनुसार सुग्रीव ने मुझे भेजा है। आप निरुत्साह न हों। एक ही छलांग में वे सब यहाँ पहुँच जायेंगे, सबके सब वानर," हनुमान को ऐसी बातें कहने में ज़रा भी झिझक नहीं हुई। इसका अंश तो यथार्थता से कोसों दूर है। केवल यही कहा जा सकता है, यह समय के अनुकुल था। नहीं, तो सीता निरुत्साह हो, आत्मदाह भी कर सकती थीं। परन्तु विचित्र बात तो यह है, बिल्कुल जैसा कि हममें हनुमान ने यह सब उनकी हिम्मत बढ़ाने के लिये कहा है, न कि क्योंकि यह यथार्थ में सत्य है। अतएव, लंकापुरी के दहन के पश्चात्, जब वे अन्तिम बार सीता से विदा लेने के लिए आते हैं, सीता एक बार पुनः कहती हैं कि मैं जानती हूँ तीन ही प्राणी इस समुद्र को लांघने की शक्ति रखते हैं– तुम, तुम्हारे पिता वायुदेवता और गरुड़।

यह हमारे लिये स्वाभाविक है कि अब हम थोड़ा सा पीछे मुड़ कर देखें कि जब वानरों ने सीता की खोज के लिए किष्किन्धा से प्रस्थान किया था, उस समय वे स्वयं क्या सोचते थे। अपनी पूर्व निर्धारित भिन्न–भिन्न दिशाओं में छितरने से पहले, जैसा कि स्वाभाविक ही था मानो उन्होंने आगे की ओर दृष्टिपात किया, "मैं यह करूँगा, मैं वह करूँगा, सुग्रीव को इतने जनों को भेजने की क्या आवश्यकता है? मैं तो अकेली ही एक मुठभेड़ में रावण को समाप्त कर सकता हूँ। मैं यहाँ के आसपास के सब वृक्षों को उखाड़ डालूँगा, इन पहाड़ियों को तोड़ दूँगा, धरती में गड्ढे कर दूँगा और जहाँ तक समुद्र की बात है, उसे तो मैं सुखा दूँगा।" सुग्रीव के समक्ष, वे इस प्रकार की डींग मारने लगे। मेरा उद्देश्य तो केवल यही दिखाना है कि किस प्रकार बहुधा अपने सामर्थ्य की अनभिज्ञता में हम वास्तविकता जाने बिना, कार्यों का उत्तरदायित्व ले लेते हैं। हम सोचते हैं कि हम किसी भी कार्य को करने में सक्षम हैं। "जो एक मनुष्य पहले कर चुका है, वह दूसरा मनुष्य भी कर सकता है," यह तो एक कहावत है, जिसका हम प्रायः उद्धरण देते हैं। परन्तु बहुधा हमारा आत्मविश्वास अनुचित होता है, जैसा कि जब हम विपत्ति में फँस जाते हैं, आगामी घटनाएँ सिद्ध कर देती है कि ऐसा मानने में हमने ग़लती की थी। हनुमान भी ऐसी शेख़ी मारने की आदत से अछूते न थे। सीता से विदा लेकर जब उन्होंने निश्चय किया कि लंका छोड़ने से पूर्व वे एक दो ऐसे कार्य भी करेंगे, जिन्हें लंकावासी सदैव याद रखेंगे। वे सड़कों पर चिल्ला–चिल्लाकर कहने लगे, "सहस्त्रों राक्षस भी युद्ध में मेरा सामना नहीं कर सकते। इससे पूर्व कि ये राक्षस कोई जबावी कार्यवाही करें, मैं पलक झपकते ही इस नगरी को ध्वंस कर दूँगा। फिर एक बार पुनः सीता से विदा होकर, समुद्र पार छलांग लगा दूँगा।" वे उन भावों में गोते लगा रहे थे, जिन्हें 'युद्ध क्षेत्र की डींग' संज्ञा दी जा सकती है। कोई भी व्यक्ति जो एक संघर्ष के लिए उतरता है, अपनी किसी भी कमज़ोरी को प्रकट नहीं करेगा। वह तो अपने विषय में ख़ूब बढ़–चढ़ कर बोलेगा। हनुमान ने भी ऐसा ही किया, जो उन्हें करना ही था।

जब वे रावण के समक्ष ले जाये गए, तो पहले उन्होंने सुग्रीव की ओर से अभिवादन किया और फिर जो कुछ उन्होंने कहा, वह उनके अनुसार सुग्रीव का सन्देश था। जबकि वस्तुतः बात ऐसी बिल्कुल नहीं थी। परन्तु शीघ्र ही सब शिष्टाचार छोड़कर, वे रावण को डराने धमकाने लगे। "वर्षों से तुम लोकनायक बने हुए हो और पहले से ही मनमानी करते आ रहे हो। राज्यों का ध्वंस करना, राजाओं को अपने अधीन करना, स्त्रियों का अपहरण करना, यह सब तुम कर सके हो क्योंकि तुम्हें देवताओं द्वारा वरदान मिले हुए हैं। तुमने पहले जो धर्म किया था, उसका पूरा–पूरा फल तो यहाँ पा लिया है। अब इस सीता हरण रूपी अधर्म का फल ही तुम्हें शीघ्र ही मिलेगा। तुम्हारे दुष्कर्म अब फलीभूत होने वाले हैं। सब वानर और भालुओं के बीच श्री राम ने गम्भीर प्रतिज्ञा की है कि वे अपने शत्रुओं से अवश्य बदला लेंगे, जिन्होंने

सीता का अपहरण किया है। तुम सीता को क्या समझते हो, जिसे तुमने समुद्र पार लाकर बन्दिनी बनाकर रख रखा है? जिसे तुम सीता के नाम से जानते हो, उसे सम्पूर्ण लंका का विनाश करने वाली कालरात्रि समझो। वह तुम्हारे पास काल की फाँसी आ पहुँची है, जिसमें तुम्हारा गला फँसा है। थोड़े ही दिनों में वह कस दी जाने वाली है। अतः तुम्हारा अन्त समीप है। यदि अपने को बचाना चाहते हो, तो तुरन्त ही सीता को श्री राम के हवाले कर दो और उनकी शरणागत हो जाओ। राम इतने पराक्रमी योद्धा हैं कि तीनों लोक में कोई भी ऐसा प्राणी नहीं, जो उनका सामना कर सके। चार मुख वाला ब्रह्मा, तीन नेत्र वाले त्रिपुरनाशक रुद्र अथवा देवताओं के स्वामी ऐश्वर्यशाली इन्द्र भी समरांगन में श्री राम के सामने ठहर नहीं सकते।" यहाँ कवि ने बड़ा ध्यान रखते हुए, विष्णु भगवान के नाम का उल्लेख नहीं किया। इसके परिप्रेक्ष्य में यह तथ्य है कि यह कहना कि विष्णु भगवान राम के समक्ष नहीं टिक सकते, निरर्थक है क्योंकि राम स्वयं विष्णु के अवतार ही हैं। कवि की धारणा में विष्णु और राम एक ही थे। अन्य स्थानों पर भी विशेष रूप से भगवान विष्णु का उल्लेख नहीं किया गया हैं। एक स्मरणीय उदाहरण है, एक अवसर पर जब श्री राम ने गन्धर्व अस्त्र का प्रयोग किया था। अपने पुत्र इन्द्रजित के वध के पश्चात् रावण पुत्र शोक से अत्यन्त व्याकुल हो गया और उसका हृदय क्रोधावेश से भर गया। उसने सीता को मार डालने का भी निश्चय किया। परन्तु सुपार्श्व नामक बुद्धिमान मंत्री के समझाने पर वह महल में लौट गया। राजसभा में पुनः पहुँचकर उसने अपने प्रधान–प्रधान योद्धाओं को सेना नगर से बाहर निकल कर एकमात्र श्री राम को चारों ओर से घेर कर मारने का आदेश दिया। राक्षस और वानर युद्ध ने भयंकर रूप धारण कर लिया। राक्षसों द्वारा मारी जाती हुई वह वानर सेना, श्री राम की शरण में गई। तब महातेजस्वी श्री राम ने राक्षस सेना में प्रवेश करके बाणों की वर्षा आरम्भ कर दी। श्री राम ने राक्षसों को गन्धर्व अस्त्र से मोहित कर दिया। उस रणभूमि में कभी तो प्रत्येक राक्षस के सामने एक भयंकर राम खड़ा प्रतीत होता था और कभी महासमर में एक ही राम के दर्शन होते थे। जब घोड़े और रथ सहित मूलबल पूर्णतया नष्ट हो गया, तब बचे हुए शेष निशाचर भी शान्त हो लंकापुरी भाग गये। तदनन्तर देवताओं ने पुष्प वर्षा की और गन्धर्वों ने जयगान गाय, ऋषि–मुनि, सिद्धों ने साधुवाद देकर श्री राम के इस कार्य की प्रशंसा की। क्षण भर के लिए श्री राम ने स्वयं विजयगरिमा का अनुभव भी किया। उस प्रसन्नता भरे मनोभाव में उन्होंने देखा, सुग्रीव, विभीषण, हनुमान, जाम्बवान, मयंद, द्विविद भी उनके पीछे खड़े हैं और आश्चर्यचकित हुए उनको एक अजूबे के रूप में देख रहे हैं और सोच रहे हैं कि उन्हें कैसा विलक्षण मित्र प्राप्त करने का सौभाग्य मिला है। उस समय श्री राम ने उनसे कहा :

एतदस्त्रबलं दिव्यं मम वा त्र्यम्बकस्य वा। IV.94.38

"यह गन्धर्व अस्त्र अत्यन्त विलक्षण अस्त्र है, जिसके द्वारा इसको धारण करने वाला एक एक विपक्ष के योद्धा के सम्मुख भयंकर रूप में खड़ा प्रतीत होता है।" यह दिव्य अस्त्र–बल मुझ में है और भगवान शंकर में, अर्थात् इसका प्रयोग मैं कर सकता हूँ अथवा भगवान शंकर। कवि यहाँ फिर विष्णु का उल्लेख नहीं करता, जिससे पता चलता है कि स्वयं अपनी अभिज्ञ में राम, विष्णु थे और विष्णु का उल्लेख करने में कोई तुक नहीं था। इस प्रकार के अंश इधर–उधर मिलते हैं।

अब मैं हनुमान के सम्बन्ध में इस दृष्टि से विचार करूँगा कि राम ने किस प्रकार उनका मूल्यांकन किया और उनके गुणों को सराहा। हनुमान की महानता का कोई परिमाण नहीं हो सकता, कोई यथोचित परिमाण नहीं– केवल स्वयं राम के मूल्यांकन के अतिरिक्त। और यदि राम ने उन्हें अपनाया, तो यह ठीक ही है। अतएव, यह पता लगाने के लिये कि राम के उनके विषय में क्या विचार थे, हमें 'रामायण' के तीन या चार सन्दर्भों में जाना पड़ेगा, जहाँ राम हनुमान के विषय में खुलकर अपने विचार व्यक्त करते हैं। किष्किन्धा कांड में दोनों भाई पहली बार हनुमान से ऋष्यमूक पर्वत पर मिले थे, जहाँ सुग्रीव ने अपने चार मन्त्रियों सहित आश्रय लिया हुआ था। हनुमान के मन में सन्देह उत्पन्न हुआ कि कहीं ये लोग मनुष्य छद्मवेश में बालि के गुप्तचर न हों। अतएव, सुग्रीव के निर्देश के अनुसार, हनुमान एक साधारण भद्रपुरुष की भांति, भिक्षु का रूप धारण करके उनके सम्मुख गए। तदनन्तर उन्होंने बड़े विनीत भाव से उन दोनों वीरों को प्रणाम किया और अत्यन्त मधुर वाणी में वार्तालाप आरम्भ किया। हनुमान ने पहले तो उन वीरों की समुचित प्रशंसा की। फिर विधिवत् आदर करके और अपना परिचय देकर उनका परिचय पूछा। पूछ–ताछ करते समय हनुमान संस्कृत भाषा पर अपना पूर्ण अधिकार प्रदर्शित करते हैं। वे न केवल उच्चारण, व्याकरण आदि पर तथा प्राचीन वैदिक साहित्य और कूटनीतिक कुशल शब्दावली पर भी अधिकार प्रदर्शित करते हैं। उन्होंने दोनों भाइयों पर जादू प्रभाव डाला कि वे उसके सम्मोहन से अछूते न रह सके।

राज दरबारों का एक शिष्टाचार सम्बन्धी नियम है कि एक राजा का दूसरे राजा से ही संभाषण, और एक मंत्री का दूसरे मंत्री से ही वार्तालाप करना उचित माना जाता है। यद्यपि राम स्वयं हनुमान को उत्तर दे सकते थे, जो बड़े विस्तार से पूछताछ कर रहे थे, उन्होंने अपने भाई लक्ष्मण को उत्तर देने के लिये आदेश दिया। लक्ष्मण से बात करते हुए, जिसको हनुमान भी सुन रहे थे, राम जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं, वे इतने उच्चकोटि की शब्दावली से भरपूर हैं कि आश्चर्य होता है कि कुछ ही क्षण वार्तालाप से राम जैसे पारखी के मन पर कोई इतना प्रभाव डाल सकता था। राम लक्ष्मण से इस प्रकार कहते हैं :

नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः।
नासामदेवविदुषः शक्यमेवं प्रभाषितुम्।।

नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहु व्याहरतानेन न किंचिदपशब्दतम्।।
न मुखे नेत्रयोर्वापि ललाटे च भ्रुवोस्तथा।
अन्येष्वपि च गात्रेषु दोषः संविदितः क्वचित्।।
अविस्तरमसंदिग्धमविलम्बितमद्भुतम्।
उरःस्थं कण्ठगं वाक्यं वर्तते मध्यमे स्वरे।।
संस्कारक्रमसंपन्नामद्भुतामविलम्बिताम्।
उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदयहारिणीम्।।
अन्या चित्रया वाचा त्रिस्थानव्यञ्जनस्थया।
कस्य नाराध्यते चित्तमुद्यतासेररेरपि।।
एवंविधो यस्य दूतो भवेत्पार्थिवस्य तु।
सिध्यन्ति हि कथं तस्य कार्याणां गतयोऽनघ।।
एवंगुणगणैर्युक्ता यस्य स्युः कार्यसाधकाः।
तस्य सिध्यन्ति सर्वार्थां दूतवाक्यप्रयोदितः।। IV.3.28-35

"जिसे ऋग्वेद की शिक्षा नहीं मिली, जिसने यजुर्वेद का अभ्यास भी नहीं किया तथा जो सामवेद का विद्वान भी नहीं है, वह इस प्रकार की सुन्दर भाषा में वार्तालाप नहीं कर सकता। निश्चय ही इसने समूचे व्याकरण का कई बार स्वाध्याय किया है, क्योंकि बहुत सी बातें बोलने पर भी, इनके मुँह से कोई अशुद्धि नहीं निकली (किसी भी व्यक्ति के लिए पाँच या छः वाक्य शुद्ध अंग्रेज़ी में बोलना असम्भव नहीं, परन्तु यदि हमें अधिक बोलना पड़े, तो हम ग़लतियाँ कर देते हैं और शुद्ध मानक अंग्रेज़ी के साथ विश्वासघात करते हैं)। हनुमान वाग्मिता में पूर्णतया प्रवीण लगते हैं। संभाषण के समय इनके मुख, नेत्र, ललाट, भौहें तथा अन्य सब अंगों भी कोई दोष प्रकट हुआ हो, ऐसा कहीं ज्ञात नहीं हुआ। अपने सारे वाक्वयवों पर उन्हें पूरा अधिकार है, किसी का भी उपयोग ग़लत नहीं हुआ। इन्होंने थोड़े शब्दों में ही अपना अभिप्राय बड़ी सुपष्टता के साथ निवेदन किया है। उसको समझने में कोई सन्देह नहीं हुआ। रुक–रुककर अथवा शब्दों को तोड़ मरोड़कर किसी ऐसे वाक्य का उच्चारण नहीं किया, जो सुनने में कर्णकटु हो। इनकी वाणी हृदय में मध्यमा रूप से स्थित है और कंठ से बैखरी रूप से प्रकट होती है। अतः बोलते समय इनकी आवाज़ न तो बहुत धीमी रही है, न बहुत ऊँची। मध्यम स्वर में ही इन्होंने सब बातें कहीं है। वे संस्कार (व्याकरण) और क्रम (शब्दोच्चारण) से सम्पन्न अद्भुत धाराप्रवाही तथा हृदय को आनन्द प्रदान करने वाली कल्याणमयी वाणी का उच्चारण करते हैं। हृदय, कंठ और भूर्धा– इन तीनों स्थानों द्वारा स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होने वाली इनकी इस विचित्र वाणी को सुनकर किसका चित्त प्रसन्न और आत्मा अह्लादित न होगी? वध करने के लिए तलवार उठाये हुए शत्रु का हृदय भी इस अद्भुत वाणी से बदल जायेगा अर्थात् यदि कोई हनुमान की भाँति

बोल सकता, तो निश्चय ही कठोर से कठोर शत्रु का हृदय–परिवर्तन कर सकता है। लक्ष्मण! जिस राजा के पास इनके समान दूत न हो, उसे कार्यों में सिद्धि कैसे हो सकती है? जिसके कार्यसाधक दूत ऐसे उत्तम गुणों से युक्त हों, उस राजा के सभी मनोरथ दूतों की बातचीत द्वारा ही सिद्ध हो सकते हैं। यदि मनुष्यों में कोई शासक कुछ महान कार्यों का पूरा करना चाहता है, तो उसके पास एक मंत्री इस व्यक्ति जैसा होना चाहिए। यदि किसी के पास एक से अधिक हनुमान जैसे सेवक हों, तो पृथ्वी पर उसके लिए कोई ऐसा कार्य नहीं, जो वह सम्पादित न कर सके। उसको हर कार्य में सफलता प्राप्त होगी।" जो छाप हनुमान प्रथम साक्षात्कार में दोनों भाइयों के हृदय पर छोड़ते हैं, वह अन्त तक बनाए रखते हैं। न केवल संस्कृत सम्बन्धी व्यवहारकुशलता द्वारा, अपितु अपनी पूर्ण कर्त्तव्यनिष्ठा से और विश्वास से महान से महान और अत्यन्त दुष्कर कार्यों को सम्पन्न करने में सफल होते हैं। अपने स्वामी के प्रति कर्त्तव्य निभाने में किसी भी संकट का सामना कर सकते थे, किसी भी शत्रु का मुक़ाबला कर सकते थे और किसी भी परिस्थिति से निपट सकते थे।

जब वानरों की टुकड़ियाँ चारों दिशाओं में भेजी गईं, तार, जाम्बवान, नल, नील और हनुमान भी उस टोली में थे। उस समय श्री राम ने सोचा, मान लो इनमें से कोई एक भी सीता को देख पाने में सफल हो गया और वह व्यक्ति यदि कुछ प्रमाण प्रस्तुत करना चाहेगा कि वह वास्तव में उनका ही दूत है, तो उसको क्या दिया जाये? इन दीर्घाकार वानरों में से किसको यह कार्य सौंपा जाये? सुग्रीव और श्री राम के बीच यह निश्चय हुआ कि इस कार्य के लिए हनुमान को ही चुना जाये। उस झुण्ड में से सुग्रीव हनुमान को बुलवाते हैं और उनसे कहते हैं, "हनुमान! अखिल विश्व में कोई ऐसा भाग नहीं, जहाँ तुम्हारी प्रगति में कोई अवरोध आ सके। इस समय पृथ्वी पर कोई भी तुम्हारे समान पराक्रमी नहीं। यद्यपि हम इस विशाल सेना को सब दिशाओं में भेज रहे हैं, परन्तु तुम्हें स्मरण रहे राम और मैं, तुम (हनुमान) पर विषय रूप से विशिष्ट उत्तरदायित्व डाल रहे हैं। सर्वत्र अबाधित गति, वेग, तेज और स्फूर्ति केवल तुम्हारे ही में इन सब गुणों का संयोग विद्यमान है और तुम्हीं में देशकाल को अपने अनुकूल मोड़ने की शक्ति हैं।" हनुमान पर सुग्रीव के भरोसे से राम भी आश्वस्त हो गए और उन्होंने अपनी स्वयं की मुद्रिका हनुमान को दे दी। उसे सौंप कर वह कहते हैं :

अनेन त्वां हरिश्रेष्ठ चिह्नेन जनकात्मजा।
मत्सकाशादनुप्राप्तमुद्विग्नानुपश्यति।।
व्यवसायश्च ते वीर सत्त्वयुक्तश्च विक्रमः।
सुग्रीवस्य च सन्देशः सिद्धिं कथयतीव मे।। IV.44.13,14

"इस चिह्न द्वारा सीता को यह विश्वास हो जायेगा कि तुम मेरे पास से ही आये हो। इससे वह भय त्याग कर तुम्हारी और देख सकेगी। तुम्हारा उद्योग, धैर्य, पराक्रम और सुग्रीव का सन्देश– ये सब मुझे ऐसा सन्देश दे रहे हैं कि तुम्हारे द्वारा कार्य की

सिद्धि अवश्य होगी। मुझे कोई अन्य आश्वासन नहीं चाहिए क्योंकि मेरे सुग्रीव ने इस अत्यन्त विशिष्ट नियुक्ति के लिए तुम्हें चुना है और यह मुद्रिका सौंपने को कहा है। मेरे ऐसा करने के लिए यह पर्याप्त आधार है।" यह हनुमान के प्रति श्री राम के परम विश्वास की निशानी है।

अब हम ज़रा इन दोनों को साथ–साथ देखे–उस चरम क्षण में, जब हनुमान सीता को जीवित और शरीर से सकुशल होने का आनन्दकर शुभ समाचार लेकर आये और उनके इस आशा में बने रहने का कि एक दिन उनका राम से पुनर्मिलन अवश्य होगा। सब उपस्थित थे। तदनन्तर श्री राम, लक्ष्मण और सुग्रीव को झुककर प्रणाम करने के पश्चात् उन्होंने सब वानरों को सीता का समाचार बताना आरम्भ किया। जब वे चुप हो गए, श्री राम ने आगे की बात पूछी। श्री राम का कथन सुनकर वे वानर सीता के वृत्तान्त सुनाकर, वे सीता द्वारा दी गई चूड़ामणि निकालते हैं। चूड़ामणि को देखते ही राम उसे अपनी छाती से लगा कर रोने लगे, साथ–साथ लक्ष्मण भी रो पड़े। वे अपनी वेदना व्यक्त करते हैं और व्यथा सहन करने में असमर्थ, वे हनुमान को सम्बोधित करके पूछते हैं :

किमाह सीता वैदेही ब्रूहि सौम्य पुनः पुनः।
पिपासुमिव तोयेन सिञ्चन्ती वाक्यवारिणा।।
चिरं जीवति वैदेही यदि मासं धरिष्यति।
न जीवेयुं क्षणमपि विना तामसितेक्षणाम्।।
किमाह सीता हनुमंस्तत्त्वतः कथयाह्य मे।
एतेन खलु जीविष्ये भेषजेनातुरो यथा।।
मधुरा मधुरालापा किमाह मम भामिनी।
मद्विहीना वरारोहा हनूमन् कथयस्व मे।। V.66.8,10,14,15

"एक बार, दो बार नहीं बार–बार मुझे बताओ, वैदेही ने क्या क्या कहा क्योंकि मैं तो अब मृतवत हूँ और ये शब्द वर्षा जल कण के समान मुझे पुनर्जीवित करेंगे। जैसे बेहोश मनुष्य को होश में लाने के लिए जल के छींटे दिए जाते हैं, उसी प्रकार सीता के शब्द मेरे कानों में पड़ कर मूर्च्छित हुए से मुझ को वाक्य रूप शीतल जल का छिड़काव करके होश में लायेंगे। तुमने बताया कि उसके पास अब केवल एक मास का समय है और वह केवल इसी अवधि में जीवित रहना चाहती हैं, केवल इस आशा में कि अवधि के समाप्त होने से पहले मैं उसको मुक्त करा लूँ। यदि वह एक मास तक जीवन धारण कर रहेगी, जिससे पहले मैं आकर उसे मुक्त करा लूँ, तब तो वह बहुत समय तक जी रही है– मैं तो जानकी के बिना अब एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता। हनुमन्! मुझे ठीक–ठीक बताओ, सीता ने क्या क्या कहा। कुछ भी बचा कर मत रखो। जैसे रोगी दवा लेने से जीता है, इसी प्रकार मैं सीता के इस सन्देश वाक्य

को सुनकर जीवन धारण करूँगा। हनुमन्! मुझ से बिछुड़ी हुई मेरी मधुरभाषिणी सुन्दरी प्रियतमा सीता ने मेरे प्रति क्या सन्देश दिया है।" मैंने विश्व साहित्य के कोश में बहुत कम ही ऐसे शब्द पढ़े होंगे, जिनमें इनसे अधिक अनुरक्ति अथवा व्यथा व्यक्त की गई होगी। इसी दृश्य में आगे राम हनुमान की अधिक और अधिक सराहना करते हैं। कौन सी प्रशस्ति पर्याप्त होगी, उसके लिए, जिसने यह असाधारण प्रिय और उपकारी सेवा कार्य संपन्न किया था? अतः राम कहते हैं :

कृतं हनुमता कार्यं सुमहद्भुवि दुष्करम्।
मनसापि यदन्येन न शक्यं धरणीतले।। VI.1.2

"हनुमान ने बड़ा भारी कार्य किया है। भूतल पर ऐसा कार्य करना अत्यन्त कठिन है। इस भूमंडल पर ऐसा कार्य करने की बात कोई मन में भी सोच नही सकता, जैसा हनुमान ने सचमुच कर दिखाया।"

इसके बाद तीन श्लोकों का एक ख्यात अंश है। हर एक में यूँ तो दूतों सेवकों अथवा प्रतिहस्तों के एक वर्ग का विशेष वर्णन हैं, जिनको स्वामी किसी विशेष कार्य के लिए नियुक्त कर सकता है और कोई काम सौंप सकता है। ऐसे कार्यकर्ताओं को राम ने तीन गणों में वर्गीकृत किया है। परन्तु, ये बहुत अस्पष्ट हैं, शब्दों का चुनाव उपयुक्त नहीं है। उनसे अर्थ भी सुस्पष्ट व्यक्त नहीं होता, जैसा कि वाल्मीकि की शैली के अनुरूप होना चाहिए, परन्तु उनका तात्पर्य साफ़ है।

यो हि भृत्यो नियुक्तः सन् भर्त्रा कर्मणि दुष्करे।
कुर्यात्तदनुरागेण तमाहुः पुरुषोत्तमम्।।
भृत्यस्तु यः परं कार्यं न कुर्याद्भूपतेः प्रियम्।
भृत्यो युक्तः समर्थश्च तमाहुर्मध्यमं नरम्।।
नियुक्तो नृपतेः कार्यं न कुर्याद्यः समाहितः।
भृत्यो युक्तः समर्थश्च तमाहु पुरुषाधमम्।। VI.1.8-10

परवर्ती साहित्य में सेवकों अथवा परिहस्तों का यह वर्गीकरण ख्यात हो गया है। अतः इस वाक्य रचना से नया ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। प्रथम श्रेणी में वे सेवक गिने जाते हैं, जो स्वामी द्वारा किसी कार्य में नियुक्त होने पर अपने स्वामी के व्यक्त अभिप्राय को तो पूरा करते ही हैं, अपितु उन उद्देश्यों को भी ध्यान में रखते हुए, जो स्वामी के मन में हों, परन्तु व्यक्त नहीं किये गए हों। वे, न केवल वे ही कार्य संपन्न करते हैं, जो स्वामी ने स्पष्टता से बताये थे, अपितु अन्य कार्यों को भी, जो कि मुख्य उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हों। उनमें बुद्धि, निष्ठा और समर्पण की भावना भी होती है, जो अपने स्वामी के लिए ये सब बातें करने के लिए उन्हें प्रेरित करते हैं, ऐसे सेवकों को 'उत्तम' वर्ग के सेवक कहा जाता है। जो एक कार्य पर नियुक्त योग्यता और सामर्थ्य होने पर भी स्वामी के दूसरे प्रिय कार्य नहीं करते अर्थात् जितना कहा गया है,

उतना ही करके लौट आते हैं, उन्हें 'मध्यम' श्रेणी का सेवक बताया गया है। जो सेवक किसी कार्य पर नियुक्त होने पर अपनी योग्यता और सामर्थ्य होते हुए भी कार्य में सावधानी नहीं बरतते और कह देते हैं कि वह कार्य नहीं कर सके, वे तृतीय श्रेणी के सेवक कहलाते हैं, और उन्हें 'अधम' कहा गया है।

निस्सन्देह हनुमान को प्रथम श्रेणी में रखा गया है और उनको ऊँची से ऊँची प्रशस्ति होती है। उनकी भूरि–भूरि प्रशंसा करके राम कहते हैं, "मैं क्या करूँ? इस समय तुम्हें पुरस्कृत करने के लिए मेरे पास कुछ भी नहीं है।" स्मरण रहे, हम राम के विषय में बात कर रहे हैं, जो दूध और मधु से भरपूर प्रदेश के एक उच्चतम प्रतापी राजघराने के वंशज थे– एक ऐसे व्यक्ति के विषय में, जिसके हाथ, देना जानते थे और वह भी अविलम्ब। परन्तु इस समय तो वे सुग्रीव के मेहमान थे और एक कौड़ी को भी अपनी नहीं कह सकते थे। दुनिया के महान पुरुष किसी व्यक्ति के प्रति अपनी प्रसन्नता के प्रमाण स्वरूप उसे कुछ न कुछ उपयुक्त उपहार रूप में देने से कभी न चूकेंगे। यदि वे अप्रसन्न हैं, तो अपनी नाराज़गी का अहसास दिलाये बिना भी न रहेंगे। उनकी प्रसन्नता प्राप्त करना बड़े सौभाग्य की बात है। परन्तु इनकी अप्रसन्नता से बचकर रहना अच्छा है। जब एक राजा उपयुक्त समय पर किसी सुपात्र को पुरस्कार देने में स्वयं को असमर्थ पाता है, तो आप उसकी मानसिक पीड़ा का अनुमान नहीं कर सकते। ज़रा उनकी मानसिक व्यथा को तो सोचें! आपने कदाचित् एक नामी चीनी सम्राट के विषय में पढ़ा होगा, जिसके सेवक सोने, चाँदी और अन्य मुद्राओं से भरी भरी पेटियों से लदे सदैव उसके साथ रहते थे। जब कभी वह कोई असाधारण बात देखता, तो वह उस व्यक्ति को विशिष्ट यथोचित्त उपहार दिया करता था। यदि कोई व्यक्ति कुछ तात्विक या बुद्धिमत्तापूर्ण बात कहता, तो वह कुछ न कुछ उपहार अवश्य देता था। ऐसी उदारता महानता की सच्ची निशानी है। मुझको भी अपने व्यक्तिगत जीवन में कुछ लोगों से परिचय हुआ है, जिन पर ईश्वर की कृपा है और जिनका मानना है यदि जीवन में किसी के द्वारा उन्हें प्रसन्नता अथवा मनस्तोष प्राप्त हो, तो साधन अभाव के कारण उसके प्रति आभार अप्रदर्शित नहीं रहना चाहिए। इस अवसर पर राम अपने को एक 'दीन' कहते हैं।

इदं तु मम दीनस्य मनो भूयः प्रकर्षति।
यदिहास्य प्रियाख्यातुर्न कुर्मि सदृशं प्रियम्।।
एष सर्वस्वभूतस्तु परिष्वङ्गो हनूमतः।
मया कलिमिमं प्राप्य दत्तश्चास्तु महात्मनः।। IV.13.14

"आज मेरे पास पुरस्कार देने योग्य वस्तु का अभाव है; यह बात मेरे मन में बड़ी क़सक पैदा कर रही है। यहाँ, जिसने मुझे ऐसा प्रिय संवाद सुनाया, उसके लिए मैं कोई वैसा ही कार्य नहीं कर पा रहा हूँ। इस समय इन महात्मा हनुमान को मैं केवल अपना प्रगाढ़ आलिंगन प्रदान करता हूँ क्योंकि यही मेरा सर्वस्व है।"

हनुमान की इससे बढ़कर क्या अभिलाषा हो सकती थी? उसी क्षण हनुमान को परम पद की प्राप्ति हो गई। 'रामायण' में एक अन्य उद्धरण है, जहाँ आलिंगन को इतना ऊँचा महत्व दिया जाना चाहिए। मैं आपको पीछे अरण्य कांड में ले जाता हूँ, जब राम खर–दूषण और उनके चौदह सहस्र राक्षसों पर विजय प्राप्त कर लौटे थे। उन्होंने सीता और लक्ष्मण को एक गुफा में छोड़ दिया था। युद्ध की समाप्ति पर, जब लक्ष्मण सीता सहित पर्वत की कन्दरा से निकलकर बाहर आ गए, तब राम ने आश्रम में प्रवेश किया। सीता अपने स्वामी पर अत्यन्त गर्वित थीं, उनके हर्ष की सीमा न थी। इस युद्ध से पूर्व उन्होंने राम से पूछा था कि इन राक्षसों से उन्हें झगड़ा मोल लेने की क्या आवश्यकता थी? उन्हें वह सब स्मरण आता है। कवि कहता है :

तं दृष्ट्वा शत्रुहन्तारं महर्षीणां सुखावहम्।।
बभूव हृष्टा वैदेही भर्तारं परिषस्वजे। III.30.39,40

"महर्षियों को सुख देने वाले अपने शत्रुहता पति का दर्शन करके वैदेही को बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने परमानन्द में निमग्न होकर अपने स्वामी का आलिंगन किया।"

हमारे शिष्ट घरानों में, जहाँ आचरण और व्यवहार निर्धारित उच्चतम आदर्शों के अनुकूल नियंत्रित होते हैं, सामान्य परम्परा यह है कि पहले पति पत्नी का आलिंगन करता है। शायद ही कोई मैं समझता हूँ, एक शिष्ट पत्नी जाकर अपने पति का पहले आलिंगन करेगी। परन्तु इस अवसर पर सीता यह समुचित मर्यादा भूल गई और जैसे ही वे अपने पति से मिली, उन्होंने जाकर स्वेच्छया उन का आलिंगन कर लिया। यह अत्यन्त दुर्लभ आह्लाद था, जो किसी पति को प्राप्त हो सकता है।

जब रावण को वध हो चुका था और उसके स्थान पर विभीषण अभिषिक्त कर दिया गया था, उस समय राम ने यह शुभ समाचार सीता को पहुँचाने के लिए हनुमान को नियुक्त किया। मुझे यह प्रसंग इस सन्दर्भ में याद आता है, जब हनुमान ने सुखद समाचार सीता को सुनाया, तो उसे सुनकर सीता का मन हुआ की सन्देशवाहक को कुछ पुरस्कार दे। वे बोलीं, "मैं अपने स्वामी की विजय से सम्बन्ध रखने वाला यह प्रिय संवाद सुनकर आनन्दविभोर हो गई हूँ। ऐसा प्रिय साचार सुनाने के कारण मैं तुम्हें कुछ पुरस्कार देना चाहती हूँ। किन्तु, मुझे इस योग्य कोई वस्तु दिखाई नहीं देती, इस भूमंडल में कोई ऐसी वस्तु नहीं दीखती, जो इस प्रिय संवाद के अनुरूप हो, जिसे तुम्हें देकर मैं संतुष्ट होऊँ। सोना, चाँदी, नाना प्रकार के रत्न अथवा तीनों लोकों का राज्य भी इस प्रिय समाचार के लिये उपयुक्त पुरस्कार नहीं हो सकता।"

अब मैं इस महाकाव्य के अन्तिम अंश पर आता हूँ अर्थात् श्री राम का राज्यभिषेक और अन्त में सबकी विदाई। राज्याभिषेक को देखने के लिए अतिथियों में है– वानरों के झुंड, और राक्षसों में केवल विभीषण और उसके चार मंत्री। आनन्दोत्सव के समापन पर, जो कदाचित् महीनों चलता रहा और कुछ के अनुसार एक वर्ष पर्यन्त, राम अतिथियों को वापस जाने की अनुमति देते हैं। यहाँ तो हमारा तात्पर्य केवल

हनुमान से ही है। 'रामायण' में इस प्रसंग पर दो विवरण हैं। एक युद्ध कांड के अन्त में और दूसरा उत्तर कांड में उपयुक्त स्थान पर। वे पूर्णतया एक दूसरे से मेल नहीं खाते, परन्तु मूल रूप से वे एकमत हैं। श्री राम ने पहले ब्राह्मणों को, तत्पश्चात् अपने मित्र सुग्रीव को और उसके बाद बालि पुत्र अंगद को उपहार दिए। हनुमान को राम ने कुछ नही दिया। तत्पश्चात् उत्तम मणियों से युक्त, जो चन्द्रमा के समान प्रकाशित हो रहे थी, ऐसी मणिमाला श्रीरम ने सीता के गले में डाल दी। सीता ने उस मुक्ताहार को अपनाया नहीं और कुछ क्षण पहनकर जानकी अपने गले से उसे उतार कर बारंबार समस्त वानरों तथा पति भी और देखने लगीं। उनकी इस चेष्टा को समझकर श्री राम ने जानकी की ओर देखकर कहा, "तुम इसको दे सकती हो किसी को भी, जिससे तुम प्रसन्न हो।"

प्रदेहि सुभगे हारं यस्य तुष्टासि भामिनी ।
तेजो धृतिर्यशो दाक्ष्यं सामर्थ्यं विनयो नयः।।
पौरुषं विक्रमो बुद्धिर्यस्मिन्नेतानि नित्यदा।। VI.31.81,82

"सौभाग्यशलिनि! भमिनि! तुम जिस पर सन्तुष्ट हो, उसे यह हार दे दो। जिसमें तेज, घृति, यश, चतुरता, शक्ति, विनय, नीति, पुरुषार्थ, पराक्रम और उत्तम बुद्धि ये सद्गुण सदा विद्यमान रहते हैं, उसे यह दे दो।" वहाँ केवल एक ही ऐसा व्यक्ति था, जो इस प्रवाहमान वर्णन के अनुकूल उतरता था, और वे थे, हनुमान। उत्तर कांड में यह प्रसंग और भी विस्तारपूर्वक है और इस वर्णन के अनुसार हार के अतिरिक्त और भी हनुमान को बहुत कुछ अधिक मिलता है। हम सबको मालूम है उन्हें और क्या मिला। जब रीछ, वानर और राक्षसों को जाने की अनुमति दे दी गई, तब हनुमान विनम्र होकर श्रीरघुनाथ से बोले :

स्नेहो मे परमो राजंस्त्वयि तिष्ठतु नित्यदा।
भक्तिश्च नियता वीर भावो नान्यत्र गच्छतु।।
यावद्रामकथा वीर चरिष्यति महीतले।
तावच्छरीरे वत्स्यन्ति प्राणा मम ने संशयः।। VII 40.15,16

"आपके प्रति मेरा महान स्नेह सदा बना रहे। आप में ही मेरी भक्ति निश्चल रहे। आप के सिवा और कहीं मेरा आन्तरिक अनुराग न हो। इस पृथ्वी पर जब तक रामकथा प्रचलित रहे, तब तक निःसन्देह मेरे प्राण इस शरीर में ही बसे रहें।" हनुमान के ऐसा कहने पर श्री राम ने सिहांसन से उठकर उन्हें हृदय से लगा लिया औरा स्नेहपूर्वक इस प्रकार कहा, "कपिश्रेष्ठ! ऐसा ही होगा, इसमें संशय नहीं। संसार में मेरी कथा जब तक प्रचलित रहेगी, तबतक तुम्हारी कीर्ति अमिट रहेगी ओर तुम्हारे शरीर में प्राण भी रहेंगे! जब तक ये लोक रहेंगे, तब तक मेरी कथ भी बनी रहेगी।" इसके बाद एक प्रसिद्ध अंश है :

एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे।
शेषस्योपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्।। VII.40.22

"तुमने जो कुछ अपकार किए हैं, उनमें से एक के लिए भी मैं अपने प्राण न्योछावर कर सकता हूँ। तुम्हारे शेष उपकारों के लिये तो मैं ऋणी ही रह जाऊँगा।"

मृत्येव जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं हरे।
नरः प्रत्युपकारार्थी विपत्तिमभिकांक्षति।। VII.40.23*

"श्रेष्ठ व्यक्तियों की विशिष्ठता यह होती है कि वे किसी के प्रति की गई भलाई का बदला नहीं चाहते क्योंकि प्रायः हम दूसरों के प्रति उपकार जब भी करते हैं, जब वे किसी संकट में हों। उदाहरणार्थ, जब ऐसा अवसर आये कि हम दूसरों की जीवन रक्षा कर सकें, तो तब ही यह दूसरों के प्रति उच्चतम भलाई होगी। अपने मित्र से ऐसी अनुकम्पा प्रापप्त करने के लिए आपको भी संकटग्रस्त होना चाहिए। अतः यदि एक मित्र यह अपेक्षा रखता है कि उसके उपकार के लिये उसी स्तर पर प्रतिफल मिले, तो उसे भी उसी स्तर की विपत्ति में फँसना पड़ेगा। अतः हनुमान! जो कुछ भी तुमने मेरे लिए किया है, उसके बदले की अपेक्षा मत रखो। मैं तो संकट में फँसा था और मुझे भयंकर युद्ध भी करना पड़ा। तुमने ऐसे समय में मेरी सहायता करके मुझ पर भारी उपकार किया। यदि उन उपकारों का बदला देना चाहूँ, जो तुमने मेरे प्रति किए, तो तुम्हारे ऊपर भी कोई विपत्ति टूट पड़नी चाहिए, जिससे मैं तुम्हें छुड़ा सकूँ! इसलिए अच्छा यही हैं कि तुम्हारे उपकार मेरे हृदय में सर्वदा ताज़ा बने रहें।" इस श्लोक का अर्थ यह भी लगाया जा सकता है, "तुम्हारे उपकारों के बदले में मैं कुछ नहीं करना चाहता। जो बदले के लिए कोई भलाई करना चाहता है, वह भी एक प्रत्युपकारार्थी होता है।"

◈◈◈

* इस ख्यात श्लोक (VII.40.24) का यह पाठ अप्पय्या दीक्षित के *'कुवल्यनन्द'* , 70 अनुज्ञाप्रकरण के अनुसार है। गोविन्दराज, मुम्बई संस्करण और MLJ संस्करण मे यह इस प्रकार है :

मदङ्गे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृत कपे।
नरः प्रत्युपकाराणमापत्स्वायाति पात्रतम्।।

इक्कीसवाँ अध्याय

हनुमान

हम पहले ही देख चुके हैं कि नगर की निश्चिन्त और निरापद खोज यात्रा के उद्देश्य से हनुमान ने स्वयं को बिल्ली जैसे छोटे आकार में परिणत कर लिया। उन्होंने लंकापुरी में प्रवेश किया और राक्षसराज रावण के सुप्रसिद्ध राजमहल में बहुत खोज के बाद, सीता के वहाँ मिलने की आशा में, उन्होंने रावण के अन्तःपुर में प्रवेश किया। हनुमान ने रावण के पूरे अन्तःपुर में सीता को ढूँढा, पर वे कहीं भी दिखाई नहीं दीं। फिर वे रावण के महल में पहुँचे, वहाँ भी अन्यान्य राक्षसों के घर में भी खोज की। वे पुनः महल में आ गए। उन्होंने रावण का उत्तम और अनुपम भवन देखा, जो श्रेष्ठ हंसों द्वारा आकाश में वहन करते हुए विमान की भांति प्रतीत होता था। चारों ओर घूमने पर भी सीता को न देखकर हनुमान चिन्तित हो गए। लंकावर्ती सर्वश्रेष्ठ महान गृह के मध्य भाग में हनुमान ने देखा, एक उत्तम–भवन शोभा पा रहा था। उस उत्तम आवास का अवलोकन करते हुए, वे एक ऐसे सुन्दर गृह में पहुँचे, जो रावण का निजी निवास–स्थान था। उस महल के मध्य भाग में दूसरा भवन था, जिसमें पुष्पक–विमान था। एक दिव्य गन्ध सूँघते–सूँघते, वे एक बहुत बड़ी और सुन्दर हवेली में पहुँच गए, जिसमें रावण स्वयं निवास करता था। हनुमान ने अन्तःपुर में प्रगाढ़ निद्रा में लीन हुई उसकी स्त्रियों को भी देखा। उन्होंने वहाँ बहुत कुछ देखा, जिसको अच्छा होता, यदि उन्होंने नहीं देखा होता। रावण की स्त्रियों में से बहुत सी विवस्त्रता थीं और उनके शरीर पर चिह्न थे, स्पष्टतया आमोद–प्रमोद और रंगरलियों के सूचक। इनके बीच उनकी दृष्टि मन्दोदरी पर पड़ गई, जो लंका की रानियों में सर्वोपरि सुन्दरी थी और राज की पटरानी थी और राजा को सबसे अधिक प्रिय थी। उसकी सुन्दरता और रमणीयता को देखकर हनुमान को ऐसा लगा कि वही सीता न हों। खोज की सफलता के आभास के उल्लास में, जैसा कि कवि ने विनोदार्थ उनका चित्रण किया है, उन्होंने ठीक वैसी ही चेष्टायें कीं, जैसा कि वानरों से अपेक्षा की जा सकती है, जब वे आनन्द विभोर हो जाते हैं। यह श्लोक बहुत प्रसिद्ध है :

अस्फोटयामास चतुम्ब पुच्छं ननन्द चिक्रीड जगौ जगाम।
स्तम्भानरोहन्निपपात भूमौ निदर्शयन् स्वां प्रकृतिं कपीनाम्।। V.10.54

हनुमान ने स्पष्टतया यह प्रदर्शित कर दिया कि वे किस जाति विशेष के हैं। आप मुझे क्षमा करेंगे, यदा–कदा इस बात का उल्लेख करने के लिए कि यद्यपि कवि यह प्रतिपादित करता है कि हनुमान सब प्रकार के गुणों में बहुत ऊँचा उठ चुके थे, तथापि वह हमें किसी भी अवस्था में यह भूलने नहीं देता कि प्रकृति और स्वभाव से वे किस जाति विशेष के हैं। "वे अपनी पूँछ को पटकने और चूमने लगे। अपनी वानरों जैसी प्रकृति का प्रदर्शन करते हुए, आनन्दित होकर उछलने–कूदने लगे, इधर–उधर दौड़ने लगे। वे कभी खम्बों पर चढ़ जाते और कभी पृथ्वी पर कूछ पड़ते थे।" मानो यह दिखाने के लिए कि वे केवल वानर ही न थे, अपितु ऐसे व्यक्ति थे, जो सब शास्त्रों और वेदों का गहन–गम्भीर अध्ययन कर चुके थे और उत्कृष्ट नैतिक आचार संहिता से भी भलीभाँति परिचित थे, हमें पता चलता है कि हनुमान को भारी धर्म–संकट महसूस हुआ। उन्होंने स्वगत कहा, "मैं क्या करूँ? क्या यह मेरे लिए उचित है?"

निरीक्षमाणश्च तदा ताः स्त्रियः स महाकपिः।
जगाम महतीं चिन्तां धर्मसाध्वसशङ्कितः।।
परदारावरोधस्य प्रसुप्तस्य निरीक्षणम्।
इदं खलु ममात्यर्थं धर्मलोपं करिष्यति।।
न हि मे परदाराणां दृष्टिर्विषयवर्तिनी।
अयं चात्र मया दृष्टः परदारपरिग्रहः।। V.38.40

उन्हें अहसास हुआ कि उन स्त्रियों पर दृष्टिपात करने से वे आचार संहिता का अतिक्रमण कर रहे हैं। उन सोती हुई स्त्रियों को देखते–देखते महाकपि हनुमान धर्म के भय से शंकित हो उठे। उनके हृदय में बड़ी भारी चिन्ता उपस्थित हो गई। वे सोचने लगे, "गाढ़ निद्रा में सोई हुई परस्त्रियों को देखना उचित नही है। भाग्य ने मुझे ऐसे स्थान पर ला दिया, जहाँ मुझे निद्रामग्न स्त्रियों को देखना पड़ रहा है। इस दृश्य से, अनचाहे भी, अनुचित विचार मेरे मन में उठ रहे हैं, जैसा कि पहले कभी नहीं हुआ। यह तो मेरे धर्म का विनाश कर डालेंगे।"

"मेरी दृष्टि कभी भी पराई स्त्रियों पर नहीं पड़ी थी। यहाँ आने पर पराई स्त्रियों का अपहरण करने वाले इस पापी रावण का भी दर्शन हुआ।" तदनन्तर हनुमान के मन में एक दूसरी विचार धारा उत्पन्न हुई। वे सोचने लगे, इसमें हर्ज भी क्या है? इसमें सन्देह नहीं रावण की स्त्रियों निःशंक सो रही थीं और उसी अवस्था में मैंने उन सबको अच्छी प्रकार देखा, तथापि मैं शुद्ध हृदय से कहता हूँ, मेरे मन में कोई विकार उत्पन्न नहीं हुआ। सम्पूर्ण इन्द्रियों को शुभ और अशुभ अवस्थाओं में लगाने की प्रेरणा देने का कारण तो मन है। किन्तु, मेरा मन पूर्णतः स्थिर है अर्थात उसमें राग–द्वेष नहीं है। इसलिए मेरा यह पर स्त्री–दर्शन धर्म का लोप करने वाला नहीं हो सकता।"

कामं दृष्टा मया सर्वा विश्वस्ता रावणस्त्रियः।
न हि मे मनसः किंञ्चिद्वैक्लव्यमुपपद्यते।।
मनो हि हेतुः सर्वेष्यमिन्द्रियाणां प्रवर्तते।
शुभाशुभास्ववस्थासु लक्ष्य मे सुव्यवस्थितम्।।
नान्यत्र च मया शक्या वैदेही परिमार्गितुम्।
स्त्रियो हि स्त्रीषु दृश्यन्ते सर्वथा परिमार्गणे।।
यस्य सत्त्वस्य या योनिस्तस्यां तत्परिमृग्यते।
न शक्या प्रमदा नष्टा मृगीषु परिमार्गितुम्।।
तदिदं मार्गितं तावच्छुद्धेन मनसा मया।
रावणान्तःपुरं सर्वं दृश्यते न च जानकी।।
किं नु मां वानराः सर्वे गतं वक्ष्यन्ति संगताः।
गत्वा तत्र त्वया वीर किं कृतं तद्वदस्व नः।।
अदृष्ट्वा किं प्रवक्ष्यामि तामहं जनकात्मजाम्।
ध्रुवं प्रायमुपैष्यन्ति कालस्य व्यतिवर्तते।। V.11.42-46;12.7,8

"मैं यहाँ आया हूँ, सीता की खोज में। स्वाभाविक अनुमान तो यही है कि वे भी इन स्त्रियों में मिल जायें। सीता को दूसरी जगह मैं ढूँढ भी तो नहीं सकता था क्योंकि स्त्रियों को ढूँढते समय स्त्रियों के बीच ही ढूँढा जाता है। क्या मैं सीता की खोज हिरणों के मध्य करूँ? जिस जीव की जो जाति होती है, उसी बीच उसे ढूँढा जाता है। अतः मैंने रावण के सम्पूर्ण अन्तःपुर में शुद्ध हृदय से अन्वेषण किया, किन्तु यहाँ भी जानकी नहीं दिखाई दीं और मेरी खोज निष्फल रही। अब मैं क्या करूँ? जब मैं लौटकर जाऊँगा, तब सारे वानर मिलकर क्या कहेंगे? वे पूछेंगे, 'वीर! वहाँ जाकर तुमने क्या किया? यह हमें बताओ।' किन्तु, जनकनन्दिनी सीता को न देखकर मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा? यह हमें बताओ। किन्तु, समय समाप्त हो जाने पर, अब मैं निश्चत ही आमरण उपवास करूँगा।"

इस प्रकार थोड़ी देर तक हताश से होकर वे फिर सोचने लगे और विचार आया कि वे पुनः सीता की खोज के लिये निकलें, जिससे कोई कोना भी अनदेखा न छूटे। उन्होंने निश्चय किया कि वे चार इंच जगह भी अनदेखी न छोड़ेंगे। निस्सन्देह इतनी जगह में तो सीता छिपी नही रह सकती। छोटी से छोटी जगह भी, चाहे चार इंच भी क्यों न हो, हनुमान ने अनदेखी नहीं छोड़ी। निराशा को त्याग उन्होंने दूसरे ढंग से सोचना आरम्भ किया :

अनिर्वेदः श्रियो मूलमनिर्वेद परं सुखम्।
अनिर्वेदो हि सततं सर्वार्थेषु प्रवर्तकः।।
करोति सफलं जन्तोः कर्म यत्तत्करोति सः।

तस्मादनिर्वेदकरं यत्नं चेष्टेऽहमुत्तमम्।। V.12.10,11

"हताश न होकर, उत्साह बनाये रखना ही उचित है। अन्त में मैं पुनः उन स्थानों में सीता की खोज करूँगा, जहाँ अभी तक अनुसन्धान नहीं किया गया। उत्साह ही प्राणियों को सर्वदा सब प्रकार के कर्मों में प्रवृत्त करता है। इसलिए अब मैं और भी उत्तम एवं उत्साहपूर्वक प्रयत्न के लिए चेष्टा करूँगा।"

इस निराशा की स्थिति में हनुमान काफ़ी देर तक एक अति गहन चिन्तन में खो जाते हें। इस विषय पर मैं बाद में आता हूँ। एक पूरा लम्बा तेरहवाँ सर्ग है, जोकि उनके स्वागत भाषण से पूरा भरा हुआ है। यह मैं बाद में प्रस्तुत करूँगा। इस के पश्चात् हनुमान अशोक–वन में जा पहुँचे और वहाँ थोड़ी देर में सीता का पता चल जाता है। वे सीता की पहचान कर लेते हैं, उन चिह्नों द्वारा, जिनका पूरा विवरण श्री राम उनको पहले ही दे चुके थे। सीता के सौन्दर्य और उनकी शोभा का वर्णन इतने विस्तार से उन्हें दिया गया था कि उसके आधार पर कोई भूल हो ही नहीं सकती थी। सीता की खोज कर वे आश्चर्यचकित हो जाते हैं। उनका सौन्दर्य, रमणीयता और उनकी उस समय शोकग्रस्त मुद्र को देखकर आश्चर्यचकित हो जाते हैं। कवि बतता है कि इस विलक्षण व्यक्ति के मन में, जो सब लोकों को देख चुका था, उस समय किस प्रकार के विचार आते हैं, जब उन्होंने स्वयं सीता को अपनी आँखों से देखा, जो निजी रमणीयता, पातिव्रत्य और बुद्धिमत्त गुणों के कारण संसार की अमूल्य रत्न थीं।

प्रणष्टापि सती यस्य मनसो न प्रणश्यति।।
इयं सा यत्कृते रामश्चतुर्भिः परितप्यते।
कारूण्येनानृशंस्येन शोकेन मदनेन च।।
स्त्री प्रणष्टेति कारूण्यादाश्रितेत्यानृशंस्यतः।
पत्नी नष्टेति शोकेन प्रियेति मदनेन च।। V. 15.48-50

"यह श्री राम की प्रिय सीता खोई जाने कारण अदृश्य हो जाने पर भी उनके मानस और हृदय से विलग नहीं हुई हैं। ये वे ही सीता है, जिनके कारण श्री राम इस जगत में करुणा, दया, शोक और प्रेम– इन चार कारणों से सन्तृप्त है।"

श्री राम के मन में चार मनोभाव हैं, जो उन्हें सीता के कारण उदास रखते हैं। कवि उनका वर्णन करता है। यह कुछ असामान्य है। इन चारों का सम्बन्ध किस प्रकार श्री राम के मन से जोड़ा जाये? एक स्त्री खो गई। वह उनपर अश्रित थी, उन पर भरोसा करती थीं और उनके विशेष से वह उनकी पत्नी थी और प्रेयसी भी। इसका विचार करके राम शोक से व्याकुल थे। उनके हृदय में अतीव विषाद था, जो एक यन्त्रणादायी पीड़ा में परिवर्तित हो गया। इस प्रकार हनुमान के अनुसार, श्री राम इन चार प्रकार की वेदताओं से व्यथित थे। सीता का दर्शन होने पर, हनुमान का ध्यान स्वभाविकतः

उस समय राम पर जाता है कि इस समय उनके मन कैसी भावनाएँ उमड़ रही होंगी, किस प्रकार उन्होंने सीता का वर्णन किया था, इत्यादि। एक अत्यन्त प्रसिद्ध श्लोक है :

दुष्करं कृतवान् रामो हीनो यदनया प्रभुः।
धारयत्यात्मनो देहं न शोकेनावसीदति।। V.15.53

यह एक सुन्दर श्लोक है। "इनके बिछुड़ जाने पर भी श्री राम अपना शरीर धारण किये हुए हैं, शोक से शिथिल नहीं होते। यह उन्होंने अत्यन्त दुष्कर कार्य किया है। ये राम तो अत्यन्त निष्ठुर व्यक्ति हैं। वे ऐसा कार्य भी कर सकते है, जो अन्य व्यक्तियों के लिए अत्यन्त दुष्कर है– इस देवी से बिछुड़ कर वे जीवित हैं।"

इसके पश्चात् कोमल भावनाओं, कल्पनाओं का ताँता शुरू होता है।

तुल्यशीलवयोवृत्तां तुल्याभिजनलक्षणाम्।
राघवोऽर्हति वैदेहीं तं चेयमसितेक्षणा।।
यदि रामः समुद्रान्तां मेदिनीं परिवर्तयेत्।
अस्याः कृते जगच्चापि युक्तमित्येव मे मतिः।।
राज्यं वा त्रिषु लोकेषु सीता वा जनकात्मजा।
त्रैलोक्यराज्यं सकलं सीताया नाप्नुयात्कलाम्।। V.16.5,13,14

"सीता–राम की जोड़ी यथेचित है," ऐसा एक वानर कहता है, जो पक्का ब्रह्मचारी है। "सीता के शील स्वभाव, आस्था और व्यवहार श्री राम के समान ही हैं। उनका कुल भी श्री राम कुल के समान ही महान है। अतः श्री राम विदेह कुमारी सीता के सर्वथा योग्य हैं। तथा यह कजरारे नेत्रों वाली सीता भी उन्हीं के अनुकूल हैं। ऐसी स्त्री के खो जाने से, जो उन्हें पुरस्कार रूप में प्राप्त हुई थी, ऐसा बहुमूल्य सर्वश्रेष्ठ रत्न के लिये यदि श्री राम समुद्र पर्यन्त पृथ्वी तथा सारे संसार को उलट दें, तो भी मेरे विचार से अनुचित अथवा अतिमात्र न होगा। वे तो एक ऐसी अनुपम पारितोषिक हैं, जो उन्हें पुनः प्राप्त करने के लिये यदि आवश्यक हो, तो कुछ भी नष्ट किया जा सकता है। एक ओर तीनों लोकों का राज्य और दूसरी ओर सीता को रखकर तुलना की जाये, तो त्रिलोकी का सारा राज्य सीता की एक कला के छोटे से अंश के बराबर भी नहीं हो सकता।"

इस प्रकार उस वन की शोभा देखते–देखते ओर सीता की खोज करते हुए हनुमान की सारी रात प्रायः बीत गई। प्रातः जागने पर राक्षसराज रावण ने सब प्रकार के आभूषण धारण किये और अपनी स्त्रियों से घिरे हुए, उसने अशोक–वाटिका में प्रवेश किया और सुन्दरी सीता को देखने के लिये उनके पास गया। उस समय हनुमान ने उसे ध्यानपूर्वक देखा। इसके बाद कई सर्ग हैं, जिनमें हनुमान की भूमिका एक दर्शक के रूप में है। उनकी मैं उपेक्षा करता हूँ, यह कहकर कि उन्हें अपने समक्ष यह

दुःखद दृश्य देखकर कितनी असह्य वेदना हुई होगी। रावण को देखकर सीता दुःख, भय और चिन्ता में डूब गई और बैठी–बैठी रोने लगी। रावण उन्हें तरह–तरह के प्रलोभन देने लगा। सीता ने उसे समझाया और श्री राम की तुलना में उसे नगण्य बताया। रावण सीता को दो मास की अवधि देकर और डरा धमका कर स्त्रियों सहित पुनः महल की और लौट गया। तत्पश्चात् राक्षसियों ने सीता को समझाना शुरू किया। सीता उनकी बात मानने से इनकार करने पर राक्षिसियों ने उन्हें मारने–काटने की धमकी दी। शोक सन्तप्त सीता करुण विलाप करने लगी और प्राण त्यागने का निश्चय करती हैं। हनुमान ने भी सीता का करुण विलाप, राक्षसियों की डाँट–डपट, ये सब बातें ठीक–ठीक सुन लीं। उन्होंने सोचा, "यदि मैं सीता को साँत्वना दिए बिना चला जाऊँगा, तो मेरा यह आना–जाना दोषयुक्त होगा। मेरे चले जाने पर, सीता अपनी रक्षा का कोई उपाय न देख कर वे अपने जीवन का अन्त कर देंगी। इसमें सन्देह नहीं यदि इस रात्रि के बीतते–बीतते मैं सीता को साँत्वना न दे सका, तो वे अपने जीवन का परित्याग कर देंगी। अच्छा तो यह होगा कि इन राक्षसियों के रहते–रहते अवसर पाकर यहीं बैठे बैठे इन्हें धीरे–धीरे साँत्वना दूँ।" अन्ततः जब सब हट गए और ऐसा लगा, थकी हुई राक्षसियाँ सोने के लिये चली गईं, तब हनुमान निश्चय करते हैं, यदि संभव हो, तो सीता से बातें की जायें। वे सोचने लगे वानर होकर भी मैं यहाँ मानवोचित संस्कृत भाषा में बोलूँगा, परन्तु ऐसा करने में भी एक बाधा है। यदि मैं द्विज की भाँति संस्कृत का प्रयोग करूँगा, तो सीता मुझे छद्मवेश में रावण समझ कर भयभीत हो जायेंगी। ऐसी दशा में अवश्य ही मुझे उस सार्थक कौशल बोली का प्रयोग करना चाहिए, जो अयोध्या के आस–पास साधारण जनता की बोली है।" अतः उन्होंने निश्चय किया कि वे उन्हीं की बोली में वार्तालाप करेंगे, जिससे सीता को उनके विषय में कोई भ्रान्तधारण न हो। तत्पश्चात् अपनी असाधारण बुद्धिमता और गहन मनोवैज्ञानिक समझदारी के कारण उनके मन में ध्यान आया कि उन्हें सीता के समक्ष अचानक प्रकट नहीं होना चाहिए। अच्छा तो यही होगा कि पहले श्रुति अथवा कान द्वारा उनका ध्यान आकर्षित किया जाये। यह भी निश्चित किया कि उचित तो यही रहेगा कि सीता के पति और उनके परिवार से सम्बन्धित कुछ शब्द कह कर वार्तालाप आरम्भ किया जाये क्योंकि उनके लिए तो श्री राम ही सब कुछ हैं, सर्वस्व हैं, सकल सम्पूर्ण जीवन हैं, ज्योति हैं। अतः उनकी चर्चा, उन्हीं के गुणगान सीता को श्रुतिमधुर लगेंगे। इस प्रकार बहुत सोच–विचार कर, हनुमान ने सीता को सुनाते हुए मधुर वाणी में श्री राम के विषय में बोलना आरम्भ किया। उनकी बातें सुनकर सीता आश्चर्यचकित हो गईं और वे समस्त दिशाओं में दृष्टि दौड़ाने लगीं। अन्ततः शाखाओं में छिपे हुए हनुमान को प्रतीत हुआ कि श्री राम की चर्चा सुनने पर भी सीता के मन में कुछ विद्यमान है। हनुमान ने उस अशोक वृक्ष से नीचे उतर कर, अंजलि बाँध कर विनीत भाव से उनका परिचय जानना चाहा। वे समझ तो गए कि वे सीता ही हैं, परन्तु

तुरन्त ऐसा कहना उचित न जान कर वे अपनी बात लम्बी करते हुए पूछताछ करते है। वे कहते हैं :

रोदनादतिनिःश्वासाद्भूमिसंस्पर्शनादपि।।
न त्वां देवीमहं मन्ये राज्ञः संज्ञावधारणात्।। V.33.10,11

"लम्बी–लम्बी साँस खींचकर आप रोने लगीं तथा पृथ्वी का स्पर्श करने के कारण मैं आपको दिव्य प्राणी भी नहीं मान सकता। आप बार बार राम, राम कहकर किसी राजा का नाम ले रहीं है। मेरा अनुमान ठीक ही होगा कि आप सीता ही हैं।"

हनुमान की बात सुनकर सीता ने अपना परिचय देते हुए वनगमन और अपहरण का सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया और अन्त में वे कहती हैं :

द्वौमासौ तेन मे कालो जीवितानुग्रहः कृतः।
ऊर्ध्वं द्वाभ्यां तु मासाभ्यां ततस्त्यक्ष्यामि जीवितम्।। V.33.31,32

"दुरात्मा रावण ने अनुग्रह पूर्वक मेरे जीवन धारण के लिये दो मास की अवधि निश्चित की है। यदि इस अवधि में मैं मुक्त न हुई, तो इन दो महीनों के बाद अपने प्राणों का परित्याग करने के अतिरिक्त मेरे पास कोई अन्य विकल्प न होगा।"

दुःख पर दुःख उठाने के कारण पीड़ित सीता का उपर्युक्त वचन सुनकर हनुमान ने उन्हें साँत्वना देते हुए कहा, "देवि! मैं श्री राम का दूत हूँ और आपके लिए सन्देश लाया हूँ।" यह सुनकर देवी सीता के सम्पूर्ण अंग में हर्षजनित रोमांच हुआ और वे हनुमान से बोलीं। मुझे एक प्रसिद्ध लोकोक्ति का ध्यान आ रहा है, जो एक लम्बे समय से चली आ रही है :

कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति मा।
एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि।। V.34.6

"यदि मनुष्य जीवित रहे, तो उसे कदापि आशा नहीं छोड़नी चाहिए। सौ वर्ष बाद भी अर्थात् कालान्तर में तो अवश्य आनन्द प्राप्त होता ही है। यह लौकिक कहावत आज मुझे बिल्कुल सत्य एवं कल्याणमयी जान पड़ती है। मुझे लगता था कि अब मैं और अधिक जीवित नहीं रह पाऊँगी, किन्तु अब श्री राम द्वारा भेजे गए, आप के आने से मुझे जीवन की आशा पुनः हो गई है।"

शोकसन्तप्त सीता की वाणी सुनकर हनुमान उनके कुछ निकट पहुँच गये। इससे सीता को यह शंका होने लगी कि यह कहीं छद्मवेश में स्वयं रावण ही न हो। परन्तु हनुमान द्वारा श्री राम के गुणगान सुनने से उनका सन्देह जाता रहा। तदन्नतर सीता को पक्का विश्वास दिलाने के लिये, वे उन्हें श्री राम की मुद्रिका देते हैं। कुछ अंशों को छोड़ते हुए, अब हम उस भयंकर दृश्य पर आते हैं, जब सीता स्वयं को अपने भीतर निराशा के गर्त में डुबो देती हैं। वे कहती हैं, "मेरा अब क्या होगा?" उन्हें विश्वास नहीं हो रहा था, यद्यपि हनुमान ने उन्हें खोज लिया था, फिर भी क्या श्री राम

को उनकी वानर सेना सहित लंका में लाया जा सकता है? क्या लंका की धरती पर युद्ध करके उनको वापस ले जाया जा सकता है? वे कहती हैं, "हे वानर श्रेष्ठ! आप मुझे श्री राम और उनके भाई के सम्बन्ध में सब कुछ बताइएगा। वे क्या कर रहे हैं? वे आते क्यों नहीं? क्या अभी मैं उनके लिये कुछ हूँ? उन्हें तो अभी तक आ जाना चाहिए था और मुझे यहाँ से ले जाना चाहिए था। मुझे तो अब लगता है, मेरा मरण यहीं होगा।" फिर वे कुछ राहत महसूस करने के लिए प्रश्नों का ताँता बाँध देती है। ये प्रश्न उसी शैली में हैं, जिसमें श्री राम अयोध्या कांड में भारत से राज्य के सम्बन्ध में पूछते हैं, उस प्रसिद्ध 'कच्चित्सर्ग' में, जिसमें कच्चित् शब्द छब्बीस श्लोकों में तिहत्तर बार दोहराया गया है। वे हनुमान से लगभग बीस प्रश्न करती हैं, अपने पति, लक्ष्मण तथा अन्यों के विषय में। तत्पश्चात् वे कहती हैं :

न चास्य माता न पिता च नान्यः स्नेहाद्विशिष्टोऽस्ति मया समो वा।
तावत्त्वहं दूत जिजीविषेयं यावत्प्रवृत्तिं शृणुयां प्रियस्य।।
इतीव देवी वचनं महार्थं तं वानरेन्द्रं मधुरार्थमुक्त्वा।
श्रोतुं पुनस्तस्य वचोऽभिरामं रामार्थयुक्तं विरराम रामा।। V.36, 30-31

"दूत! मेरे पति और स्वामी राम के लिये पृथ्वी पर मेरे समान प्रिय अन्य कोई और नहीं है। उनके माता–पिता तथा अन्य सम्बन्धी भी ऐसे नहीं है, जिन्हें उनका स्नेह मुझसे अधिक अथवा मेरे बराबर मिला हो। मैं तो तभी तक जीवित रहना चाहती हूँ, जब तक अपने प्रियतम के विषय में और उनकी क्रियाशीलता के विषय में कुछ सुन रही हूँ।"

देवी सीता वानर श्रेष्ठ हनुमान के प्रति इस प्रकार के अर्थपूर्ण मधुर वचन कहकर, श्री राम के सम्बन्ध में उनकी मधुर वाणी पुनः सुनने के लिए चुप हो गईं। कवि ने बड़ी चतुराई के साथ 'राम' शब्द का प्रयोग चार बार किया है। तब हनुमान अंजलि बाँध कर संवेदनशील श्लोकों में उत्तर देते हैं। स्मरण रहे, हनुमान सदा इसी प्रकार '*शिरस्य अंजलिमाधाय*' आदर प्रदर्शन करते हैं, जब वे राम अथवा लक्ष्मण को सम्बोधित करते हैं। ये बहुत ही मनोहर पंक्तियाँ हैं, जिनमें वे सीता के प्रति श्री राम के मनोभावों का सटीक वर्णन करते हैं :

तवादर्शनजेनार्ये शोकेन च परिप्लुतः।
न शर्म लभते रामः सिंहार्दित इव द्विपः।।
मलयेन च विन्ध्येन मेरूणा मन्दरेण च।
दर्दुरेण च ते देवि शपे मूलफलेन च।।
यथा सुनयनं वल्गु बिम्बोष्ठं चारूकुण्डलम्।
मुखं द्रक्ष्यसि रामस्य पूर्णचन्द्रमिवोदितम्।।
क्षिप्रं द्रक्ष्यसि वैदेहि रामं प्रसवणे गिरौ।

शतक्रमितुवासीनं नाकपृष्ठस्य मूर्धनि।।
न मांसं राघवो भुङ्क्ते न चापि मधु सेवते।
वन्यं सुविहितं नित्यं भक्तमश्नाति पञ्चमम्।।
नैव दंशान्न मशकान्न कीटान्न सरीसृपान्।
राघवोऽपनयेद्गात्रात् त्वद्गतेनान्तरात्मना।।
नित्यं ध्यानपरो रामो नित्यं शोकपरायणः।
नान्यच्चिन्तयते किंचित्स स तु कामवशं गतः।।
अनिद्रः सततं रामः सुप्तोऽपि च नरोत्तमः।
सीतेति मधुरां वाणीं व्याहरन् प्रतिबुध्यते।।
दृष्ट्वा फलं वा पुष्पं वा यद्वान्यत्सुमनोहरम्।
बहुशो हा प्रियेत्येवं श्वसंस्त्वामभिभाषते।।
स देवि नित्यं परितप्यमानस्त्वामेव सीतेत्यभिभाषमाणः।
धृतव्रतो राजसुतो महात्मा तवैव लाभाय कृतप्रयत्नः।।
सा रामसंकीर्तनवीतशोका रामस्य शोकेन समानशोका।
शरन्मुखे साम्बुदशेषचन्द्रा निशेव वैदेहसुता बभूव।। V.36.37-47

"आर्ये! आपको न देखने के कारण उत्पन्न हुए शोक से उनका हृदय भरा रहता है। अतः श्री राम क्रुद्ध सिंह से पीड़ित उपहत हाथी की भाँति, क्षण भर क्रोधी चैन नहीं पाते हैं। यहाँ क्रुद्ध सिंह से आशय, आपसे न मिल पाने की व्यथा से है।"

प्रायः प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रियतम वस्तु की ही सौगन्ध खाता है। अयोध्या कांड में कैकई भरत की सौगन्ध खाती है, दशरथ राम की। किन्तु, हनुमान सब पर्वतों की सौगन्ध लेते हैं और उन कन्दमूल फलों की, जिनका उपयोग उन्होंने किया है। वे कहते हैं, "देवि! मन्दर अदि पर्वत हमारे वासस्थान हैं और फल–मूल हमारा भोजन। अतः मैं मन्दराचल, मलय, विन्ध्य, मेरु तथा दर्दुर पर्वत की और अपनी जीविका के साधन, फल–मूल की सौगन्ध खाता हूँ कि आप शीघ्र ही श्री राम का नवोदित चन्द्रमा के समान मनोहर मुख देखेंगी, जो सुन्दर नेत्र बिम्बफल के समान लाल–लाल ओठ और सुन्दर कुंडलों से अलंकृत एवं चित्ताकर्षक है। श्वेत एरावत की पीठ पर बैठे हुए देवराज इन्द्र के समान प्रस्रवन गिरि के शिखर पर विराजमान श्री राम का आप शीघ्र ही दर्शन करेंगी। श्री राम ने माँस खाना छोड़ दिया है, न ही वे मधु का सेवन करते हैं। वे सदा चार समय उपवास करके पाँचवें सन्ध्या के समय, जो कुछ पेड़ों से प्राप्त हो जाता है या नीचे मिलने वाले जंगली फल–मूल आदि का भोजन करते हैं।" पूरी 'रामायण' में इस लोक प्रचलित मत का कोई आधार नहीं मिलता कि राम, लक्ष्मण और सीता शाकाहारी थे। इसके विपरीत यत्र–तत्र पर्याप्त संकेत मिलते हैं कि वे माँस का सेवन करते थे। इसीलिये हनुमान कहते हैं कि अब श्री राम ने माँस खाना भी छोड़ दिया है।

"उनका चित्त सदा आप ही में लगा रहता है। उनका ध्यान कहीं और जाता ही नहीं। वे आपके ध्यान में इतने खोये रहते हैं कि उन्हें अपने तन–बदन की भी सुध नहीं रहती। मच्छर कीड़े–मकोड़े उनके शरीर पर चढ़ जाते हैं और काटते रहते हैं, परन्तु वे उनको हटाते तक नहीं, यहाँ तक कि बड़े सर्पों को भी नहीं हटाते। यद्यपि ये उनके शरीर पर रेंगते रहते हैं, तो भी उन्हें कोई परवाह नहीं। उनको पता ही नहीं रहता कि वे उनको तंग कर रहे हैं। वे आपके ध्यान में इतने अधिक तल्लीन रहते हैं। श्री राम आपके प्रेम में इतने वशीभूत हैं कि सदा आपका ही ध्यान करते रहते हैं और निरन्तर आपके विरह–शोक में डूबे रहते हैं। आपको छोड़कर दूसरी कोई बात वे सोचते ही नहीं। श्री राम को सदा आपकी चिन्ता के कारण नींद कभी नहीं आती है। यदि कभी आँख लग भी जाती है, तो 'सीता–सीता' इस मधुर वाणी का उच्चारण करते हुए वे जल्दी से जाग उठते हैं। किसी फल, फूल अथवा स्त्रियों के मन को लुभाने वाली किसी अन्य वस्तु को भी जब देखते हैं, तब लम्बी श्वास लेकर बारम्बार, 'हा प्रिये! हा प्रिये' कहते हुए आपको पुकारने लगते हैं। श्री राम आपके लिये सदा दुःखी रहते हैं। 'सीता, सीता' कह कर आपकी ही रट लगाये रहते हैं तथा उत्तम व्रत का पालन करते हुए आपकी ही प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।" यहाँ पर कवि बड़ी सुन्दर परन्तु बिल्कुल स्वाभाविक उपमा देता है। श्री राम की चर्चा से सीता का अपना शोक तो दूर हो गया और उन्हें बड़ी सान्त्वना मिली, यह जानकर कि राम अब भी उनका स्मरण करते हैं और उनको लौटाने के लिए प्रयत्नशील हैं। किन्तु, राम के शोकग्रस्त होने के समाचार से वे स्वयं भी शोकग्रस्त हो गईं। उस समय विदेहनन्दिनी सीता ऐसी प्रतीत होती हैं, जैसे शरद ऋतु के आने पर मेघों के छट जाने से चन्द्रमा प्रतीत होता है।

अब मैं आपको हनुमान के सबसे लम्बे स्वगत भाषण का अनुवाद पढ़कर सुनाता हूँ। कवि सुन्दर कांड में अपनी विशिष्टता का प्रदर्शन करता है, जब वह एक विचारों की धारा में सलंग्न हनुमान का चित्रण करता है। इसका सम्यक मूल्यांकन करने के लिये हमें हनुमान की अन्तरात्मा में पैठना होगा मानो वे इस विचारधारा में आविष्ट हैं। वे एक विचार पर आते हैं। कवि बड़े रोचक ढंग से हनुमान के विचारों की धारा को प्रस्तुत करता है। मैंने दो अलग–अलग उद्धरणों को चुना है। पहले तेरहवाँ सर्ग प्रस्तुत है, जिसका उल्लेख मैंने पहले किया था।

विमान से उतरकर हनुमान महल के परकोटे पर चढ़ गए। उस पर बड़े वेग से घूमते–घूमते हुए वे मन ही मन इस प्रकार कहने लगे, "मेरे प्रयास सर्वथा असफल रहे। मैंने कई बार लंका को छान डाला, परन्तु सीता मुझे कहीं भी दिखाई न दी। मैंने तभी संभाव्य स्थानों की खोज की है। यहाँ के छोटे तालाब, कुंड, पोखर, सरोवर, सरिताएँ, नदियाँ पानी के आस पास के जंगल तथा दुर्गम पर्वत, किले, नगर–दुर्ग सभी देख डाले, किन्तु कहीं भी सीता जी का दर्शन नहीं हुआ। गृधराज सम्पाति ने तो

सीता को इसी नगरी में ही रावण के महल में वन्दिनी बताया था, फिर भी न जाने क्यों दिखाई न दीं। क्या रावण के द्वारा बलपूर्वक हरकर लाई हुई सीता कभी विवश होकर आत्मसमर्पण कर सकती हैं? यह असम्भव है क्योंकि वे तो किसी मर्त्य के गर्भ से उत्पन्न नहीं हैं। एक ब्रह्मज्ञानी उनके अभिभावक रहे हैं और विश्रुत इक्ष्वाकु कुल में उनका विवाह हुआ है। मैं तो समझता हूँ कि पीछा करते हुए श्री राम के बाणों से भयभीत वह राक्षस जब सीता को लेकर शीघ्रतापूर्वक आकाश में उछला, वह तत्काल कहीं बीच में छूट कर गिर पड़ी हैं। अथवा यह भी सम्भव है कि जब सीता सिद्ध सेवित आकाश मार्ग से ले जाती रही हों, उस समय नीचे लहर मारते हुए समुद्र को देखकर भयभीत होकर उनका हृदय ही फट गया हो और नीचे गिर पड़ा हो। अथवा यह भी हो सकता है कि रावण के प्रबल वेग और उसकी भुजाओं के दृढ़ बन्धन ने पीड़ित होकर सीता ने अपने प्राणों का परित्याग कर दिया हो। अथवा विमान के सहसा झटका खा सीता छटपटा कर समुद्र में गिर पड़ी हों। अवश्य ऐसा ही हुआ होगा। अथवा कहीं ऐया तो नहीं कि अपने शील की रक्षा में तत्पर तपस्विनी सीता को इस नीच नरभक्षी रावण ने खा लिया हो। ऐसा तो नहीं हुआ कि अपने शील की रक्षा में तत्पर तपस्विनी सीता को इस नीच नरभक्षी रावण ने खा लिया हो। कहीं ऐसा तो नहीं, मन में दुष्ट भावना रखने वाली रावण के अन्तःपुर स्त्रियों ने ही साध्वी सीता को अपना आहार बना लिया होगा। हाय! श्री राम के पूर्ण चन्द्रमा के समान द्युतिमान तथा प्रफुल्ल रक्त कमल सदृश मनोहर मुख का चिन्तर करती करती दयनीया सीता इस संसार से चल बसीं। 'हा राम, हा लक्ष्मण, हा अयोध्यापुरी,' इस पुकार-पुकार कर बहुत विलाप करके सीता ने अपना शरीर त्याग दिया होगा। एक संभावना यह भी है कि वे जीवित हों और रावण के किसी गुप्त गृह में छिपाकर रखी गईं हों। हाय! वहाँ यह बाला पिंजरे में बन्द मैना की भांति बारम्बार 'हा राम, हा राम' पुकारती हुई आर्तनाद कर रही होगी। इस बेजोड़ जोड़ी का कैसा दुर्भाग्य है। जो जनक के कुल में श्री राम की धर्मपत्नी बनीं, वह सीता कैसे रावण के अधीन हो सकती है, जिसे कोई भी नहीं रोक सकता, जिस पर कोई नियन्त्रण नहीं चल सकता? उनके पति के उत्सुक प्रश्नों का मैं क्या उत्तर दूँगा? वे गुप्त गृह में छिपा कर रखी गई हैं अथवा समुद्र में गिर कर प्राणों से हाथ धो बैठी हैं। अथवा श्री राम के विरह का कष्ट न सहन करने के कारण उन्होंने मृत्यु की शरण ली है, किसी भी दशा में श्री राम को इस बात की सूचना देना उचित न होगा क्योंकि वे अपनी पत्नी को अत्यन्त प्यार करते हैं।"

उन्होंने पुनः सोचा, "इस समाचार को बताने में भी दोष है। और न बताने में भी दोष की संभावना है, दोनों विकल्प भी दुष्कर प्रतीत होते हैं। ऐसी दशा में जब कोई भी कार्य करना दुष्कर प्रतीत हो, तो मेरे लिए उस समय क्या करना उचित होगा? यदि मैं सीता को बिना देखे किष्किन्धा लौट जाऊँगा, तो मेरा पुरुषार्थ ही क्या रह जायेगा? फिर तो मेरा यह समुद्र-लंघन, लंका में प्रवेश और राक्षसों को देखना, सब व्यर्थ हो

जायेगा। किष्किन्धा लौटकर यदि मैं अपनी असफलता को स्वीकार करूँ, तो मुझसे मिलकर सुग्रीव तथा अन्य आशा बाँधे हुए वानर तथा वे शोकाकुल दशरथ कुमार भी क्या कहेंगे? यदि वहाँ जाकर मैं यह कठोर नकारात्मक बात कह दूँ कि मुझे सीता का दर्शन नहीं हुआ, तो वे इस आघात को सहन न कर सकेंगे और प्राणों का परित्याग कर देंगे। सीता के विषय में ऐसे दुर्वचन को सुनकर वे एक क्षण भी जीवित नहीं रहेंगे। उन्हें प्राणों के परित्याग का संकल्प करते देखकर, उनके प्रति अत्यन्त अनुराग रखने वाले संवेदनशील लक्ष्मण भी जीवित नहीं रहेंगे। भाइयों के विनाश का समाचार सुनकर भरत भी प्राण त्याग देंगे और भरत की मृत्यु देखकर शत्रुघ्न भी जीवित न रह सकेंगे। इस प्रकार चारों पुत्रों की मृत्यु देखकर कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी– तीनों माताएँ भी निस्सन्देह प्राण त्याग देंगी। मेरे प्रतापी स्वामी कृतज्ञ और सत्यप्रतिज्ञ वानरराज, सुग्रीव भी राम के अपने प्रति उपकारों का स्मरण करके और यह सोचकर कि उनके बदले में क्या कुछ करें। जब राम को ऐसी अवस्था में देखेंगे, तो इस विपत्ति को सहन न कर सकेंगे और स्वयं ही प्राण विसर्जन कर देंगे। तत्पश्चात् पतिशोक से पीड़ित, दुःखितचित्त, दीन, व्यथित और आनन्दशून्य प्रियतमा तपस्विनी रूमा भी प्राण त्याग देगी। फिर तो अभागिनी रानी, तारा भी जीवित न रह सकेंगी। वे वाली के विरह जनित दुःख से पीड़ित तो हैं ही, इस अकस्मात शोक से कातुर होकर मृत्यु को प्राप्त हो जायेंगी। माता पिता के विनाश और चाचा सुग्रीव के संकट से पीड़ित अनाथ कुमार अंगद भी अपने प्राणों का परित्याग कर देंगे।"

"तदनन्तर स्वामी के दुःख से पीड़ित सम्पूर्ण वानर अपने हाथों और मुक्कों से सिर पीटने लगेंगे। यशस्वी वानरराज ने सान्त्वना पूर्ण वचनों और दान-मान से जिनका पालन पोषण किया था, वे वानर अपने प्राणों का परित्याग कर देंगे। ऐसी अवस्था में, शेष वानर भी वन, पर्वत, गुफा और घाटियों के एकान्त स्थान में एकत्रित होकर कभी क्रीडा-विहार का आनन्द न ले सकेंगे। अपने राजा के शोक से पीड़ित सहस्त्रों वानर अपने पुत्र, स्त्री और मंत्रियों सहित पर्वतों के शिखर के नीचे सम अथवा विषम स्थानों में गिरकर प्राण त्याग देंगे अथवा सारे विष पी लेंगे या फाँसी लगा लेंगे या जलती अग्नि में प्रवेश कर जायेंगे अथवा अनशन करने लगेंगे या शरीर में छुरा भोंक कर मृत्यु को प्राप्त होंगे। मेरे घर लौटने पर, मैं समझता हूँ, बड़ा भयंकर आर्तनाद होगा। इक्ष्वाकु कुल का विनाश और समस्त वानर जाति का नाश हो जायेगा। अतएव, मैं यहाँ से किष्किन्धा तो नहीं जाऊँगा। सीता को देखे बिना मैं सुग्रीव का भी दर्शन न कर सकूँगा। यदि मैं यहीं ठहरा रहूँ और वहाँ न जाऊँ, तो मेरी आशा लगाए वे दोनों धर्मात्मा महारथी बन्धु प्राण धारण किए रहेंगे और वे वेगशाली हँसमुख मेरे प्रिय वानर गण जीवित रहेंगे। अपने महान उद्देश्य, जानकी के दर्शन में विफल होने पर मैं यहाँ एक वृक्ष तले रहने वाला वानप्रस्थी हो जाऊँगा। मेरे हाथ पर अपने आप गिर कर जो खाद्य वस्तु प्राप्त हो जायेगी, उसी को खाकर रहूँगा और उसी से अपना

निर्वाह करूँगा। अथवा सागर तटवर्ती किसी स्थान पर, जहाँ फल–मूल और जल अधिक प्राप्त होता है, मैं चिता बना कर जलती अग्नि में प्रवेश कर जाऊँगा। दूसरा विकल्प यह भी हो सकता है कि आमरण उपवास के लिये तनकर बैठ जाऊँ, जिससे मेरे शरीर को कौवे तथा हिंसक जन्तु अपना आहार बना लें मैं। अपनी योजनाएँ क्यों बनाऊँ? यदि मुझे जानकी का दर्शन नहीं हुआ, तो मैं प्रसन्नतापूर्वक जल समाधि ले लूँगा। मेरे विचार में इस प्रकार जल प्रवेश करके परलोक गमन करना ऋषियों की दृष्टि में भी उत्तम ही है। हाय! कितनी आशाजनक थी वह रात्रि, जब इसका आरम्भ हुआ था, जिसका प्रारम्भ शुभ था। ऐसी सुभगा, यशस्विनी, मेरी कीर्तिमालारूपा, यह दीर्ध रात्रि भी सीता को देखे बिना बीत गई। अरे, मैं भी कितना मूर्ख हूँ। किन निराशाजनक विचारों में डूब गया? निराशा के सामने झुकना मानो अनिष्टों को आमन्त्रित करना है। इस पवित्र जीवन का नाश करने में बहुत से दोष हैं। जो पुरुष जीवित रहता है, वह कभी न कभी कल्याण का भागी बनता है। अतएव, मै इन प्राणों को धारण किये रहूँगा। जीवित रहने पर अभीष्ट वस्तु अथवा सुख की प्राप्ति अवश्य होती है।"

तदनन्तर कपिश्रेष्ठ हनुमान ने पराक्रम का सहारा लेकर सोचा, "क्या हो गया, मेरे शौर्य को, मेरे पराक्रम को? घमंडी महाबली देशमुख रावण का ही क्यों न वध कर डालूँ? भले ही सीता का अपहरण हो गया हो, इस रावण को मार डालने से उस वैर का भरपूर बदला ले लिया जायेगा अथवा इस रावण का बन्दी बनाकर उठाकर समुद्र के ऊपर–ऊपर ले आऊँ और जैसे पशुपति (अग्नि) को पशु अर्पित कर दिया जाता है, उसी प्रकार श्री राम के हाथ इसको सौंप दूँ।" पुनः इस प्रकार विचार करने लगे, "क्यों न मैं ज़रा और ठहरूँ? क्यों इन व्यर्थ चिन्तन और आशंकाओं से घिरा रहूँ। मुझे सीता की और खोज करनी चाहिए। जब तक मैं सीता का दर्शन न कर लूँगा, तब तक इस लंकापुरी में बारम्बार खोज करता रहूँगा। मेरे अनमयस्क दिमाग़ में और एक विचार आया। यदि सम्पाति के आश्वासन पर कि सीता लंका में हैं, मैं किष्किन्धा जाकर श्री राम को बुला भी लूँ, तो क्या होगा? उनके द्वारा अनेक साहसिक कार्य तो होंगे, परन्तु अपनी पत्नी को यहाँ ने देखकर उनका क्रोध एक अनिवाप्य अग्नि की तरह हो जायेगा और समस्त वानर दल को जलाकर भस्म कर देगा।"

"अब तो मेरे लिये केवल एक ही विकल्प बचा है। मैं यहाँ नियमित आहार पर पूरा इन्द्रियसंयम बरतता हुआ यहीं निवास करूँ। इससे मेरे कारण वे समस्त नर और वानर तो नष्ट न होंगे। ओह! इधर तो एक बहुत बड़ी अशोक–वाटिका है। इसके भीतर बड़े–बड़े वृक्ष हैं। इसमें मैंने अभी तक खोज नहीं की है। अतएव, अब इसके भीतर चलकर ढूँढना चाहिए। यह विचार मुझे नए सिरे से प्रयत्न करने को उत्साहित कर रहा है। मैं यहाँ से वसु, रुद्र, आदित्य, अश्विनीकुमार और मरुद्गणों को नमस्कार करके अशोक–वाटिका में चलूँगा। मार्ग में यदि कोई राक्षस बाधा डालते हैं, तो मैं उन्हें

समाप्त कर दूँगा। वहाँ समस्त राक्षसों को जीत कर मैं राम की पत्नी सीता को खोज निकालने की आशा करता हूँ। जैसे देवता किसी तपस्वी को उसकी तपस्या का लक्ष्य सिद्धि के रूप में प्रदान करता है, इस प्रकार मैं भी श्री राम के हाथ में सीता का सौंप दूँगा।" इस प्रकार दो घड़ी तक सोच–विचार कर चिन्ता से शिथिल इन्द्रियवाले लक्ष्मण सहित श्री राम को नमस्कार है। हनुमान सहसा उठ खड़े हुए और देवताओं को नमस्कार करते हुए बोले, "जनकनन्दिनी दिव्या सीता देवी को भी नमस्कार। रुद्र, इन्द्र, यम और वायु देवता को नमस्कार। चन्द्रमा, अग्नि एवं मरुद्गणों को भी नमस्कार है।" इस प्रकार सबको तथा सुग्रीव को भी नमस्कार करके उनसे आशीर्वाद की याचना करके हनुमान सम्पूर्ण दिशाओं की ओर दृष्टिपात करके अशोक–वाटिका में जाने के लिए उद्यत हुए। "इन गुरु जनों के अनुग्रह से मैं अब इस सुरक्षित वाटिका में प्रवेश करता हूँ। जगत के प्राण स्वरूप मेरे पिता वायु देवता भी यहाँ अधिक वेगमान नहीं है। मैंने श्री राम की कार्यसिद्धि और रावण से अदृश्य रहने के लिए शरीर को संकुचित कर लिया है। श्री राम ने तो सीता का पूरा–पूरा विवरण मुझे दे दिया है। मैं बिना किसी भूलचूक के उन्हें अवश्य पहचान पाऊँगा, यदि मैं उन्हें देख पाऊँ। सीता, जिसकी नाक ऊँची और दाँत सफ़ेद हैं, शरीर में चेचक आदि के कोई दाग़ नहीं है। मुख पर पवित्र मुस्कान सदा छायी रहती है, जिसके नेत्र प्रफुल्ल, कमलदल के समान सुशोभित हैं तथा जो निष्कलंक कलाधार तुल्य कमनीय कान्ति से युक्त हैं। अब उस आर्या सीता का मुख मुझे कब दिखाई देगा? इस क्षुद्र, नीच, नृशंस रूपधारी और अंत्यन्त दारुण होने पर अलंकार भूषित, विश्वसनीय वेष धारण करने वाले रावण ने उस तपस्विनी अबला को बलात्कार से अपनी अधीन कर लिया है। अब किस प्रकार मेरे दृष्टिपथ पर आ सकती है?"

चिन्ताजनक आशंकाओं का सूक्ष्म निरूपण कर उन्हें चिरस्थायी सौन्दर्य के छन्दों में आकार और रूप देने की कला का एक अन्य प्रयास इसी कांड में आगे मिलता है। हनुमान को बड़ा विस्मय हुआ अपने कारनामों पर, कि उन्होंने उसी अग्नि के द्वारा राक्षसों की नगरी का विध्वंस किया, जिसके द्वारा राक्षस उन्हें भस्मासात करना चाहते थे। पूरी नगरी को भस्मसात करने के पश्चात् ही उन्होंने अपनी पूँछ समुद्र में डुबो–डुबो कर बुझाई। लंका को अग्नि की भेंट कर हनुमान को इस कार्य के परिणामों पर सोचने के लिये विवश होना पड़ा। एक लापरवाह वानर होने के कारण उनका ध्यान परिणामों पर नहीं गया था।

तत्र देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः।
दृष्ट्वा लङ्कां प्रदग्धां तां विस्मयं परमं गताः।। V.54.50

दग्ध हुई लंका पुरी को देखकर देवता, गन्धर्व, सिद्ध और महर्षि बड़े विस्मित हुए। कवि यह नहीं कहता कि देवता इस कार्य से आनन्दित हुए। देवताओं के लिये बड़ा अशोभनीय होता, यदि वे विध्वंस को देखकर सचमुच आनन्दित होते।

हनुमान को जब अपनी करतूत का बोध हुआ, वे चिन्तित होकर सोचने लगे :

तस्याभूत् सुमहांस्त्रासः कुत्सा चात्मन्यजायत।
लङ्कां प्रदहता कर्म किंस्वित्कृतमिदं मया।। V.55.3

अपने द्वारा किए गए विनाश को देखकर उन पर बहुत त्रास छा गया और उन्हें अपने प्रति घृणा सी होने लगी। वे मन ही मन में कहने लगे, "हाय! मैंने लंका को जलाकर कैसा कुत्सित कर्म कर डाला!"

"यदि कोई व्यक्ति अपने हृदय में क्रोध, क्षोभ, घृणा आदि को स्थान दे देता है, तो उसके साथ अप्रत्याशित घटनाएँ घटती हैं। वह अजीब बातें करने लगता है, अजीब–अजीब सोचने लगता है। संसार के महामनस्वी महात्मा पुरुष यदि उनके मन या हृदय क्रोध से आक्रान्त हो और उससे वशीभूत होने लगते हैं, तो वे समस्त आन्तरिक शक्ति का संग्रह करके बुद्धि और ज्ञान के द्वारा उस पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। ऐसा ही मुझे भी करना चाहिए था। क्रोध के आवेश में पुरुष कौन सा पाप नहीं कर सकता? क्रोध से वशीभूत हुआ मनुष्य अपने माता–पिता और अपने गुरुजनों तक की हत्या कर सकता है। अधिक क्रोधित व्यक्ति किसी बात पर विचार नहीं कर सकता कि मुख से क्या कहना चाहिए और क्या नहीं। क्रोधी के लिये कोई काम निषिद्ध नहीं, और कोई शब्द निषिद्ध नहीं। असली पुरुष तो वही है, जो हृदय में उत्पन्न क्रोध को धैर्य और क्षमा द्वारा उसी तरह निकाल देता है, जैसे साँप अपनी पुरानी केंचुली को छोड़ देता है। वही सचमुच में पुरुष कहलाया जाना चाहिए।"

फिर उनके ख़यालों का सिलसिला आगे बढ़ता है। मैं इस भाग (V.55.8-36) का भी अनुवाद प्रस्तुत करता हूँ । "मैंने सीता की रक्षा का कोई विचार किए बिना ही सारी लंका जला डाली और इस प्रकार अपने स्वामी की ही हत्या कर डाली। मुझे धिक्कार है। यदि सारी लंका जल गयी, तो आयी जानकी भी निश्चत ही आग में जल गई होंगी। ऐसा करके मैने अनजाने में अपने स्वामी का सारा कार्य चौपट कर डाला। सीता की सुरक्षा ही सब उद्यम का एक मात्र उद्देश्य है। इसी कार्य सिद्धि के लिये सारे प्रयत्न किए गये थे। वह कार्य ही मैंने नष्ट कर दिया क्योंकि लंका जलाते समय मैंने सीता की सुरक्षा पर विचार नहीं किया, इसमें सन्देह नहीं। लंका दहन एक छोटा सा कार्य शेष रह गया था, जिसे मैंने पूरा किया। कितना सरल और सहज था अग्नि प्रज्ज्वलित कर देना, परन्तु क्रोध से पागल होने के कारण मैंने तो श्री राम के कार्य की जड़ ही काट दी। लंका का कोई भाग ऐसा दिखाई नहीं देता, जहाँ आग न लगी हो। सम्पूर्ण नगर को मैंने भस्म कर डाला। अतःएव, जानकी नष्ट हो गई, यह बात तो स्वतः स्पष्ट हैं। अपनी विपरीत बुद्धि और उतावलेपन के कारण मैंने सारा काम चौपट कर दिया। यहीं आज मेरे प्राणों का भी विसर्जन हो जाना चाहिए। यही मुझे ठीक लगता है। क्या मैं अब जलती आग में कूद पड़ूँ अथवा बड़वानल के मुख में? अथवा समुद्र में निवास

करने वाले जल–जन्तुओं को ही अपना शरीर समर्पित कर दूँ? अब जीते–जी कैसे वानरराज सुग्रीव, अन्य वानरों अथवा दोनों पुरुष सिंह, श्री राम और लक्ष्मण का दर्शन कर सकता हूँ या उन्हें अपना मुँह दिखा सकता हूँ? मैंने रोष के दोष से तीनों लोकों में विख्यात इस वानरोचित चपलता का ही यहाँ प्रदर्शन किया है। यह राजस भाव कार्य साधन में असमर्थ है। इसी रजोगुणमूलक क्रोध के कारण समर्थ होते हुए भी, मैंने सीता की रक्षा नहीं की। सीता के नष्ट हो जाने के समाचार से वो दोनों भाई श्री राम और लक्ष्मण भी नष्ट हो जायेंगे। उन दोनों के नष्ट होने से सुग्रीव भी बन्धु–बान्धवों सहित जीवित न रह सकेंगे। फिर इस समाचार को सुनकर भ्रातृवत्सल भरत और शत्रुघ्न भी कैसे जीवित रह जायेंगे? इस प्रकार धर्मनिष्ठ इक्ष्वाकु कुल के नष्ट हो जाने से सभी प्रजा भी शोक सन्ताप से पीड़ित हो जायेगी, इसमें संशय नही है। अतः सीता की रक्षा न करने के कारण मैंने अपने धर्म और अर्थ संग्रह को नष्ट कर दिया। अतएव, मैं बड़ा भाग्यहीन हूँ। मेरा हृदय रोषदोष के वशीभूत है, इसलिए मैं अवश्य ही लोक विनाशक हूँ। मुझे सम्पूर्ण जगत में विनाश के पाप का भागी होना पड़ेगा।"

इस प्रकार, जब वे दुःखभरे विचारों विमग्न थे, हनुमान को कई शुभ शकुन दिखाई दिए, जिनके अच्छे फलों का वे पहले भी अनुभव कर चुके थे, यद्यपि उन्होंने इस पर ध्यान नहीं दिया। अब फिर उनके विचारों में नया मोड़ आया और वे इस प्रकार सोचने लगे :

"नहीं, नहीं, स्थिति इतनी ख़राब नहीं है। सर्वांग सुन्दरी सीता तो अपने तेज से सुरक्षित है। कल्याणी जनकनन्दिनी का नाश कदापि न होगा क्योंकि अग्नि, अग्नि को नहीं जलाती। सीता अमित तेजस्वी धर्मात्मा श्री राम की पत्नी हैं। वे अपने चरित्र बल से, पातिव्रत्य के प्रभाव से सुरक्षित हैं। अग्नि उन्हें छू भी नहीं सकती। हाँ! मुझे ध्यान भी आया, देह दाहक अग्नि मुझे भी नहीं जला सकी मानो अग्नि तत्व के देवता अपनी प्रकृति को भूल गये हों। अवश्य ही इसका कारण था, श्री राम के अद्वितीय गुणों का प्रभाव और विदेह नन्दिनी सीता का पुण्यबल। फिर वे भरत आदि तीनों भाइयों की आराध्य देवी और श्री राम की हृदयवल्लभा हैं। वे आग से कैसे नष्ट हो सकेंगी? फिर भी यह दाहक अग्नि अपना प्रभाव तो रखती ही है अर्थात् सबको जला सकती है, उसने मेरी पूँछ भी न जलाई, क्योंकि मैं तो उनकी सेवा में संलग्न हूँ, वह जानकी को कैसे जला पायेगी?" उस समय हनुमान ने वहाँ विस्मित होकर पुनः उस घटना का स्मरण किया, जबकि समुद्र के जल में उन्हें मेनाक पर्वत का दर्शन हुआ था। "मैं यह कैसे भूल गया कि मेनाक के शिखर ने समुद्र जल से ऊपर उठकर किस प्रकार मुझे आतिथ्य प्रदान किया था, केवल इस लिये कि मेरा कार्य देवाधिदेव श्री राम की सेवा के लिये था।" वे सोचने लगे, "तपस्या तथा पति में अनन्य भक्ति के प्रभाव से आर्या सीता ही (यदि वे इच्छा करें) तो अग्नि को भी जला सकती हैं। आग उन्हें नहीं जला

सकती। निश्चय ही वह उनके समक्ष असमर्थ है। इस प्रकार भगवती धर्मपरायणा सीता के विषय में यह विचार करते हुए हनुमान ने आश्वासन देने वाली दिव्य वाणी सुनी। पर्वत, कन्दराओं अट्टालिकाओं, परकोटों और नगर के फाटकों सहित यह राक्षसों की लंका दग्ध हो गई। परन्तु सीता पर आँच नहीं आई, यह हमारे लिये बड़े आश्चर्य की बात है। हम आनन्द मानते हैं और सर्वशक्तिमान प्रभु का धन्यवाद करते हैं।" हनुमान ने जब ये अमृत समान वचन सुने, उनके हृदय में तत्काल हर्षोल्लास छा गया।

ततः कपिः प्राप्तमनोरथार्थस्तामक्षतां राजसुतां विदित्वा।
प्रत्यक्षतस्तां पुनरेव दृष्ट्वा प्रतियाणाय मतिं चकार।। V.55.36

राजकुमारी सीता को कोई क्षति नहीं पहुँची है, यह जानकर कपिवर हनुमान ने अपना सम्पूर्ण मनोरथ सफल समझा और पुनः सीता का दर्शन कर लौट जाने का विचार बनाया।

शीघ्र ही उन्हें पता लग जायेगा कि उनके स्वयं के अग्नि बचाव का कारण कम से कम अंशतः तो वह प्रार्थना थी, जो सीता देवी ने बड़े सद्भाव और एकाग्रमन से अग्निदेव के प्रति व्यक्त की थी। यह चार श्लोकों में व्यक्त है, जिन सबका अन्त '*शीतो भव हनूमतः*,' इन शब्दों से होता है। (V.53, 28.32)।*

◈◈◈

* देखिए अ.27.

बाईसवाँ अध्याय

रावण

अब हम 'रामायण' के दूसरे महान चरित्र पर आते हैं। इस काव्य के नायक, राम के साथ उसकी विषमता ध्यान देने योग्य है। वह टक्कर का प्रतियोगी है। महानता और धर्मशीलता दो पृथक गुण हैं– वे साथ–साथ सदा नहीं पाये जाते। कुछ चरित्रों में ये गुण अच्छे अनुपात में मिश्रित होते हैं। ऐसे लोग पृथ्वी उन पर गिने–चुने व्यक्तियों में होते हैं, जिनके गुण अनुकरणीय होते हैं। अपने उदाहरण से, अपनी उपलब्धियों से, इतिहास पर अपने प्रभाव से, ऐसे विरले लोग, जिनमें महानता और धर्मशीलता संयुक्त होती है, वे हमारे उद्धारक और पैग़म्बर हैं। किन्तु ऐसे व्यक्ति बहुत कम होते हैं। रावण उस वर्ग के व्यक्तियों में था, जिनमें महानता तो होती है, परन्तु धर्मशीलता नहीं। किन्तु, महानता में भी अपना निजी आकर्षण होता है। वस्तुस्थिति ऐसी है कि लोगों के मन में किसी भी ऐसे व्यक्ति के प्रति सम्मोहन पैदा हो जाता है, जो कई दृष्टियों से आशंका का विषय बन जाता है। जो लोग सनसनीदार उपन्यास अथवा अमरीका में बहुत बड़े पैमाने पर घटने वाले अपराधों का वर्णन पढ़ते हैं, उन्होंने अवश्य ही एक रोमांच अनुभव किया होगा, जो किसी नामी अपराधी के कार्यों के परिशीलन से जुड़ा होता है। अपराध भी यदि एक बड़े पैमाने पर किया जाये, तो वह भी मानव मन को आकर्षित करता है और उसको अपना दास बना लेता है। वस्तुतः यह सिनेमा के प्रचार–प्रसार से उत्पन्न भारी दुष्परिणामों में से एक माना जाता है। उपन्यास और कहानियाँ जिनकी विषयवस्तु बड़े पैमाने पर किए गये भयंकर परिणामों वाले दुष्कर्मों पर आधारित होती है, जैसे हत्याएँ, चोरी–डकैतियाँ, अपहरण की घटनाएँ, इत्यादि और जो कि बड़ी चतुराई से पहले से ही सुविचारित योजनाओं के अनुसार किये जाते हैं, ताकि पुलिस चक्कर में पड़ जाये और सदा के लिये अनिश्चय की स्थिति में रहे। इन महान अपराधों के विवरण हमारे मस्तिष्क और हमारी कल्पना पर गहरा प्रभाव डालते हैं, जिसे 'सम्मोहन' ही कहा जाता है। हमारा विवेक उसे कितना भी अनुचित ठहराये, किन्तु आँख उस दृश्य से हटती नहीं। मन बन्दी बन जाता है और शुद्ध हृदय वाले व्यक्ति भी इन सनसनीदार अपराधों की पुस्तकें बन्द नहीं कर पाते, जबकि साथ–साथ वे इन पुस्तकों के लेखकों को कोसते भी जाते हैं। रावण भी एक इसी प्रकार का असामान्य अपराधी था। किन्तु, जब हम उसे एक

जघन्य अपराधी की संज्ञा देते हैं, तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि हम उसमें विद्यमान असाधारण गुणों का नकारें, जिनका किसी को महान बनाने में योगदान रहता है। मन और मस्तिष्क के असाधारण प्रकार के गुणों के बिना, कोई भी मनुष्य एक कुशल अपराधी नहीं बन सकता। अतएव, रावण के चरित्र का अध्ययन हम बड़े ध्यान से करेंगे, यद्यपि नैतिक दृष्टि से यह चरित्र निन्दनीय है। तभी पता लगाना सम्भव हो सकेगा कि अन्ततः वे गुण कौन से हैं, जिनकी पहचान हम विशेष रूप से उसकी महानता के सन्दर्भ में करते हैं। एक प्रारम्भिक टिप्पणी और भी है। रावण और राम एक अत्यन्त सुस्पष्ट वैषम्य प्रदर्शित करते हैं। रात तो एक असामान्य प्रकार की महानता एवं साधुता के संगम थे। रावण में महानता तो थी, किन्तु साधुता का नितान्त अभाव था। परन्तु उनकी विषमता इतने पर ही समाप्त नहीं होती। राम के आविर्भाव से बहुत पहले ही रावण अपनी शक्ति और प्रभाव के शिखर पर पहुँच चुका था। वस्तुतः उसकी करतूतों के दसियों सहस्त्र वर्षों के उपरान्त ही जब देवताओं और ऋषियों को उसकी उग्रता असहनीय हो गई, तो उन्होंने उससे मुक्ति पाने के लिए विष्णु भगवान से प्रार्थना की। तत्पश्चात् विष्णु का चार रूपों में अवतार हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि आयु की दृष्टि से तो राम रावण की तुलना में केवल एक बालक ही थे। कवि द्वारा दिए गये आंकड़ों के आधार पर, उदार से उदार अनुमान के अनुसार भी, राम–रावण के महान लंका युद्ध के समय, राम की आयु उनतालीस और चालीस के बीच रही होगी। उस समय तक रावण अनेक तपस्याएँ पूरी कर चुका था। देवताओं को प्रसन्न कर उनसे वरदान रूप में बड़ी–बड़ी सिद्धि–शक्तियाँ ऐंठ चुका था, जिनका प्रयोग उसने जन–मानस को सताने में किया। फलस्वरूप, उसने अपने आपको इतना घृणित कुकर्मी बना लिया था कि उसे पकड़ कर, समाप्त करना आवश्यक हो गया था।

इसके अतिरिक्त ध्यान देने योग्य एक विशेष बात यह है कि इस काव्य में रावण की भूमिका केवल बारह मास के लिए है। इसी कालावधि के भीतर ही उसके कार्यकलापों का अधिकांश भाग आता है। कथानक एक अपराध से दूसरे अपराध पर बड़ी शीघ्रता से आगे बढ़ता है, जब तक कि चरमबिन्दु नहीं पहुँच जाता। यदि राम रावण की तुलना में केवल बालक ही थे, तो फिर सीता का क्या कहना? वे तो केवल एक छोटी–सी बच्ची ही थीं। यह सब कुछ होते हुए भी सीता के प्रति रावण की आसक्ति इस काव्य का सार है, और सम्पूर्ण त्रासदी का रचयिता। एक पन्द्रह या बीस सहस्त्र वर्ष की आयु वाला व्यक्ति एक बीस या पच्चीस वर्षीया किशोरी पर प्रेमासक्त हो जाता है। इसी से कथावस्तु का आरम्भ होता है। कितनी विचित्र बात है! कदाचित् कुछ इने–गिने लोगों ने ही इस अपराध की विचित्रता पर ध्यान दिया होगा। फिर भी हम देखते हैं कि जब राम–सीता और रावण के संपर्क में आते हैं, तो उनका उसके प्रति व्यवहार लगभग बराबरी के आधार पर होता है, मानो वे समवयस्क और महत्ता के व्यक्ति थे। अवश्य ही यह एक अजीब बात है। कथावस्तु के लिये यह अवश्यंभावी ही

था कि उसकी क्रूरतायें चरम सीमा पर पहुँच चुकी हों, इससे पूर्व की उसके शत्रु का आविभवि हो। परन्तु निश्चित रूप से ध्यान देने योग्य यह बात है कि कथानक का आधार बिन्दु है, अनुरक्ति, जो कि एक वयोवृद्ध अथवा प्रौढ़ व्यक्ति के मन में एक छोटी सी बच्ची के प्रति जन्म लेती है।

अब हम देखेंगे, कितने बड़े पैमाने पर कवि द्वारा रावण का चरित्र चित्रित किया गया है। पहले मैं उल्लेख करूँगा, उनकी दीर्घकालीन और दुस्साध्य तपस्याओं का, जो उसने महान सिद्धि–शक्तियों को प्राप्त करने के लिये की थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसी शक्तियाँ केवल मनुष्यों अथवा दिव्य कोटि के ऋषियों तक ही सीमित नहीं थी, अपितु देवगण और जड़ प्रकृति तक भी फैली हुई थीं और जड़ प्रकृति को दमन करती थी। यहाँ एक हास्यास्पद प्रसंग का उल्लेख किया जाता है, जो जटायु से सम्बद्ध है। यह उस समय की बात है, जब जटायु ने सीता की रक्षा के लिये रावण से युद्ध करने का प्रयास किया था। जटायु रावण से कहते हैं, "अब मैं तो बूढ़ा हो गया और तुम अभी तक युवक हो (रावण के लिये युवक कहा जाना कुछ आश्चर्यजनक है, परन्तु स्मरण रहे कि जटायु कहते हैं कि वे उस समय साठ हज़ार वर्ष के हैं, जबकि रावण उस समय बीस हज़ार वर्ष का है। जटायु उसे तुलना में अवश्य नवयुवक कह सकते हैं)।"

षष्टिर्वर्षसहस्राणि मम जातस्य रावण।
पितृपैतामहं राज्यं तथावदनुतिष्ठतः।।
वृद्धोऽहं त्वं युवा धन्वी सशरः कवची रथी।
तथाप्यादाय वैदेहीं कुशली न गमिष्यसि।।
न शक्तस्त्वं बलाद्धर्तुं वैदेहीं मम पश्यतः। III.50.20-22

"रावण! बाप दादों से प्राप्त इस पक्षिराज्य का विधिवत पालन करते हुए मुझे जन्म लेकर अब तक साठ हज़ार वर्ष व्यतीत हो गए। अब मैं बूढ़ा हो गया हूँ और तुम नवयुवक हो। निस्सन्देह शक्ति तुम्हारे पक्ष में है। मेरे पास तो युद्ध का कोई साधन नहीं है। किन्तु, तुम्हारे पास धनुष, कवच, वाण, तथा रथ सब कुछ है। फिर भी तुम सीता को लेकर कुशलपूर्वक न जा सकोगे। मेरी आँखों के सामने तुम सीता का बलपूर्वक अपहरण न कर सकोगे।"

अब हम कुछ चर्चा करते हैं, रावण की तपस्याओं के विषय में। इन पौराणिक कथाओं के लिये भी यह प्रसंग असाधारण है। मान्यताओं के अनुसार रावण दस सिरों वाला पैदा हुआ था। कहा जाता है कि तपस्या के प्रत्येक सहस्त्र वर्ष उपरान्त वह अपने सिर की आहुति अग्नि देवता को दिया करता था। इस प्रकार नौ सहस्त्र वर्ष बीतते उसने अपने नौ सिर अग्नि को भेंट कर दिए थे। दस सहस्त्र वर्ष व्यतीत होने पर जब वह अपना दसवाँ सिर भी अग्नि को भेंट करने जा रहा था, उस समय ब्रह्मा ने उससे प्रसन्न होकर पूछा कि उसकी इच्छा क्या है? रावण ने अमरत्व का वर माँगा। ब्रह्मा बोले, "ऐसा वर तो मैं प्रदान नहीं कर सकता। अमरत्व तो नहीं मिल सकता, किन्तु

कुछ इने–गिने वर्गों से क्षति के प्रति सुरक्षा माँग सकते हो।" उसने बहुत से समुदायों के नाम गिनाए कि कोई भी जो देवता, असुर, राक्षस यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, पन्नग इत्यादि वर्ग का हो वह उसे मार न सके। कहा जाता है कि उसने मनुष्य जाति का उल्लेख ही नहीं किया क्योंकि उसकी धारणा थी कि मनुष्य तो अत्यन्त तुच्छ है और उनके विषय में यह कल्पना करना निराधार था कि वे उसका वध करने में समर्थ हो भी सकते हैं। वैसे तो यह प्रसंग स्पष्ट नहीं है क्योंकि विवरणों में विभिन्नता है। एक विवरण बाल कांड में मिलता है, और उत्तर कांड कुछ और विवरण है, किन्तु इनमें जो अन्तर है, वह बड़ा रोचक है। क्या रावण ने मनुष्य का उल्लेख किया था और कह दिया था, "मुझे मनुष्य से सुरक्षा की आवश्यकता नहीं," और इस प्रकार उन्हें अपनी सूची से बाहर निकाल दिया अथवा उसने मनुष्यों को छोड़ अन्य वर्गों का उल्लेख किया था, यह स्पष्ट नहीं था। उत्तर कांड में वर्णन इस प्रकार है :

सुपर्णनागयक्षाणां दैत्यदानवरक्षसाम्।
अवध्योऽहं प्रजाध्यक्ष देवतानां च शाश्वत।।
न हि चिन्ता ममान्येषु प्राणिष्वमरपूजित।
तृणभूता हि ते मन्ये प्राणिनो मानुषादयः।। VII.10.19,20

"मैं गरुड़, नाग, यक्ष, दैत्य, दानव, राक्षस, तथा देवताओं के लिये अवध्य हो जाऊँ। अन्य प्राणियों से चिन्ता नहीं है। मनुष्य आदि अन्य जीवों को तो मैं तिनके के समान समझता हूँ। वे सब तो मुझे इतने तुच्छ प्रतीत होते हैं कि उनसे सुरक्षा के लिये आपसे वर माँगने की आवश्यकता नहीं समझता (शब्द '*आदय* कुछ ध्यान देने योग्य है)।"

बाल कांड में यह प्रसंग कुछ अन्य प्रकार से है :

स हि तेपे तपस्तीव्रं दीर्घकालमरिंदम।
येन तुष्टोऽभवद् ब्रह्मा लोककृल्लोकपूर्वजः।।
संतुष्टः प्रददौ तस्मै राक्षसाय वरं प्रभुः।
नानाविधेभ्यो भूतेभ्यो भयं नान्यत्रं मानुषात्।।
अवज्ञाताः पुरा तेन वरदाने हि मानवाः। I.16.4-6

उस निशाचर ने दीर्घकाल तक तपस्या की थी। जिससे सब लोगों के पूर्वज, लोकसृष्टा ब्रह्मा जी उस पर प्रसन्न हो गए। उस पर संतुष्ट हुए ब्रह्मा ने उस राक्षस को यह कह दिया कि तुम्हें नाना प्रकार के प्राणियों में से मनुष्य के अतिरिक्त किसी से भय नहीं है। वरदान लेते समय उस राक्षस ने मनुष्यों को दुर्बल समझकर उनकी अवहेलना की। मनुष्यों को छोड़कर ब्रह्मा ने उसे और सबसे अभयदान दे दिया। रावण मनुष्यों को तिरस्कार की दृष्टि से देखता था और इसीलिए उसने मनुष्य को अपने वर में सम्मिलित नहीं किया। देवता जब विष्णु से मिले, तो उन्होंने कहा, "रावण तो केवल मनुष्य के द्वारा ही मारा जा सकता है, अन्य किसी प्राणी द्वारा नहीं।"

अब प्रश्न यह उठता है कि जिस शब्द का प्रयोग उत्तर कांड में हुआ है, वह है '*मनुषादयः*'। जब रावण ने मनुष्य को महत्त्व न देते हुए उनके विषय में सोचा ही नहीं, तो वानरों के विषय में क्या ही सोचा होगा? उनको तो उसने और भी तिरस्कार भाव से देखा होगा और उन्हें वरदान के क्षेत्र से सर्वथा निकाल दिया होगा। एक छोटा सा संकेत जो मिलता है, वह बहुत दिलचस्प है और विचारणीय है। जब घमासान युद्ध हो रहा था और विरोधी सेनाएँ एक निर्णायक संघर्ष में आमने–सामने थीं, हनुमान ने रावण के आगे आकर उसे चुनौती दी। उसको चेतावनी देते समय, हनुमान ने कुछ अजीब शब्दों का प्रयोग किया :

देवदानवगन्धर्वैर्यक्षैश्च सह राक्षसैः।
अवध्यत्वं त्वया प्राप्तं वानरेभ्यस्तु ते भयम्।। VI.59.55

"तुमने देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष और राक्षसों से न मारे जाने का वर प्राप्त कर लिया है। परन्तु मेरी जाति से तो तुम्हें भय है। अतएव मैं तुम्हें मार सकता हूँ।"

हनुमान इस प्रकार रावण से वार्तालाप आरम्भ करते हैं। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या रावण ब्रह्मा से वानरों के विषय में कुछ कह भी सकता था? क्योंकि बाल कांड से एक सर्ग के अनुसार, इस जाति का सर्जन ही राम को महायुद्ध में सहायता देने के लिये हुआ था। अतएव, वानर रावण से पर्याप्त परवर्ती थे। इसलिये रावण ने वरदान माँगते समय उनका उल्लेख नहीं किया, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। किन्तु सदा की भाँति, कवि हमें एक प्रकार की समाधीनातीत समस्या में छोड़ देता है। बालि की आयु तो रावण से कदाचित् काफ़ी अधिक ही रही होगी। इसी प्रकार सुग्रीव, नल, नील, दैन्य, द्विविद– ये सब भी बड़े ही रहे होंगे क्योंकि इन्होंने भी देवताओं के साथ अमृतपान किया था। यह मानना सम्भव नहीं है कि सभी वानर रावण के परवर्ती थे। 'रामायण' में सभी आंकड़ों की भाँति, तिथियाँ भी उलझी हुई हैं। यह तथ्य कि वानरों का अस्तित्व पूर्व में भी था और उसमें से कुछ वानर विख्यात भी हो चुके थे, सुन्दर कांड में रावण द्वारा एक वक्तव्य से स्पष्ट हो जाता है। उसके दूत नगर में उस भयंकर ध्वंस का समाचार लाते हैं, जो हनुमान ने सीता से भेंट करने के बाद किया था। रावण जब यह आश्चर्यजनक समाचार सुनता है, कवि उससे इस प्रकार कहलवाता है :

दृष्टा हि हरयः पूर्वं मया विपुलविक्रमाः।
वाली च सह सुग्रीवो जाम्बवांश्च महाबलः।।
नीलः सेनापतिश्चैव ये चान्ये द्विविदादयः।
नैवं तेषां गतिर्भीमा न तेजो न पराक्रमः।।
न मतिर्न बलोत्साहौ न रूपपरिकल्पनम्।
महत्सत्त्वामिदं ज्ञेयं कपिरूपं व्यवस्थितम्।। V.46.10-12

"मैंने स्वयं पहले बड़े–बड़े शक्तिशाली वानर देखे हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं। बालि, सुग्रीव, जाम्बवान, सेनापति नील तथा द्विविद आदि। किन्तु उनका वेग इतना भयंकर नहीं है और न ही उनमें ऐसा पराक्रम, बुद्धि, बल, उत्साह तथा रूप धारण करने की शक्ति है। जो विवरण तुम इस वानर का दे रहे हो, वह इतना विलक्षण है कि वह उन वानरों के कारनामों से कहीं अधिक बढ़ चढ़ कर मालूम होता है। मैंने इस वानर के विषय में कभी नहीं सुना था। यह हनुमान, जिसका विवरण तुम दे रहे हो, अवश्य ही वानर के रूप में कोई शक्तिशाली जीव प्रकट हुआ है, ऐसा जानना चाहिए।"

अतएव, स्पष्ट है कि वानर जाति का अस्तित्व था, उस समय और निस्सन्देह रावण ने उनके विषय में सुना था। यदि ऐसा था, तो क्या रावण का कथन ठीक है कि उसने हनुमान के विषय में कभी नहीं सुना था? हनुमान, जब सीता की खोज में आये, उस समय वे हृष्ट–पुष्ट युवक रहे होंगे। बाल्यकाल में ही वे ग्रहणयुक्त सूर्य* की ओर दौड़ गये थे और उस समय सूर्य और छायाग्रह को बचाने के लिये स्वयं इन्द्र को आना पड़ा था। उस समय इन्द्र ने कुपित होकर वज्र का प्रहार किया, जिससे उनकी हनु (ठोड़ी) का बाँया भाग खंडित हो गया। तभी से वे हनुमान कहलाये। उनके पिता वायुदेव को अपने छोटे शिशु को क्षति के कारण बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने तीनों लोकों में प्रवाहित होना छोड़ दिया। परिणामतः संसार में दम घुटने की स्थिति हो गई और तीनों लोकों में हाहाकार मच गया। एक बड़ी सभा बुलाई गई। गन्धर्व, देवता, असुर, मनुष्य– सभी प्रजा व्यथित होकर प्रजापति ब्रह्मा के पास पहुँचे। तदनन्तर सबके साथ ब्रह्मा जी वायुदेव के पास पहुँचे और उन्हें मना कर सन्तुष्ट किया। उस समय हनुमान को देवताओं के बहुत से वरदान प्राप्त हुए। यह वृत्तान्त एक शिशु का सूर्य की ओर दौड़ जाना, इस प्रकार देवताओं को भयभीत करना, वायुदेव का सब प्राणियों को श्वास हीन कर देना और फिर देवताओं का एकत्रित होना, शिशु हनुमान को इतने वरदान प्राप्त होना– ये सब घटनायें इतनी महत्त्वपूर्ण थीं कि रावण ने इनके विषय में अवश्य सुना होगा क्योंकि रावण एक ऐसा व्यक्ति था, जो इन देवताओं से संपर्क बनाये रखता था। कवि के अनुसार रावण की महानता इतनी भारी थी कि जब वह बाहर निकलता था, सब देवता भयाक्रान्त हो जाते थे। सूर्य देवता अपनी ऊष्मा मन्द कर देते, वायुदेवता धीरे बहने लगते और अपनी प्रचंड गति त्याग देते, समुद्र देवता अपना कोलाहल शान्त कर देते, नदियों का प्रवाह मन्द हो जाता, पर्वत अपना कूड़ा भूल जाते, इत्यादि। सारी प्रकृति निस्तब्ध और आतंकित हो जाती और रावण घूम रहा होता। यदि बात ऐसी थी और ये सब देवता हनुमान के कारण संकट में फँस गये थे, तो यह वृत्तान्त अवश्य ही रावण के कानों तक पहुँचा होगा। अतः रावण का यह कहना कि उसने नल, नील आदि के विषय में तो सुना है, किन्तु हनुमान के विषय में नहीं,

* देखिए अ.19, पृ.299.

कथानक के अन्य भागों से मेल नहीं रखाता। परन्तु इस प्रकार की असंगतियाँ इस काव्य में अनेक विद्यमान हैं, और कहीं इससे कहीं इससे भी बढ़कर है।

यह सत्य है, राम मनुष्य मात्र ही थे। किन्तु, अपने जीवन के आरम्भ में ही उन्होंने अतिमानवीय गुणों के प्रमाण दिये थे। वे पृथ्वी पर अपनी धाक जमा चुके थे। समस्त बसा हुआ भूमंडल उनकी महानता से परिचित रहा होगा। प्रतिद्वन्द्वी के रूप में उनका अद्‌भुत कौशल, प्रकृति तक पर उनका प्रभुत्व, संघर्षरत दुनिया के विरुद्ध अनुद्विग्न रूप से डटे रहने की क्षमता थी। यद्यपि उस समय भी बहुत से लोग उन्हें अवतार के रूप में करने लगे थे, यह एक विचित्र बात है कि पूरी 'रामायण' में रावण ने उन्हें एक मनुष्य मात्र से अधिक कुछ न माना और न ही यह कि मनुष्यों में भी उनका एक अति विशिष्ट मैं ही था। प्रमाण पर प्रमाण भी उसे मिलते रहे, पर वह स्वीकार करने को कभी भी तैयार न हुआ कि इस राम में कोई विशिष्टता भी थी। 'रामायण' के आरम्भ में ही, अरण्य कांड में बड़ा सुन्दर मारीच का एक लम्बा प्रसंग आता है, जो कई सर्गों में वर्णित है। मारीच राम के विषय में सब कुछ जानता था। उसको उनके महान कौशल और शक्ति का कटु अनुभव हो चुका था। उसे यह भी ज्ञात हो चुका था कि राम मनुष्य से बहुत कुछ ऊपर थे। वह उनके केवल मानवीय गुणों से अत्यन्त प्रभावित था और उन सबका उल्लेख रावण से करता है। फिर भी रावण इस प्रकार की बातें करता रहता था। वह मारीच से, राम के अपराध बता कर, उनकी पत्नी सीता के अपहरण के लिये कहता है :

अनुक्त्वा परुषं किंचिच्छरैर्व्यापारितं धनुः।
चतुर्दश सहस्राणि रक्षसामुग्रतेजसाम्।।
निहतानि शरैर्दीप्तैः मानुषेण पदातिना।
खरश्च निहतः संख्ये दूषणश्च निपातितः।।
हत्वा त्रिशिरसं चापि निर्भया दण्डकाः कृताः।
पित्रा निरस्तः क्रुद्धेन सभार्यः क्षीणजीवितः।।
स हन्ता तस्य सैन्यस्य रामः क्षत्रियपांसन।
दुःशीलः कर्कशस्तीक्ष्णः मूर्खो लुब्धोऽजितेन्द्रियः।।
त्यक्तधर्मा त्वधर्मात्मा भूतानामहिते रतः।
येन वैरं विनारण्ये सत्त्वमास्थाय केवलम्।
कर्णनासापहारेण भगिनी मे विरूपिता।। III.36.8-13 (मुंबई संस्करण)

"जन स्थान में मेरा भाई खर और बहन शूर्पणखा त्रिशिरा तथा अन्य निशाचर मेरी आज्ञा से वहाँ रहा करते थे। ये लोग भली भाँति सन्नद्ध होकर युद्ध में राम के साथ जा भिड़े। युद्ध के बीच रोष भरे हुए राम ने मुँह से कुछ कटु वचन बोले बिना ही बाणों के साथ धनुष का व्यापार आरम्भ कर दिया। वह तो केवल एक मनुष्य ही है और

अनेक प्रकार से तिरस्कार योग्य भी है। वह तो एक मरणशील प्राणी है, जो नंगे पैरों फिरता है, जो न रथ, न एक घोड़ा भी जुटा सकता है। फिर भी उसने अपने दमकते हुए बाणों से भयंकर तेज वाले चौदह सहस्त्र राक्षसों का विनाश कर दिया। उसी युद्ध में खर और दूषण भी मौत के घाट उतर गये। साथ ही त्रिशिरा का भी वध करके उसने दंडकारण्य को दूसरों के लिये निर्भय बना दिया। इस मनुष्य ने इतनी हानि पहुँचाई है। अतएव, वह मेरी शत्रुता का भाजन है। सम्पूर्ण दंडक वन, जहाँ पहले सब मुझसे डरते थे, वह एक अभय क्षेत्र बन गया है। मेरा हुक्मनामा अब वहाँ नहीं चलता। उसके पिता ने कुपित होकर उसे पत्नी सहित घर से निकाल दिया है। उसका जीवन क्षीण हो चला है। वह क्षत्रिय कुलकलंक राम ही उस राक्षस सेना का घातक है। वह शीलरहित, क्रूर और तीखे स्वभाव वाला, मूर्ख, लोभी धर्मत्यागी और समस्त प्राणियों को आहत करने वाला व्यक्ति है, जिसने बिना किसी वैर विरोध के कारण केवल उत्तेजना के बल पर मेरी बहन के नाक–कान काट कर विरूप कर दिया।" फिर मारीच उसे बताता है, "तुम्हें राम के विषय कुछ ग़लत धारणाएँ है। वह एक सद्चरित व्यक्ति हैं।"

रामो विग्रहवान् धर्मः साधुः सत्यपराक्रमः। III.37.13

"राम धर्म के मूर्त्त रूप हैं।"

परन्तु इन सब बातों का रावण पर कोई प्रभाव न पड़ा। कुछ पहलुओं ममें तो इस व्यक्ति की मन्दबुद्धिमत्ता देखने योग्य है। कवि उसको एक ऐसे व्यक्ति के रूप में भी चित्रित करता है, जिसमें किसी प्रकार का काई अन्धबिन्दु है। अन्य लोग, चाहे उनके महान सद्गुणों को उसके समक्ष रखें, लेकिन वह उनकी अनसुनी राम की कितनी भी प्रशंसा करें, वह उनकी अनसुनी कर देता था।

त्वद्वाक्यैर्न तु मां शक्यं भेत्तुं रामस्य संयुगे।
पापशीलस्य मूर्खस्य मानुषस्य विशेषतः।।
यस्त्यक्त्वा सुहृदो राज्यं मातरं पितरं तथा।
स्त्रीवाक्यं प्राकृतं श्रुत्वा वनमेकपदे गतः।। III.40.4,5

"तुम्हारे इन वचनों द्वारा मूर्ख, पापचारी और विशेषकर मनुष्य राम के साथ युद्ध करने से (अथवा उसकी स्त्री के अपहरण करने से) मुझे रोका नहीं जा सकता। एक मूर्ख स्त्री (कैकेयी) के वचन सुनकर वह राज्य, मित्र, माता–पिता को छोड़कर सहसा वन में चला आया और तुम उसे विभूति मानते हो और आशा करते हो कि मैं भी उसका सम्मान करूँ?"

शब्द 'मानव' का प्रयोग बार बार हुआ है, जबकि रावण राम के विषय में बोलता है, एक ऐसा शब्द, जिसको उसने मुँह से भी निकालना ठीक न समझा था, जब उसने ब्रह्मा से वरदान की याचना की थी। जब पहली बार वह जनस्थान में सीता से मिलता है, वह उन्हें अपनी पटरानी बनाने की इच्छा प्रकट करता है। विवाह का क्या

अर्थ होता है, इसके विषय में उसकी धारणा बड़ी विचित्र रही होगी। वह सीता से एक घृणित प्रस्ताव करता है और कहता है :

अङ्गुल्या न समो रामो मम युद्धे स मानुषः। III.48.19

"युद्ध में मनुष्य जातीय राम मेरी एक अँगुलि के बराबर भी नहीं है।"

ज़रा देखिये, कितनी गहरी तिरस्कार भावना उसके हृदय में मनुष्य जाति के प्रति थी। अगले सर्ग में वह फिर वही बात सीता से दोहराता है :

त्याज्यतां मानुषो भावी मयि भावः प्रणीयताम्।
राज्याच्च्युतमसिद्धार्थं मूढे परिमितायुषम्।।
कैर्गुणैरनुरक्तासि मूढे पण्डितमानिनि ।
यः स्त्रिया वचनाद्राज्यं विहाय ससुहृज्जनम्।।
अस्मिन्व्यालानुचरिते वने वसति दुर्मतिः।। III.49.13-15

"मनुष्य राम के प्रति जो थोड़ा बहुत अनुराग अभी भी है, उसे त्याग दो और मुझसे स्नेह करने लगो। उसकी तो मृत्यु समीप है और थोड़े ही दिनों में मैं उसका वध कर दूँगा, अपने आपको बुद्धिमति मानने वाली मूर्ख नारी! जो राज्य से भ्रष्ट है, उसके पास तुम्हें बचाने के लिए क्या साधन है? जिसका मनोरथ भी सफल नहीं हुआ और जिसकी आयु भी सीमित है, उस राम में किन गुणों के कारण तुम अनुरक्त हो? जिसने अपना साम्राज्य, विपुल सम्पत्ति, संसार में अपना प्रताप और गौरव बनाए रखने के सब साधन गँवा दिए, जो एक स्त्री के कहने से सुहृदोसहित समस्त राज्य का त्याग करके इस हिंसक जन्तुसेवित वन में निवास करते हैं, उसके लिये तुम क्यों अनुरक्त हो यह बात मेरी समझ में नहीं आती? उसकी बुद्धि कैसी खोटी है, वह तो सर्वथा मूर्ख है।"

तदनन्तर जब वह सीता को अपने निजी महल में ले जाता है, वह उसको अपने सब कक्षों की सैर कराता है और अपना भव्य, सुसज्जित कक्ष इत्यादि दिखलाता है और उनसे कहता है :

न देवेषु न यक्षेषु न गन्धर्वेषु नर्षिषु।
अहं पश्यामि लोकेषु यो मे वीर्यसमो भवेत्।।
राज्यभ्रष्टेन दीनेन तापसेन पदातिना।
किं करिष्यसि रामेण मानुषेणाल्पतेजसा।।
दुष्कृतं यत्पुरा कर्म वनवासेन तद्गतम्।।
यश्च ते सुकृतो धर्मस्तस्येह फलमाप्नुहि। III.55.20,21,27,28

"देवताओं, यक्षों, गन्धर्वों तथा ऋषियों में भी मैं किस को ऐसा नहीं देखता, जो मेरे पराक्रम का सामना कर सके। राम तो राज्यभ्रष्ट, दीन, तपस्वी, पैदल चलने वाला मनुष्य है। अतएव, अल्प तेज वाला व्यक्ति है। उन्हें लेकर क्या करोगी? इस सबको देखो, और देखो मेरी और भी! इसके पश्चात् क्या तुम राम का ध्यान भी कर सकती

हो? तुम्हारा पहले का जो दुष्कर्म था, वह अपने पति के साथ वनवास में बीत गया। अब तुम्हारा अच्छा समय आरम्भ होता है। अब जो तुम्हारे पुण्य कर्म हैं, उनका सुख तुम यहाँ भोगो।"

देखिए, वह राम को मनुष्य संबोधित करना नहीं भूलता। एक नमूना और भी :

स्वधर्मो रक्षसां भीरु सर्वथैव न संशयः।
गमनं वा परस्त्रीणां हरणं संप्रमथ्य वा।।
किं किरष्यसि रामेण सुभगे वीरवासिना।।
निक्षिप्तविजयो रामो गतश्रीर्वनगोचरः।
व्रति स्थण्डिलशायी च शङ्के जीवति वा न वा।।
न हि वैदेहि रामस्त्वां द्रष्टुं वाप्युपलप्स्यते।
न चापि मम हस्तात्त्वां प्राप्तुमर्हसि राघवः।।
न रामस्तपसा देवि बलेन न विक्रमैः।
न धनेन मया तुल्यस्तेजसा यशसापि वा।। V.20.5, 25-28, 34*

"भीरु! तुम यह न समझो कि मैंने कोई अधर्म किया है। पराई स्त्रियों के पास जाना अथवा बलात्पूर्वक अपहरण करना यह राक्षसों का अपना धर्म रहा है। चीर, वस्त्र धारण करने वाले राम को लेकर क्या करोगी? राम ने विजय की आशा त्याग दी है। वह श्रीहीन होकर वन में विचर रहा है; व्रत का पालन करता है और मिट्टी की वेदी पर सोता है। अब तो मुझे यह भी सन्देह होने लगा है कि वह जीवित भी हैं या नहीं। पाना तो दूर रहा तुमको राम देख भी नहीं सकता। वह यहाँ आ ही नहीं सकता। तुम भी अब कदापि उसे देख न पाओगी। यदि मान भी लिया जाये कि वह यहाँ तक पहुँच भी जाये, तो क्या तुम समझती हो कि वह तुम्हें मेरे हाथ से निकाल सकेगा? राम न तो तप से, न बल से, न पराक्रम से, न धन और न ही तेज अथवा यश द्वारा मेरी समानता कर सकता है।"

इसके पश्चात्, जब राम सुनिश्चित रूप से अपनी महानता स्थापित कर चुके थे, सेतु बनाकर लंका पर आक्रमण करने वाले थे, उस समय रावण द्वारा एक युद्ध परिषद बुलाई गई। रावण के वचनों को सुनने के पश्चात् महाबुद्धिमान माल्यवान नामक राक्षस, जो रावण का नाना भी था, इस प्रकार परामर्श देता है : "निस्सन्देह श्री राम अलौकिक व्यक्ति हैं। मैं तो ऐसा समझता हूँ कि साक्षात् भगवान विष्णु ही मानवीय रूप धर कर राम के रूप में आये हैं, मनुष्य, देवता और समस्त प्राणियों की रक्षा हेतु। जिन्होंने समुद्र में अत्यन्त अद्भुत सेतु बाँधा है, वे दृढ़ पराक्रमी राम साधारण मनुष्य मात्र नहीं है। अतएव, श्रेयस्कर तो यही है कि तुम उनके साथ सन्धि करके सीता को उन्हें लौटा दो।" परन्तु दुरात्मा रावण को यह स्वीकार्य न था। वह माल्यवान की

* देखिए अ.24.

हितकर बात को भी सहन न कर सका और आग–बबूला हो गया। यद्यपि माल्यावान उसके नाना थे, उनको भी फटकार देता है।

मानुषं कृपणं राममेकं शाखामृगाश्रयम्।
समर्थं मन्यसे केन त्यक्तं पित्रा वनालयम्।। VI.36.4

"तुम किस आधार पर कहते हो कि राम एक महत्त्व देने योग्य व्यक्ति है? राम तोम एक मनुष्य ही है, जिसने वानरों का आश्रय लिया है और वे ही उसके श्रेष्ठ मित्र हैं। उसके पिता ने भी उस राज्य से बाहर निकाल दिया है। अतएव, उसे वन की शरण लेनी पड़ी है। उसमें कौन सी विशेषता है, जिससे तुम उसे बड़ा सामर्थ्यशाली मान रहे हो?"

फिर वह आगे कहता है, "कमलहीन कमला की भाँति सुन्दरी सीता को लाकर अब केवल राम के भय से कैसे लौटा दूँ? कदापि नहीं, चाहे परिणाम कितना भी कटु क्यों न हो।" इस ही समय वह इस प्रसिद्ध वाक्य का उपयोग करता है। इसी समय वह *'द्विधा भज्येयम्'* (VI.36.11)* वाक्य का उपयोग करता है, "मैं बीच से दो टूक हो जाऊँगा, पर किसी के सामने झुक नहीं सकता। तुम चाहे इसे दोष कहो,पर यह मेरा जन्मजात सहज दोष है। स्वभाव किसी के लिए भी दुर्लध्य होता है। यह हठधर्मिता मेरे जन्म के साथ ही मुझ में पनपी है, मैं इससे बच नहीं सकता। अतएव, आपका सब परामर्श मैं बिना सोच विचार के अस्वीकार करता हूँ।"

परन्तु वास्तविकता की उपेक्षा नहीं की जा सकती। शीघ्र ही जब रावण को राम की विलक्षण शक्ति और युद्ध कौशल के प्रमाण मिलने लगे, कुछ अत्यन्त कटु अनुभवों के पश्चात्, उसे अहसास होने लगा कि इस तुच्छ मनुष्य में अवश्य ही कुछ दम है। पहली बार यह बोध उसे तब होता है, जब उस अत्यन्त प्रचंड मुठभेड़ के पश्चात्, जिसका उल्लेख मैं पहले कर चुका हूँ वह उस प्रचंड संघर्ष की स्मृति से पीड़ित, अपना रथ, धनुष, बाण आदि सब कुछ खो बैठा था और स्वंय को धरती पर खड़े पाता है। यदि राम इस परिस्थिति का लाभ उठाना चाहते, तो कुछ और बाणों द्वारा उसका काम तमाम कर सकते थे, परन्तु उन्होंने क्षात्रधर्म के उच्चतम आदर्शो को ध्यान में रखते हुए, एक बुरी तरह परास्त हुए शत्रु की विवशता का नाजायज़ लाभ नहीं उठाया और रावण को आशवस्त किया कि वे उसे कोई क्षति नहीं पहुँचायेंगे। वे उसे अपने महल की और लौटने का आदेश देते हैं और कहते हैं कि पूरा विश्राम करके अगले युद्ध के लिये तरोताज़ा होकर आये।

कृतं त्वया कर्म महत्सुभीमं हतप्रवीरश्च कृतस्त्वयाहम्।
तस्मात् परिश्रान्त इति व्यवस्यन्न त्वां शरैर्मृत्युवशं नयामि ।।
गच्छानुजानामि रणार्दितस्त्वं प्रविश्य रात्रिंचरराज लङ्काम्।
आश्वास्य निर्याहि रथी च धन्वी तदा बलं द्रक्ष्यसि मे रथस्थः।।
VI.59.142-143

* श्लोक के लिए देखिए अ.17, पृ.276.

भले ही ये शब्द उसे विष के समान लगे हो, परन्तु राम कील ओर से ये उदारता की प्रचुरता के परिचायक थे, "रावण! आज तुमने बड़ा भयंकर कर्म किया है। मेरी सेना के प्रधान–प्रधान वीरों को काट गिराकर तुमने अपना युद्ध कौशल दिखाया है। मैं स्पष्ट देख रहा हूँ, तुमने अत्यधिक प्रयास किया है। इसलिए इतने पर भी, थका हुआ समझकर मैं बाणों द्वारा तुम्हें मौत के घाट नहीं उतार रहा हूँ। मैं जानता हूँ, तुम युद्ध से पीड़ित हो। इसलिए आज्ञा देता हूँ, लंका में प्रवेश कर कुछ समय विश्राम करो। फिर नये रथ और नये धनुष–बाणों के साथ निकलना। उस समय रथ में बैठकर मेरा बल देखना।"

जीवन में पहली बार रावण को नामर्दन का अहसास हुआ, परन्तु लौट गया। पहली बार ही उसे भय का अहसास भी हुआ।

स प्रविश्य पुरीं लङ्कां रामबाणभयार्दितः।
भग्नदर्पस्तदा राजा बभूव व्यथितेन्द्रियः।।
मातङ्ग इव सिंहेन गरुडेनेव पन्नगः।
अभिभूतोऽभवद्राजा राघवेण महात्मना।।
ब्रह्मदण्डप्रकाशानां विद्युत्सदृशवर्चसाम्।
स्मरन् राघवबाणानां विव्यथे राक्षसेश्वरः।। VI.60.1-3

"श्री राम के बाणों और भय से पीड़ित रावण जब लंकापुरी में पहुँचा, तब उसका अभिमान चूर–चूर हो गया था। उसकी समस्त इन्द्रियाँ व्यथा से व्याकुल थी। जैसे सिंह गजराज को और गरुड़ विशाल नाग को पीड़ित कर देता है, उसी प्रकार श्री राम ने भी राजा रावण को अभिभूत कर दिया। वह शय्या पर लेटा, किन्तु, नींद न आने के कारण उठ कर बैठ गया और उसका ध्यान श्री राम के भंयकर बाणों पर गया। वे बाण उसे ब्रह्मदंड के प्रतीक जैसे प्रतीत हुए। उनकी दीप्ति चपला के समान चंचल थी। उनको याद करके राक्षस राज रावण के मन बड़ी व्यथा हुई।"

यह उद्धरण लम्बा है, परन्तु सुनने योग्य भी है। क्योंकि रावण को पहली बार यह अनुभव हुआ कि हरेक दृष्टि से उसके समक्ष शत्रु से उसका सामना हुआ है और पहली बार ही भावी पराजय की संभावना का अहसास हुआ।

स काञ्चनमयं दिव्यमाश्रित्य परमासनम्।
विप्रेक्षमाणो रक्षांसि रावणो वाक्यमब्रवीत्।।
सर्वं तत्खलु मे मोघं यत्तप्तं परमं तपः।
यत्समानो महेन्द्रेण मानुषेणारिम निर्जितः।।
इदं तद्ब्रह्मणो घोरं वाक्यं मामभ्युपस्थितम्।
मानुषेभयो विजानीहि भयं त्वमिति तत्तथा।।

देवदानवगन्धर्वैर्यक्षराक्षसपन्नगैः।
अवध्यत्वं मया प्राप्तं मानुषेभ्यो न याचितम्।। VI.60.4-7

सोने के बने हुए, दिव्य एवं श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठ कर रावण इस प्रकार कहने लगा, "मैंने जो हज़ारों वर्ष बड़ी तपस्या की थी, वह सब अवश्य ही व्यर्थ हो गई क्योंकि महेन्द्र तुल्य पराक्रमी माने जाने पर भी, मुझ रावण को एक मानव ने परास्त कर दिया।"

यहाँ हमें रावण द्वारा उन शब्दों का अर्थ–विस्तार देखने को मिलता है, जिनका प्रयोग ब्रह्मा ने रावण को वरदान देते समय किया था। वास्तव में शब्दों का प्रयोग इस प्रकार नहीं किया था, जिस प्रकार रावण अपने विकृत और अव्यवस्थित मस्तिष्क में ब्रह्मा पर आरोपित करता है, जिनको उन्होंने कभी कहा भी नहीं था। "ब्रह्म ने मुझ से कहा था कि तुम्हें मनुष्यों से भय प्राप्त होगा। इस बात को अच्छी प्रकार जान लो कि उनका कहा हुआ यह घोर वचन इस समय सफल होकर मेरे समझ उपस्थित हुआ है। मैंने तो देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सर्पों से अवध्य होने का वर माँगा था, मनुष्य से अभय होने की याचना नहीं की थी।" ब्रह्मा ने केवल ऐसा कहा था, "तुम इस के कारण नहीं मारे जाओगे।" परन्तु संकट की घड़ी में उसे ऐसा लगता है कि ब्रह्म ने कहा था, "मनुष्य से तुम्हें भय है।" विकृत कल्पना के कारण इस प्रकार तथ्यों का रूप बदल जाता है। रावण न केवल राम की शक्ति से ही भयभीत था, अपितु अपने अन्त की आशंका से घबरा गया था।

विदिंत मानुषं मन्य रामं दशरथात्मजम्। VI.60.8

यह पहला अवसर था, जब रावण ने 'मनुष्य' शब्द का प्रयोग, बिना तिरस्कार भावना से किया। उसे लगा, इस मनुष्य में कुछ विशेष तो है।

इक्ष्वाकुकुलनाथेन अनरण्येन यत्पुरा।।
उत्पत्स्यते हि मद्वंशे पुरुषो राक्षसाधम।
यस्तवां सपुत्रं सामात्यं सबलं साश्वसारथिम्।।
निहनिष्यति संग्रामे त्वां कुलाधम दुर्मते। VI.60.8-10

रावण ने अपनी एक दिग्विजय में राजा अनरण्य पर आक्रमण किया था। और उसको बहुत हानि पहुँचाई थी। इस पर उसने रावण को शाप दिया था, "पूर्वकाल में इक्ष्वाकु कुल राजा अनरण्य ने मुझे शाप देते समय कहा था, 'राक्षसाधम! दुर्मते! मेरे ही वंश में एक ऐसा श्रेष्ठ पुरुष उत्पन्न होगा, जो तुम्हें पुत्र, मंत्री, सेना सारथि अश्व और सहित समरांगण में मार डालेगा।' मालूम होता है, अनरण्य ने जिसकी और संकेत किया था, वह दशरथ पुत्र राम ही है।"

रावण को इस समय शाप का स्मरण हो आता है, और अन्य शापों का भी, जो उसे इस जीवन में मिले थे।

शप्तोऽहं वेदवत्या च यदा सा धर्षिता पुरा।।
सेयं सीतां महाभागा जाता जनकनन्दिनी।
उमा नन्दीश्वरश्चापि रम्भा वरूणकन्यका।।
यथोक्तास्तन्मया प्राप्तं न मिथ्या ऋषिभाषितम्। VI.60.10-12

"इसके अतिरिक्त, पूर्वकाल में मुझे वेदवती ने भी शाप दिया था क्योंकि मैंने उसके साथ बलात्कार किया था। उसने कहा था, 'किसी न किसी प्रकार मैं तुम्हारी मृत्यु को कारण बनूँगी।' जान पड़ता है, वही माभगा जनकनन्दिनी सीता के रूप में प्रकट हुई हैं। इस संकट को मैं अपने महल में ले आया और परिणाम स्वरूप, अपने पर ये सब आपत्तियाँ।" फिर उसे अन्य शापों का भी ध्यान आता है, "इसी प्रकार उमा नन्दीश्वर, रम्भा और वरुण–कन्या ने भी कहा था, जैसा ही परिणाम मुझे आज मिला हैं। सच है, ऋषियों के वचन कभी झूठे नहीं होते।"

एक समय रावण कैलास गया था और उसने उस पवित्र पर्वत को उखाड़ देने का प्रयत्न किया। उमा ने भयभीत होकर उसे शाप दिया, "तेरी मृत्यु स्त्री के कारण होगी।" नन्दीश्वर की वानरमूर्ति देखकर रावण हँसा था, इसलिये उसने कहा, "मेरे समान स्वरूप वाले पराक्रम वाले वानर ही तेरे कुल का सत्यानाश करेंगे।" रम्भा के निमित्त से नल–कुबेर ने, और वरुण कन्या पुंजिकस्थला के लिये ब्रह्मा ने शाप दिया कि "अनिच्छा से किसी स्त्री के साथ सम्भोग करने पर तेरी मृत्यु हो जायगी'।"

यस्माद्वानरूपं मामवज्ञाय दशानन।।
अशनीपातसङ्काशमुपहासं प्रमुक्तवान्।
तस्मान्मद्रूपसंपन्ना मद्वीर्यसमतेजसः।।
उत्पत्स्यन्ति वधार्थं हि कुलस्य तव वानराः।
सखदंष्ट्रायुधाः क्रूरा मनः संपातंरहंसः।।
युद्धोन्मत्ता बलोद्रिक्ताःशैला इव विसर्पिणः। VII.16.16-19

रावण के कुकर्मों से स्वयं महादेव भी अप्रसन्न हुए थे। नन्दी ने रावण को रोका था। रावण ने घूम कर उन्हें देखा और उनके विचित्र चेहरे को देखकर उसने ज़ोर से ठहाका लगाया। नन्दी अत्यन्त कुपित हुए, परन्तु महादेव के स्थान पर, बिना उनकी स्वीकृति के, युद्ध करना उचित नहीं समझा और केवल शाप ही दिया, "अरे रावण! तुमने वानर रूप में मुझे देखकर मेरा तिरस्कार किया है और उसी भावना से प्ररित होकर वज्रपात के समान अट्टहास किया है। अतः तुम्हारे कुल का विनाश करने के लिये मेरे ही समान पराक्रम, रूप और तेजवाले वानर उत्पन्न होंगे। नख और दाँत ही उन वानरों के अस्त्र होंगे तथा वे तीव्र वेग वाले होंगे। वे युद्ध के लिये उन्मत्त और अत्यन्त बलशाली होंगे तथा चलते फिरते पर्वतों के समान प्रतीत होंगे।"

अब मैं एक उद्धरण देने जा रहा हूँ, जिसका विशेष महत्त्व है क्योंकि इससे पता चलता है कि अपने अनुचरों बीच रावण इतना शक्तिशाली माना जाता था कि उसके लिए किसी संकट, किसी मानभंग की, किसी अपमान की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। किन्तु, जब राम के हाथों से उसे पहली बार प्रतिक्षेप मिला और अपमान को यथासम्भव तीखा बनाने के लिये राम ने रावण को वापस घर भेज दिया युद्ध के लिये पुनः शस्त्र–सज्जित होने के लिए, रावण के अनुचर भी इस अवमानना से अभिभूत हो गए। इसी समय रावण को कुम्भकर्ण की याद आई। जिस प्रकार उसे घोर निद्रा से जगाया गया, वह प्रसंग अत्यन्त रोचक है कि अथक प्रयास से उसे जगा दिया गया। जब वह उठ बैठा, तो उसने पूछा कि बात क्या है? उसने मन में सोचा, "कोई महाभंयकर आपत्ति आई है, अन्यथा रावण मुझे नींद से नहीं उठाता।" कुम्भकर्ण ने जब रोष में आकर जगाये जाने का कारण पूछा, तब रावण के सचिव, यूपाक्ष ने हाथ जोड़ कर कहा :

न नो दैवकृतं किंचिद्भयमस्ति कदाचन।
यानुषान्नो भयं राजंस्तुमुलं संप्रबाधते।।
न दैत्यादानवेभ्यो वा भयमस्ति हि तादृशम्।
याहशं मानुषं राजन् भयमस्मानुपस्थितम्।। VI.60.72,73

"महाराज! हमें देवताओं की ओर से कोई भय हो ही नही सकता। इस समय तो केवल एक मनुष्य मात्र से भय प्राप्त हुआ है, जो हमे सता रहा है। युद्ध में राम ने, जिसकी सेना विजयी रही है, साक्षात् राक्षसराज रावण को नीचा दिखाकर जीवित छोड़ दिया गया, मारने के बजाय कहा, 'लंका लौट जाओ।' इस प्रकार की मानहानि, चिन्ता का विषय बन गयी है। इससे अधिक बुरी बात और क्या हो सकती है? इस प्रकार का मानमर्दन जो कि कभी न देवताओं ने, न दानवों से संभव हो सकता था, वह एक तुच्छ मनुष्य से मिला है।"

एक अन्य महत्वपूर्ण संकटस्थिति, जिससे बिल्कुल स्पष्ट हो गया कि रावण का घमंड सर्वथा चूर–चूर हो गया था, युद्ध कांड के एक सौ छहवें सर्ग में वर्णित है। राम और रावण एक प्रचंड युद्ध में उलझे हुए थे। राम ने मर्मप्रहार किया, जिससे रावण अत्यन्त व्यथित हो जाता है, किन्तु युद्ध की लालसा से मदोन्मत्त होने के कारण वह यह स्वीकार करने को तैयार नहीं था कि उसकी शक्ति समाप्त प्रायः हो गई है। वह फिर भी लड़ता रहा। उसको सारथि का, जो राक्षस जाति का एक राजकुमार लगता था, ध्यान इस स्थिति पर गया कि रावण अपना सन्तुलन खो रहा था। स्थिति की गम्भीरता को समझते हुए, जैसा कि विश्वसनीय अनुचर प्रायः करते है, वह रथ का रणक्षेत्र के मध्य से कुछ दूर हटा ले गया और फिर भय के मारे, समर से निकल गया, जिससे राम के प्रकोप से रावण को बचाया जा सके। एक दम रावण का ध्यान सारथि

की इस युक्ति पर नहीं गया, किन्तु उसने देखा कि वह राम की सीध में नहीं था, बल्कि एक कोण पर था। तब उसको बोध हुआ कि सारथि ने क्या किया था। फिर तो वह क्रोध से तिलमिला कर अपने सारथि से बोला :

त्वयाद्य हि ममानार्य चिरकालसमार्जितम्।
यशो वीर्यं च तेजश्च प्रत्ययश्च विनाशितः।। VI.106.5

"सहस्रों वर्षों से मैंने योद्धा के रूप में अपनी ख्याति स्थापित की है। मैंने आज तक रण से कभी भी मुख नहीं मोड़ा। मैंने एक बेजोड़ धनुषधारी की कीर्ति स्थापित की है, जिसके समक्ष कोई टिकने का साहस भी नहीं कर सकता। तुमने क्यों रथ को शत्रु के सामने से हटाकर मुझे अपमानित किया है? अनार्य! आज दुनिया के सामने मेरे चिरकाल से अर्जित यश, पराक्रम, तेज और आत्मविश्वास पर एक क्षण में पानी फेर दिया। यह राम, जो मेरे सामने है और जिसके लिए मेरे मन में तिरस्कार भावना के अतिरिक्त और भावना नहीं थीं, अब मैं स्पष्ट अनुभव कर रहा हूँ कि यह एक ऐसा योद्धा है, जो मेरे साथ लड़ने योग्य है। मैं उस पर अपने पराक्रम की धाक जमाना चाहता हूँ।"

शत्रोः प्रख्यातवीर्यस्य रञ्जनीयस्य विक्रमैः।
पश्यतो युद्धलुब्धोऽहं कृतः कापुरुषस्त्वया।। VI.106.6

अब रावण को राम एक ऐसे व्यक्ति के रूप में दिखने लगे, जिनकी ओर से वाह–वाह प्राप्त करनी गौरव की बात होगी। "मेरे शत्रु का बल–पराक्रम विख्यात है। राम युद्ध के कौशल का सम्मान करना जानता है। जब वह मेरे युद्ध कौशल को देखेगा, तो मेरी प्रशंसा करेगा। अतः उसे अपने बल–विक्रम द्वारा संतुष्ट करना मेरी लिये उचित है। मैं युद्ध के लिये उन्मत्त हूँ, तो भी तुमने रथ हटाकर शत्रु की दृष्टि में मुझे कायर सिद्ध कर दिया।"

यह सारथि भी एक कुशाग्र बुद्धि का व्यक्ति था। उसने युक्ति–युक्त ढंग से प्रमाणित कर दिया कि उसने जो कुछ किया वह उचित था और रावण का रोष अनुचित था। "इस कार्य से आपका हित होगा यह सोच कर मैंने ऐसा किया, यद्यपि आपको यह अप्रिय लगा हो," सारथि के इस कथन से रावण संतुष्ट हुआ। उसे समझ में आ गया कि सचमुच वह भारी संकट में पहुँच गया था। तब उदारता की तरंग में, जो प्रायः बड़े लोगों में होती है, उसने सारथि को पुरस्कार रूप में, अपना हार उतार कर पहना दिया।

◈◈◈

तेईसवाँ अध्याय

रावण

पिछले अध्याय में मैंने उल्लेख किया था कि किस प्रकार आरम्भ में रावण ने राम को केवल एक मनुष्य मात्र मानकर तुच्छ समझा था। परन्तु उनके हाथों कई बार पराजित होने पर उसके मूल्यांकन में परिवर्तन हुआ और अन्ततः उसने माना कि राम उससे भी बढ़कर हैं। फिर भी, केवल इतने से रावण की महानता के प्रति न्याय नहीं होता। यही इस अध्याय का विषय है।

लंका का स्वामी पहले रावण का सौतेला भाई, कुबेर था। रावण अपने सहयोगी साथियों सहित कहीं पाताल लोक में रहता था। पुण्य अर्जित करके और शक्ति प्राप्त होने पर रावण को लंका हथियाने की प्रेरणा हुई। उसने अपने भाई कुबेर को बाहर निकाल कर और उसका 'पुष्पक' नामक एक बड़ा विमान भी हथिया लिया। तत्पश्चात् उसने अपना राज्य स्थापित कर लंका को अपनी राजधानी बनाया। इस स्थान को अपना केन्द्र बनाकर उसने त्रिलोक विजय के उद्देश्य से अनेक अभियान चलाये। महान से महान भी उससे बचा न रहा। उसकी महत्त्वपूर्ण विजय के अन्तर्गत थे, महान देवता और ऋषि। उसकी महानता केवल स्वयं तक ही सीमित न थी। उसके अधीन और सदा उसके साथ रहते थे, ये राक्षस, जो लगभग उसी के समान शक्तिशाली थे और जिनको अनेक देवताओं और पृथ्वी की अनेक शक्तिशाली जातियों को जीतने का श्रेय था। उसका भाई, कुम्भकर्ण शारीरिक शक्तिबल में लगभग उसी के समान शक्तिशाली था। यदि उसने अपनी दीर्घकालीन निद्रा से अपने आपको प्रतिबाधित न बना लिया होता, तो कदाचित् वह रावण के पक्ष में ऐसी महाशक्ति होता कि जिसको नष्ट करने के लिये किये गए प्रयास से कहीं अधिक प्रयास की आवश्यकता होती। रावण का पुत्र, मेघनाद कला में इतना निपुण था कि वह कुटायोधियों (चालबाज़ लड़ाकों) का राजा माना जाता था। वह अग्नि द्वारा उन शक्तियों तक अपनी आहुति पहुँचाने में बहुत कुशल था, जिनसे उसे महत्त्वपूर्ण वरदानों अथवा समय–समय पर सहयोग की अपेक्षा थी। इस प्रकार वह इतना शक्तिशाली हो गया कि युद्ध में उसने स्वयं इन्द्र को भी जीत लिया और उसे बन्दी बनाकर लंका ले आया। ब्रह्मा के बहुत अनुरोध करने पर ही उसे मुक्त किया गया। फलस्वरूप, वह इन्द्रजित की उपाधि से

विख्यात हो गया। साथ–साथ उसने अनेक वरदान भी प्राप्त कर लिये। अतः जब हम रावण की महानता के विषय पर विचार करते हैं, तो हमें उसे इस दृष्टि से भी देखना होगा कि उसके आस पास के व्यक्तियों की महानता के कारण, जो उसकी महानता से कुछ ही कम थी, रावण का महत्व अनेक गुणा बढ़ गया। उसका पुत्र अतिकाय भी बड़ा शक्तिशाली योद्धा था।

ऐसा विश्वास करना तो कठिन है कि एक साम्राज्य की समृद्धि का इस पराकाष्ठा पर पहुँचना, रावण द्वारा एक सुव्यवस्थित शासनप्रणाली के बिना सम्भव हो सकता। वह न केवल महान और शक्तिशाली रहा होगा, अपितु उसमें एक कुशल शासक के विशिष्ट गुण भी विद्यमान रहे होंगे। लंका नगरी का वर्णन करते समय कवि उल्लेख करता है कि वह नगरी व्यवस्थित और सुचारु थी, अपनी विद्वत्ता और अपने वैभव के लिये विख्यात थी। रावण के आदेशों का पालन किया जाता था। युद्ध परिषद् बुलाई जाती थी, इत्यादि। इन सबका आधार केवल एक पशु बल ही नहीं था, अपितु अधिकांशतः वह था, जिसको हम 'राज्यतंत्र' की संज्ञा दे सकते हैं अर्थात् विशाल साम्राज्यों और उनकी जनता और उनके उपलब्ध साधनों की समुचित व्यवस्था के लिये प्रबन्ध कौशल। हमें यह भी याद रखना कि कवि बल और युद्ध कौशल में रावण को, राम के बाद ही का स्थान केवल देता है। लक्ष्मण को उसने दो बार 'शक्ति अस्त्र' द्वारा हराया और यम के द्वार तक पहुँचा दिया और दोनों बार उन्हें संजीवनी औषधि द्वारा बचाया गया। अतएव, यह उचित ही है कि राम के बाद, रावण को ही उस समय का कुशल योद्धा माना जाये। वानरों में सुग्रीव और हनुमान यदा–कदा, युद्ध में उससे झड़प करने में तो सक्षम थे, परन्तु उन्हें इतना शक्तिशाली नहीं माना जा सकता कि वे उसके हरा सकते या नष्ट कर सकते। यह कार्य तो केवल श्री राम के द्वारा ही सम्भव हो सकता था, और उनके लिये भी कोई सहज और सरल न हुआ। अन्तिम चरण में उनको भी *'आदित्यहृदय'* महामंत्र की सहायता दिया जाना आवश्यक हो गया, जिसकी जानकारी उनको एक नाजुक स्थिति में अगस्त्य ऋषि द्वारा दी गई थी। यदि आपको स्मरण हो, यह क्षण भी वही क्षण था, जबकि रावण को उसके रथ सहित उसके सारथि ने सहसा रणक्षेत्र से हटा दिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों प्रतियोगी, लगभग एक ही समय पर, अपनी शक्ति की सीमा के अन्तिम चरण पर पहुँच चुके थे। इसी अवसर पर इन्द्र ने भी राम के लिये अपनी निजी वाहन–सारथि सहित भेजा, अपनी ढाल और चमत्कारिक धनुष–बाण भी प्रदान किए। अतएव, हमें मानना पड़ेगा कि रावण राम के लगभग समकक्ष था और वह अन्त में पराजित हुआ, तो उसे दिव्यता के कारण, जो श्री राम में निहित थी।

अब हम मूल पाठ पर आते हैं और यह देखते हैं कि कवि रावण की महानता से हमें अवगत कराता हैं, कभी स्वयं और कभी अपने के महान पात्रों गण द्वारा। बाल कांड में हम देखते हैं कि देवता महाविष्णु से रावण की शिकायत करते हैं। रावण

द्रुतगति से अपनी शक्ति को बढ़ा रहा है, बिना किसी रोक–टोक के, छोटे–बड़े का ध्यान न रखते हुए उत्पात मचाता रहता है।

उद्वेजयति लोकांस्त्रीनुच्छ्रितान् द्वेष्टि दुर्मतिः।
शक्रं त्रिदशराजानं प्रधर्षयितुमिच्छति।।
ऋषीन् यक्षान् सगन्धर्वानसुरान् ब्राह्मणांस्तथा।
अतिक्रामति दुष्प्रर्षो वरदानेन मोहितः।।
नैनं सूर्यः प्रतपति पार्श्वे वाति न मारुतः।
चलोर्मिमाली तं दृष्ट्वा समुद्रोऽपि न कम्पते।।
तत्र त्वं मानुषो भूत्वा प्रवृद्धं लोककण्टकम्।।
अवध्यं दैवतैर्विष्णो समरे जहि रावणम्। I.15.8-10,20,21

"उसने तीनों लोकों में आतंक मचा रखा है। वह हरेक से विद्वेष रखता है। वह दुष्टात्मा, जिस किसी को किसी ऊँची स्थिति में देखता है, उसी के साथ द्वेष करने लगता है और उसको नष्ट करने का भरसक प्रयत्न करता है। उसकी महत्वाकांक्षा इतनी बढ़ गई है कि अब वह देवराज इन्द्र को भी पराजित करने की अभिलाषा करता है। देवताओं के वरदानों से मदोमस्त होकर वह इतना उद्दंड हो गया है कि ऋषि, यक्ष, गन्धर्व, असुर तथा ब्राह्मणों को पीड़ित और अपमानित करता है। बड़े–बड़े देवता, जो ब्रह्मांड का शासन चला रहे हैं और उसे सुव्यवस्थित रख रहे हैं, वे भी उससे भयभीत हैं। सूर्य देव उसको तप नहीं पहुँचा सकते, वायु उसके ऊपर ज़ोर से नहीं चलती तथा वह उत्ताल तरंग वाला समुद्र भी रावण को देखकर भय से स्तब्ध हो जाता है, उसमें कम्पन नहीं रहता। मनुष्य रूप में आप प्रकट होकर, जो रावण, संसार के लिये अत्यन्त प्रबल कटंक रूप है और देवताओं के लिये भी अवध्य है, उस रावण को समर भूमि में मार डालिये। इसलिये हम सब मिलकर उसके वध के लिये आपकी शरण में आए हैं। आपसे प्रार्थना करते हैं कि आप मनुष्य रूप में अवतार लेकर उसको नष्ट करें क्योंकि यदि आप एक देवता के रूप में जाकर उससे लड़ेंगे, तो आप उसको हरा नहीं सकते। वह मूर्ख इतना अनियन्त्रणीय हो गया है और किसी के वश में नहीं आ रहा है। उसकी कुटिलता, अत्याचार वर्णनातीत हैं।"

रावण जब पहली बार सीता के पास आता है, वह एक सौम्य सन्यासी के रूप में आता है। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति उसको छद्मवेश में भी पहचान गई, क्योंकि ऐसा मेरा अनुमान है कि उसमें कुछ अतिमानवीय शक्ति थी, जिसको वह स्वयं न तो दबा सकता था और न ही छिपा सकता था क्योंकि जब वह सीता के समीप आया,

तमग्नितेजः कर्माणं जनस्थानरुहा द्रुमाः।।
समीक्ष्य न प्रकम्पन्ते न प्रवाति च मारुतः।

शीघ्रसोताश्च तं दृष्ट्वा वीक्षान्तं रक्तलोचनम्।।
स्तिमितं गन्तुमारेभे भयाद्गोदावरी नदी। III.46.6-8

वन के वृक्ष तक भी उससे भय खाते थे। उस भयंकर पापाचारी को आया देखकर जनस्थान के वृक्षों ने भी हिलना बंद कर दिया और वायु का वेग भी रूक गया। लाल नेत्रों वाले रावण को अपनी और दृष्टिपात करते देख कर तीव्र गति से बहने वाली गोदावरी नदी भी भयभीत मन्द–मन्द बहने लगी।

यह किसी भी व्यक्ति की महानता के प्रति एक अप्रतिम श्रद्धांजलि है। समस्त देवता और प्रकृति का प्रत्येक तत्त्व सब ही उससे भयभीत है। एक प्रसिद्ध नाटक है, *'महानाटक,'* जिसमें रावण के प्रति प्रकृति तक का भय बड़े नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इस नाटक के रचयिता ने एक दृष्य सन्निविष्ट किया है, जिसमें रावण ने सीता को अभी–अभी देखा है। उन पर एक बार ही दृष्टिपात करते ही उसका समस्त व्यक्तित्व अत्यन्त कामातुर हो जाता है। वह अत्यन्त व्याकुल और अस्त–व्यस्त घर लौटा। बेचैन और अशान्त शय्या पर करवटें बदलता रहा। फलस्वरूप वह अपनी दैनिक चर्या भी न निभा सका। उसकी दिनचर्या भी थी, असाधारण। प्रातः काल देवता उसका ब्रह्मा सहित अभिनन्दन करने आते। उस दिन भी सदा की भाँति देवता प्रातः श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिये आये, किन्तु अपने स्वामी की अशान्त मनः स्थिति समझ कर द्वारपाल उनको उनकी दिनचर्या से रोक देता है। तिरस्कार न सही, अतिपरिचय के स्वरों में वह उनसे कहता है :

ब्रह्मन्नध्ययनस्य नैष समयस्तूष्णीं बहिः स्थीयतां
स्वल्पं जल्प बृहस्पते जडमते नैषा सभा वज्रिणः।
वीणां संहर नारद स्तुतिमुखैरलं तुम्बुरो
सीतायल्लकभल्लभग्नहृदयः स्वस्थो न लङ्केश्वरः।। –महानाटक

"ब्रह्मा! आज यहाँ वेदपाठ का समय नहीं हैं, चुपचाप बाहर ही खड़े रहो। तुम जड़मति वृहस्पति, जो अपनी वाक्पटुता प्रदर्शित करने में प्रवीण हो, आज कम ही बोलो। यह इन्द्र की सभा नहीं, नारद, वीणा को मत छोड़ो, आज उसे विश्राम दो। रावण आज संयतमना नहीं है। अतएव, उसकी शान्ति भंग न करो। उसका हृदय एक अत्यन्त पैने बाण से बिंध गया है। वह बाण है, सीता के केशों के बीच की माँग। जबसे उसने सीता को देखा है, वह बेचैन है।"

ऐसा था, वह रावण, जिसके वध के लिये विष्णु को मनुष्य रूप में अवतार लेना पड़ा।

अब देखते हैं कि रावण कैसा प्रतीत होता है तथा उन लोगों के लिये जिन्होंने उसे प्रत्यक्ष देखा था और जो उसका मूल्यांकन करने में सक्षम थे, ऐसे लोग, जो न्यूनाधिक उसकी की श्रेणी के थे। कवि वर्णन करता है, हनुमान पर कैसा प्रभाव पड़ा,

जब पहली बार वे उससे उसके राज दरबार में मिले। उस पर दृष्टिपात करके, वे आश्चर्यचकित हो गए।

अहो रूपमहो धैर्यमहो सत्त्वमहो द्युतिः।
अहो राक्षसराजस्य सर्वलक्षणयुक्तता।।
यद्यधर्मो न बलवान् स्यादयं राक्षसेश्वरः।
स्यादयं सुरलोकस्य सशक्रस्यापि रक्षिता।।
अस्य क्रूरैर्नृशंसैश्च कर्मभिर्लोककुत्सितैः।
तेन बिभ्यति खल्वस्माल्लोकाः सामरदानवाः ।।
अयं ह्युत्सहते क्रुद्धः कर्तुमेकार्णवं जगत्।
इति चिन्तां बहुविधामकरोन्मतिमान् कपिः।।
दृष्ट्वा राक्षसराजस्य प्रभावममितौजसः।। V.49.17-20

हनुमान कुछ नीतिवादात्मक बात करता है, "अहो! इस राक्षस राज का रूप कितना अद्भुत है, कैसा अनोखा धैर्य है, कैसी अनुपम शक्ति है और कैसा आश्चर्यजनक तेज है! इसका सम्पूर्ण राजोचित लक्षणों से सम्पन्न है। इस राक्षसराज को इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवलोक का संरक्षक होना चाहिए था। ऐसे सम्पूर्ण प्रभुत्व को प्राप्त करा न सकने का कारण है, उसका अधर्म। इसकी लोकनिन्दित क्रूरता, शक्ति के दुरुपयोग तथा निष्ठुर कर्मों के कारण देव–दानव सब भयभीत रहते है। वह कुपित होने पर समस्त जगत को एक आर्णव में निमग्न कर सकता हैं, संसार में प्रलय मचा सकता है। वह अपनी शक्तियों का उपयोग धार्मिक और नेक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये नहीं करता। वह आत्मसंयम नहीं बरतता और सब प्रकार के अनुचित व्यवहार में संलग्न रहता है। इस संसार में यदि अधर्म एक दुर्गुण न होता, तो यह व्यक्ति इहलोक–परलोक में सबका स्वामी बन सकता था। निरन्तर निष्ठुर आचरण और अपनी शक्ति के दुरुपयोग के कारण उसने सबको अपना शत्रु बना दिया और सच्चरित लोग उसके विरुद्ध हो गये हैं।"

अमित तेजस्वी राक्षसराज के प्रभाव को देखकर, वे बुद्धिमान वानरवीर हनुमान इस प्रकार का चिन्तन करते रहे। हनुमान वास्तव में महानता के पारखी थे। रावण की पहली झलक के पश्चात् उनके मस्तिष्क में इस प्रकार के विचार आये। यह जानना भी रोचक होगा कि रावण ने जब हनुमान को देखा, तो उसके मन में किस प्रकार के विचार आये, यह जानने के लिए अधिक प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं। रावण को यह सूचना मिल चुकी थी कि हनुमान ने नगरी का एक भाग सर्वथा नष्ट कर दिया और रावण के पुत्र सहित अनेक राक्षसों का वध भी कर दिया। अतएव, वह हनुमान को देखते ही समझ गया और उनकी महानता को ताड़ गया। वह सोचने लगा, "क्या इस वानर रूप में साक्षात् भगवान नन्दी ही तो नहीं पधारे हैं, जिनका पूर्व काल में कैलास पर्वत पर मैंने उपहास किया था और मुझे शाप भी मिला था। अथवा इस रूप

में बाणासुर का आगमन तो नहीं हुआ?"* इस प्रकार दो महान हस्तियों ने पहली बार एक दूसरे को देखा।

जब रावण अपनी विशाल सेना को इकट्ठा करके श्री राम और उनकी वानर सेना से भिड़ने आया, उस समय आगे आ कर विभीषण श्री राम को बताते हैं कि रावण की सेना में कौन कौन है। अन्त में वे स्वयं रावण पर आते हैं :

यत्रैतदिन्दुप्रतिमं विभाति च्छत्रं सितं सूक्ष्मशलाकमग्र्यम्।
अत्रैष रक्षोधिपतिर्महात्मा भूतैर्वृतो रुद्र इवावभाति।।
असौ किरीटी चलकुण्डलास्यो नगेन्द्रविन्ध्योपमभीमकायः।
महेन्द्रवैवस्वतदर्पहन्ता रक्षोधिपः सूर्य इवावभाति।। VI.59.24,25

"जिसके ऊपर पूर्ण चन्द्रमा के समान श्वेत एवं पतली कमानी वाला सुन्दर छत्र शोभायमान है, वह राक्षसराज रावण है, जो भूतों से घिरे हुए रुद्रदेव के समान सुशोभित हो रहा है। वह सिर पर मुकुट धारण किये हुए है। उसका मुख, कानों में हिलते हुए कुंडलों से अलंकृत है। उसका शरीर, गिरीराज हिमालय और विन्ध्याचल से समान विशाल और भयंकर है। यह इन्द्र और यमराज के गर्व को भी चूर करने वाला राक्षस है। देखिए! यह राक्षसराज साक्षात् सूर्य के समान प्रकाशित हो रहा है।"

मैं आपका ध्यान इस बिन्दु की ओर दिलाना चाहता हूँ। कवि चाहता है कि हम रावण को सचमुच एक महान व्यक्ति के रूप में देखें, न कि एक तिरस्कृत पात्र के रूप में। यह बड़े सशक्त ढंग से उसकी उपमाओं और तुलनाओं द्वारा स्पष्ट हो जाता है। इस श्लोक में रावण की तुलना स्वयं रुद्र से की गई है। इसकी तुलना के सूर्य से भी की गई है। विभीषण द्वारा रावण की पूरी–पूरी जानकारी दिए जाने के बाद, श्री राम ने केवल दृष्टिपात से ही अपने शत्रु के स्वरूप को पहचान लिया, जिसका उन्हें वध करना होगा। उस समय उनके मन में क्या क्या विचार आये?

अहो दीप्तो महातेजा रावणो राक्षसेश्वरः।।
आदित्य इव दुष्प्रेक्षो रश्मिभिर्भाति रावणः।
सुव्यक्तं लक्षये ह्यस्यं रूपं तेजस्समावृतम्।।
देवदानववीराणां वपुर्नैवंविधं भवेत्।
यादृशं राक्षसेन्द्रस्य वपुरेतत्प्रकाशते।। VI.59.26-28

"अहो! राक्षसराज रावण का तेज तो बहुत ही बढ़ा–चढ़ा और देदीप्यमान है। रावण अपनी प्रभा से सूर्य की भाँति शोभा पा रहा है, इसकी ओर देखना भी कठिन है। आँखे चकाचौंध हो जाती है। तेज मंडल से व्याप्त होने के कारण उसका रूप मुझे भी स्पष्ट दिखाई नहीं देता। इस राक्षसराज का शरीर ऐसा सुशोभित हो रहा है, जैसा देवताओं और दानवों का भी न होगा।"

* देखिए अ.22, पृ.354.

यदि कोई व्यक्ति देखने मात्र भर से हनुमान और श्री राम पर ऐसा प्रभाव छोड़ सकता है, तब तो हमारे तुच्छ मस्तिष्कों में कोई ऐसा मानदंड नहीं, जिसके द्वारा उसका वास्तविक मूल्यांकन हो सके। उसकी मृत्यु पश्चात् विभीषण उसके विषय में इस प्रकार कहते हैं :

योऽयं विमर्देषु न भग्नपूर्वः सुरैः समेतैः सह वासवेन।
भवन्तमासाद्य रणे विभग्नो वेलामिवासाद्य यथा समुद्रः।।
अनेन दत्तानि सुपूजितानि भुक्ताश्च भोगा निभृताश्च भृत्याः।
धनानि मित्रेषु समर्पितानि वैराण्यमित्रेषु च यापितानि।।
एषोहिताग्निश्च महातपाश्च वेदान्तगः कर्मसु चाग्र्यवीर्यः।
एतस्य यत् प्रेतगतस्य कृत्यं तत्कर्तुमिच्छामि तव प्रसादात्।।
VI.112.22.21

"यह व्यक्ति, जो अब कीर्तिशेष है, उसे समकक्ष आज तक कोई दूसरा न था। पूर्व काल में युद्ध के अवसरों पर समस्त देवता तथा इन्द्र भी कभी इसे पीछे न हटा सके। वही रावण आज रणभूमि में आप से टक्कर लेकर शान्त हो गया, जैसे लहराता हुआ समुद्र अपनी तट भूमि तक आकर शान्त हो जाता है। इस व्यक्ति ने अपने जीवन काल में ऐसे कार्य किए हैं, जो वास्तव में महानता की प्रकट करते हैं। उसने मुक्तहस्त याचकों को दान दिए, वह अत्यन्त उदार स्वभाव का था। उसने सब प्रकार के ऐश्वर्य भोगे और भृत्यों का भलीभाँति भरण–पोषण किया। धन का संचय करके उसने अपने मित्रों की सहायता की और धन को बड़ी उदारता से उनमें बाँटा। उसमें जो विद्वेष भावना और दूसरों को क्षति पहुँचाने की क्षमता थी, उसका प्रयोग केवल अपने शत्रुओं के विरुद्ध किया और यथोचित वैर का बदला भी लिया। कुल मिला कर वह एक विश्वसनीय मित्र और दयालु स्वामी था। यह अग्निहोत्री, वेदान्वेत्ता तथा यज्ञ–यागादि कर्मों में श्रेष्ठ परम कर्मठ रहा है।" जहाँ स्वयं विभीषण, जो एक धर्मनिष्ठा व्यक्ति थे और सब प्रकार की तपस्याओं को ज्ञाता थे, अपने भाई को *'आहिताग्नि'* की संज्ञा देते हैं।

आप सहज ही समझ सकते हैं, वह कितना पवित्र भी था। वह वेदान्त का अच्छा ज्ञाता था, प्रकांड पंडित था। शास्त्रोक्त तपस्या, व्रत अनुष्ठान में अद्वितीय था। "यह मेरा भाई, जो कर्मकांड का स्वयं ज्ञाता था, अब वही प्रेत भाव को प्राप्त हो गया है। अतः मैं ही आपकी कृपा से इसका प्रेत–कृत्य करना चाहता हूँ।" फिर विभीषण के मन में दूसरा विचार आया। इसी समय श्री राम ने विभीषण से कहा कि स्त्रियों को धैर्य बंधाओ और अपने भाई का संस्कार करो, किन्तु विभीषण बोला, "भगवान! जिसने धर्म और सदाचार को त्याग दिया था, जो क्रूर, निर्दयी, असत्यवादी तथा पराई स्त्रियों का स्पर्श करने वाला था, उसका दाह–संस्कार करना मैं उचित नहीं समझता। सबके

अहित में संलग्न रहने वाला मेरा भाई, रावण, भाई के रूप में मेरा शत्रु था। यद्यपि ज्येष्ठ होने से वह मेरा पूज्य था, तथापि वह मुझसे सत्कार पाने योग्य नहीं है।"

अब राम का बारी आई रावण की प्रशंसा करने की। वे विभीषण को अपने भाई के प्रति अपने अन्तिम कर्त्तव्य से विमुख न होने के लिये समझाते हैं :

अधर्मानृतसंयुक्तः कामं त्वेष निशाचरः।।
तेजस्वी बलवाञ्शूरः संयुगेषु च नित्यशः।
शतक्रतुमुखैर्देवैः श्रूयते न पराजितः।। VI.114.99,100

"मैं यह नहीं जानता कि ये सब बातें उसने की। वह निशाचर भले ही अधर्मी और असत्यवादी रहा हो, परन्तु संग्राम में सदा तेजस्वी, बलवान तथा शूरवीर रहा है। जब बड़े–बड़े देवताओं की भी रणक्षेत्र में रावण से टक्कर हुई। वह कभी भागा नहीं, न ही पराजित हुआ। इन्द्र आदि देवता भी इसको पराजित न कर सके थे।"

अब मैं मूल संस्कृत में एक अंश प्रस्तुत करता हूँ, वह अत्यन्त रोचक है। इसमे राम–रावण के अन्तिम युद्ध का वर्णन है। मैं इसका पूरा अनुवाद न कर, उसे मौलिक रूप में दे रहा हूँ, और कहीं–कहीं व्याख्या भी करूँगा। राम और रावण के बीच यह संग्राम वास्तव में इस युद्ध की पराकाष्ठा है। कवि भी विश्वास दिलाना चाहता है कि यह संग्राम दो ऐसे पक्षों के मध्य था, जो लगभग एक बराबर थे और इसीलिये उस समय, जो जो अस्त्र–शस्त्र और युद्ध के साधन उपलब्ध थे, उन सब का उपयोग किया गया दोंनो पक्षों की ओर से।

गदानां मुसलानां च परिघाणां च निःस्वनैः।
शराणां पुङ्खपातैश्च क्षुभिताः सप्त सागराः।।
क्षुब्धानां सागराणां च पातालतलवासिनः।
व्यथिताः पन्नगास्सर्वे दानवाश्च सहस्रशः।।
चकम्पे मेदिनी कृत्स्ना सशैलवनकानना।
भास्करो निष्प्रभश्चासीन्न ववौ चापि मारुतः।।
ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः।
चिन्तामापेदिरे सर्वे सकिन्नरमहोरगाः।।
स्वस्ति गोब्राह्मणेभ्योऽस्तु लोकास्तिष्ठन्तु शाश्वताः।
जयतां राघवः संख्ये रावणं राक्षसेश्वरम्।।
एवं जपन्तोऽपश्यंस्ते देवास्सर्षिगणास्तदा।
रामरावणयोर्युद्धं सुघोरं रोमहर्षणम्।।
गन्धर्वाप्सरसां सङ्घा दृष्ट्वा युद्धमनूपमम्।
गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः।।
रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव।

एवं ब्रुवन्तो ददृशुस्वह्युद्धं रामरावणम्।।
ततः क्रुद्धो महाबाहू रघूणां कीर्तिवर्धनः।
सन्धाय धनुषा रामः क्षुरमाशीविषोपमम्।।
रावणस्य शिरोऽच्छिन्दच्छ्रीमज्जवलितकुण्डलम्।
तच्छिरः पतितं भूमौ दृष्टं लोकैस्त्रिभिस्तदा।।
तस्यैव सदृशं चान्यद्रावणस्योत्थितं शिरः।
तत्क्षिप्तं क्षिप्रहस्तेन रामेण क्षिप्रकारिणा।।
द्वितीयं रावणशिरश्छिन्नं संयति सायकैः।
छिन्नमात्रं तु तच्छीर्षं पुनरन्यत् स्म दृश्यते।।
तदप्यशनिसंकाशैश्छिन्नं रामेण सायकैः।
एवमेकशतं छिन्नं शिरसां तुल्यवर्चसाम्।।
न चैव रावणस्यान्तो दृश्यते जीवितक्षये।
ततः सर्वास्त्रविद्वीरः कौसल्यानन्दवर्धनः।।
मार्गणैर्बहुभिर्युक्तशिचन्तयामास राघवः। VI.110.17-31

युद्ध इतना प्रचंड था कि सातों समुद्र विक्षुब्ध हो गए, हज़ारों पाताल निवासी भी व्यथित हो उठे, सारी धरती काँप उठी। मेघों से आच्छादित सूर्य की प्रभा भी लुप्त हो गई और वायु की गति भी रुक गई देवता, गन्धर्व, सिद्ध, महर्षि आदि, सभी चिन्ता में पड़ गए। ऐसा नहीं लगता था कि रावण पराजित हो जायेगा क्योंकि वह इतना शक्तिशाली था और राम के समकक्ष ही था। अब वे सब मिलकर प्रार्थना करने लगे, "श्री राम युद्ध में विजयी हों और रावण परास्त हो। हरेक एक–दूसरे के सदृश है, तीसरा और कोई नहीं।" गन्धर्व और अप्सराओं के समुदाय भी उस अनुपम युद्ध को देखकर कहने लगे, "आकाश–आकाश के तुल्य ही है, समुद्र–समुद्र के ही समान है, तथा राम और रावण के युद्ध के ही सदृश है।" श्री राम ने कुपित होर एक अत्यन्त शक्तिशाली बाण छोड़ा और उसके द्वारा उसका दस में से एक मस्तक काट डाला। कवि बताना चाहता है कि तत्समय, उसका कटा हुआ सिर पृथ्वी पर गिर पड़ा, जिसे तीनों लोकों के प्राणियों– यक्षों, किन्नरों और गन्धर्वों ने देखा। किन्तु, तत्काल, जहाँ वह सिर था, वहाँ वैसा ही नया सिर उत्पन्न हो गया। श्री राम ने अपने दो तीन सायकों द्वारा रावण का दूसरा सिर भी काट डाला। उसके कटते ही पुनः एक नया सिर उत्पन्न हो गया और उसकी ग्रीव पर जुड़ गया। किन्तु, उसे भी राम ने सायकों द्वारा काट दिया, परन्तु दूसरा उत्पन्न हो गया। इस प्रकार सौ बार उसका सिर काट डाला गया, परन्तु शीघ्र ही नया सिर उग आता था। उसके जीवन का नाश होने के लिये उसके मस्तकों का अन्त तो होता ही न था। तदनन्तर श्री राम, अनेक प्रकार के अस्त्र–शस्त्र से सुसज्जित होने पर भी, इस प्रकार, चिन्तामग्न हो गए।

मारीचो निहतो यैस्तु खरो यैस्तु सदूषणः।
क्रौञ्चारण्ये विराधस्तु कबन्धो दण्डकावने।।
यैः साला गिरयो भग्ना वाली च क्षुभितोऽम्बुधिः।।
त इमे सायकाः सर्वे युद्धे प्रात्ययिका मम।
किंतु तत्कारणं येन रावणे मन्दतेजसः।। VI 110.31-33

"मैंने जिन बाणों से मारीच और खर–दूषण को मारा, क्रौंचवन के गड्ढे में विराध का वध किया, दंडकारण्य में कबन्ध को समाप्त किया, सालवृक्ष और पर्वतों को क्षुब्ध कर दिया, अनेक बार संग्राम में जिन बाणों की अमोघता पर विश्वास कर लिया गया है, वे ही ये मेरे सायक, आज रावण पर निस्तेज और कुंठित हो गए है। इसका कारण क्या हो सकता है?"

इस प्रकार चिन्ताग्रस्त होने पर भी श्री राम ने रावण की छाती पर बाणों की झड़ी लगा दी। तब रथ पर विराजमान रावण ने भी कुपित होकर श्री राम को गदा और मूसलों से पीड़ित करना आरम्भ कर दिया। महायुद्ध ने बड़ा भयंकर रूप धारण कर लिया। वह संग्राम सारी रात चलता रहा। यह युद्ध न रात को बंद होता न दिन में। एक क्षण के लिये भी विराम न हुआ। राम की युद्ध में विजय होती न देखकर, देवराज के सारथि, मातलि ने, जो स्वयं इन्द्र द्वारा प्रशिक्षित थे, राम को कुछ याद दिलाते हुए राम के कान में कुछ कहा, "वीरवर! आप अनजान की तरह क्यों इस राक्षस का अनुसरण कर रहे हैं। जो अस्त्र वह चलाता है, उसके निवारण करने वाले अस्त्र केवल प्रयोग मात्र रह जाते हैं। आप इसके वध के लिये ब्रह्मस्त्र का प्रयोग कीजिए।" राम युद्ध में इतने तल्लीन थे कि उन्हें किसी बात का ध्यान न था। उन्हें यह सोचने का समय ही न था कि इस अवसर पर क्या करना उचित है। मातलि को इस सर्वश्रेष्ठ उपाय का ध्यान आया और उसने श्री राम का सुझाव दिया। उसके वाक्य को सुनकर राम को ब्रह्मस्त्र का स्मरण हो आया। उन्होंने बड़े यत्न के साथ धनुष का पूर्ण रूप से खीचकर उस मर्मभेदी बाण को रावण पर चला दिया और त्रिलोक के शत्रु का नाश हुआ। रावण का वध करके वह बाण अपना काम पूर्ण करके पुनः राम के तरकस में वापस आ गया। रावण को पृथ्वी पर पड़ा देखकर अवशेष निशाचर स्वामी के मारे जाने पर भयभीत होकर भाग गए। इस प्रकार युद्ध का अन्त हो गया। इस समय वानर विजयलक्ष्मी से सुशोभित होकर अत्यन्त हर्ष और उल्लास से भर गए। तत्पश्चात् देवताओं को बड़ी शान्ति मिली और उनके मुख्य से श्री राम की स्तुतियुक्त, साधुवाद की ध्वनि सुनाई देने लगी। सम्पूर्ण दिशाएँ प्रसन्न हो गई, उनमें प्रकाश छा गया, आकाश निर्मल हो गया, पृथ्वी का काँपना बन्द हुआ, वायु स्वाभाविक गति से चलने लगी और सूर्य की प्रभा स्थिर हो गई।

इसके साथ ही समाप्त होता है, यह प्रकरण, जिनकी विषय वस्तु थी, रावण की महानता, उसकी शक्ति का परिणाम और वे ऊचाइयाँ, जिनको एक महान योद्धा के

रूप में उसने छुआ था। अब मैं दो शब्द इस विषय में कहना चाहूँगा, किस प्रकार वह अपने लोगों से निस्संकोच और स्वामीभक्ति और सहयोग पाने में सक्षम था। इसके लिये विशिष्ट गुणों की आवश्यकता होती है। जब अपने अनुचरों से किसी प्रकार की प्राप्त सहायता की सराहना करनी हो, तो स्वामी को शब्दों के व्यय में उदार होना चाहिए। यदि उनकी प्रशंसा में आप कृपण हैं, तो उन लोगों से श्रेष्ठ सहयोग की आशा न रखें। रावण ऐसी सब कलाओं में दक्ष था। जब कुम्भकर्ण को अत्यधिक घोर प्रयत्नों और विचित्र साधनों का प्रयोग करके महानिद्रा से जगाया गया, तो रावण के पास पहुँच कर उसने पहला काम जो किया, वह था परामर्श देना। जैसे पहले मन्दोदरी और विभीषण कह चुके थे, उसने भी कहा कि उसे श्री राम के चरणों में आत्मसमर्पण करना ही हितकर होगा। कुम्भकर्ण की यह बात सुनकर रावण क्रोध में भर गया और बोला, "तुम मुझे उपदेश क्यों दे रहे हो? इस समय जो उचित और आवश्यक हो, वही करो।" उत्तर में कुम्भकर्ण बोला, "तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वही करो। इस समय स्नेहवश एक भाई को, जो कुछ करना उचित है, वही मैं करूँगा। तुमने जो कुछ किया है, उसका समर्थन मैं नहीं करता। फिर भी मैं तुम्हारी सहायता से पीछे नहीं हटूँगा। मैं तुम्हारे पक्ष में युद्ध करूँगा और अपनी सम्पूर्ण शक्ति, अपने कौशल और बल का प्रयोग तुम्हारे पक्ष में ही करूँगा।" अपने विशाल शूल को हाथ में लेकर कुम्भकर्ण रावण से बोला, "मैं अकेला ही युद्ध के लिये जाऊँगा।" रावण ने जब अपने भाई से ऐसे प्रोत्साहक शब्द सुने, तो उसने कुम्भकर्ण का भरसक प्रयास करने के लिये, अपना एक हार उसके गले में पहना दिया।

अथासनात् समुत्पत्य स्रजं मणिकृतान्तराम्।।
आबबन्ध महातेजाः कुम्भकर्णस्य रावणः।
अंगदान्याङ्गलीवेष्टान् वराण्याभरणानि च।।
हारं च शशिसंकाशमाबबन्ध महात्मनः।
दिव्यानि च सुगन्धीनि माल्यदामानि रावणः।।
श्रोत्रे चासञ्जयामास श्रीमती चास्य कुण्डले।
काञ्चनाङ्गदकेयूरनिष्काभरणभूषितः।।
कुम्भकर्णो बृहत्कर्णः सुहुतोऽग्निरिवाबभौ।
सर्वाभरणनद्धाङ्गः शूलपाणिः स राक्षसः।।
त्रिविक्रमकृतोत्साहो नारायण इवाबभौ।। VI.65.25-29,31

रावण ने अपने आसन से उठकर एक सोने की माला, जिसके बीच–बीच में मणियाँ पिरोयी हुई थीं, वह कुम्भकर्ण के गले में पहना दी। अच्छे अच्छे आभूषणों से कुम्भकर्ण को सजा दिया। विभिन्न अंगों पर सुगन्धित फूलों की मालायें भी बँधवायीं और दोनों कानों में कुंडल भी पहनवा दिए। सारे अंगों में आभूषण धारण करके हाथ में शूल लिए जब वह आगे बढ़ा, उस समय वह त्रिलोकी को नापने के लिये भगवान

वामन के समान जान पड़ रहा था। रणक्षेत्र में अपने सेनापति द्वारा अलंकृत होने पर कुम्भकर्ण घी द्वारा प्रज्ज्वलित अग्नि के समान चमक रहा था। कवि कुम्भकर्ण की तुलना नारायण से करते हैं। कवि की दृष्टि में ये राक्षस योद्धा अवमान्य न थे। न ही वे दैत्य–दानव थे, जैसा कि हम सामान्यतः मानते हैं। वे केवल अपनी शक्ति के दुरुपयोग के दोषी थे। कुम्भकर्ण एक भीषण संग्राम के पश्चात् राम के द्वारा मारा गया। अनेक राक्षस युद्ध में मृत्यु को प्राप्त हुए, इन्द्रजित जैसा योद्धा भी।

अब हम 'रामायण' के उपान्तिम चरण पर आते हैं। अपने सब बड़े–बड़े योद्धाओं के खोने पर भी रावण ने हिम्मत नहीं हारी। वह युद्ध जारी रखने के पक्ष में ही रहा। जब सब कुछ नष्ट हो गया, वह स्वयं रणक्षेत्र में उपस्थित हुआ। यह इस व्यक्ति के स्वभाव की विलक्षणता थी। यह जानते हुए भी कि उसका सर्वनाश निकट है और वह एक के बाद एक सेनापति खो रहा है, फिर भी वह निर्भीक और अपराजित डटा रहा। कुम्भकर्ण और इन्द्रजित धराशायी हो गए, तो औरों का अन्त तो निश्चित ही था। परन्तु, वे सब प्रसन्नतापूर्वक मृत्यु का आलिंगन करने के लिए तत्पर थे। युद्ध की लालसा में भी कितनी दीवानगी होती है। जब रावण ने मुड़कर देखा, उसकी दृष्टि पास में खड़े महोदर पर पड़ी और रावण ने कहा, "मेरे विश्वसनीय सखा! इस घोर संकट के समय मेरी आशा तुम्हारे ऊपर अवलम्बित है। तुम इस पराजय को विजय में बदल सकते हो। वीर! आज तुम भी अपना पराक्रम दिखाओ और शत्रु का वध करो और लंका का बचाओ।" मैंने यह अंश यह दिखाने के लिये दिया है कि रावण किसी परिस्थिति में किंकर्त्तव्यविमूढ़ नहीं हुआ। यद्यपि उसका दुर्भाग्य चरम सीमा पर पहुँच चुका था, उसने फिर भी किस प्रकार युद्ध के अन्तिम चरण में भी, अपने एक योद्धा के मन में यह भावना संचरित की कि मानो युद्ध का पूरा भार उसी के कन्धों पर आश्रित हो। महोदर ने अपने स्वामी की आज्ञा से प्रेरित होकर अपने पराक्रम द्वारा वानर सेना का संहार आरम्भ कर दिया। यह देखकर सुग्रीव ने महोदर पर आक्रमण किया। एक घोर संग्राम के बाद महोदर सुग्रीव द्वारा मारा गया। परन्तु, मरते समय तक उसका मनोबल बहुत ऊँचा था। इससे पता चलता है कि रावण इस दृष्टि से भी महान था कि उसका प्रभाव अपने अनुचरों पर प्रबल था। वे हर क्षण, भारी संकट के बावजूद भी, स्वामी के लिये मृत्यु का आलिंगन करने के लिए तत्पर रहते थे। अतएव, रावण अवश्य ही एक महान व्यक्ति रहा होगा।

इस अंश का अभिप्राय यह दिखाना है कि रावण अपने एक अनिच्छ अनुचर, मारीच पर भी अपने नानाविध चातुर्य का प्रयोग किस प्रकार करता है। मारीच उसके विरुद्ध नौ सर्गों में तर्क–वितर्क करता है और लम्बे समय तक चलता विरोध अनेक मोड़ लेता है। आरम्भ से अन्त तक रावण अपने मन्तव्य पर जमा रहा और मारीच के चातुर्यपूर्ण तर्कों से भी अपने उद्देश्य से विचलित नहीं हुआ। अन्ततः रावण ने उसे मना लिया और उससे अपना मनोरथ सिद्ध करवा लिया। स्मरण रहे, मारीच एक दुश्चरित्र

जीवन व्यतीत करने और घोर संकट भुगतने के कारण अन्त में एक एकान्तवासी तपस्वी हो गया था और वस्तुतः वह एक धर्मपरायण व्यक्ति बन गया था। जब रावण ने अपने जीवन में एक पागलपन का अध्याय आरम्भ किया, रावण मारीच के पास जाकर बोला :

आर्तोऽस्मि मम वार्तस्य भवान् हि परमा गतिः।। III.36.1

"तात! इस समय मैं बहुत दुःखी हूँ और इस कष्ट निवारण के लिये तुम्हारे अतिरिक्त किसको खोजूँ? इस दुःख की अवस्था में तुम ही मेरे लिए सबसे बढ़कर सहारा देने वाले हो।"

रावण उसे बताता है कि राम ने खर–दूषण आदि चौदह हजार राक्षसों सहित विनाश कर डाला और बहिन शूर्पणखा को नाक–कान काट कर विद्रूप कर दिया। "इसका बदला लेने के लिये मैं भी उसकी पत्नी सीता को बलपूर्वक हर ले जाना चाहता हूँ। तुम इस कार्य में मेरी सहायता करो।" मारीच परामर्श द्वारा उसे इस कार्य से रोकने का प्रयास करता है। वह कहता है, "मुझे लगता है तुम्हारे निकट कोई न कोई ऐसा व्यक्ति है, जो तुम्हारी समृद्धि से जलता है और तुम उसका विश्वास करते हो। पर वह तुम्हारा विनाश करना चाहता है। मेरी बात मानो, उसके दिए परामर्श को अस्वीकार कर दो।"

सुलभाः पुरुषा राजन् प्रियवादिनः।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः।। III.37.2

"राजन्! प्रिय वचन बोलने वाले व्यक्ति तो सर्वत्र सुलभ होते हैं। परन्तु, अप्रिय होने पर भी हितकर बात कहने वाले और सुनने वाले दोनों ही दुर्लभ हैं।"

राजा लोग विशेषकर अत्यन्त अभागे होते हैं। वे अपने अनुचरों और मन्त्रियों को अच्छी सेवा प्राप्त करने के लिये वेतन देते हैं। परन्तु जब राजा संकटग्रस्त हो जाते हैं, तो उन्हें वास्तव में उपयुक्त परामर्श की आवश्यकता होती है। उस समय वे लोग निर्भीक होकर अपने स्वामी को हितकर परामर्श देने के बजाय, ऐसी बात कहते हैं, जो केवल ऊपर से ही अच्छी लगे। वास्तविक हितकर परामर्श नहीं दिया जाता। ऐसे लोग, जो प्रायः श्रुति–मधुर बोल ही बोलते हैं, उनकी गणना तो सहस्त्रों में होगी। किन्तु ऐसा व्यक्ति विरला ही होगा, जो हितकर वचन बोले, चाहे वह सुनने वाले को प्रिय न भी लगें। "चाहे एक बार अप्रिय सत्य कहने वाला व्यक्ति मिल भी जाये, किन्तु उसकी बात सुनने वाला उससे भी दुर्लभ है।" तत्पश्चात् मारीच रावण को आपबीती सुनाता है। "मुझे श्री राम के बाहुबल का अनुभव हो चुका है, वह भी जब वे केवल पन्द्रह वर्ष के ही थे। राम युद्ध कला में विश्वामित्र द्वारा प्रशिक्षित हैं। ये ऋषि राजा दशरथ के पास गये थे और उन्होंने उनके पुत्र को यज्ञ में सहायतार्थ भेजने पर राज़ी कर लिया। उन्होंने राम को सब प्रकार के अस्त्र–शस्त्र प्रदान किए। मैं ही पहला व्यक्ति हूँ,

जिसके विरुद्ध राम को लाया गया था और मेरे ही ऊपर उनके बाणों का पहला प्रयोग किया गया था।" इस वृत्तान्त में लक्ष्मण का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। राम ने जो उस पर प्रभाव छोड़ा, वह उसका वर्णन इस प्रकार करता है। राम के चिन्तन मात्र से वह कम्पायमान हो जाता है।

वृक्षे वृक्षे च पश्यामि चीरकृष्णाजिनाम्बरम्।।
गृहीतधनुषं रामं पाशहस्तमिवान्तकम्।
अपि रामसहस्राणि भीतः पश्यामि रावण।।
रामभूतमिदं सर्वमरण्यं प्रतिभाति मे।
राममेव हि पश्यामि रहिते राक्षसाधिप।।
दृष्ट्वा स्वप्नगतं राममुद्भ्रमामि विचेतनः।
रकारादीनि नामानि रामत्रस्तस्य रावण।।
रत्नानि च रथाश्चैव वित्रासं जनयन्ति मे। III.39.14-18

"अब मुझे एक–एक वृक्ष में चीर, काला मृग–चर्म और धनुष धारण किए राम ही दिखाई देते हैं, जो मुझे पाशधारी यमराज के समान प्रतीत होते हैं। मैं भयभीत हुआ हज़ारों रामों और अपने सामने खड़ा पाता हूँ। यह सारा वन ही मुझे राममय प्रतीत हो रहा है। जब मैं एकान्त में बैठता हूँ, तब मुझे राम के दर्शन होते हैं। सपने में भी राम को देखकर मैं उद्भ्रान्त और अचेत होकर उठ बैठता हूँ। मैं तो राम से इतना भयभीत हूँ कि राम और रकारात्मक शब्द मेरे कान में पड़ते ही मैं भयभीत हो उठता हूँ, चाहे वे *'रत्न'* या *'रथ'* ही हो।"

अब कवि यह दर्शाता है यह वार्तालाप रावण को कैसा लगता है, जब कभी कोई अवर उससे दो टूक खरी–खरी बात करता है। स्पष्ट है कि रावण उन व्यक्तियों में से है, जो सुख–श्रवण वचन ही सुनना पसन्द करते है, न कि हितकर वचन। वह मारीच से कठोर वाणी में कहता है :

दोषं गुणं वा संपृष्टस्तवमेवं वक्तुमर्हसि।
अपायं वाप्युपायं वा कार्यस्यास्य विनिश्चये।।
संपृष्टेन तु वक्तव्यं सचिवेन विपश्चिता।
उद्यताञ्जलिना राज्ञो य इच्छेद्भूतिमात्मनः।।
वाक्यमप्रतिकूलं तु मृदुपूर्वं हितं शुभम्।
उपचारेण युक्तं च वक्तव्यो वसुधाधिपः।।
सावमर्दं तु यद्वाक्यं मारीच हितमुच्यते।
नाभिनन्दति तद्राजा मानार्हो मानवर्जितम्।। III.40.8-11

"यदि इस कार्य के निर्णय करने में मैं तुमसे पूछता कि इसमें क्या दोष है और क्या गुण है, इसकी सिद्धि में कौन सी बाधा है और इसकी सिद्धि का कौन सा उपाय

है, तो तुम्हें ऐसी बात कहनी चाहिए थी। मैं तो तुम्हें केवल अपना काम करने को कह रहा हूँ, और इस सम्बन्ध में तुम्हारी राय जानने के लिए नहीं आया हूँ, और इस सम्बन्ध में तुम्हारी राय जानने के लिए नहीं आया हूँ। जो अपना कल्याण चाहता हो, उस बुद्धिमान मन्त्री को उचित है कि वह राजा से उसके पूछने पर ही अपना अभिप्राय प्रकट करे और वह भी हाथ जोड़कर बड़ी नम्रता के साथ। राजा के सामने ऐसी बात कहनी चाहिए, जो सर्वथा अनुकूल, मधुर, उत्तम, हितकर और आदर से युक्त हो। राजा तो सम्मान का भूखा होता है। उसकी बात का खंडन करके आक्षेपपूर्ण भाषा में यदि हितकर वचन भी कहा जाये, तो वह कभी भी अपमान पूर्ण वचन का अभिनन्दन नहीं कर सकता।"

ध्यान देने की बात यह है। मारीच से वार्तालाप करने के समय रावण अपने विलक्षण कौशल का प्रदर्शन करता है। उसने, जो मारीच को अपनी योजना का पहला सुझाव दिया, वह यह था कि वह एक सुसज्जित स्वर्णमय हिरण का रूप धारण करके सीता के सम्मुख इठलाकर टहलने लगे, जिससे सीता राम को उसका पीछा करने के लिए कहे। परन्तु, कुछ ही क्षणों में रावण ने इस योजना में सुधार किया। मारीच सीता के सम्मुख जाकर उनका मन हर ले और उनके मन में उसको प्राप्त करने की तीव्र इच्छा जाग्रत कर दे और फिर दूर भाग जाय। राम उसको पकड़ने के लिए उसका पीछा करेंगे, जब दोनों बहुत दूर निकल जाये, तब राम की आवाज़ की नक़ल करते हुए 'हा लक्ष्मण! हा सीते!' कहते हुए चीत्कार करे। इससे स्पष्ट होता है कि रावण अपनी योजनाओं में उलटफेर करने में कितना कुशाग्र बुद्धि था। रावण को अपनी धुन में लीन पाकर, वह उसको समझाने का प्रयत्न करता है। "इस संसार में ऐसा अनेक बार होता है। एक दुष्ट व्यक्ति, जो दुराचार में प्रवृत्त होता है, उसके कारण सहस्रों लोगों को दुःख भोगना पड़ता है। केवल दुराचारी ही अकेला कष्ट नहीं पाता।" श्री राम के विषय में अपने पूर्व अनुभव के आधार पर वह रावण को अपराध करने के लिए मना करता है। वह कहता है :

अकुर्वन्तोऽपि पापानि शुचयः पापसंश्रयात्।
परपापैर्विनश्यन्ति मत्स्या नागह्रदे यथा।। III.38.26
बहवः साधवो लोके युक्ता धर्ममनुष्ठिताः।
परेषामपराधेन विनष्टाः सपरिच्छदाः।। III.41.13

"उपयुक्त धर्म का पालन करने वाले बहुत से साधु पुरुष भी इस जगत में दूसरों के अपराध के कारण परिवार सहित नष्ट हो जाते हैं। जो लोग आचार–विचार से शुद्ध हैं और अपराध नहीं करते, वे यदि पापियों के संसर्ग में आ जायें, तो वे भी दूसरों के पापों के कारण नष्ट हो जाते हैं। जैसे एक बहुत बड़े सरोवर में यदि सर्प हों और लोग उन सर्पों को मारना चाहें, तो सरोवर में निवास करने वाली बहुत सी बेचारी मछलियाँ भी सर्पों के साथ नष्ट हो जायेंगी।"

रावण ने धमकी दी, "मारीच! यदि तुम मेरे कार्य से इन्कार करोगे, तो मैं तुम्हें मार डालूँगा।" जब रावण ने राजा के रूप में उसे ऐसी प्रतिकूल आज्ञा दी, तब मारीच ने निशंक होकर उस राक्षस को कठोर वचन कहे और विनाश का भय दिखाकर उसे पुनः समझाने का प्रयास किया। उपयुक्त धर्म का अनुष्ठान करने वाले बहुत से साधु पुरुष भी दूसरों के अपराध के कारण नष्ट हो जाते हैं। युद्ध कांड में राम कहते हैं :

एको हि कुरुते पपं कालपाशवशं गतः।
नीचेनात्मापचारेण कुलं तेन विनश्यति।। VI.38.7

"यदि एक व्यक्ति सत्ता के उच्च पद पर आसीन है, अनेक लोग उसका अनुकरण करते हैं, आदर करते हैं और आज्ञा का पालन करते हैं। यदि वह कोई ग़लती करता है, तो उसके कारण वे भी कष्ट भोगते हैं।" उच्च अधिकार के पद पर असीन होने पर, चाहे नैतिक आधार पर अथवा शक्ति के आधार पर, न केवल उसके दुराचार के कारण दूसरे लोगों को कष्ट भोगना पड़ता है, अपितु उसकी भूलों, नीतियों और ग़लतियों के कारण भी हज़ारों लोगों को दुःख भोगना पड़ता है। प्रायः ऐसा ही देखने में आता है। आपको स्मरण होगा, मैंने विभीषण की चेतावनी का उल्लेख किया था, जब उसने रावण का त्याग किया था। मारीच भी वही शब्द कहता है, "वास्तव में जिन लोगों की आयु समाप्त हो जाती है, वे जीवन के अन्तकाल में सुहृदों की कही हुई हितकर बात भी नहीं मानते। नियति इतनी बलवान है।"

एवं कृत्वा त्विदं कार्यं यथेष्टं गच्छ राक्षस।
राज्यस्यार्धं प्रदास्यामि मारीच तव सुव्रत।।
प्राप्य सीतामयुद्धेन वञ्चयित्वा तु राघवम्।
लङ्कां प्रतिगमिष्यामि कृतकार्यः सह त्वया।।
न चेत्करोषि मारीच हन्मि त्वामहमद्य वै।
एतत्कार्यमवश्यं मे बलादपि करिष्यसि।।
राज्ञो हि प्रतिकूलस्थो न जातु सुखमेधते।। III.40.23,25,26

"मारीच, 'हा लक्ष्मण, हा सीता!' ऐसा चीत्कार करके, लक्ष्मण को सीता के पास से दूर हटा कर मेरा रास्ता साफ़ कर देना। इस प्रकार मेरे इस कार्य को सम्पन्न करके, जहाँ तुम्हारी इच्छा हो चले जाना। मैं इसके लिए तुम्हे आधा राज्य दूँगा। राम को धोखा देकर, बिना युद्ध किये, सीता को अपने हाथ में लेकर, कृतार्थ होकर लंका को लौट जाऊँगा। यदि तुम सहमत न हुए, तो अभी तुम्हें मार डालूँगा। मेरा यह कार्य तुम्हें अवश्य करना पड़ेगा। मैं बलप्रयोग करके भी तुम से यह कार्य करवा सकता हूँ। राजा के प्रतिकूल चलने वाला व्यक्ति कभी सुखी नहीं रह सकता। मेरी अवज्ञा करके तुम बच नहीं सकते।"

रावण को अन्तिम बार समझाकर और उसके न मानने पर कठोर वचन कहकर, उस निशाचर राज से भयभीत होकर, दुःखी मारीच ने कहा, "चलो चलें, मरना तो मुझे है ही। अच्छा तो यही होगा, मैं राम के बाण द्वारा अपने प्राण त्याग दूँ।" मारीच के इस वचन से रावण को बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने उसे कस कर हृदय से लगा लिया और इस प्रकार कहा :

प्रहृष्टस्त्वभवत्तेन वचनेन स रावणः।
परिष्वज्य सुसंश्लिष्टमिदं वचनमब्रवीत्।।
एतच्छौण्डीर्ययुक्तं ते मच्छन्दादिव भाषितम्।
इदानीमसि मारीचः पूर्वमन्यो निशाचरः।। III.42.5,6

"यह तुमने वीरता की बात कही है क्योंकि अब तुम मेरी इच्छा के अनुकूल हो गए हो। इस समय तुम वास्तव में मारीच हो। पहले तुममें किसी दूसरे राक्षस का आवेश हो गया था।"

◈◈◈

चौबीसवाँ अध्याय

रावण

अब मैं रावण के स्त्री जाति से सम्बन्धों के विषय में चर्चा करूँगा। इन्हीं के कारण उसका सर्वनाश हुआ। अतएव, यह आवश्यक है कि उसके चरित्र के इस पहलू पर पूरा–पूरा ध्यान दिया जाय। इसके लिए हमें उत्तर कांड में जाना होगा, यह जानने के लिये कि किस प्रकार वह अपने जीवन के आरम्भ में ही एक घोर पातकी बन गया था। जब भी अवसर मिलता, वह स्त्रियों को उनके संरक्षकों से ज़बरदस्ती छीन लेता और यदि वे आनाकानी करतीं, तो वह उनपर बलात्कार करता। अपने इस आचरण से उसने अपने विरुद्ध शत्रु बना लिये कि देवांगनाओं और अप्सराओं ने भी उसे शाप दिए।

यस्मादेव परक्यासु रमते राक्षसाधमः।।
तस्माद्वै स्त्रीकृतेनैव प्राप्स्यते दुर्मतिर्वधम्।
सतीभिर्वरनारीभिरेवं वाक्येऽभ्युदीरिते।।
नेदुर्दुन्दुभयः स्वस्थाः पुष्पवृष्टिः पपात च। VII 24.20-22

"यह नीच निशाचर परायी स्त्रियों के साथ रमण करता और उनके सतीत्व का सम्मान नहीं करता। इसलिए स्त्री के प्रति दुष्कर्मों के कारण ही इस दुर्बुद्धि का वध होगा।"

उन श्रेष्ठ सती–साध्वी नारियों ने जब ऐसी बातें कही, उस समय आकाश के देवताओं की दुन्दुभियाँ बज उठीं और वहाँ पुष्पवर्षा होने लगी। जब यह शाप उच्चारित हुआ, आकाश में आनन्द मनाया गया।

इसी कांड में उसके बारे में एक अन्य प्रसंग आता है। कुबेर के पुत्र, नलकुबेर ने स्वर्ग इसी कांड की अप्सरा रम्भा से भेंट का नियोजन किया था। जब वह मिलन स्थल की ओर अग्रसर हो रही थी, मार्ग में रावण मिल गया। उसने उसके सौन्दर्य पर मोहित होकर उस पर बलात्कार कर दिया। रम्भा ने इसकी शिकायत नलकुबेर से की और इस पर नलकुबेर ने बड़ा भयंकर शाप दिया।

अकामा तेन यस्मात्त्वं बलाद्भद्रे प्रधर्षिता।
तस्मात् से युवतीमन्यां नाकामामुपयास्यति।।

यदा ह्यकामां कामार्तो धर्षयिष्यति योषितम्।
मूर्धा तु सप्तधा तस्य शकलीभविता तदा।।
*श्रुत्वा तु स दशग्रीवस्तं शापं रोमहर्षणम्।।**
नारीषु मैथुने भावं नाकामास्वभ्यरोचयत्।
तेन नीताः स्त्रियः प्रीतिमापुः सर्वाः पतिव्रताः।। VII.26.55,56,59,60

"भद्रे! तुम्हारी इच्छा न होने पर भी रावण ने तुम पर बलात्कार किया है। अतएव, वह आज से किसी दूसरी युवती से, जो उसे चाहती न हो, समागम नहीं कर सकेगा। यदि वह कामपीड़ित होकर न चाहने वाली स्त्री पर बलात्कार करेगा, तो तत्काल उसके मस्तक के सात टुकड़े हो जायेंगे।"

जब रावण ने यह रोमांचकारी शाप सुना, उसने अपने को न चाहने वाली स्त्रियों के साथ बलात्कार करना छोड़ दिया। उस समय उसके अन्तःपुर में बहुत सी पतिव्रता स्त्रियों थीं, जिनकी वह हरकर ले आया था और जिन्होंने उसको आत्मसमर्पण नहीं किया था, उन सबको नलकुबेर का दिया गया शाप बड़ा प्रिय लगा। वे सब प्रसन्न हुई, वे आश्वस्त हो गई कि उनका सतीत्व सुरक्षित रहेगा, जब तक वे स्वयं उसको अर्पित न करें। परन्तु ऐसा नहीं लगता कि इस शाप ने उसे अपनी अनैतिक गतिविधियों से रोक दिया हो। ऐसा कहा जाता है, यद्यपि नलकुबेर का शाप सशक्त और विशुद्ध था, उसका प्रभाव तत्कालीन नहीं हुआ। कारण यह था कि रावण की अर्जित तपस्या निधि इतनी विपुल थी कि वह उसका कुछ भाग देकर पहले की तरह आचरण कर सकता था। इस प्रसंग का विवरण, उसके अपने ही शब्दों में, उसके विरुद्ध प्रमाणिक माना जाना चाहिए। हनुमान के लंका से लौटने पर श्री राम की आज्ञानुसार वानर सेना ने प्रस्थान कर समुद्र तट पर पड़ाव डाल दिया था। जब रावण को पता चला कि श्री राम सहस्त्रों वानरों सहित लंकापुरी पर आक्रमण करने वाले हैं, तब उसने अपने अन्य मन्त्रियों से समुचित सलाह देने का आग्रह किया। विभीषण की बात न मान कर, रावण ने उसे वहाँ से विदा किया। एक सभा का आयोजन किया गया, जिसमें उसके भाई, पुत्र और अन्य सम्बन्धी उपस्थित थे और भावी कर्त्तव्य के लिए सभासदों की सम्मति माँगी। महापार्श्व ने सीता पर बलात्कार करने का सुझाव दिया। रावण का उत्तर इस प्रकार था :

महापार्श्व निबोध त्वं रहस्यं किञ्चिदात्मनः।
चिरंवृत्तं तदाख्यास्ये यदवाप्तं मया पुरा।।
पितामहस्य भवनं गच्छन्तीं पुञ्जिकस्थलाम्।
वज्रूर्यमाणामद्राक्षमाकाशेऽग्निशिखामिव।।

* देखें महाभारत वन (रामोपाख्यान)। ब्रह्मा राम को बताते हैं : नलकुबेर के शाप द्वारा मैंने इस प्रकार *"नलकूबेरशापन रक्षा चास्याः कृता भया"* स्त्रियों की रक्षा की।

सा प्रसह्य मया भुक्ता कृता विवसना ततः।
स्वयंभूभवनं प्राप्ता लोलिता नलिनी यथा।।
तस्य तत्त्व तदा मन्ये ज्ञातमासीन्महात्मनः।
अथ संकुपितो वेधा मामिदं वाक्यमब्रवीत्।।
अद्यप्रभृति यामन्यां बलान्नारीं गमिष्यसि।
तदा ते शतधा मूर्धा फलिष्यति न संशयः।।
इत्यहं तस्य शापस्य भीतः प्रसभमेव ताम्।
नारोपये बलात्सीतां वैदेहीं शयने स्वके।। VI.13.10-15

"महापार्श्व! बहुत दिन हुए पूर्वकाल में एक गुप्त घटना घटित हुई थी। मुझे शाप भी मिला था। अपने जीवन के इस गुप्त रहस्य को मैं आज मैं तुम्हें सुना रहा हूँ। सुनो! एक बार मैंने आकाश में अग्नि–शिखा के समान प्रकाशित हुई, पुंजिकस्थला नाम की एक अप्सरा को देखा, जो पितामह ब्रह्मा जी के भवन की ओर जा रही थी। मैंने बलपूर्वक उसके वस्त्र उतार दिए और हठात् उसका उपभोग किया। तत्पश्चात् वह ब्रह्मा के भवन में गई। उसकी दशा हाथी द्वारा मसलकर फेंकी हुई कमलिनी के समान हो रही थी। मैं समझता हूँ कि मेरे द्वारा उसकी जो दुर्दशा हो गई थी, वह ब्रह्मा जी समझ गये। इसलिये वे अत्यन्त कुपित हो उठे और मुझे से इस प्रकार बोले, 'तू आज से यदि किसी दूसरी नारी के साथ बलपूर्वक समागम करेगा, तो तेरे मस्तक के सौ टुकड़े हो जायेंगे, इसमें संशय नही।' इस प्रकार मैं ब्रह्मा जी के शाप से भयभीत हूँ। उस दिन से मैं इस दिशा में उल्लंघन नहीं कर रहा हूँ। अतएव, जब मैं सीता को अपने महल में लाया, मुझे उसके साथ अत्यन्त कोमल व्यवहार करना पड़ा। मैं उसके प्रति किसी प्रकार का बलप्रयोग नहीं कर सकता था। इसलिये मैं उसको अपनी शय्या पर न चढ़ाने में विवश हूँ।"

इससे उसके मन में कुछ परिवर्तन आया। जबसे उसे इस घोर शाप का आंशका हुई, उसने प्रत्यक्षतः अपना ढंग बदल दिया। वह एक सौम्य और भद्र प्रणयी बन गया। प्रतीयमानतः वह एक इतना कुशल प्रणयी था कि वह स्त्रियों का हृदय सहज ही हर लेता था। जब उसने समझ लिया कि स्त्रियों के प्रति कोई दूसरा विकल्प नहीं है, उसने काम विद्या की सब कलाओं में दक्षता प्राप्त कर ली। वह स्त्रियों के प्रति धैर्यपूर्वक प्रयत्नशील होता और येन–केन–प्रकारेण उनका मन रखता। इस प्रकार उनके साथ, कोई अनुचित कार्य करने से पूर्व, वह इन स्त्रियों की सहमति प्राप्त कर लेता था। वे भी उसकी कामलालसा की स्वैच्छिक कठपुतलियाँ बन जाती थी। कुछ स्त्रियाँ युद्धोपरान्त उनके पतियों की पराजय के बाद हथिया ली गई थीं और कुछ अन्य उस पर मोहित होकर उसके पास चली आई थीं। जब हनुमान ने उसके अन्तःपुर की स्त्रियों को देखा था, उसने इस प्रकार टिप्पणी की थी :

राजर्षिपितृदैत्यानां गन्धर्वाणां च योषितः।
राक्षसानां च याः कन्यास्तस्य कामवशं गताः।।
युद्धकामेन ताः सर्वा रावणेन हृताः स्त्रियः।
समदा मदनेनैव मोहिताः काश्चिदागताः।।
न तत्र काश्चित्प्रेमदाः प्रसह्य वीर्योपपन्नेन गुणेन लब्धाः।
न चान्यकामपि न चान्यपूर्वां विना वरार्हां जनकात्मजां ताम्।।
न चाकुलीना न च हीनरूपा नादक्षिणा नानुपचारयुक्ता।
भार्याभवत्तस्य न हीनसत्त्वा न चापि कान्तस्य न कामनीया।।
V.9.68-71

"राजर्षियों, ब्रह्मर्षियों, दैत्यों, गन्धर्वों तथा राक्षसों की कन्याएँ काम के वशीभूत होकर रावण की पत्नियाँ बन गई थीं। उन कुछ स्त्रियों का रावण ने युद्ध की इच्छा से अपहरण किया था और कुछ मदमस्त रमणियाँ काम से मोहित होकर स्वयं ही उसकी सेवा में उपस्थित हो गई थीं। वहाँ ऐसी कोई स्त्री नहीं थी, जिसको बल–पराक्रम सम्पन्न होने पर भी उसकी इच्छा के विरुद्ध बलात्कार से हर लिया हो। वे सब उसके अलौकिक गुणों के आकर्षण से मिली थीं। जनकनन्दिनी सीता को छोड़ कर वहाँ दूसरी कोई ऐसी स्त्री नहीं थी, जो रावण के सिवाय किसी दूसरे की इच्छा रखने वाली हो अथवा जिसका कोई अन्य पति रहा हो। रावण की कोई ऐसी भार्या नहीं थी, जो कुलीन न हो अथवा जो कुरूप, अनुदार अथवा उत्तम वस्त्र विभूषणों से वञ्चित हो।"

इससे पता चलता है कि किस प्रकार रावण स्त्रियों के प्रति अपने रवैये में बदलाव ले आया था। किस प्रकार वह उनके लिए एक आकर्षक प्रणयी बन गया था। वे उसकी स्वैच्छिक सहचरी बन गईं थीं। हनुमान, जिनको अवश्य ही यह बताया गया था कि रावण दुष्ट था और स्त्रियों से दुर्व्यवहार करता था, यह देखकर विस्मित हुए और सहसा कह उठे :

बभूव बुद्धिस्तु हरीश्वरस्य यादृग्दृशी राघवधर्मपत्नी।
इमा यथा राक्षसराजभार्याः सुजातमस्येति हि साधुबुद्धेः।। V.9.72

हनुमान एक सरल स्वभाव व्यक्ति थे। उस समय उनके मन में विचार उत्पन्न हुआ कि "रावण की ये भार्याएँ उस पर इतना मोहित है और उसके साथ रहकर सुखी हैं। यदि सीता भी उसकी चापलूसी का शिकार हो गई हैं, तो कहना पड़ेगा, यह व्यक्ति अत्यन्त भाग्यशाली है।" परन्तु इस विचार को मन में आते ही उन्होंने स्वयं को रोका।

पुनश्च सोऽचिन्तयदार्तरूपो ध्रुवं विशिष्टा गुणतो हि सीता।
अथायमस्यां कृतवान् महात्मा लङ्केश्वरः कष्टमनार्यकर्म।। V.9.73

"परन्तु सीता इन स्त्रियों के समान नहीं हैं। वह गुणों की दृष्टि से इन स्त्रियों से बहुत ऊपर हैं। सीता के रावण का शिकार बनने की सम्भावना नहीं है। रावण ने सीता को धोखा देकर उसके प्रति यह अपहरणरूप महाकष्टप्रद अक्षम्य नीच कर्म किया है।"

रावण ने शापित होने के कारण अपने ढंग में परिवर्तन किया। इन स्त्रियों को अपना सौम्य और आकर्षण के रूप दिखाकर वह एक सुसंस्कृत एवं निपुण प्रणयी बन गया। इसीलिए, जब वह युद्ध में मारा गया, उसकी राक्षस स्त्रियों का विलाप सच्चा था, उसकी मृत्यु पर उनका शोक प्रदर्शन अकृत्रिम था, यह अहसास होते हुए भी कि वास्तव में वह एक अच्छा व्यक्ति नहीं था, प्रकृति से दुष्ट था और सीता के प्रति दुर्व्यवहार के कारण यह सब विपत्ति उसने मोल ली थी। उनके शोक में यथार्थता थी, यद्यपि साथ–साथ उन्हें यह भी ज्ञान था कि रावण एक दुराचारी था।

बहुमानात् परिष्वज्य काचिदेनं रुरोद ह।
चरणौ काचिदालिङ्ग्य काचित्कण्ठेऽवलम्ब्य च।।
उद्धृत्य च भुजौ काचिद्भूमौ स्म परिवर्तते।
हतस्य वदनं दृष्ट्वा कचिन्मोहमुपागमत्।।
काचिदङ्के शिरः कृत्वा रुरोद मुखमीक्षती।
स्नापयन्ती मुखं बाष्पैस्तुषारैरिव पङ्कजम्।। VI.113.8-10

उनमें से कोई तो बड़े आदर भाव से उसका आलिंगन कर, कोई पैर पकड़कर और कोई गले लगा कर रोने लगी। कोई अपनी दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर पछाड़ खाकर गिर पड़ी और धरती पर लोटने लगी और कोई उसके शव का मुख देख कर मूर्च्छित हो गई। कोई पति का मस्तक गोद में लेकर मुख निहारती रही। कोई अपने अश्रुबिन्दुओं से पति के मुखारविन्द को नहलाती रही और रुदन करने लगी। परन्तु सबने निष्कपट भाव से दुःख के आँसू बहाये। वे बोलीं :

ब्रुवाणोऽपि हितं वाक्यमिष्टो भ्राता विभीषणः।।
धृष्टं परुषितो मोहात्त्वयात्मवधकाङ्क्षिणा।
यदि निर्यातिता ते स्यात्सीता रामाय मैथिली।।
न नः स्याद्व्यसनं घोरमिदं मूलहरं महत्।
त्वया पुनर्नृशंसेन सीतां सरुन्धता बलात्।।
राक्षसा वयमात्मा च त्रयं तुल्यं निपातितम्।
न कामकारः कामं वा तव राक्षसपुङ्गव।।
दैवं वेष्टयते सर्वं हतं दैवेन हन्यते।
वानराणां विनाशोऽयं रक्षसां च महाहवे।।
तव चैवमहाबाहो दैवयोगादुपागत।
नैवार्थेन न कामेन विक्रमेण न चाज्ञया।।
शक्या दैवगतिर्लोके निवर्तयितुमुद्यता। VI.113.19-26

"आपके प्रिय भाई, विभीषण ने आपके हित की बात कही थी, फिर भी अपने विनाश के लिये तुले होने के कारण आपने उन्हें मोहवश कटुवचन सुनाये। यह उसी

का प्रत्यक्ष फल है। यदि आपने सीता को लौटा दिया होता, तो जड़–मूल विनाशक यह महाघोर संकट हमारे ऊपर न आया होता,न ही हम अब विधवा होतीं और आपके शव पर न रोतीं। किन्तु आप तो ऐसे निष्ठुर हो गए कि सीता को बलपूर्वक बंदिनी बना लिया। एक प्रहार से आपने तीनों को बरबाद कर दिया– राक्षसों को, हम स्त्रियों को और अपने आपको नीचे गिरा दिया। आपका स्वेच्छाचार ही हमारे विनाश का कारण बना। दैव ही सब कुछ कराता है, दैव का मारा हुआ ही मारा जाता है या मरता है। संसार में फल देने के लिए उन्मुख हुए दैविक विधान को कोई धन से, कामना से, पराक्रम से अथवा शक्ति से भी नही पलट सकता। हमारा यही ढंग है, जब कभी आप कोई विलाप सुनें, यह निश्चय मानिये कि स्त्रियाँ और पुरुष, दोनों ही थोड़ी बहुत देर के बाद यह अवश्य कहेंगे, 'नियति को कौन टाल सकता है। जो कुछ भी घटता है, वह किसी पूर्वनिश्चित विधान के अनुकूल ही होता है।"

मन्दोदरी और स्त्रियों से अधिक समझदार थी। उसके विलाप का वर्णन एक पूरे सर्ग में दिया गया है। कई स्थान पर वह भाषणपटुता की ऊँचाइयों को छूता है।

इन्द्रियाणि पुरा जित्वा जितं त्रिभुवनं त्वया।
समरद्भिरिव तद्वैरमिन्द्रियैरव निर्जितः।।
अप्राप्य चैव तं कामं मैथिलीसंगते कृतम्।।
पतिव्रतायास्तपसा नूनं दग्धोऽसि मे प्रभो।
तदैव यन्न दग्धास्त्वं धर्षयंस्तनुमध्यमाम्।।
देवा बिभ्यति ते सर्वे सेन्द्राः साग्निपुरोगमाः।
न कुलेन न रूपेणा न दाक्षिण्येन मैथिली।।
मयाऽधिका वा तुल्या वा त्वं तु मोहान्न बुध्यसे।
मैथिली सह रामेण विशोका विहरिष्यति।
अल्पपुण्या त्वहं घोरे पतिता शोकसागरे।।
पिता दानवराजो मे भर्ता मे राक्षसेश्वरः।
पुत्रो मे शक्रनिर्जेता इत्येवं गर्विता भृशम्।।
प्रवादः सत्य एवायं त्वां प्रति प्रायशो नृप।
पतिव्रतानां नाकस्मात् पतन्त्यश्रूणि भूतले।।

VI.114.18,23-25,28-29,31,40,67

"जीवन के प्रभात काल में ही आपने अपनी इन्द्रियों को जीतकर तीनों लोकों पर विजय प्राप्त की थी। आपने अपनी वासनाओं और कुवृत्तियों को वश में कर लिया था। कोई भी प्रलोभन आपको लुभा नहीं सकता था। इस प्रकार तप का संचय कर आपने देवताओं से वरदान लिए। अपनी इन्द्रियों पर आपका पूरा–पूरा नियन्त्रण था। उस वैर को स्मरण करती हुई, ये इन्द्रियाँ अब अपना बदला लेना चाहती थीं। इन्होंने

ही अब आपको परास्त किया है और आपके सौभाग्य के साथ यह विनाशकारी खेल खेला है। सीता के साथ समागम के लिये जो आपके मन में कामना थी, उसे तो आप न पा सके और उसके विपरीत उस पतिव्रता देवी की तपस्या से जल कर भस्म हो गए। अवश्य ही ऐसी बात हुई है। सीता का जनस्थान में अपहरण करते समय आप जल कर भस्म नहीं हुए। यहा आश्चर्य की बात है। ऐसा नहीं हुआ, सम्भवतः इसी कारण यह हो कि यह आपके अधः पतन का प्रथम चरण था। आपका तपस्याजनित पुण्य का भंडार अभी रिक्त नहीं हुआ था। धीरे–धीरे एक वर्ष और निकला था। आपकी जिस महिमा से इन्द्र, अग्नि आदि सम्पूर्ण देवता आपसे डरते थे, उसी ने उस समय आपको दग्ध होने से बचा लिया। मिथिला कुमारी सीता ने कुल में, न रूप में, और न ही दाक्षिण्य आदि गणों में मुझ से बढ़कर है, न ही मेरे बराबर है। परन्तु आप मोह वश इस बात की ओर ध्यान न हीं देते थे। आप तो अंधे हो रहे थे, पागल हो रहे थे। स्त्रियों की नई–नई विजयों के पीछे दौड़ रहे थे। आप उसे यहाँ ले आये यह सोचकर कि वह आपकी हो जायेगी। किन्तु, परिणाम क्या हुआ? मैं तो आपसे बिछुड़ गई और सीता उस व्यक्ति से मिलने जा रही है, जिससे छीन कर आप उसे यहाँ लाये थे। सीता अब शोकरहित होकर श्री राम के साथ विहार करेगी। परन्तु मेरा पुण्य बहुत थोड़ा था। इसलिए वह जल्दी समाप्त हो गया और मैं शोक सागर में गिर पड़ी हूँ। दानव राज मेरे पिता, राक्षसराज रावण मेरे थे और इन्द्र पर विजय प्राप्त करने वाला इन्द्रजित मेरा पुत्र था। यही सोचकर मैं गर्व से भरी रहती थी। मेरे पिता, मेरे पति और पुत्र ये तीनों ही विश्व विश्रुत थे। संसार की प्रतिष्ठा की उच्चतम कोटि में थे। किन्तु अब मुझे दंड दिया गया है। 'पतिव्रता के आँसू इस पृथ्वी पर व्यर्थ नहीं गिरते। वे अवश्य ही किसी को घोर दंड देते हैं,' यह कहावत सर्वथा सत्य है और आपके ऊपर ठीक–ठीक घटी है। आपकी दुष्टता के कारण न जाने कितनी पतिव्रताओं ने आँसू बहाये हैं।"

यद्यपि मैंने ऐसा कहा है कि रावण ने अपना ढंग सुधार लिया था, स्त्रियों के प्रति वह सौम्य हो गया था, न्यायसंगत उपायों से उनका हृदय जीतता था, अपने मनमोहक जादू द्वारा, तथापि इससे यह निष्कर्ष नहीं था निकलता कि उसका चरित्र निष्कलंक हो गया था और वह सदाचारी व्यक्ति बन गया था। उसकी महानता और सच्चारिता में ज़मीन–आसमान का अन्तर था। वह अब भी नीचता पर उतर सकता था, वह क्रूर कार्य भी कर सकता था, षड्यंत्र रच सकता था, सफ़ेद झूठ बोल सकता था, लम्बी–चौड़ी बातें बना सकता था और लोगों को धोखा दे सकता था। मैं अब उसके चरित्र के इस पहलू पर कुछ कहूँगा। यह उसका अत्यन्त कलंकपूर्ण और अपकीर्तिकर पक्ष है। सचमुच, हमें बड़ा खेद होता है हम जब किसी मानुषी अथवा राक्षसी स्वभाव में यह देखते हैं कि इस सत्प्रकृति के अभाव में महान प्रतिभा का दुरुपयोग नीच कार्यों के लिये किया जाता है। रावण में सत्प्रकृति का नितान्त अभाव था। वह तो एक चालबाज़

व्यक्ति था, यद्यपि वह शूरवीर था और युद्ध में किसी से भी टक्कर ले सकता था। कई बार उसने इन्द्र देव को भी पराजित किया था। फिर भी बहुधा सीधा सामना करने के बजाय, वह अपने उद्देश्य पूर्ति के लिए धोखे और चालाकी का आश्रय लेता था। आरम्भ में जाने के बजाय, क्यों उसने राम का सीधा सामना नहीं किया? किसी किसी में थोड़ी बहुत चालबाज़ी के लिए बड़ा भारी आकर्षण होता है। रावण भी इसी प्रकृति का शिकार था। उसकी इस आदत का पता, न केवल सीता को ही था, राम को भी था। अन्य लोग ऐसी चालबाज़ियों के लिए उसकी आलोचना करते थे। उसने चालाकी द्वारा राम और लक्ष्मण को बहुत दूर भिजवा दिया और अनैतिक वेश धारण करके सीता की निर्मल भावनाओं का अनुचित लाभ उठाने का प्रयास किया। सीता ने आत्मसमर्पण नहीं किया, अन्यथा वह अपनी चालबाज़ी से उनको भी लुभा लेता। सीता की वाणी तीखी थी और उन्होंने उसे कभी क्षमा नहीं किया।

न व्यपत्रपसे नीच कर्मणानेन रावण।
ज्ञात्वा विरहितां यन्मां चोरयित्वा पलायसे।।
त्वयैव नूनं दुष्टात्मन् भीरूणा हर्तुमिच्छता।
मामपवाहितो भर्ता मृगरूपेण मायया।।
परमं खलु ते वीर्यं दृश्यते राक्षसाधम।।
विश्राव्य नामधेयं हि युद्धे नास्मि जिता त्वया।
ईदृशं गर्हितं कर्म कथं कृत्वा न लज्जसे।
स्त्रियाश्च हरणं नीच रहिते तु परस्य च।।
धिक् ते शौर्यं च सत्त्वं च यत्त्वं कथितवांस्तदा।
कुलक्रोशकरं लोके धिक् ते चरित्रमीदृशम्।। III.53.3,4,6,7,9

"नीच रावण! क्या तुझे अपने इस कर्म से लज्जा नहीं आती है, जो मुझे स्वामीरहित अकेली और असहाय जानकर चुराकर भागा जा रहा है। दुष्टामन्! तू बड़ा कायर और डरपोक है। निश्चय ही मुझे हर लेने की इच्छा से तूने ही मृगरूपी माया द्वारा मेरे स्वामी को आश्रम को दूर हटा दिया है। तूने एक नीच कोटि के छल का आश्रय लिया है। नीच राक्षस! अवश्य ही तुझ में बड़ा भारी बल दिखाई देता है (क्योंकि तूने बूढ़े पक्षी को भी मार गिराया है!)। तूने अपना नाम बताकर श्री राम और लक्ष्मण के साथ खुला युद्ध करके मुझे नहीं जीता। यदि श्री राम के साथ युद्ध किया होता, तो बात कुछ और होती, ओ नीच! जहाँ कोई रक्षक न हो, ऐसे स्थान पर परायी स्त्री का अपहरण जैसा निन्दित कर्म करके तू लज्जित कैसे नहीं होता है? तूने स्वयं ही जिस शौर्य का वर्णन किया था, उस शौर्य और बल को भी धिक्कार! कुल में कलंक लगाने वाले तेरे ऐसे चरित्र को संसार में सदैव धिक्कार ही प्राप्त होगा," सीता प्रायः उसकी भर्त्सना इसी प्रकार किया करती थी।

युद्ध के अंतिम चरण में जब युद्धक्षेत्र में रावण का सामना श्री राम से हुआ, वे अपने गरिमामय ढंग से उससे कहते हैं :

मया विरहितां दीनां वर्तमानां महावने।
वैदेहीं प्रसभं हृत्वा शूरोऽहमिति मन्यसे।।
स्त्रीषु शूर विनाथासु परदाराभिमर्शक।
कृत्वा कापुरुषं कर्मशूरोऽहमिति मन्यसे।।
भिन्नमर्यादं निर्लज्ज वारित्रेष्वनवस्थित।
दर्पान्मृत्युमुपादाय शूरोऽहमिति मन्यसे।।
शूरेण धनदभ्रात्रा बलैः समुदितेन च।
श्लाघनीयं यशस्यं च कृतं कर्म महत्त्वया।।
शूरोऽहमिति चात्मानमवगच्छसि दुर्मते।
नैव लज्जास्ति ते सीतां चोरवद्वचपकर्षतः।। VI.105.12-15,17

"उस विशाल वन में मेरी अनुपस्थिति में मुझसे विलग हुई, दीन अवस्था में सीता को बलपूर्वक हरण करके, अपने को शूरवीर समझता है? असहाय अबलाओं पर वीरता दिखाने वाले निशाचर! परस्त्री के अपहरण जैसे अपुरुषोचित कर्म करके तू अपने को शूरवीर मानता है। धर्म की मर्यादा भंग करने वाले पापी, निर्लज्ज और सदाचार शून्य निशाचर! तूने बल के घमंड से वैदेही के रूप में अपनी मृत्यु को बुलाया है। तू बड़ा शूरवीर और बलसम्पन्न कुबेर का सौतेला भाई है। फिर भी तूने यह परम प्रशंसनीय और महान यशोवर्धक कर्म किया है। खोटी बुद्धि वाले निशाचर! तू अपने को शौर्यसम्पन्न मानता है। किन्तु, सीता को चुराते समय तुझे तनिक भी लज्जा नहीं आई!"

अब मैं उसके एक अन्य दुष्कर्म पर आता हूँ। उसने पुनः एक बार नीच चालबाज़ी द्वारा सीता को धोखा देने का प्रयत्न किया। श्री राम ने वानरों की सहायता से पुल बँधवाया था और फिर समुद्र पार करके लंका के उत्तर में पड़ाव डाल दिया था। उन्होंने अपने सहचारों को नगर की सुरक्षा और शत्रुबल की जानकारी के लिए अपने गुप्तचरों इधर–उधर भेजना आरम्भ किया। रावण के गुप्तचरों ने जब यह बताया कि श्री राम की सेना सुवेल पर्वत पर आकर ठहरी है, श्री राम स्वयं भी वहाँ आ पहुँचे है। रावण कुछ उद्वेजित हुआ। उसने अपने मंत्रियों से विचार विमर्श किया। उसने महाबली, महामायावी माया विशारद राक्षस विद्युज्जिह्व से कहा, "तुम राम का मायानिर्मित मस्तक लेकर एक धनुष बाण सहित मेरे पास लाओ।" रावण की आज्ञा पाकर विद्युज्जिह्व ने रावण को बड़ी कुशलता से प्रकट की हुई अपनी माया दिखाई, जिससे रावण उस पर बहुत प्रसन्न हुआ। तत्पश्चात् रावण सीता को देखने के लिये अशोक–वाटिका में गया। रावण ने बड़े हर्ष के साथ अपना नाम बताते हुए सीता के पास जाकर बड़े धृष्टतापूर्ण वचनों में कहा, "भद्रे! मेरे बार–बार सान्त्वना देने और प्रार्थना करने पर भी तुम

जिनका आश्रय लेकर मेरी बात नहीं मानती थीं, वही तुम्हारे पतिदेव श्री राम समर भूम में मारे गए। अब अपने ऊपर आये संकट से विवश होकर स्वयं तुम मेरी भार्या बन जाओगी। यदि सुनना चाहो तो, अपने पति के मारे जाने का घोर समाचार सुन लो।" तब वह सीता का एक मनगढ़ंत कहानी सुनाता है। उसने सीता से इस तथ्य को छिपाया कि श्री राम समुद्र पारकर लंका पहुँच चुके हैं। वह कहता है, "राम मुझे मारने के लिये समुद्र के किनारे तक आये थे और सुग्रीव की विशाल सेना सहित समुद्र के उत्तर तट पर ठहरे थे। आधी रात के समय जब थकी हुई सेना सुखपूर्वक सो रही थी। वहाँ मेरे गुप्तचरों ने पहुँच कर निरीक्षण किया। मेरी सेना प्रहस्त के नेतृत्व में वहाँ पहुँची, मेरी विशाल सेना ने रात के समय जहाँ श्री राम, लक्ष्मण भी थे, उस वानर सेना को नष्ट कर दिया। तदनन्तर प्रहस्त ने बहुत बड़ी तलवार हाथ में लेकर बिना किसी रुकावट के राम का मस्तक काट डाला। तत्पश्चात् उसने विभीषण को पकड़ लिया और वानर सेना सहित लक्ष्मण को विभिन्न दिशाओं में भाग जाने के लिये विवश किया। इस प्रकार मेरी सेना ने सैनिकों सहित तुम्हारे पति को मौत के घाट उतार दिया है।" रावण ने एक राक्षसी से कहा, "तुम राक्षस विद्युज्जिह्व को बुला लाओ, जो स्वयं संग्राम भूमि से राम का सिर यहाँ ले आया है।" तत्पश्चात विद्युज्जिह्व धनुष सहित उस मस्तक को ले आया। उससे रावण बोला, "तुम राम का मस्तक शीघ्र ही सीता के आगे रख दो, जिससे वह अपने पति का अन्तिम दर्शन अच्छी प्रकार कर ले।"

तत्पश्चात् रावण सीता से बोला, "अब तुम मेरे वश में हो।" सीता ने उस मस्तक और धनुष को देखा और सब चिह्नों से पति को पहचान कर उसे विश्वास हो गया। वह बहुत दुःखी हुई और क्रौंच पक्षी की भाँति रोने लगी। सबसे पहले उसका ध्यान कैकेयी की ओर गया और वह रोकर उसकी निन्दा करने लगी। रावण बोला :

एवं तव हतो भर्ता ससैन्यो मम सेनया।।
क्षतजार्द्रं रजोध्वस्तमिदं वास्याहृतं शिरः। VI.31,36,37

"तुम्हारे पति को आशा थी, मुझे मारने की। अब यह लो ख़ून से भीगा और धूलसरित, उनका यह मस्तक।"

स्मरण रहे कि यह सब रावण की मनगढ़ंत चालबाज़ी थी और वह सीता को यह बड़ी निर्लज्जता के साथ बताता है। यदि प्रहस्त ने ऐसा किया होता, तो भी यह बड़ा घिनौनी कार्य होता। जब सीता विलाप कर ही रही थी, उसी समय वहाँ रावण की सेना का एक राक्षस अपने स्वामी के पास आया और उसने सूचना दी कि मन्त्रियों के साथ सेनापति प्रहस्त पधारे हैं। यह सुनकर रावण अशोक–वाटिका छोड़कर मन्त्रियों से मिलने चला गया। यह सूचना मिलने पर कि राम ने समुद्र पार कर लिया है, रावण ने अपने मन्त्रियों के साथ विचार विमर्श करके राम के प्रति किए जाने वाले तत्कालीन कर्त्तव्य का निश्चय किया। कवि कहता है :

अन्तर्धानं तु तच्छीर्षं तच्च कार्मुकमुत्तमम्।
जगाम रावणस्यैव निर्याणसमनन्तरम्।। VI.32.40

रावण के वहाँ से निकलते ही वह सिर और उत्तम धनुष दोनों अदृश्य हो गए, जिससे यह स्पष्ट हो गया कि वह केवल मायावी छल था। सीता रावण की माया से भ्रमित होकर बड़ी शोकाकुल हो गई थीं। उनकी चेतना नष्टप्रायः हो गई थी। उस समय सरमा नाम की राक्षसी ने उन्हें अपने वचन द्वारा सान्त्वना दी। सरमा विभीषण की पत्नी थी, रावण की आज्ञा से सीता की रक्षा करती थी। उसने सीता को आश्वस्त किया, "तुम धैर्य धारण करो, रावण जिस कारण यहाँ से घबरा कर निकल गया है, उसका मैं भी वहाँ जाकर पूर्ण रूप से पता लगा लाई हूँ। तुम्हारे पति और उनके भाई लक्ष्मण कुशलपूर्वक हैं। रावण तुम्हें पूर्णतया मनगढ़ंत बातें बता रहा था।"

न हतो राघवः श्रीमान् सीते शत्रुनिबर्हणः।।
अयुक्तबुद्धिकृत्येन सर्वभूतविरोधिना।
इयं प्रयुक्ता रौद्रेण माया मायाविदा त्वयि।। VI.33.13,14

"शत्रुसूदन श्री राम कदापि मारे नहीं गये हैं। रावण की बुद्धि और कर्म– दोनों ही बुरे हैं। वह समस्त प्राणियों का विरोधी, क्रूर और मायावी है। उसने आप पर माया का प्रयोग किया है। श्री राम वानर सेना के साथ समुद्र लांघ कर इस पार आ गए हैं। वे विजय की प्रत्यशा से उल्लासित हैं। मैंने लक्ष्मण सहित श्री राम का दर्शन किया है। उनके लिए दुःखी होने की कोई आवश्यकता नहीं।"

इन्द्रजित ने अपने नागास्त्र से श्री राम और लक्ष्मण को धराशायी कर दिया था। उसने जब यह देखा कि दोनों निश्चेष्ट पड़े हैं, उसने उनको मरा हुआ समझा। उसने लंकापुरी पहुँच कर राम और लक्ष्मण के मारे जाने का समाचार अपने पिता को सुना दिया, जिसको सुनकर रावण हर्ष से उछल पड़ा। अपने पुत्र को विदा करके, रावण ने, जिसकी केवल एक धुन थी येन–केन–प्रकारेण सीता को प्राप्त करना, उस समय सीता की संरक्षिका राक्षसियों को बुलाया उनसे कहा, "तुम जाकर सीता से कहो इन्द्रजित ने राम और लक्ष्मण को मार दिया है। तत्पश्चात् पुष्पक–विमान में सीता को बैठाकर रणभूमि में ले जाओ और उन दोनों मरे हुए बन्धुओं को दिखा कर ले आओ।" उसने सब सोचा कि सब खेल समाप्त हो गया है और सीता अब उसकी उपेक्षा नहीं करेगी, दूसरा कोई आश्रय न देखकर वह स्वयं ही उसके पास चली आयेगी। कितनी बढ़िया परिकल्पना थी, उस राक्षस की। सीता को पुष्पक–विमान पर बैठाकर त्रिजटा सहित राक्षस स्त्रियाँ उन्हें रणभूमि पर ले चलीं। वहाँ जाकर सीता ने रणभूमि में बाणशय्या पर दोनों भाइयों को देखा, जो संज्ञाहीन दशा में पड़े हुए थे। अपने पति और देवर को धूलसरित अवस्था में देखकर सीता फूट–फूट कर रोने लगी। अब सान्त्वना देने की बारी थी, त्रिजटा की। त्रिजटा विलाप करती हुई सीता से बोली, "देवी! तुम दुःखी न हो, तुम्हारे ये पतिदेव जीवित हैं। मैं तुम्हें इसके बड़े उचित कारण बताऊँगी, जिनसे

यह सूचित होता है कि ये दोनों भाई जीवित हैं। यदि तुम वास्तव में विधवा होतीं, तो यह पवित्र पुष्पक–विमान धारण ही न करता। ज़रा इनके चेहरे को ध्यानपूर्वक देखो, बड़े आश्चर्य की बात यह है कि अचेत होकर भी, शरीर की सहज शक्ति ने इनका त्याग नहीं किया है। इन दोनों के मुखों की शोभा ज्यों कि त्यों बनी हुई है। ये दोनों केवल बेहोश हैं और शीघ्र ही होश में आ जायेंगे।"

अब हम रावण के एक अन्य दुष्कर्म पर आते हैं, जो इन सबसे निकृष्ट है। जब उसके भाग्य का ह्रास हुआ और उसकी भाग्यलक्ष्मी निम्नतम स्तर पर पहुँच गई, इन्द्रजित के साथ उसका अन्तिम योद्धा भी वीरगति को प्राप्त हो चुका था, उस समय वह अपनी सुध–बुध खो बैठा और अत्यन्त नीच हो गया और उसका आचरण भी घृणित पराकाष्ठा पर पहुँच गया। पुत्र वध से सन्तप्त और क्रोध से वशीभूत हुए रावण के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ, "सीता के कारण ही मुझ पर ये विपत्तियाँ आई है। अतएव मैं उसी का वध करने जाता हूँ।" वह सब निशाचरों से बोला, "मेरे बेटे, इन्द्रजित ने माया से वानरों को चकमा देने के लिये सीता की एक आकृति का वध किया था। आज मैं उस झूठ को सत्य करने जा रहा हूँ।" ऐसा कहकर उसने शीघ्र ही तलवार हाथ में ली और सहसा उस स्थान पर पहुँच गया, जहाँ गया जहाँ सीता थी। उसका वध करने के उद्देश्य से स्पष्ट होता है कि वह व्यक्ति किस सीमा तक अधोगति पर पहुँच चुका था। उसके सुहृदों को उसका आचरण अत्यन्त लज्जाजनक लगा और उन्होंने रावण को रोकने की असफल चेष्टा की। रावण को इस भयंकर मुद्रा में देखकर सीता विलाप करती हुई मन ही मन कहने लगीं :

हनूमतोऽपि यद्वाक्यं न कृतं क्षुद्रया मया।।
यद्यहं तस्य पृष्ठेन तदा यायामनिन्दिता।
नाहैवमनुशोचेयं भर्तुरङ्कग सती।। VI.93.54,55

"मैं भी कितनी मूर्ख थी, जब हनुमान की बात नहीं मानी। यदि उस समय हनुमान की पीठ पर बैठ कर चली गई होती, तो पति के अंक में स्थान पाकर, उनके लिए इस प्रकार का शोक न करती।"

सीता को इस प्रकार विलाप करती देखकर रावण के सुपर्श्व नामक बुद्धिमान मंत्री ने उस समय यह बात कही, "महाराज! सीता एक स्त्री हीन है और आप एक पुरुष। वर्षों से आपकी छवि शूरवीर की रही है। आपने अनेक बार देवताओं तक से युद्ध किया है और उन्हें परास्त भी किया है। इस पर आप एक अबला स्त्री का वध करना कैसे उचित समझते हैं? युद्ध में हम लोगों के साथ चलकर राम पर ही अपना क्रोध उतारो। सेना के साथ विजय के लिए प्रस्थान करो। आप शूरवीर बुद्धिमान और रथी हैं। एक श्रेष्ठ रथ पर आरूढ़ होकर खड्ग हाथ में लेकर युद्ध करिये। राम का वध करके सीता को प्राप्त कर सकते हैं। सीता को इस प्रकार प्राप्त करना उचित

रहेगा।" मित्र के कहे हुए इस उत्तम धर्मानुकूल वाक्य को सुनकर दुरात्मा रावण की मर्यादा का थोड़ा बहुत अवशेष तत्व जाग्रत हो गया और वह महल की ओर लौट गया।

स्वमेव तु सहास्माभी राघवे क्रोधमुत्सृज।
अभ्युत्थानं त्वमद्यैव कृष्णपक्षचतुर्दशीम्।।
कृत्वा निर्याह्यमावास्यां विजयाय बलैर्वृतः।
शूरो धीमान रथी खड्गी रथप्रवरमास्थितः।।
हत्वा दाशरथिं रामं भवान् प्राप्स्यति मैथिलीम्।। VI.93.65,66

अब मैं रावण से सम्बन्धित अन्तिम प्रकरण पर आता हूँ, जिसमें रावण और सीता आमने सामने हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखें कि रावण का अन्त सीता के कारण से हुआ। यह विपत्ति उसने स्वंय ही बुलाई थी, इस पवित्र नारी पर बलप्रयोग करने के कारण और वह भी अत्यन्त कपटपूर्ण, धूर्ततायुक्त आचरण द्वारा। सीता के प्रति उसके मनोवेग में अवश्य ही कोई ऐसा तत्त्व रहा होगा, जिसको मैं कहूँगा, एक प्रकार का उन्माद– कुछ ऐसा, जिसको वह अपने मन से निकालने में असमर्थ था। सीता में भी कुछ ऐसा था, जिसने उसको नियन्त्रण में रखा। इस तीव्र आसक्ति का, उसके मन में सर्वप्रथम बीज बोने वाला था, एक व्यक्ति जिसका नाम था, अकम्पन। शूर्पणखा ने पंचवटी आश्रम में आकर पहले राम और फिर लक्ष्मण से प्रणययाचना की थी, जिसे दोनों ने टाल दिया था। इस पर क्रोधित होकर उसने सीता पर आक्रमण किया। फलस्वरूप, लक्ष्मण ने उसक नाक कान काट दिए, जिन्हें लेकर वह खर के पास पहुँची। सब वृत्तान्त सुनकर खर ने पहले श्री राम आदि का वध करने के लिए चौदह राक्षसों को भेजा, किन्तु राम ने उन सबको धराशयी कर दिया। खर स्वयं चौदह हज़ार राक्षसों की सेना सहित, दूषण को लेकर श्री राम के आश्रम के समीप पहुँचा। दूषण सहित, श्री राम ने चौदह हज़ार राक्षसों का भी वध कर डाला। तत्पश्चात् सेनापति राक्षस त्रिशिरा ने राम पर आक्रमण किया, परन्तु राम ने उसे भी धराशायी कर दिया। घोर युद्ध के बाद खर भी मारा गया। अकम्पन न राम के साथ किए हुए तीनों युद्ध देखे थे। उसे भलीभाँति राम की शक्ति का अंदाज़ा हो चुका था कि वे अकेले ही उन तीनों राक्षसों को और उनके अनुचरों को समाप्त करने में सक्षम थे। तदनन्तर अकम्पन युद्धक्षेत्र से भाग खड़ा होता है और बड़ी उतावली के साथ लंका जाकर रावण को यह सब वृत्तान्त देता है, यह सर्ग बहुत से विद्वानों द्वारा प्रक्षिप्त माना जाता है। यह खेद का विषय होगा, यदि केवल सैद्धान्तिक कारणों से इस सर्ग को निकल दिया जाये क्योंकि इसमें कुछ बड़े उत्कृष्ट अंश विद्यमान हैं। इसमें एक निष्पक्ष प्रत्यक्षदर्शी द्वारा किया गया, स्वयं श्री राम का विवरण है। यह सीता की मनोहरता और सुन्दरता और उसके चरित्र के गौरवमय पक्ष को बड़े विलक्षण रूप से उजागर करता है। सब वृत्तान्त सुनकर रावण क्रोध से जल उठा और बोला, "कौन वह दुःसाहसी है,

जिसने मेरे जनस्थान का विनाश किया है?" तत्पश्चात्, अकम्पन उसे श्री राम और लक्ष्मण के विषय में बताता है। उनके बल और पुरुषार्थ का वर्णन करता है, "आप अथवा समस्त राक्षस जगत भी मिल कर युद्ध में श्री राम को नहीं जीत सकते। उनके वध का एक उपाय मुझे सूझा है। श्री राम की पत्नी सीता संसार की सर्वोत्तम सुन्दरी है और राम का सम्पूर्ण जीवन सीता पर केन्द्रित है। किसी भी उपाय से राम को धोखे में डालकर उनकी पत्नी का अपहरण कर लें। सीता से बिछुड़ जाने से राम कदापि जीवित न रहेंगे।" रावण को अकम्पन की बात पसन्द आ गई कुछ दूर पर स्थित एक आश्रम में वह मारीच से मिला। उस समय उसका मन डाँवाडोल हो रहा था। उसने मारीच को बताया, "श्री राम ने मेरे राज्य की सीमा के रक्षक खर, दूषण आदि को मार डाला है। इसका बदला लेने के लिये मैं उनकी पत्नी सीता का अपहरण करना चाहता हूँ। इस कार्य में तुम मेरी सहायता करो।" मारीच परामर्श द्वारा उसे रोकता है। अन्त में कहता है, "इस अत्यन्त भयंकर बड़वानल में कूद पड़ना तुम्हारे लिये कदापि उचित नहीं है। सानन्द रहो और लंका को लौट जाओ।" रावण ने मारीच की बात मान ली और शान्त होकर लंका लौट गया, किन्तु दुर्भाग्य से उसकी बहिन शूर्पणखा वहाँ उसके पास आ पहुँची और अपनी दुर्दशा दिखाकर उसने पहले रावण को अपने राज्य में राम द्वारा किए गये ध्वंस से अनभिज्ञ रहने के लिए फटकारा और बढ़ा–चढ़ा कर अपनी कथा सुनाई। उसने राम और लक्ष्मण के विषय में बताया कि किस प्रकार उन्होंने अकेले ही इतने राक्षसों का संहार कर दिया और यह कि स्त्री का वध हो जाने के डर से उन्होंने उसे अपमानित किया। "मैंने राम की पत्नी, सीता को भी देखा। वह सब शुभलक्षणों से सम्पन्न है, वह त्रिलोकी का अमूल्य रत्न है। उसमें सौम्य स्वभाव, सौन्दर्य और शालीनता– ये सब एक साथ केन्द्रित हैं। भूतल पर इतनी रूपवती नारी मैंने पहले कभी नहीं देखी। वह तुम्हारे योग्य भार्या होगी और तुम भी उसके योग्य पति हो सकते हो। उस सुमुखी स्त्री को जब मैं तुम्हें लाने के लिये उद्यत हुई, तब वे दोनों भाई बहुत कुपित हो गये और उन्होंने मेरे प्रति बड़ा लज्जापूर्ण व्यवहार किया और क्रूर लक्ष्मण ने मुझे कुरूप कर दिया।"

यदि तस्यामभिप्रायो भार्यार्थं तव जायते।।
शीघ्रमुद्ध्रियतां पादो जयार्थमिह दक्षिणः। III.34.22,23

"यदि तुम्हें सीता को अपनी भार्या बनाने की इच्छा हो, तो शीघ्र ही राम को जीतने का प्रयत्न करो।"

उसकी बातों का विश्वास करते हुए रावण ने निश्चय किया कि वह सीता को प्राप्त करने का पूरा प्रयास करेगा। शूर्पणखा राम और लक्ष्मण को युद्ध में मरा देखना चाहती थी। रावण इतना साहस करने को तैयार न था। वह सीता को प्राप्त करने के लिये तो उत्सुक था, परन्तु राम और लक्ष्मण से युद्ध नहीं करना चाहता था। राम और

लक्ष्मण को मारीच के पीछे भिजवाकर, रावण सन्यासी के छद्मवेश में सीता के सम्मुख उपस्थित होता है। उस समय होता है, लम्बा भाषण, जो कि पॅरिस में एक एक महिला के निजी कक्ष में किसी रमणीरंजक द्वारा दिए गये प्रणयप्रदर्शन को भी मात कर सकता है। कहीं–कहीं पर तो वह बड़ा अभद्र और अत्यन्त अमर्यादित हो जाता है। उनके रूप–लावण्य और मनोहरता के वर्णन के बाद वह अन्त में उनका परिचय पूछता है कि वे कौन हैं?

कमलानां शुभां मालां पद्मिनीव हि बिभ्रती।
ह्रीः श्रीः कीर्तिः शुभा लक्ष्मीरप्सरा वा शुभानने।।
भूतिर्वा त्वं वरारोहे रतिर्वा स्वैरचारिणी।
समाः शिखरिणः स्निग्धाः पाण्डरा दशनास्तव।।
विशाले विमले नेत्रे रक्तान्ते कृष्णतारके।
विशालं जघनं पीनमूरू करीकरोपमौ।।
एतावुपचितौ वृत्तौ संहतौ संप्रवल्गितौ।
पीनोन्नतमुखौ कान्तौ स्निग्धौ तालफलोपमौ।।
मणिप्रवेकाभरणौ रुचिरौ ते पयोधरौ।
चारुस्मिते चारुदति चारुनेत्रे विलासिनि।।
मनो हरसि मे कान्ते नदी कूलमिवाम्भसा।
करान्तमितमध्यासि सुकेशी संहतस्तनी।।
नैव देवी न गन्धर्वी न यक्षी न च किन्नरी।
नैवंरूपा मया नारी दृष्टपूर्वा महीतले।।
रूपमग्रयं च लोकेषु सौकुमार्यं वयश्च ते।
इह वासश्च कान्तारे चित्तमुन्मादयन्ति मे।।
कासि कस्य कुतश्च त्वं किंनिमित्तं च दंडकान्।
एका चरसि कल्याणि घोरान् राक्षससेवितान्।। III.46.16-23,31

"तुम पद्मिनी की भाँति कमलों की सुन्दर सी माला धारण करती हो। तुम ह्री, श्री, कीर्ति शुभस्वरूपा लक्ष्मी अथवा अप्सरा तो नहीं हो? तुम भूति या स्वेच्छापूर्वक विहार करने वाली कामदेव की पत्नी तो नहीं हो? तुम्हारी दन्तपंक्ति बराबर है, उनके अग्रभाग कुन्द की कलियों के समान शोभा पाते हैं। वे सब चिकने और शुभ्र हैं। तुम्हारी दोनों बड़ी–बड़ी आँखें निर्मल हैं, उनके दोनों कोने लाल है और पुतलियाँ काली हैं। कटिका का अग्रभाग विशाल एवं माँसल है। दोनों जाँघे हाथी की सूंड के समान शोभा पाते हैं। तुम्हारे ये दोनों स्तन पुष्ट गोलाकार और परस्पर सटे हुए हैं। वे प्रगल्भ, मोटे, ऊपर उठे हुए मुख वाले, चिकने ताड़फल के समान आकार वाले, पर सुन्दर श्रेष्ठ मणिमय आभूषणों से विभूषित हैं। सुन्दर मुस्कान, रुचिर दन्तावली और मनोहर नेत्र वाली विलासिनी रमणी! तुम अपने रूप सौन्दर्य से मेरे मन को हर रही हो, जैसे नदी

जल के द्वारा अपने तट का अपहरण करती है। तुम्हारी कमर पतली है कि मुट्ठी में आ जाये, केश चिकने और मनोहर हैं। सुन्दरी! देवता, गन्धर्व, यक्ष और किन्नर जाति की स्त्रियों में भी तुम जैसी कोई भी नहीं है। पृथ्वी पर तो तुम्हारे जैसे रूपवती नारी मैंने पहले कभी देखी नहीं। कहाँ तो तुम्हारा यह तीनों लोकों में सबसे सुन्दर रूप, सुकुमारता और यौवन और कहाँ इस दुर्गम वन में वास! यह सब बातें मेरे मन में उथल–पुथल मचा रही हैं। कल्याणी देवी! तुम कौन हो, कहाँ से आकर और किस कारण इस राक्षस सेवित दंडकारण्य में अकेली विचरण करती हो?"

सीता के मन में क्या विचार आये, जब वे सब प्रशंसोक्तियाँ उन्हें सुनाई गईं? क्या वे प्रसन्न हुईं, जैसे सामान्यतः आजकल वे स्त्रियाँ प्रसन्न होती हैं, जब उन्हें उनकी रमणीयता के लिये सराहा जाता है, कहना कठिन है। परन्तु ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता, जिससे यह पता चले कि उन्हें बुरा लगा। अपने वैयक्तिक सौन्दर्य की टिप्पणियों पर वे रावण की कोई भर्त्सना नहीं करतीं, परन्तु सन्यासी यथोचित सम्मान प्रकट करती हैं। इस बात का उल्लेख तो मिलता है कि वे बहुत घबराई सी थीं। वे बड़ी उत्सुकता से अपने पति और देवर के लौटने की प्रतीक्षा कर रहीं थीं। उन्हें पूरा ध्यान था कि किस परिस्थितिवश वे दोनों गए हुए हैं। उन्हें राम के चीत्कार सुनकर ऐसा लगा कि उनके पति अवश्य ही किसी संकट में फँस गए हैं। वे अपनी चिन्ता को पूर्णतया छिपाने में असमर्थ थीं, तथापि उन्होंने रावण के आतिथ्य धर्म को पूर्णतया निभाया। तत्पश्चात् उन्होंने अपने विषय में निस्संकोच बता दिया और उसे भी अपना परिचय देने को कहा। इस विषय पर रावण अपने आपको प्रकट कर देता है और उनके प्रति अपनी अनुराग भावना को भी।

त्वां तु काञ्चनवर्णाभां दृष्ट्वा कौशेयवासिनीम्।
रतिं स्वकेषु दारेषु नाधिगच्छाम्यनिन्दिते।।
बहवीनामुत्तमस्त्रीनामाहृतानामितस्ततः।
सर्वासामेव भद्रं ते ममाग्रमहिषी भव।। III.47.27,28

"सुन्दरी! तुम्हारे अंगों की कान्ति सुवर्ण के समान है, जिन पर रेशमी साड़ी शोभा पा रही हैं। तुम्हें देखकर अब मेरा मन अपनी स्त्रियों की ओर नहीं जाता। मेरी स्त्रियों के ऊपर तुम पटरानी बनो।"

वह अपना प्रस्ताव सीधा ही सीता के समक्ष रखता है। हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि उन दिनों बहु–विवाह प्रथा के विरुद्ध कोई प्रतिबन्ध नहीं था। जो प्रस्ताव रावण ने सीता के सामने रखा था, वह उस समय की मान्यताओं के अनुरूप था। सीता ने उस प्रस्ताव को पूर्णतया ठुकरा दिया और उसको ख़ूब फटकारा। रावण अपने पराक्रम का वर्णन करता है। वह कहता है, "मुझे ठुकरा कर तुम इसी प्रकार पश्चाताप् करोगी, जैसे पुरुरवा को लात मारकर उर्वशी पछतायी थी।" इसी स्थान पर मैं केवल

इस बात की ओर ध्यान दिलाना चाहता हूँ कि सीता ने रावण को इतनी फटकार सुनाई कि उससे चिढ़कर अपने छद्मवेश को त्याग कर उसने दस मुख और बीस भुजाओं वाला रूप धारण कर लिया और सीता को डराने, धमकाने पर उतारू हो गया। विषयासक्त व्यक्तियों का ऐसा ही स्वभाव होता है। प्रेम का प्रस्ताव यदि पवित्र और सच्चा हो, तो उसकी अस्वीकृति नहीं होनी चाहिए। सच्चा प्रेम कदापि ठुकराया नहीं जाता। रावण ने सीता को ज़बरदस्ती उठा लिया। इतने में ही रावण का मायानिर्मित रथ वहाँ दिखाई दिया और रावण तत्काल सीता को उस पर बैठा कर आकाश में उड़ा चला। लंका में पहुँच कर रावण ने सीता को अन्तःपुर में रखा दिया और ज़बरदस्ती उन्हें अपने भवन के सम्पूर्ण वैभव का दर्शन कराया।

अलं व्रीडेन वैदेहि धर्मलोपकृते न च।।
आर्षोऽयं दैवनिष्यन्दो यस्त्वामभिगमिष्यति।
एतौ पादौ मया स्निग्धौ शिरोभिः परिपीडितौः।।
प्रसादं कुरु मे क्षिप्रं वश्यो दासोऽहमस्मि ते।
इमाः शून्या मया वाचः शुष्यमाणेन भाषिताः।।
न चापि रावणः कांचिन्मूर्ध्नी स्त्री प्रणमते हि।
एवमुक्त्वा दशग्रीवो मैथिलीं जनकात्मजाम्।।
कृतान्तवशमापन्नो ममेयमिति मन्यते।। III.55.34-37

वह फिर कहता है, "अपने पति के त्याग और पर पुरुष के अंगीकार से, जो धर्मलोप की आशंका होती है, उसके कारण तुम्हें यहाँ लज्जा नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार की लज्जा व्यर्थ है। तुम्हारे साथ जो मेरा स्नेह सम्बन्ध है, वह आर्ष धर्मशास्त्रों द्वारा समर्थित है।" वह कामावेश में इतना नीचे गिर गया है कि वह सीता के चरणों में गिर कर कहता है, "तुम्हारे इन कोमल एवं चिकने चरणों पर मैं अपने मस्तक रख रहा हूँ। अब मुझ पर शीघ्र कृपा करो। मैं सदा तुम्हारे अधीन रहने वाला दास हूँ।" वह आगे कहता है, "मैंने कामग्नि से सन्तप्त होकर ये बातें कही हैं। ये निष्फल न हों, ऐसी कृपा करो, क्योंकि रावण किसी स्त्री के सम्मुख झुक कर प्रणाम नहीं किया है, केवल तुम्हारे सामने ही इसका मस्तक झुका है।"

जब वह सीता के चरणों पर गिर पड़ा, उसने कोमल स्वर में अनुनय–विनय की, उसे आशा थी कि वह उनका हृदय जीत लेगा। चाटूक्तियों और धमकियों से सीता को फुसलाने की सब चेष्टायें निष्फल रहीं, परन्तु फिर भी उसने आशा न छोड़ी। सुन्दर कांड के बीसवें सर्ग में हमें एक झलकी मिलती है, जिसकी प्रत्यक्षदर्शी थे, स्वयं हनुमान। सीता से रावण इस प्रकार कहता है :

कामये त्वां विशालाक्षि बहुमन्यस्व मां प्रिये।
सर्वाङ्गगुणसंपन्ने सर्वलोकमनोहरे।।

*स्वधर्मो रक्षसां भीरु सर्वथैव न संशयः।**
गमनं वा परस्त्रीणां हरणं संप्रमथ्य वा।।
एवं चैतदकामां तु न त्वां स्प्रक्ष्यामि मैथिलि।
कामं कामः शरीरे मे यथाकामं प्रवर्तताम्।।
एकवेणी धरा शय्या ध्यानं मलिनमम्बरम्।
अस्थानेऽप्युपवासश्च नैतान्यौपयिकानि ते।।
त्वां कृत्वोपरतो मन्ये रूपकर्तां स विश्वसृट्।
न हि रूपोपमा त्वन्या तवास्ति शुभदर्शने।।
त्वां समासाद्य वैदेहि रूपयौवनशालिनीम्।
कः पुमानतिवर्तेन साक्षादपि पितामहः।। V.20.3,5,6,8,13,14

"विशाल लोचने! मैं तो तुम्हें चाहता हूँ, तुमसे प्रेम करता हूँ, समस्त संसार का मन मोहने वाली सर्वांग सुन्दरी प्रिये! तुम भी मुझे विशेष आदर दो, मेरी प्रार्थना स्वीकार करो। मेरी जाति उन मानवोचित आचरण के सामान्य नियमों से बँधी नहीं हुई है, जो तुम्हारी मनुष्य जाति को परिचालित करते हैं। मिथिलेश नन्दिनी! ऐसी अवस्था में भी तुम मुझे नहीं चाहोगी, तब तक मैं तुम्हारा स्पर्श नहीं करूँगा, भले ही कामदेव मेरे शरीर पर इच्छानुसार अत्याचार करें। एक वेणी धारण करना, पृथ्वी पर सोना, चिन्ता मग्न रहना, मैले वस्त्र पहनना और बिना अवसर के उपवास करना– ये सब कष्ट, जो तुम अपने पति के लिए उठा रही हो, तुम्हारे योग्य नहीं। शुभदर्शने! मैं तो ऐसा समझता हूँ कि रूप की रचना करने वाला लोकसृष्टा विधाता तुम्हें बनाकर इस कार्य में विरत हो गया, क्योंकि तुम्हारे रूप की समता करने वाली दूसरी स्त्री नहीं है। विदेह नन्दिनी! रूप और यौवन से सुशोभित होने वाली। तुम्हें पाकर कौन सा पुरुष ऐसा होगा, जो धैर्य से विचलित न हो जायेगा, भले ही साक्षात् वह ब्रह्मा ही क्यों न हो।"

अभी तक हम रावण की सीता के प्रति आसक्ति के सम्बन्ध में चर्चा कर रहे थे। यह भावना अन्य स्त्रियों के प्रति उसकी भावना से सर्वथा भिन्न थी, इस दृष्टि से कि वह किसी प्रकार भी नियन्त्रण नहीं कर सकता था। इसके विपरीत, इस आसक्ति ने उसे पूर्णतया अभिभूत किया, जिसके फलस्वरूप वह अनेक संकटों में फँसता गया। अन्ततः इसी कारण वह विनाश को प्राप्त हुआ। रावण बार–बार सीता के पास जाकर, उसको सम्बोधित कर अपने मनोभावों को प्रकट करता था। एक बार अशोक–वन में वह पहुँच कर कहता है :

यद्यत्पश्यामि ते गात्रं शीतांशुसदृशानने।
तस्मिंस्तस्मिन् पृथुश्रोणि चक्षुर्मम निबध्यते।। V.20.15

---

* देखिए अ.22, पृ.350.

"चन्द्रमा के समान मुख वाली, सुमध्यसे! मैं तुम्हारे जिस–जिस अंग को देखता हूँ, उसी–उसी में मेरे नेत्र उलझ जाते हैं और हटाये नहीं हटते।"

वारुरिमते वारुदति वारुनेत्रे विलासिनी।
मनो हरसि मे भीरु सुपर्णः पन्नगं यथा।। V.20.29

"मनोहन मुस्कान, मनोहन दन्तावली रमणीय नेत्रों वाली विलासिनी! भीरु जैसे गरुड़ सर्प को उठा ले जाते हैं, उसी प्रकार तुम मेरे मन को हर लेती हो।"

इस प्रकार बहुत कुछ कहने के पश्चात् वह अन्तिम बार आग्रह करता है और अपने प्रलोभन का जाल फेंकता है।

पिब विहर रमस्व भुङ्क्ष्व भोगान् धननिचयं प्रदिशामि मेदिनीं च।।
मयि लल ललने यथासुखं त्वं त्वयि च समेत्य ललन्तु बान्धवास्ते। V.20-35

"आओ, तुम मेरे साथ दिव्य रस का पान करो, तथा अभिष्ट भोग भोगो। हम एक दूसरे के सहचर्य का आनन्द लें। मैं तुम्हें धन की राशि और सम्पूर्ण वसुन्धरा भी समर्पित करता हूँ, जिस पर तुम मेरे साथ राज्य करोगी। ललने! मेरे साथ कल्लोल करो, इतना भर मैं चाहता हूँ। तुम्हारे निकट आकर तुम्हारे भाई बन्धु भी सुखपूर्वक इच्छानुसार भोग आदि प्राप्त करें। उन सबको बुला लेना और वयोवृद्ध जनक को भी।"

इस स्थान पर कवि विशेषकर एक उल्लासी छँद का प्रयोग करता है, रावण को बुलाते समय उसके मनोभाव प्रदर्शित करने के लिए। परन्तु यह सभी सीता के लिए कड़ुवा घूँट था। इसका परिणाम यह हुआ कि इससे उन्हें बहुत क्लेश और भारी रोष हुआ। उनके मन में उसके प्रति घृणा और तिरस्कार भावना थी। उन्होंने भी तर्जन, चापलूसी और शिक्षाप्रद मिश्रण का प्रयोग किया, इस उद्देश्य से कि सम्भवतः इनमें से कोई एक विधि उसकी दुष्टता पर विजय प्राप्त कर सके। अपने स्वर को यथा सम्भव ऊँचा कर उन्होंने उसे सीख दी :

यथा तव तथान्येषां दारा रक्ष्या निशाचर।।
आत्मानमुपमां कृत्वा स्वेषु दारेषु रम्याताम्। V.21.7,8

"निशाचर! ऐसा लगता है कि तुम विवाह की पवित्रता को नहीं समझते। यदि किसी अन्य की पत्नी तुम्हारी देखभाल में हो, तो तुम्हें उसकी रक्षा उसी प्रकार करनी चाहिए, जैसे तुम अन्य लोगों से अपनी पत्नियों की सुरक्षा की अपेक्षा रखते हो। तुम स्वयं सोचो, सबको समान ही जानो। तुम अपने को आदर्श बना कर अपनी विवाहिता स्त्रियों में अनुरक्त रहो।"

आश्चर्य प्रकट करते हुए, वे कहती हैं :

इह सन्तो न वा सन्ति सतो वा नानुवर्तसे।।
तथा हि विपरीता ते बुद्धिराचारवर्जिता। V.21.9,10

"क्या यहाँ लंका में सत्पुरुष नहीं हैं? क्या यहाँ सच्चरित्र व्यक्तियों का निवास नहीं है, जो कि धर्मसंगत आचरण की लेशमात्र भी परवाह करते हों? अथवा ऐसे लोगों के उपस्थित होते हुए भी तुम उनका अनुसरण नहीं करते हो? ऐसा तो हो ही नहीं सकता। लंका एक विशाल नगरी है, जहाँ वेदों का पाठ होता है और हमारे धर्म का भी निष्ठापूर्वक पालन किया जाता है। अवश्य ही यहाँ अनेक सत्पुरुष विद्यमान होंगे। मुझे लगता है, तुम्हें उन लोगों के प्रति सम्मान भाव नहीं है। यह देखकर तुम्हारी बुद्धि ऐसी विपरीत और सदाचार शून्य हो गई है। इससे तो यही निष्कर्ष निकलता है। यद्यपि यहाँ भी सत्पुरुषों का अभाव नहीं है, जो तुम्हारा ठीक–ठाक मार्गदर्शन कर सकते हैं। तुम ही उनको नहीं सुनते।"

इस स्थिति को सुधारने के लिए मैं इस प्रसंग पर दो शब्द कहूँगा। मित्रों के बीच यह आम कमज़ोरी होती है और मैं केवल एक दो शब्द ऐसे व्यक्तियों से कहूँगा, जो कि ऐसा करने में समर्थ हों और गुरुजनों का क्या कर्त्तव्य है और क्या होना चाहिए। इन गुरुजनों को भी ऐसा कदापि नहीं सोचना चाहिए, "वह तो मूर्ख और दुष्ट है। मैं तो उसके पास भी नहीं फटकूँगा। वह मेरी बुजुर्गी का बिल्कुल लिहाज़ नहीं करेगा। उसके पास जाने का लाभ ही क्या?" सीता समाज के सत्पुरुषों से ऐसी मनोवृत्ति की अपेक्षा नहीं करती। सचमुच किसी भी समाज में उसके गुरुजनों को इस प्रकार का रवैया नहीं अपनाना चाहिए। यदि आपके कोई सच्चे मित्र हैं, चाहे वे समवयस्य भी हो अथवा आपसे बड़े या कुछ छोटे, जिनके आप हितैषी और शुभेच्छुक हैं– चाहे वे कुछ भी कहें या करें– आपका कर्त्तव्य बनता है कि आप उनको पथप्रदर्शन के लिए उचित परामर्श दें। जब भी अवसर मिले, अपने मित्र को नेक सलाह दें, परन्तु मूक दर्शन न बनकर उसको दुष्टता की चट्टान से नीचे विनाश के गर्त में लुढ़कने से रोकें। कहीं ऐसा न हो, जब सब समाप्त हो जाये, आप उसकी दुर्दशा पर आँसू बहाते हुए कहें, "मैं उस समय बहुत चाहता था कि तुम्हें सावधान करूँ, परन्तु तुम मेरी बात सुनने को तैयार न थे।" चाहे दूसरे पक्ष सुनने को तैयार हों अथवा तुम्हारी बात की अनसुनी करें, एक मित्र के प्रति कर्त्तव्य को निर्भीकतापूर्वक निभाया जाना चाहिए अर्थात् भावी संकट के प्रति चेतावनी देनी चाहिए, जिससे वह अधोगति के गर्त में गिरता ही है, तो बिना सामयिक चेतावनी के नहीं, अपितु जानबूझ कर। बहुत से लोग अज्ञानवश दुष्कर्म में प्रवृत्त होते हैं। उन्हें यह मालूम नहीं होता कि कोई अन्य उनकी गतिविधियों पर नज़र जमाये हुए है और न ही इस बात का आभास होता कि उस मार्ग के सिरे पर विनाश उनकी प्रतीक्षा कर रहा है। ऐसे व्यक्तियों के लिये समय से पहले दी हुई चेतावनी लाभप्रद हो सकती है। क्योंकि हम इन महान पुस्तकों तथा महान व्यक्तियों की शिक्षओं को ग्रहण करते हैं, जिनसे हम लाभान्वित हों। मैं सीता के रावण से कहे गये वचनों में अन्तर्निहित सीख पर बल देना चाहूँगा। बड़ी उपयुक्त भाषा में वे इस ओर ध्यान दिलाती हैं कि जब उनके जीवन में संकट स्थिति उपस्थित हो, तो सत्पुरुषों का कर्त्तव्य क्या होना

चाहिए, किसी समाज के उन लोगों को क्या करना चाहिए, जिनको सत्पुरुषों का परामर्श तो मिलता है, परन्तु वे उसे ग्रहण करने में आनाकानी करते हैं।

अब एक चरण और आगे चलते हैं। रावण अब भी सीता को बहकाने फुसलाने का प्रयास कर रहा है। वह बड़ी मधुर भाषा में उनसे बात करता है, उनके सौन्दर्य की प्रशंसा करता है और उनकी समझदारी और गुणों की सराहना करता है और उसी अनुपात में उनके पति की निन्दा भी करता है।

यथा यथा सान्त्वयिता वश्यः स्त्रीणां तथा तथा।
यथा यथा प्रियं वक्ता परिभूतस्तथा तथा।।
संनियच्छति मे क्रोधं त्वयि कामः समुत्थितः।
द्रवतोऽमार्गमासाद्य हयानिव सुसारथिः।।
वामः कामो मनुष्याणां यस्मिन् किल निबध्यते।
जने तस्मिंस्त्वनुक्रोशः स्नेहश्च किल जायते।।
एतस्मात्कारणान्न त्वां घातयामि वरानने।
वधार्हामवमानार्हां मिथ्याप्रव्रजिते रताम्।।
परूषाणीह वाक्यानि यानि यानि ब्रवीषि माम्।
तेषु तेषु वधो युक्तस्तव मैथिलि दारूणः।।
द्वौ मासौ रक्षितव्यौ मे योऽवधिस्ते मया कृतः।
ततः शयनमारोह मम त्वं वरवर्णिनि।।
द्वाभ्यामूर्ध्वं तु मासाभ्यां भर्तारं मामनिच्छतीम्।
मम त्वां प्रातराशार्थमारभन्ते महानसे।। V.22.2-6,8,9

सीता के ये कठोर वचन सुनकर, राक्षसराज रावण ने उनको यह अप्रिय उत्तर दिया, "लोक में जैसे जैसे स्त्रियों से अनुनय–विनय करता है और उनसे प्रिय मधुर बातें कर उनका हृदय जीतने की चेष्टा करता है, वैसे–वैसे वह उनका प्रिय हो जाता है। यही तो संसार का नियम है। जब एक महान व्यक्ति जाकर किसी छोटी सी किशोरी से प्यारी–प्यारी बातें करता है, तो वह फूली नहीं समाती और सोचती हैं, 'मैं कितनी भाग्यशाली हूँ।' ठीक ही, वह इस पुरुष की ओर खिंचने लगती है। परन्तु मेरा भाग्य ऐसा कहाँ? मैं तुमसे ज्यों–ज्यों मीठे वचन बोलता हूँ, त्यों–त्यों तुम मेरा तिरस्कार करती जाती हो और नकारती हो। मुझे तुम पर क्रोध आता है, अन्ततः मैं तो दशानन रावण हूँ, तीन लोकों को त्रास देने वाला। मेरे लिए कुछ भी अनुपलक्ष्य नहीं है। स्वयं प्रकृति भी मुझसे भयभीत है। सूर्य, चन्द्र, तारागण, वायु और अग्नि भी मेरी सेवा में तत्पर रहते हैं। फिर भी आकर मैं तुम्हारे चरणों पर पड़ता हूँ। मेरे दसों शीश तुम्हारे चरणों में लौटते हैं। परन्तु इस पर भी तुम्हारा दिल नहीं पसीजता और तुम अपनी हठ नहीं छोड़तीं। मैं दो भावावेशों में फँसा हुआ हूँ। एक ओर तुम्हारे प्रति प्रेम और आसक्ति और दूसरी ओर क्रोध और अप्रसन्नता। स्त्री जाति की एक छोटी सी हस्ती मेरा

तिरस्कार करने का साहस कर रही है। हर बार जब मेरा क्रोध उफनता है, मेरा प्रेम कहता है, 'नहीं, नहीं, इस उद्दंड को दंड मत दो, अपनी व्यवहार कला का ही उपयोग करो।' जैसे एक अच्छा सारथि कुमार्ग पर दौड़ते हुए घोड़ों का रोकता है, वैसे ही तुम्हारे प्रति जो प्रेम मेरा हृदय में उत्पन्न हो गया, वही मेरे क्रोध को रोकता है। यह, काम बड़ा टेढ़ा है। अच्छा तो यही है कि इसे प्रोत्साहन की आवश्यकता नहीं होती (परन्तु जब यह मोह बन जाता है, तब इसको प्रोत्साहन की आवश्यकयता नहीं होती। यह पहले ही आप पर आधिपत्य जमा लेता है)। यदि किसी के प्रति प्रेम उत्पन्न हो गया है, तो उसके प्रति क्रोध करने की बाजाय, चाहे ऐसा उचित भी हो, करुणा और दया भाव प्रकट हो जाता है और क्रोधी को अभिभूत कर लेता है। प्रेम, क्रोध पर विजय प्राप्त कर लेता है और अन्य भावनाओं पर अभिभावी हो जाता है। यही कारण है कि झूठे वैराग्य में तत्पर तथा वध और तिरस्कार के योग्य होने पर भी मैं तुम्हारा वध नहीं कर पा रहा हूँ। तुम जैसी–जैसी कठोर बातें कह रही हो, जैसी–जैसी धृष्टतापूर्ण बातें कर रही हो, उनके बदले में कठोर दंड देना ही उचित है, न कि एक साधारण प्राणदंड।" ऐसा कहकर क्रोध के आवेश में भरे हुए रावण ने फिर सीता से इस प्रकार कहा, "यह स्थिति अनिश्चित काल तक नहीं चल सकती। जब मैं तुम्हें यहाँ लाया था, मैंने अधिक से अधिक बारह महीने की अवधि छूट दी थी। उसके अनुसार मुझे केवल दो महीनों की प्रतीक्षा और करनी है। तत्पश्चात् तुम्हें मेरी शय्या पर आना ही होगा। अतएव, याद रखो– यदि दो महीने बाद तुम मुझे अपना पति बनाना स्वीकार न करोगी, तो मेरे रसोइये तुम्हें घसीट कर पाकशाला में ले जायेंगे और मेरे कलेवे के लिए तुम्हारे टुकड़े–टुकड़े कर डालेंगे।"

इस प्रकार की धमकी पर भी सीता मानी नहीं। वह अधिक उद्दंड हो गईं और कठोर वचनों द्वारा रावण को बुरा भला कहने लगीं।

अवेक्षमाणो वैदेहीं कोपसंरक्तलोचनः।
उवाच रावणः सीतां भुजङ्ग इव निःश्वसन्।।
अनयेनाभिसंपन्नमर्थहीनमनुव्रते।
नाशयाम्यहमद्य त्वां सूर्यः सन्ध्यामिवोजसा।। V.22.30,31

रावण ने क्रोध से लाल–लाल आँखें करके विदेह कुमारी सीता की ओर देखा और फुँफकारते हुए सर्प के समान साँस खींच कर बोला, "अन्यायी और निर्धन मनुष्य का अनुसरण करने वाले नारी! जैसे सूर्य देव अपने तेज से प्रातःकालीन रात्रि के अन्धकार का नाश कर देता है, उसी प्रकार मैं आज तेरा विनाश किये देता हूँ।"

सीता से ऐसा कह कर रावण ने भयंकर दिखाई देने वाली समस्त राक्षसियों की ओर देखा, जो उन पर पहरा दे रहीं थीं। ये राक्षसियाँ उसके अन्तःपुर की स्त्रियों से भिन्न थीं, जो रानियाँ और राजकुमारियाँ थीं, जिनको वह महलों से अपहरण करके लाया था

और फिर जिनको उसने अपनी प्रणय–कलाओं से और निपुणता द्वारा अपना बना लिया था। किन्तु, ये राक्षसियाँ तो क्रूरतापूर्ण, कठोर हृदय और दासी मनोवृत्ति की थीं। उनके रूप रंग मात्र से सीता को डर लगता था। यहाँ कवि अपनी विनोदी तरंग में आकर उन दासियों के रूप–रंग का वर्णन करता है :

एकाक्षीमेककर्णां च कर्णप्रावरणां तथा।
गोकर्णीं हस्तिकर्णीं च लम्बकर्णीकर्णिकाम्।।
हस्तिपाद्यश्वपादीं च गोपदीं पादचूलिकाम्।
एकाक्षीमेकपादीं च पृथुपादीमपादुकाम्।।
अतिमात्रास्यनेत्रां च दीर्घजिह्वामजिह्विकाम्।।
अनासिकां सिंहमुखीं गोमुखीं सूकरीमुखीम्।
यथा मद्वशगा सीता क्षिप्रं भवति जानकी।।
तथा कुरुत राक्षसस्यः सर्वाः क्षिप्रं समेत्य च।
प्रतिलोमानुलोमैश्च सामादानादिभेदनैः।।
आवर्जयत वैदेहीं दण्डस्योद्यमनेन च।
इति प्रतिसमादिश्य राक्षसेन्द्रः पुनः पुनः।।
काममन्युपरीतात्मा जानकीं पर्यतर्जयत्। V. 22.33,34

उसने एक आँख वाली, एक कान वाली, लम्बे कानों से अपने शरीर को ढक लेने वाली, गौ के से कानों वाली, हाथी के समान कानों वाली, लम्बे कानों वाली, बिना कान वाली, हाथी के समान पैरों वाली, घोड़े के समान पैर वाली, गाय के समान पैर वाली, एक आँख वाली, मोटे पैर वाली, बिना पैर वाली, मोटे पैरों वाली, बहुत बड़े स्तन वाली, विशाल मुख और नेत्र वाली, लम्बी जीभ वाली, बिना नाक के सिंह के समान मुख वाली, गौ के समान मुख वाली, सूकरी के समान मुख वाली– इन सब राक्षसियों से कहा, "तुम सब लोग मिल कर अथवा अलग–अलग, शीघ्र ही ऐसा प्रयत्न करो, जिससे सीता बहुत जल्दी मेरे वश में आ जाये। अनुकूल–प्रतिकूल उपायों से, साम, दाम और भेदनीति से तथा दंड का भी भय दिखाकर सीता को वश में लाने की चेष्टा करो।"

राक्षसियों को इस प्रकार बार–बार आज्ञा देकर काम और क्रोध से व्याकुल रावण सीता की ओर देखकर गर्जना करने लगा, जैसे वह अभी प्रहार करने वाला हो। तदनन्तर, धान्यमालिनी नामवाली राक्षस–कन्या, जो सुप्रसिद्ध रावण के पुत्र अतिकाय की माता थी, वह शीघ्र ही रावण के पास आई और उसका आलिंगन करके बोली और उसने उसका क्रोध शान्त कर दिया। अन्य बातों के अतिरिक्त, उसने एक ऐसी बात कही, जिसकी ओर मैं विशेष ध्यान दिलाना चाहूँगा।

अकामां कामयानस्य शरीरमुपतप्यते।।
इच्छन्तीं कामयानस्य प्रीतिर्भवति शोभना।। V.22.42,43

"प्रेम के रहस्यों में से यह भी एक है," वह कहती है, "स्त्रियों के साथ व्यवहार करते यह याद रखें कि नारी जाति के व्यवहार में आनन्द सहस्त्र गुणा बढ़ जाता है यदि स्त्री इच्छुक सहयोगिनी हो। यदि इसके विपरीत हो, तो पुरुष अवश्य जलेगा," जब राक्षसी ने ऐसा कहा और उसे दूसरी ओर वह हटा ले गई, तब रावण महल की ओर लौट पड़ा।

युद्ध कांड में रावण एक युद्ध सम्बन्धी सभा बुलाता है और सभासदों से परामर्श माँगने का अभिनय करता है और पूछता है इस प्रकार के संकट उपस्थित होने पर क्या करना चाहिए? रावण के परामर्श माँगने का ढंग श्री राम राम के ढंग से सर्वथा भिन्न है। श्री राम समस्या को मित्रों के सामने एक तटस्थ शैली में प्रस्तुत करते हैं। विभीषण के आगमन पर, उन्होंने अपने पास उपस्थित लोगों से पूछा कि वे बतायें, उन्हें क्या करना चाहिए। यद्यपि राम उसको स्वीकार करने के लिए दृढ़निश्चयी थे, परन्तु उन्होंने दूसरों पर इस बात को प्रकट नहीं किया और न ही प्रत्यक्ष रूप से ऐसा कुछ कहा। रावण अपने मन्त्रियों को बताता है कि किस प्रकार उसने सीता का अपहरण किया और किस प्रकार अन्य स्त्रियों के कारण शाप का भागी बना। वह बोला, "आप लोग मुझे बतायें क्या करना उचित होगा? किन्तु, यह न कहें कि सीता को छोड़ दूँ। मैंने इतना सब कुछ कष्ट उठाया है और अपने चरित्र को कलंकित किया है, अपनी प्रतिष्ठा को खोया है। क्या इतना सब कुछ होने पर सीता को खो दूँ? आप लोग ऐसा परामर्श दें, जिससे मेरा अधिकार उस पर बना रहे।" उसको तो यह पूर्व निश्चित परामर्श चाहिए था, ऐसा परामर्श, जिसके साथ कड़ी शर्त भी जुड़ी हुई थी।

इयं च दण्डकारण्याद्रामस्य महिषी प्रिया।
रक्षोभिश्चरिताद्देशादानीता जनकात्मजा।। VI.12.12

"दंडकारण्य से, जो राक्षसों के विचरने का स्थान है, राम की प्रिय पत्नी सीता को मैं वहाँ से हर लाया हूँ।"

यहाँ एक बात है, जो विशेष ध्यान देने योग्य है, यदि आप मूल ग्रन्थ पढ़ने के लिये इच्छुक हों। रावण जो बात कह रहा है, वह उसके मस्तिष्क के वैधिक पहलू की उपज है। वह जाकर सीता को हर लाया, तो उसके सलाहकार यह भी पूछ सकता हैं कि क्या ऐसा करना उसके अधिकार का अतिक्रमण नहीं था? यदि ऐसा है, तो वह सीता को लौटाने के लिये बाध्य है। इस बात को प्रत्यक्षतः पहले से ध्यान में रखते हुए वह कहता है, "मैं सीता को जिस जनस्थान से लाया हूँ, वहाँ हमारे ही लोगों का वास है। वह जनस्थान तो हमारी सीमा की एक चौकी है। यह राक्षसों का स्वछन्द विचरण का क्षेत्र है। सीता इसमें पाई गई। अतएव, वह मेरा वैध शिकार है।" तत्पश्चात् वह अपने ही लोगों के समक्ष स्पष्ट शब्दों में सीता के प्रति अपनी आसक्ति घोषित करता है। क्या आपने कभी अपने निजी जीवन में, अपने किसी गुप्त प्रेम सम्बन्धों को इस

प्रकार प्रकट रूप से प्रकाशित करते सुना है? यहाँ एक व्यक्ति ऐसा है, जो इतने खुले ढंग से दूसरे की पत्नी के प्रति एक अनैतिक करतूत को इतनी निर्लज्जतापूर्वक इस बात का ढिंढोरा पीटकर कहता है कि उसने अपने उपभोग के लिये एक परस्त्री का अपहरण किया है और पूछता है कि वे बतायें कि किस प्रकार इस उद्देश्य की पूर्ति हो मानो यह मन्त्रियों का कर्त्तव्य बनता है कि किस प्रकार से उनका जघन्य अभिप्राय सिद्ध हो। वह आगे कहता है, "किन्तु वह मन्दगामिनी सीता मेरी शय्या पर आना ही नहीं चाहती है। मेरी दृष्टि में तीनों लोकों में सीता के समान दूसरी कोई सुन्दरी नहीं है।" वह सीता के चरण हैं, जिन पर उसकी दृष्टि सबसे अधिक जमती है। वह कहता है :

सुलोहिततलौ श्लक्ष्णौ चरणौ सुप्रतिष्ठितौ।
दृष्ट्वा ताम्रनखौ तस्या दीप्यते मे शरीरजः।। VI.12.15

"उसके चरणों के तलुवे लाल रंग के हैं। दोनों पैर सुन्दर चिकने और सुडौल हैं, तथा उसके नख ताँबे जैसे लाल हैं। सीता के उन चरणों को देखकर मेरी कामाग्नि प्रज्ज्वलित हो उठती है।"

अब दो शब्द ऐसे विषय में हैं, जिन पर आपमें से बहुत लोगों ने ध्यान दिया होगा। प्रायः स्त्रियों के पैर सदा उनके काम शारीरिक ढाँचे के अनुरूप नहीं होते। विधाता किसी न किसी अंग में कुछ दोष डाल ही देता है। प्रायः स्त्रियों के पैर दोष रहित नहीं होते– या तो उंगलियों के बीच अधिक जगह होती है या एक तरफ़ दूसरी से ऊँची होती हैं अथवा उंगलियाँ बड़ी बेढंगी तरह से जुड़ी होती है या कुछ अधिक अलग–अलग होती हैं। सीता के पैरों के निरीक्षण में रावण की दृष्टि बड़ी पैनी थी। वह रूप का कुशल पारखी था और उसके निर्णय के अनुसार सीता के चरण पूर्णतया दोष रहित थे।

उन्नसं वदनं वल्गु विपुलं चारुलोचनम्।
पश्यंस्तदा वश्स्तस्याः कामस्य वशमेयिवान्।।
क्रोधहर्षसहायेन दुर्वर्णकरणेन च।
शोकसन्तापनित्येन कामेने कलुषीकृतः।।
सा तु संवत्सरं कालं मामयावत भामिनी ।
प्रतीक्षमाणा भर्तारं राममायतलोचना।।
तन्मया चारुनेत्रायाः प्रतिज्ञातं वचः शुभम्।। VI.12.17-20

"ऊँची नाक और विशाल नेत्रों से सुशोभित उसके निर्मल एवं मनोहर मुख का अवलोकन करके मैं अपने वश में नहीं रह गया हूँ। काम ने मुझे अपने अधीन कर लिया है, जो क्रोध और हर्ष– दोनों अवस्थाओं में समान रूप से बना रहता है, शरीर की कान्ति फीकी कर देता है, शोक तथा सन्ताप के समय में भी कभी मन से दूर नही होता, ऐसे काम ने मेरे हृदय को कलुषित कर दिया है। विशाल नेत्रों वाली सीता ने

मुझसे एक वर्ष का समय माँगा है। इस बीच में वह अपने पति की प्रतिक्षा करेगी। मैंने सीता के इस सुन्दर वचन को सुनकर उसे पूर्ण करने की प्रतिज्ञा की है।"

टीकाकार इस पर आपत्ति करते हैं। सीता ने कभी कोई अवधि नहीं माँगी थी। उन्होंने कभी अपने मुख से यह भी नहीं कहा, "मुझे एक वर्ष का समय दो। यदि इतने दिन तक श्री राम नहीं आये, तो मैं तुम्हारी हो जाऊँगी।" टीकाकार इस बिन्दु पर जोर देते हैं क्योंकि उनके विचार से सीता का इस प्रकार का प्रस्ताव सर्वथा अनुचित हैं। वे कभी ऐसा नहीं कह सकतीं। उन्होंने तो सदा तिरस्कार पूर्वक रावण के जघन्य प्रस्ताव को ठुकराया। रावण ने स्वयं ही अपनी ओर से उन्हें एक वर्ष का अवसर दिया था। यहाँ रावण ने सभासदों के सामने अपनी भूरी उदारता दिखाने के लिये असत्य बोला। शर्त, जो रावण ने अपने मन्त्रियों से की थी, वह यह थी कि वह सीता को अपने हाथ से जाने नहीं देगा।

अदेया च यथा सीता वध्यौ दशरथात्मजौ।।
भवद्भिर्मन्त्र्यतां मन्त्रः सुनीतिश्चाभिधीयताम्।। VI.12.25,26

वह कहता है, "अब आप लोग आपस में सलाह कीजिये और कोई ऐसी सुन्दर नीति बताइये, जिससे सीता को लौटाना न पड़े तथा दोनों दशरथ कुमार मारे जायें।"

वह चाहता है किसी प्रकार राम और लक्ष्मण का वध हो जाये। मंत्रिगण आपस में सलाह करके किसी निश्चय पर पहुँच जायें, तो सूचित करें इन दोनों लक्ष्यों की पूर्ति किस प्रकार हो?

सीता के प्रति उसकी यह गहन आसक्ति सबको विदित थी। उसने स्वयं भी इसको गुप्त रखने का प्रयास नहीं किया। जब इन्द्रजित ने सीता की मायावी आकृति बनाकर हनुमान के सामने उसका वध किया था, तब हनुमान दौड़े–दौड़े श्री राम के पास गए थे और इसकी सूचना उनको दी थी। उसी क्षण श्री राम को भी विश्वास हो गया और वे मूर्च्छित हो गए। बड़ी कठिनाई से उन्हें होश में लाया गया। कुछ ही देर बाद विभीषण वहाँ पहुँचते हैं और स्थिति का आकलन करने के पश्चात् उन्होंने यह बताया कि यह निश्चित ही उनके धूर्त भतीजे की करतूत रही होगी। उसी ने सीता की मायावी आकृति बनाकर हनुमान के समक्ष उसका वध किया होगा। फिर वे श्री राम को आश्वस्त करते हैं कि रावण सीता को कदापि नहीं मारेगा।

अभिप्रायं तु जानामि रावणस्य दुरात्मनः।
सीतां प्रति महाबाहो न च घातं करिष्यति।।
याच्यमानस्तु बहुशो मया हितचिकीर्षुणा।
वैदेहीमुत्सृजस्वेति न तत्कृतवान वचः।।
नैव साम्ना न दानेन च भेदेन कुतो युधा।
सा द्रष्टुमपि शक्येत नैव चान्येन केनचित्।। VI. 84. 10-12

उन्होंने अचेत पड़े हुए श्री राम से इस प्रकार कहा, "दुरात्मा, मेरे भाई रावण की सीता के प्रति कैसी भावनायें हैं, यह मैं अच्छी तरह जानता हूँ। वह उनका वध कदापि नहीं करेगा। मैंने उसका हित करने की इच्छा से न जाने कितनी बार यह अनुरोध किया कि विदेहकुमारी को छोड़ दो। मैंने उसे चेतावनी भी दी कि सीता को वहाँ रखने का परिणाम क्या होगा– सम्पूर्ण लंका का विनाश! किन्तु उसने मेरी बात नहीं मानी। वह सीता को कोई हानि नहीं पहुँचायेगा क्योंकि वह अब भी आशा करता है और उसकी आसक्ति इस सीमा तक पहुँच गई है कि वह सीता को किसी को देखने भी नहीं देता। सीता को अन्य पुरुष साम–दाम–दंड–भेद द्वारा भी नहीं देख सकता। फिर युद्ध की तो बात ही क्या? सीता को वह यहाँ मारने नहीं लाया है (कदाचित् इसका अन्तर्निहित अर्थ यह है कि सीता अन्ततः उसकी मृत्यु का कारण बनेगी)।"

किन्तु, ऐसा अंकित करने में विभीषण भी कुछ अतिरंजना कर रहा था। जैसा कि मैं पहले बता चुका हूँ, जब इन्द्रजित के वध के बाद रावण की निकृष्ट भावनायें उभर आईं, उसकी पाशविकता में दस गुणा वृद्धि हो गई और उसने सीता का वध करने का निश्चय किया। क्योंकि वही सब संकटों की जड़ थी। उस समय सीता ने सोचा, "मैं कितनी मूर्ख थी कि मैंने हनुमान के विशाल हृदय प्रस्ताव को नहीं माना। उस समय मैं एक उच्च भावना में अटक गई।" अतएव, विभीषण का यह कथन कि रावण किसी भी दशा में सीता को मारना नहीं चाहेगा, तथ्य से कुछ हटकर था। परन्तु वह कुछ सीमा तक ठीक भी था। विभीषण की सहज भावना सच थी क्योंकि यद्यपि रावण ने सीता का वध करने का प्रयत्न किया, पर अन्त तक वह ऐसा कर नहीं सका। सुपार्श्व ने आकर उसको यह कह कर रोक दिया कि उसे सीता के बजाय राम का ही वध करना चाहिए। इस प्रस्ताव से रावण की वीरोचित भावनायें ऊपर उभर आईं। यद्यपि रावण ने सीता को समाप्त करने का दृढ़ निश्चय भी बना लिया था, फिर भी एक छोटी सी बात उसकी योजना को विफल करने के लिये पर्याप्त थी।

◈◈◈

पच्चीसवाँ अध्याय

सीता

सीता के सामान्य परिचय के रूप में मैं केवल दो शब्द कहूँगा। यद्यपि यह बात मैं पहले भी कह चुका हूँ, फिर वह भी पुनरुक्ति के योग्य है। कोई भी स्त्री जिसके सम्बन्ध में मैंने पढ़ा है और निश्चित रूप से कोई भी स्त्री, जिसको मैंने प्रत्यक्ष रूप से देखा है, वाल्मीकि की सीता की परिकल्पना के समीप नहीं पहुँचती। कवि ने सीता को उन सभी आकर्षक तत्वों से सुसज्जित किया है, जिनकी किसी स्त्री के लिये कल्पना की जा सकती है। असीम सौन्दर्य, हृदय की गहन कोमलता, परम करुणा, पातिव्रत्य, उत्कृष्ट बुद्धिमता, अमित, मनोबल, सहनशीलता (सीता ने क्या कुछ नहीं झेला)– वे इन सब गुणों से सम्पन्न थी। वे प्रकृति का ऐसा विलक्षण वरदान थीं, जो सवर्था निरूपमा था। उनके समान न कोई हुआ है, न हो सकता है।

आइये, पहले उनके जीवन के सुखी काल की कुछ चर्चा करें। फिर शीघ्र ही हमें उन्हें एक शोकसन्तप्त नारी के रूप में देखना पड़ेगा– एक ऐसी नारी, जिसको सांत्वना प्रदान करने वाला भी आस पास कोई न था। जो कुछ भी वहाँ दिखाई देता था, वह कुत्सित और घृणित था और जो कुछ भी उन्हें रावण से सुनने को मिला, वह अत्यन्त पीड़ा पहुँचाने वाला था। उसकी चर्चा हम आगे करेंगे। यदि ज़रा ठहर कर हम उस काल की चर्चा करें, जब वे सुखी थीं, अयोध्या में नहीं, अपितु साम्राज्य से बहुत दूर, वन में। साम्राज्य का उनके लिये कोई महत्व न था, उनके लिये तो राम ही सब कुछ थे। जहाँ राम थे, वहाँ उनका स्वर्ग था। यदि राम उनके साथ नहीं थे, तो सब कुछ प्रतिकूल था। किन्तु उनके अयोध्या के जीवन में भी काफ़ी कुछ है, जो ध्यान देने योग्य है क्योंकि वहाँ सीता अपने गुणों से दीप्त है। किन्तु इसके पूर्व एक बिन्दु पर आपका ध्यान आकर्षित करूँगा, जिसका सम्बन्ध काव्य के रचयिता से अधिक है, सीता की अपेक्षा। यह उन लोगों के दुःखद अनुभवों में से एक है, जिनकी पुत्रियाँ विवाहयोग्य हो जाती है। बन्धुओं की श्रेणी में तो सीता एक रत्न थीं। किसी को भी उनके विवाह के सम्बन्ध में कोई चिन्ता होनी नहीं चाहिए थी। फिर भी जनक को उनके विवाह के विषय में चिन्ता क्यों हुई? जब कथा में पहले पहल हमें जनक का परिचय मिलता है, तो कवि उनकी चिन्ता का कोई उल्लेख नहीं करता।

भरत के चित्रकूट से लौट जाने के पश्चात् राम ने चित्रकूट में रहना उचित न समझा। वे अत्रि मुनि के आश्रम में पहुँचे। वहाँ उनकी पत्नी अनुसूया ने उनका स्वागत सत्कार किया। अनुसूया द्वारा पूछे जाने पर आश्रम में सीता उन्हें अपने जन्म से लेकर कथा सुनाती हैं, विवाह तक, जिसको वे 'स्वयंवर' का नाम देती हैं। वे छह वर्ष की अल्पपरिपक्व आयु में ही* इतनी बुद्धिमती थीं कि वे पति संयोग सुलभा थीं। वे कहती हैं :

पतिसंयोगसुलभं वयो दृष्ट्वा तु मे पिता।
चिन्तामभ्यगमद्दीनो वित्तनाशादिवाधनः।।
सदृशाच्चापकृष्टाच्च लोके कन्यापिता जनात्।
प्रधर्षणमवाप्नोति शक्रेणापि समो भुवि।।
तां धर्षणामूदूरस्थां दृष्ट्वा चात्मनि पार्थिवः।
चिन्तार्णवगतः पारं नाससादाप्लवो यथा।। II.118.34-36

"जब पिता ने देखा कि मेरी अवस्था विवाह योग्य हो गई, तब उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। जैसे कमाये हुए धन का नाश हो जाने पर निर्धन मनुष्य को बहुत दुःख होता है, उसी प्रकार वे मेरे विवाह की चिन्ता से दुःखी हुए। संसार में कन्या के पिता को, चाहे वह भूतल पर इन्द्र कि तुल्य क्यों न हो पद, वैभव, प्रतिष्ठा आदि से सम्पन्न हो, यदि उसकी पुत्री अविवाहित हो, तो अपने से निम्न दर्जे के लोगों से भी अपमान झेलना पड़ता है।"

कैसे एक बालिका ने इन बातों को ध्यानपूर्वक देखा होगा और कितनी बार इतनी ज़ोरदार बात कहने के लिए? अवश्य ही सीता ने जनक की मनोदशा की अवलोकन किया होगा। किन्तु, ऐसा उल्लेख नहीं है कि जनक सीता के विषय में इतने अधिक चिन्तित थे। यदि सचमुच कुछ ऐसी बात होती, तो वे वर के लिए इतनी कठोर परीक्षा की योजना क्यों बनाते कि उसे शिवधनुष को उठाकर उस पर प्रत्यंचा चढ़ानी होगी, एक ऐसा कार्य जो पहले किसी भी व्यक्ति द्वारा सम्पन्न नहीं हुआ था? विरले ही उसे उठाने भर के लिए सक्षम थे। उसको पहियों द्वारा ही खींच कर लाया जा सकता था। क्या जनक ने ऐसा कहा होगा, "मैं अपनी पुत्री का हाथ उसी व्यक्ति को दूँगा, जो इस धनुष को चढ़ा सकेगा?" इस बात पर विश्वास नहीं आता। किन्तु, सीता अनुसूया से कहती है, "वह अपमान सहन करने की घड़ी आ पहुँची है, यह देखकर राजा जनक चिन्ता के समुद्र में डूब गए। जैसे कोई नौका रहित मनुष्य पार नहीं पहुँच पाता है, उसी प्रकार मेरे पिता भी चिन्ता का पार नहीं पा रहे थे।" मुझे तो इस बात पर आश्चर्य होता है। मेरे विचार से निश्चित रूप से सीता को इस आरोप से मुक्त किया जा सकता है कि सीता ने इन बातों पर ध्यान दिया होगा और इस प्रकार की बातें अनुसूया से

* शास्त्री जी के अनुसार वे केवल छह वर्ष थीं, परन्तु वाल्मीकी ने ऐसा कुछ नहीं कहा।

कहीं होंगी। कदाचित् तथ्य तो यह है कि वाल्मीकि के समय में कन्याओं के लिये उपयुक्त वर खोजना अत्यन्त कठिन हो गया था। उस समय कन्याओं के पिताओं की चिन्ता सचमुच अधिक बढ़ गई थी। वाल्मीकि इसी स्थिति को पीछे ले जा कर इसी प्रकार के भाव जनक पर आरोपित करते हैं, जैसे कि उनके समय में प्रचलित थे। परन्तु, बात इतने पर ही समाप्त नहीं होती। वाल्मीकि को यह विषय इतना प्रिय है कि वे काल में और भी पीछे चले जाते है। इससे भी पहले, जब रावण का नाना, राक्षस सुमाली अपनी पुत्री कैकसी के लिए वर खोज रहा था, उसे भी इसी प्रकार की कठिनाई का सामना करना पड़ा था। ये बातें स्वयं ब्रह्मा के एक या दो पीढ़ी बाद की हैं और जनसंख्या इतनी जल्दी तेज़ी से नहीं बढ़ी होगी। सुमाली अपनी पुत्री से कहता है :

पुत्रि प्रदानकालोऽयं यौवनं तेऽतिवर्तते।
प्रत्याख्यानाच्च भीतैस्त्वं न वरैः प्रतिगृह्यसे।।
त्वत्कृते च वयं सर्वे यन्त्रिता धर्मबुद्धयः।
त्वं हि सर्वगुणोपेता श्रीः साक्षादिव पुत्रिके।।
कन्यापितृत्वं दुःखं हि सर्वेषां मानकाङ्क्षिणाम्।
न ज्ञायते च कः कन्यां वरयेदिति कन्यके।।
मातुः कुलं पितृकुलं यत्र चैव प्रदीयते।
कुलत्रयं सदा कन्या संशये स्थाप्य तिष्ठति।। VII.9.7-10

"बेटी! अब तुम्हारे विवाह का समय आ गया है, क्योंकि इस समय तुम्हारी युवावस्था बीत रही है। तुम इतनी सुन्दर, इतनी मनोहर, इतनी प्रतिभा सम्पन्न और इतनी विदुषी हो, फिर भी मैं तुम्हारे लिये अनुकूल वर ढूँढ नहीं पा रहा हूँ। तुम कहीं इन्कार न कर दो, इसलिए श्रेष्ठ वर तुम्हारा वरण नहीं कर रहे हैं। पुत्री! तुम्हें विशिष्ट वर की प्राप्ति हो, इसलिए हम लोगों ने बहुत प्रयत्न किया हैं क्योंकि कन्यादान के विषय में हम धर्मबुद्धि रखते हैं। तुम तो साक्षात् लक्ष्मी के समान सर्वगुणसम्पन्न हो। अतः तुम्हारा वर भी तुम्हारे अनुरूप होना चाहिए। बेटी! आत्मसम्मान की इच्छा रखने वालों के लिए कन्या का पिता होना दुःख का कारण होता है, क्योंकि उसको आशंका बनी रहती है कि कहीं उसकी प्रतिष्ठा नष्ट न हो जाये। क्योंकि यह मालूम नहीं होता कि कौन और कैसा पुरुष कन्या का वरण करेगा, माता और पिता के कुल और जिस कुल में कन्या दी जाती है, उस कुल के लिए भी सदा संशय बना रहता है।"

इसी प्रकार, जब माय की पुत्री, मन्दोदरी विवाह योग्य हो गई, वह उसको लेकर उद्यानों में घूमने लगा था, यह देखने के लिये कदाचित् कोई मछली जल के ऊपर आ जाये। संयोगवश रावण उस मार्ग से गुज़र रहा था। उसने पूछा, "आप कौन हैं? माय उत्तर में कहता है, "यह मेरी पुत्री है और मैं इसके लिए सुयोग्य वर खोजने

आया हूँ।" ऐसा प्रतीत होता है कि कवि को इस प्रकार की भावना बहुत प्रिय है। जैसे ही उसने ऐसा कहा, रावण हर्ष से उछल पड़ा और बोला, "मैं इस कन्या को वरण करने के लिए तैयार हूँ।" उसने मन्दोदरी को ग्रहण करके उसके पिता को चिन्तामुक्त किया और पिता ने कृतज्ञता से अभिभूत होकर, उसे समुचित वरदक्षिणा दी। उस वरदक्षिणा में एक प्रसिद्ध वस्तु थी, *'शक्ति शूल,'* जिसका प्रयोग रावण ने बड़े प्रभावी ढंग से दो बार लक्ष्मण के विरुद्ध करके उसे भारी क्षति पहुँचाई। *"शक्ति मयेन माया निहितयमोया,"* यहाँ संकेत मायासुर की माया से निर्मित अमोघ शक्ति (VI.101.30) के लिये है। वह शक्ति, जिसका प्रयोग लक्ष्मण के विरुद्ध हुआ (VI.59.108), वह ब्रह्मा द्वारा रावण को उपहार स्वरूप दी गई थी।

अयोध्या कांड में, जब राम अपनी पत्नी सीता को बताते हैं कि उन्हें बन जाना है, वह कहती हैं, "मैं भी साथ चलूँगी।" राम उन्हें रोकने का प्रयत्न करते हैं और वन का भय दिखलाते हैं। किन्तु राम के अनेक प्रयासों के बावजूद भी सीता नहीं मानतीं। राम उन्हें प्रसन्न करने के लिये अनेक प्रयत्न करते है। तत्पश्चात् राम वन के संत्रासों से भी उन्हें अवगत कराते है। अठारह श्लोकों में, जिनका अंत *"तस्माद् दुःखतंर वनम्"* है, इन शब्दों से अथवा इन से मिलते जुलते शब्दों से होता है। अठारह बार, वे इस चेतावनी को दोहरते हैं और साथ ही साथ वे सीता को दुनियादारी की शिक्षा भी देते हैं। वे यह भी समझते हैं कि उनकी अनुपस्थिति में उनके पिता, माता और भरत के प्रति किस प्रकार उनका व्यवहार होना चाहिए। वे विशेष रूप से इस पर बल दे रहे थे। किसी भी व्यक्ति के लिये, जो सीता की जगह होता, यह अस्वाभाविक नहीं, तो अपितु पूर्णतया मानवीय है कि उन परिस्थितियों में वे भरत के प्रति क्रोध भावना रखें, उनसे ईर्ष्या करें और उनके अनिष्ट की कामना करे। यह भी जब कभी भरत से सामना हो, तो वे सोचे कि भरत और उनके पति में कितना अन्तर है और अयोध्यावासी और सम्पूर्ण साम्राज्य के लोग कितने अधिक प्रसन्न होते, यदि राम भरत के बजाय राज्य करते। राम को पहले ही इन बातों का आभास था। अतएव, वे सीता को समझाते हैं, "ऐसी मूर्खता तुम मत करना, जो प्रायः एसी परिस्थितियों में अन्य स्त्रियाँ करेंगी।"

ऋद्धियुक्ता हि पुरुषा न सहन्ते परस्तवम्।
तस्मान्न ते गुणाः कथ्या भरतस्यागतो मम।। II.26.25

"प्रायः समृद्धिशाली दूसरों की स्तुति नहीं सहन कर पाते। इसलिए कहता हूँ कि तुम भरत के सामाने मेरे गुणों की प्रशंसा न करना।"

एक सुखी और समझदारी जीवन के लिये यह एक सुन्दरतम तथ्यों में से एक है। जब कोई व्यक्ति ऊँचे पद पर पहुँच जाता है, उच्चधिकार प्राप्त कर लेता है, प्रभावशाली बन जाता है, दूसरों को संरक्षण और आश्रय देता है और वह अपने समय का लब्धप्रतिष्ठ व्यक्ति बन जाता है। यदि कोई ऐसा मनुष्य हो, तो उसमें एक गम्भीर

त्रुटि होने की सम्भावना बनी रहती है, जो कि सबको ध्यान देने योग्य है। जो लोग उसके पास जाते हैं, उनको ध्यान रखना चाहिए कि वह अन्य व्यक्ति के गुणों की चर्चा सहन नहीं कर सकता। इसीलिए राम सीता से कहते हैं, "जो लोग ऐसे ऊँचे स्तर पर पहुँच जाते हैं, वे किसी की प्रशंसा सहन नहीं कर सकते। अतएव, यदि तुम समझदार हो, तो मेरे वन जाने के पश्चात् मेरी प्रशंसा भरत से नहीं करना।" क्या मज़े की बात है कि एक दुनियादारों की समझदारी की बात को लेकर राम अपने भाई के प्रति भी लागू करते हैं, जिसको वे अच्छी प्रकार जानते थे और जिसके प्रति किसी भी दुर्भावना का कोई लेशमात्र कारण भी नहीं था। परन्तु मानव प्रकृति ही ऐसी है। सीता इन बातों को ध्यान ने देकर अनुसनी कर देती है। श्री राम की बात सुनकर सीता को बड़ा दुःख हुआ। उनके मुख पर आँसुओं की धार बह चली और वे इस प्रकार कहने लगीं, "आप वन के संत्रासों और कष्टों की बात करते हैं और वन्यपशुओं के भय की भी। क्या आप कहना चाहते हैं कि आप की उपस्थिति में वन्यपशु वहाँ आ सकते हैं, और यदि आ भी जायें, तो क्या वे भय का कारण बन सकते हैं? वहाँ मुझे किसी प्रकार का भय नहीं सता सकता है, वह भी आप जैसे तेजस्वी पुरुष के समीप रहने से साथ। जब मैं छोटी सी बालिका थी, मेरे पिता के घर अनेक ज्योतिषी आया करते थे। उस समय मैं ब्राह्मणों के मुख से पहले ही यह बात सुन चुकी हूँ, 'इस बालिका को अवश्य ही वन में रहना पड़ेगा।' उसी समय से मेरे मन में वन के प्रति लगाव सा हो गया है और मैं वनवास के लिए उत्साहित रही हूँ। वन जाने की मेरी हार्दिक इच्छा है। साधु पुरुषों ने भी, जो भविष्यज्ञाता होते हैं, मेरे विषय में यही बात बतायी है। स्वयं मेरी भी वन जाने के लिये बड़ी अभिलाषा है। मैंने पहले भी कई बार कुछ समय तक वन में रहने की आप से प्रार्थना की थी और आपको सहमत भी कर लिया था। इससे आप निश्चित रूप से जान लें कि आपके साथ वन को चलना मुझे पहले से ही अभीष्ट है। इसके लिए अब एक सुअवसर प्राप्त हो गया है, तो क्यों न प्रसन्तापूर्वक हम वन को चलें?"

तब स्त्री जाति की इस आदर्श प्रतिमा के मुख से कुछ अत्यन्त उदात्त मनोभाव निःसृत होते हैं।

इह लोके च पितृभिर्या स्त्री यस्य महामते।
अद्भिर्दत्ता स्वधर्मेण प्रेत्यभावेऽपि तस्य सा।।
एवमस्मात्स्वकां नारीं सुवृत्तां हि पतिव्रताम्।
नाभिरोचयसे नेतुं त्वं मां केनेह हेतुना।।
भक्तां पतिव्रतां दीनां मां समां सुखदुःखयोः।
नेतुमर्हसि काकुत्स्थ समानसुखदुःखिनीम्।।
यदि मां दुःखितामेवं वनं नेतुं न वेच्छसि।
विषमग्निं जलं वाहमास्थास्ये मृत्युकारणम्।। II.29.18-21

यह सच है। "इस लोक में पिता द्वारा कन्या जल से संकल्प करके जिस पुरुष को दी जाती है, वह मृत्यु के पश्चात् परलोक में भी उसी को स्त्री होती है। वह न इस लोक में, न परलोक में अपने पति से वियुक्त की जा सकती है। इसी स्त्री धर्म को जानती हुई, मैं आपसे अलग नहीं रह सकती। मैं तो आपकी धर्मपत्नी हूँ, उत्तम धर्म का पालन करने वाली और पतिव्रता हूँ, फिर क्या कारण है कि आप मुझे अपने साथ ले चलना नहीं चाहते? मैं आपकी भक्त हूँ। पतिव्रत्य का पालन करने वाली प्रतिव्रता हूँ। आपके विछोह से इतनी दीन हो रही हूँ, तथा दुःख–सुख में समान रूप से हाथ बँटाने वाली हूँ। यदि आप इस प्रकार से दुःखी मुझे अपने साथ बन में ले जाना चाहते, तो मेरे जीवित रहने को कोई औचित्य नहीं। मैं मृत्यु के लिए विष खा लूँगी, आग में कूद पड़ूँगी अथवा जल में डूब जाऊँगी।"

स्मरण रहे, जब सीता अन्तिम छोर पर पहुँच गईं, तभी वे इस प्रकार की अटपटी बात कहती है। यह सच है कि स्त्रियाँ इस प्रकार की ज़्यादातियाँ सहन करने की अटपटी बात कहती है। संयमशक्ति पुरुषों में प्रायः अधिक होती है। इसलिए पुरुष इधर–उधर जाकर कुछ न कुछ युक्ति निकाल लेते हैं। किन्तु स्त्रियाँ केवल पुरुषों पर ही आश्रित होती हैं, उन्हीं पर अपने पूरे प्रभाव का उपयोग कर सकती हैं। प्रायः वे ऐसा ही कहेंगी, "आपकी इच्छा यदि आप जाना ही चाहते हैं, तो चले जाइये। परन्तु इसके पश्चात् मेरा मुँह देखने की आशा न करें।" यह उनकी अन्तिम युक्ति होती है। यह बात सहज ही उनके मस्तिष्क में आ जाती है। कुछ स्त्रियाँ सचमुच ऐसा कर भी सकती हैं। परन्तु इतने पर भी, राम नहीं पिघले। इस पर सीता ने ताने मारना आरम्भ कर दिया, जबकि पहले उन्होंने अनुनय–विनय का ही उपयोग किया था।

सा तमुत्तमसंविग्ना सीता विपुलवक्षसम्।
प्रणयाच्चाभिमानाच्च परिचिक्षेप राघवम्।।
किं त्वामन्यत वैदेहः पिता मे मिथिलाधिपः।
राम जामातरं प्राप्य स्त्रियं पुरुषविग्रहम्।। II.30.2-3

सीता वनवास के लिए अपने पति से अनुमति प्राप्त करने के लिए फिर बोलीं। सीता अत्यन्त डरी हुई थीं। वे प्रेम और स्वाभिमान के कारण राम पर आक्षेप सा करती हुई कहने लगीं, "मुझे इस समय अपने पिता याद याद आ रहे हैं। उन्होंने मेरे लिए वर ढूँढने के लिए दुनिया छान डाली थी और अन्ततः आपको प्राप्त किया। यदि उन्होंने यह सोचा होगा कि उन्हें मेरे लिए सर्वोत्तम वर प्राप्त हो गया, तो यह उनकी नासमझी थी। क्या मेरे पिता मिथिलानरेश जनक ने आपको जमाता के रूप में पाकर कभी यह भी सोचा था कि आप नारी हैं, एक कायर नारी, पुरुष की पोशाक़ में आप केवल शरीर से ही पुरुष हैं, कार्यकलाप से तो केवल स्त्री ही हैं।"

इन शब्दों के लिये सीता को प्रायः अपने कर्त्तव्य से भारी अतिक्रमण के लिये दोषी ठहराया जाता है, उन मर्यादाओं का उल्लंघन*, जो एक स्त्री से अपेक्षित नहीं है, अपने हृदय के गहरे से गहरे विषाद को व्यक्त करते समय भी। मैं ऐसे आरोप से बिल्कुल सहमत नहीं हूँ। मैं निश्चित रूप से कहने को तैयार हूँ कि सीता का आचरण निस्सन्देह इस बात का प्रमाण है कि वे एक सच्ची, निष्कपट, वीर क्षत्राणी थीं।

अनृतं बल लोकोऽयमज्ञानाद्यद्धि वक्ष्यति।
तेजो नास्ति परं रामे तपतीव दिवाकरे।।
किं हि कृत्वा विषण्णस्त्वं कुतो वा भयमस्ति ते।
यत्परित्यक्तुकामस्त्वं मामनन्यपरायणाम्।।
न त्वहं मनसाप्यन्यं द्रष्टास्मि त्वदृतेऽनघ।
स्वयं तु भार्यां कौमारीं चिरमध्युषितां सतीम्।
शैलूष इव मां राम परेभ्यो दातुमिच्छसि।।
यस्य पथ्यं च रामात्थ यस्य चार्थेऽरुध्यसे।
त्वं तस्य भव वश्यश्च विधेयश्च सदानघ।। II.30.4,5,7-9

"मुझे छोड़कर आपके चले जाने के बाद यदि संसार के लोग यह कहने लगें कि सूर्य के समान तपने वाले राम में तेज और पराक्रम का अभाव है, तो उनकी यह असत्य धारणा मेरे लिये कितने दुःख की बात होगी। आप सोच–विचार में पड़े हुए हैं? अथवा आपको किससे भय है, जिसके कारण आप अपनी पत्नी को, अपनी अश्रित को, अपने साथ नहीं ले जाना चाहते? पूर्णतया मैं आपकी ही हूँ। आपके चरित्र बल को क्या हो गया? अवश्य ही आपसे कोई भयंकर पाप हुआ है, जिसके फल स्वरूप इतने हतोत्साहित हो रहे हैं। मैं किसी अन्य पुरुष का सहारा लेने के लिये तैयार नहीं हूँ। मैं तो आपके सिवाय किसी दूसरे पुरुष को मन से भी नहीं देख सकता हूँ। मुझे भरत पर मत छोड़िये।"

वे राम के शब्दों का एक गम्भीर और कठोर अर्थ लेती हैं। जब राम ने कहा, "तुम भरत के पास रहना," तो उनकी बात को सीधे अर्थ में लेने के बजाय, जैसे कि उसको लिया जाना चाहिए, वे उसको कुछ घुमा–फिरा कर लेती हैं। वे कहती हैं, "जिसका कुमारावस्था में ही आपके साथ विवाह हो गया था और आपकी छत्रछाया में

---

* यह गोविन्दराज की टिप्पणी के संबन्ध में है जो उन्होंने V.38.48 में सीता के शब्दों पर की हैं– *"ममैव दुष्कृतं किंचिन्महदस्ति न संशयः।"* टिप्पणी इस प्रकार है: :

'किंचिदनिर्वचनीयम्। महद्दुष्कृतमस्तित्यनेन "किं त्वामन्यत वैदेहः" इत्यादि नोक्तो भगवदपचारः।। *उक्तं हि "कीदृशं तु मया पापं पुरा देहान्तरे ज्ञाता कृतम्" देहान्तरे बालशरीरे।।* (V.25.18)

कुछ थोड़ा कहने के लिये अयोग्य महान पाप था सीता द्वारा। *"किं त्वामन्यत वैदेह"* इत्यादि कहा गया है – भगवदपचारः। उन्होंने यह भी कहा था, "पता नहीं, मैंने पूर्वजन्म में दूसरे शरीर से कैसा महान पाप किया था?"

ही जिसका पालन–पोषण हुआ है, जो चिरकाल से साथ रहने पर इतनी आपसे घुलमिल गई है, उसी मुझे– अपनी सती साध्वी पत्नी को– आप एक शैलूष (औरत की कमाई खाने वाले नट) की भाँति दूसरे के हाथ सौंपनी चाहते हैं। आप मुझे, जिसके अनुकूल चलने की शिक्षा दे रहे हैं, उसके लिए आपका राज्याभिषेक रोक दिया गया, उसी भरत के सदा ही वशवर्ती और आज्ञापालक बन कर आप ही रहिये– मैं न रह सकूँगी।" आगे वे कहती हैं, "आपके साथ रहते हुए मुझे कोई व्यंजन नहीं चाहिएँ। सादे से सादा खाना भी मेरे लिये स्वादिष्ट आहार होगा। आप अपने हाथ से लाकर थोड़ा या बहुत फल–फूल या पत्ते जो कुछ भी देंगे, वही मेरे लिए अमृत रस के समान होगा। वन में प्रचंड आँधी से उड़कर, मेरे शरीर पर जो आपकी चरणधूल पड़ेगी, उसे मैं चंदन समान मानूँगी। जब वन के भीतर रहूँगी, तब आपके साथ घास की शय्या पर सोऊँगी। वही मेरे लिये कालीन और मुलायम बिछौने के समान होंगे, पर उनसे अधिक क्या सुख हो सकता है! कोई भी अशोभनीय दृश्य मेरी आँखों को कष्ट नहीं पहुँचायेगा। मेरे लिये आपको कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा। मैं किसी प्रकार से आपके ऊपर भारस्वरूप न होऊँगी। वह स्थान जहाँ मैं आपके साथ रहूँगी, चाहे कुछ भी उसका नाम हो, चाहे वह कहीं भी हो, वह मेरे लिये स्वर्ग समान होगा। आपके बिना जो भी स्थान हो, वह मेरे लिए निरय के समान होगा। यह आप भलीभाँति समझ लीजिये। मैं वचन देती हूँ, आप सुखी रहेंगे। मैं एक क्षत्रिय बालिका हूँ और मैं किसी अन्य की अधीनता स्वीकार न करूँगी– न कैकेयी की, न ही भरत की। यदि आप मेरा परित्याग कर देते हैं, तो मेरा जीवन निरर्थक है। मैं आपके बिना एक क्षण भी नहीं रह सकती। फिर मुझ दुखिया से चौदह वर्षों तक कैसे रहा जायेगा?"

मैं आपके सामने सीता के उत्कृष्ट मनोभावों को व्यक्त करना चाहता हूँ कि अपनी चरम उत्कृष्टता के क्षणों में वे किन ऊँचाइयों को छू सकती थीं। सीता के इन विरोध प्रदर्शन और उलाहनों के चित्रण में कवि ने उच्चतम कौशल प्रदर्शित किया है। तर्जन, मनुहार, चिरौरी, याचना, कर्त्तव्योपदेश, विवाह बन्धन की पवित्रता का प्रतिपादन– ये सब एक सर्ग में एकत्रित करके सीता के मुख से कहलावाए गये हैं। यह मेरी समझ से बाहर है कि एक उद्धत पुरुष के अतिरिक्त क्या किसी अन्य को सीता के कथन पर कोई आपत्ति हो सकती है? सीता ने जो कुछ कहा, यद्यपि वह कर्णकटु था पर वह सब कुछ गहरे मनस्ताप की स्थिति में कहा गया था, एक आत्मसम्मान वाली महिला, जो क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुई थी और जिसका विवाह भी शिरोमणि क्षत्रिय कुल में हुआ था, जिसके पति पृथ्वी के श्रेष्ठ पुरुष थे, क्या उसके लिये कहा जाना चाहिए था कि वह कायर, डरपोक स्त्री है, जो अपने पति के साथ वन में नहीं रह सकती? जब उन्होंने देखा कि श्री राम बारम्बार एक ही बात दोहरा रहे हैं (*'तस्माद् दुःखतरं वनम्'*), तो उनसे रहा नहीं गया और उनकी अन्तर की भावनायें फूट पड़ीं। उनके लिये यह गौरव की बात है कि उन्होंने अपनी वे बातें कह डालीं क्योंकि एक स्त्री को यह

अधिकार है कि वह निर्भीक होकर पति से अपने मन की बात कह सके। अन्ततः पति–पत्नी एक हैं। फिर पति को पत्नी की स्पष्टवादिता का क्यों बुरा मानना चाहिए? इसके लिये सीता को दोषी मानने का अनैतिक विचार संकीर्णमना, क्षुद्राशय व्यक्तियों के मन में ही प्रवेश कर सकता है। मैं कभी ऐसे लोगों को क्षमा नहीं कर सकता, जो इसके लिए सीता की निन्दा करते हैं।

सर्वोत्तम कसौटी तो यह है कि श्री राम ने सीता की बात को किस रूप में लिया। श्री राम भली प्रकार जानते थे कि पत्नी को क्या होना चाहिए। क्या वे सीता की इन बातों से रुष्ट हुए या अप्रसन्न? जब उन्होंने स्वयं कुछ ऐसा नहीं कहा, तो हम जैसे तुच्छ प्राणी ऐसा कहने वाले कौन होते हैं? सीता के तानों, उलाहनों को श्री राम ने सहन किया। उन श्री राम ने जो महान थे, अजय थे, धर्म के मूर्तरूप थे, बिना किसी प्रतिक्रिया के उन्हें सहन किया। आइये सुनें, श्री राम ने क्या कहा :

ता परिष्वज्य बाहुभ्यां विऽसंज्ञामिव दुःखिताम्।
उवाच वचनं रामः परिविश्वासयंस्तदा।।
न देवि तव दुःखेन स्वर्गमप्याभिरोचये।
न हि मेऽस्ति भयं किञ्चित्स्वयंभोरिव सर्वतः।।
तव सर्वमभिप्रायविज्ञाय शुभानने।
वासं न रोचयेऽरण्ये शक्तिमानपि रक्षणे।।
यत्सृष्टासि मया सार्धं वनवासाय मैथिलि।
न विहातुं मया शक्या कीर्तिरात्मवता यथा।। II.30. 26-29

सीता के वचनों का यदि उन्हें आघात लगा होता, तो वे ऐसा न करते। सीता, जो दुःख के अकारण अचेत सी हो रही थी, उन्हें दोनों हाथों से सँभाल कर हृदय से लगा कर सान्त्वना देते हुए, श्री राम कहते हैं, "देवि! तुम ऐसा न कहो कि मैं स्वर्ग का सुख भोगने जा रहा हूँ। तुम्हें दुःखी देखकर यदि मुझे स्वर्ग का सुख भी मिलता होता, तो मैं उसे लेना नहीं चाहूँगा। स्वयं ब्रह्मा जी की भाँति मुझे किञ्चित भी भय नहीं है। मैं जब वन की विकरालता का वर्णन कर रहा था, तो मुझे कोई आशंका नहीं थी। वन में मैं तुम्हारी रक्षा करने में सर्वथा समर्थ हूँ। क्योंकि मुझे अपने शौर्य, कौशल और सतर्कता पर पूरा भरोसा है। फिर भी तुम सोचती होगी कि पहले मैंने न क्यों कहा। तुम्हारे हार्दिक अभिप्राय को पूर्ण रूप से जाने बिना, तुमको वनवासिनी बनाना उचित न समझा। मैं स्वयं नहीं जानता था कि तुम साधारण स्त्रियों की भाँति होंगी। अब तुम्हारी वास्तविकता को मैं जान गया हूँ। मैं अवश्य ही तुम्हारी इच्छा का सम्मान करूँगा। मैं कैसे तुम्हें यहाँ छोड़ सकता हूँ? ब्रह्मा ने तुम्हें इसी अभिप्राय से बनाया है। ठीक उसी प्रकार जैसे आत्मज्ञानी पुरुष *'वसुधैव कुटुम्बकम्'* की भावना से व्याप्त हो स्वाभाविक कोमलता का त्याग नहीं कर सकता, उसी प्रकार तुम भी मेरे से अभिन्न हो। यह तो किसी प्रकार सम्भव ही नहीं है कि मैं वन को न जाऊँ। क्योंकि पिता जी का

कैकेयी को दिया गया सत्ययुक्त वचन ही मुझे वन की ओर ले जा रहा हूँ। तुम्हारे दृढ़ निश्चय के कारण तुम्हें दंडकारण्य ले चलने के सम्बन्ध में, जो मेरा पहला विचार था, वह अब बदल गया है। अब मैं तुम्हें वन चलने की आज्ञा देता हूँ। तुम मेरी अनुगामिनी बनो और वन में मेरे साथ रहकर धर्म का आचरण करो।"

मैं चाहता हूँ कि इस श्लोक को आप याद रखें :

सर्वथा सदृशं सीते मम स्वस्य कुलस्य च।
व्यवसायमनुक्रान्ता सीते त्वमतिशोभनम्।। II.30.41

इस सब कहा–सुनी के अन्त में श्री राम इतने पूर्णरूप से सीता से सहमत हो गए कि वे कहते हैं, "तुमने मेरे साथ वन चलने का जो निश्चय लिया है, वह तुम्हारे और मेरे कुल के सर्वथा योग्य ही है। तुमसे मेरा कुल गौरवान्वित हुआ है। तुम्हारे कुल की प्रतिष्ठा भी बढ़ी है। तुमने एक काम किया है और मुझसे भी एक काम करवाया है। यह समान रूप से तुम्हारे वंश और वंश की परम्परा के सर्वथा अनुरूप है।" फिर वे सीता से कहते हैं, "अब हम और तुम पूर्णतया इस बात पर सहमत हो चुके हैं कि हम वन को साथ–साथ जायें। मैंने अपना सब धन और सम्पत्ति ब्राह्मणों को दान कर दी है और तुम भी ऐसा ही करो।"

ततः प्रहृष्टा परिपूर्णमनसा यशस्विनी भर्तुरवेक्ष्य भाषितम्।
धनानि रत्नानि च दातुमङ्गना प्रचक्रमे धर्मभृतां मनस्विनी।। II.30.47

तदनन्तर अपना मनोरथ पूरा हो जाने से अत्यन्त हर्ष में भरी हुई यशस्विनी एवं मनस्विनी सीता ने अपने स्वामी के वचनों पर विचार करके ब्राह्मणों को धन और रत्नों का दान करने के लिये तैयार हो गईं। उन्होंने अपना सब कुछ दान में देना आरम्भ कर दिया। उन्होंने सब साज–सज्जा सामग्री उतार डाली। वनगमन के अवसर पर वह बहुत हल्की हो गईं, जिससे वे पति के लिए किसी प्रकार की चिन्ता का कारण न बनें और उनकी सेवा के लिए यथासम्भव उपयोगी हो सकें।

◈◈◈

छब्बीसवाँ अध्याय

सीता

जब हमने सीता को छोड़ा था, वह भी श्री राम के साथ वन जाने के लिये उनकी भाँति ही अपने सब आभूषण और बहुमूल्य निजी वस्तुओं को उतार कर त्याग कर रही थीं। मैंने यह भी कहा था कि वन में सीता के पहले बारह या तेरह वर्ष बड़े सुख चैन से व्यतीत हुए, बिल्कुल उनकी इच्छा के अनुकूल। उचित तो यही रहेगा कि हम अरण्य कांड के उन अंशों पर कुछ ठहरें, जो कि इस अवधि से सम्बद्ध हैं। परन्तु वन के चरण पर पहुँचने में कुछ समया लगेगा और वन पहुँचने से पूर्व की घटनायें ध्यान आकर्षित करने वाली है। उनमें पर्याप्त सामग्री है, जिनसे हमें यह पता लगाने में सहायता मिलती है कि वे किस–किस स्थान से होकर वन में पहुँचे।

श्री राम अयोध्यापुरी को छोड़कर शृंगवेरपुर पहुँचे, जहाँ निषादारज गुह ने उनका स्वागत किया। रात्रि व्यतीत होने के बाद, जब प्रभत हुआ, श्रीरम की आज्ञानुसार गुहराज ने नावें मंगाई और बड़ी–बड़ी नावों को गंगातट के उत्तरी किनारे पर खड़ा कर दिया। यहाँ एक रोचक अंश है, जिसका अर्थ कुछ भिन्न–भिन्न रूप से लगाया जा सकता है। परन्तु मुझे तो ऐसा लगता है कि उसका अर्थ सर्वथा स्पष्ट है और वैकल्पिक अर्थ की कोई गुंजाइश ही नही है। मैं इसका उल्लेख इसलिए नहीं कर रहा हूँ कि वह सीता के चरित्र के किसी पहलू को दर्शाने के लिए आवश्यक है, परन्तु चित्र को पूरा भरने के लिये सम्भवतः यह आवश्यक हो कि हम भली भाँति समझ सकें कि वनवास की अवधि में राम, सीता और लक्ष्मण ने किस प्रकार का जीवन व्यतीत किया और किस प्रकार वे संग–संग विचरे। नौका तैयार है और राम लक्ष्मण से कहते हैं :

आरोह त्वं नरव्याघ्र स्थितां नावमिमां शनैः।
सीतां चारोपयान्वक्षं परिगृह्य मनस्विनीम्।। II.52.75

ये शब्द बिल्कुल स्पष्ट हैं, "तुम नौका पर पहले चढ़ना और नौका स्थिर हो जाने पर उसे दृढ़ता और सावधानी से पकड़कर धीरे से अन्दर पहुँच जाना। तत्पश्चात् तुम कुशलपूर्वक नौका पर चढ़ जाओ, एक उपयुक्त स्थान पर खड़े होकर मनस्विनी सीता को चढ़ने में सहायता करना।"

टीकाकार कहता है कि कवि द्वारा मनस्विनी शब्द का प्रयोग कुछ असामान्य अर्थ में किया गया है। जैसा कि मैं यदा–कदा स्पष्ट करूँगा, कवि का कुछ स्वभाव ही

है, शब्दों का अर्ध व्यंग्यात्मक ढंग से प्रयोग करना। जब यह यहाँ सीता के लिये *'मनस्विनी'* शब्द का प्रयोग करता है, उसका वास्तविक आशय है कि सीता *'भीरू'* है, न कि दृढ़ संकल्प वाली, जैसा कि सामन्यतः इस शब्द से संकेत मिलता है, "सीता को नौका पर चढ़ने में तुम सहायता करना, जब तुम स्वयं चढ़ चुके हो।" अगले श्लोक से पता चल जाता है कि लक्ष्मण ने क्या किया।

स भ्रातुः शासनं श्रुत्वा सर्वमप्रतिकूलयन्।
आरोप्य मैथिलीं पूर्वमारुरोहात्मवांस्ततः।। II.52.76

कवि स्पष्टतया तो कुछ कहता नहीं है, वह हम पर छोड़ देता है यह समझने के लिए कि क्यों लक्ष्मण ने राम के आदेश का अक्षरशः पालन नहीं किया। उन्होंने अपने भाई द्वारा बताए गए क्रम को उलट दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके अनुसार यह क्रम बेहतर था। ऐसी बातों में लक्ष्मण को व्यावहारिक ज्ञान अधिक था। कवि कहता है, *'सर्वमप्रतिकूलयन्।'* यद्यपि जो कुछ लक्ष्मण ने किया, वह तो उल्टाव ही प्रदर्शित करता है, परन्तु कवि कहता है, "बिना उल्टा किये।" मैं समझता हूँ, आशय यह है कि लक्ष्मण ने राम के आदेश का तात्विक रूप से पालन किया, किन्तु अक्षरक्षः उसका पालन नहीं किया, यह समझ कर कि वह तरीक़ा बेहतर और अधिक सुरक्षित होगा। यह कवि की विलक्षणताओं में से एक है कि वह यदा–कदा शब्दों का ऐसा प्रयोग करता है, जिससे शब्दों को उनके शाब्दिक अर्थों में नहीं, अपितु अर्थ को कुछ घटाकर ही समझना चाहिए। यहाँ टीकाकार कहता है, पर यह युक्तियुक्त नहीं लगता कि *'मनस्विनी'* और *'आत्मवान'*– दोनों शब्दों का अभिप्रेत अर्थ है। सामान्यतः यह अर्थ निकलता है कि इस अवसर पर यद्यपि लक्ष्मण और सीता को संयोगवश इतना निकट आना पड़ा, तथापि उन्होंने पूर्णतया आत्मसंयम का पालन किया, हमें यही समझना होगा। जब लक्ष्मण ने सीता को नौका पर चढ़ाया, तो अवश्य ही उन्होंने सीता का स्पर्श किया होगा और उन्हें दृढ़तापूर्वक पकड़ने में एक से अधिक स्थान पर छूना भी पड़ा होगा। केवल यह जताने के लिये हम अपनी कल्पना को अनियंत्रित न दौड़ने दें और इस क्रिया में कोई अन्य अर्थ न लगायें, कवि ने *'मनस्विनी'* शब्द का प्रयोग सीता के लिये और *'आत्मवान'* शब्द का प्रयोग लक्ष्मण के लिए किया है। इस अभिप्राय से यदि कोई चंचल प्रवृत्ति वाले व्यक्ति हों, तो उनको संकेत दे दिया जाये कि लक्ष्मण और सीता– दोनों ऐसे व्यक्ति थे, जिनका मन पूर्णतया नियन्त्रण में था। तब राम स्वयं नौका पर चढ़े और फिर तीसरे नम्बर पर लक्ष्मण चढ़े। यहाँ हमें श्री राम के आचार–व्यवहार की एक झलक मिलती है।

राघवोऽपि महातेजा नावमारुह्य तां ततः।
ब्रह्मवत्क्षात्रवच्चैव जजाप हितमात्मनः।। II.52.78

राम भी उस नाव पर चढ़कर, अपने हित के उद्देश्य से ब्राह्मण और क्षत्रिय योग्य मन्त्रों का जप करने लगे, जिससे वे देवतागण के कृपापात्र बनें। फिर शास्त्रविधि के अनुसार सबने पवित्र गंगाजल से आचमन किया। भागीरथी के बीच पहुँचकर सीता ने हाथ जोड़कर गंगा जी से प्रार्थना की, "श्री राम मेरे तथा अपने भाई सहित लौटकर पुनः अयोध्यापुरी में प्रवेश करें।" इस प्रकार प्रार्थना करती हुई, सीता जी शीघ्र ही दक्षिण तट पर जा पहुँचीं। किनारे पर पहुँचकर राम ने नाव छोड़ दी और लक्ष्मण तथा सीता के साथ आगे प्रस्थान किया। श्री राम गंगा को पार करके क्रमशः वत्सदेश प्रयाग जा पहुँचे। प्रयाग में गंगा यमुना के संगम के समीप भरद्वाज का आश्रम था। मुनि द्वारा उनका अतिथि सत्कार हुआ। मुनि ने उन्हें चित्रकूट पर्वत पर ठहरने का सुझाव दिया और मार्ग भी बताया।

अब मैं अन्य नदी, कालिन्दी (यमुना) पर आ रहा हूँ। गंगा को पार करने के पश्चात् अब उन्हें एक उससे छोटी, किन्तु स्पष्ट रूप से अधिक तेज़ बहाव वाली नदी को पार करना पड़ा। महर्षि के लौट जाने पर वे दोनों भाई सीता को आगे करके यमुना नदी के तट पर आ गए।

सीतामेवाग्रतः कृत्वा कालिन्दीं जग्मतुर्नदीम्। II.55.13

यहाँ जिस क्रम से वे आगे बढ़े वह बदल गया। यह क्रम कुछ असामान्य था क्योंकि पहले वे लक्ष्मण से वे कहते हैं :

अग्रतो गच्छ सौमित्रे सीता त्वामनुगच्छतु।।
पृष्ठतोऽहं गमिष्यामि त्वां च सीतां पालयन्।। II 52.95,96

"लक्ष्मण! हमें निर्जन वन में नारी की रक्षा अवश्य करनी चाहिए। अतः तुम आगे–आगे चलो, सीता तुम्हारे पीछे–पीछे चलें और मैं सीता की और तुम्हारी रक्षा करता हुआ सबसे पीछे चलूँगा।"

यह क्रम पहले के लक्ष्मण सीता राम क्रम से भिन्न था। परन्तु हम अरण्य कांड पर आते हैं, तो क्रम इससे भी भिन्न है। क्रम आवश्यकतानुसार बदल दिया जाता था। कालिन्दी को पार करते समय कवि कुछ और झाँकियाँ प्रस्तुत करता है। नदी तट पर पहुँचकर वे इस चिन्ता में पड़ गए कि उसे कैसे पार किया जाये। नदी का बहाव तेज़ था और कदाचित् वह अधिक गहरी भी थी। उसको पार करने में भी ख़तरा हो सकता था। परन्तु वे केवल तीन जन थे और सब काम उन्हें स्वयं ही करना था।

तौ काष्ठसङ्घाटमतो वक्रस्तस्तु महाप्लवम्। II 55.14

मैं ये श्लोक इसलिये दे रहा हूँ कि इन पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। क्योंकि कुछ लोगों की ऐसी धारणा है कि श्री राम एक निठल्ले दर्शक मात्र थे, जो केवल कार्यों का निरीक्षण मात्र ही करते थे, जब कोई श्रमसाध्य कार्य होता था।

वास्तव में ऐसा नहीं था। श्री राम भी पूरा हाथ बँटाते थे, जिससे इसका पूरा भार बेचारे लक्ष्मण पर ही न पड़े। श्लोक से स्पष्ट है। दोनों भाइयों ने जंगल के सूखे काठ बटोर कर उन्हीं के द्वारा एक छोटा सा बेड़ा तैयार किया। वह सूखे लताओं द्वारा बाँधा गया।

शुष्कैर्वंशैः समास्तीर्णमुशीरैश्च समावृतम्।
ततो वेतसशाखाश्च जम्बूशाखाश्च वीर्यवान्।।
चकार लक्ष्मणश्छित्त्वा सीतायाः सुखमासनम्।। II 55.15,16

उसके ऊपर घास बिछायी गई। क्योंकि उस बेड़े में आराम से बैठने की जगह नहीं थी, लक्ष्मण ने बेंत और जामुन की टहनियाँ काट कर सीता के बैठने के लिए एक सुखद आसन भी तैयार किया। इससे पता चलता है कि वन की अनेक कठिनाइयों के बावजूद भी, वे दोनों भाई अपने साथ लाई हुई महिला का विशेष ध्यान रखते थे। जैसा कि स्त्री जाति के प्रति सम्मान उचित था, वे उसको देते थे।

तत्र श्रियमिवाचिन्त्यां रामो दाशरथिः प्रियाम्।
ईषत्संलज्जमानां तामध्यारोपयत प्लवम्।। II 55.16,17

श्री राम ने लक्ष्मी के समान अचिन्त्य ऐश्वर्य वाली, अपनी प्रिय सीता को, जो कुछ लज्जित सी हो रही थी, उस बेड़े पर चढ़ा दिया। फिर सब उस पर चढ़े। इस बार लक्ष्मण से सहायता करने को कहने के बजाय, श्री राम ने स्वयं यह काम किया। मैं यह नहीं जानता क्या यह प्रथा तमिलनाडु के सभी क्षेत्रों में प्रचलित है, किन्तु सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि पति–पत्नी कुछ प्रतिबन्धों का पालन करते हैं। अन्य लोगों की उपस्थिति में साधारण सेवायें भी महिलाओं के लिए दूसरों के द्वारा सम्पन्न की जाती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वाल्मीकि के समय में भी कुछ ऐसी प्रथा प्रचलित होगी। जब श्री राम ने सीता का हाथ पकड़कर बड़े पर चढ़ाया, कवि उसका वर्णन *'लज्जमाना'* विशेषण द्वारा करता है क्योंकि सीता के लिए लक्ष्मण की उपस्थिति में पति द्वारा सहायता दिया जाना कुछ असामान्य ही था।

पार्श्वे तत्र च वैदेह्या वसने भूषणानि च।।
प्लवे कठिनकाजं च रामश्चक्रे सहायुधैः।
आरोप्य प्रथमं सीतां सङ्घाटं परिगृह्य च।। II.55.17,18

सीता को चढ़ाकर, श्री राम ने उनके बग़ल में वस्त्र एवं आभूषण रख दिए। फिर आयुधों के साथ कुदाली और पिटारी को भी बेड़े पर ही रखा। इस प्रकार पहले सीता को चढ़ाकर, दोनों भाई बेड़े को पकड़कर खेने लगे। इस बार परिश्रम का कुछ भाग श्री राम के ऊपर भी पड़ा। मैं इस पर विशेष ध्यान दिलाना चाहता हूँ। स्वयं मैं जब छोटा था और इस महाकाव्य की विषय वस्तु की गहराई से परिचित नहीं था, मुझे यह जानने

के लिए बहुत कुतूहल रहता था कि वन में सामान एक स्थान से दूसरे स्थान पर किस प्रकार ले जाया जा सकता है और कौन उसे ढ़ोता होगा? क्योंकि अन्य वस्तुओं के अतिरिक्त, जिस समय उन्होंने अयोध्या से विदा ली थी, दशरथ ने आदेश दिया था कि सीता अपने साथ चौदह वर्षों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पर्याप्त मात्रा में आभूषण, परिधान, रेशमी वस्त्र आदि लेकर जायें। यह काफ़ी भार रहा होगा। इसके अतिरिक्त, दोनों भाइयों का अपना निजी सामान भी था– जैसे अस्त्र, शस्त्र, फावड़े, बाँस, बल्लियाँ इत्यादि। इतना सामान कैसे उठाया जाता रहा होगा, इस विषय में मैं उत्सुक रहा हूँ। प्रतीत होता है कि दोनों भाइयों ने इसे बाँट कर उठाया होगा।

यमुना के दक्षिण तट पर पहुँच कर, उन्होंने बेड़े को छोड़ दिया। तत्पश्चात्, सकुशल उतर कर, वे विश्राम के लिए चले दिये। कवि यहाँ एक झाँकी उनके जीवन की प्रस्तुत करता है कि किस प्रकार वे प्रसन्न रहते थे।

यद्यत्फलं प्रार्थयते पुष्पं वा जनकात्मजा।।
तत्तत्प्रदद्या वैदेह्या यत्रास्या रमते मनः। II.55.28,29

श्री राम ने लक्ष्मण को आदेश दिया, "तुम सीता को लेकर आगे आगे चलो। मार्ग में यदि सीता को कोई फल–फूल पसन्द आये अथवा जिस वस्तु से इनका मन प्रसन्न हो, वह सब इन्हें लाकर देते रहो।"

एकैकं पादपं गुल्मं लतां वा पुष्पशालिनीम्।।
अदृष्टपूर्वां पश्यन्ती रामं पप्रच्छ साबला। II.55.30,31

सीता एक–एक वृक्ष, झाड़ी अथवा पहले न देखी हुई पुष्पशोभित लता को देखकर उसके विषय में श्री राम से पूछती थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि सीता वन लता, वल्लरियों के विषय में बहुश्रुत थी। जब कभी वे कोई अपरिचित या कोई ध्यान आकर्षित करने वाली वस्तु देखतीं, वे ठहर जातीं और उसके विषय में श्री राम से पूछताछ करतीं। राम को भी वनस्पति विज्ञान की काफ़ी जानकारी रही होगी, जिससे वे तुरन्त उनको पूछे गए प्रश्न का उत्तर देने में समर्थ थे।

रमणीयान् बहुविधान् पादपान् कुसुमोत्करान्।।
सीतावचनसंरब्ध आनयामास लक्ष्मणः।। II.55.32,33

लक्ष्मण तुरन्त ही भाँति–भाँति के मनोहर वृक्षों की शाखायें और फूलों के गुच्छे उन्हें लाकर दे देते थे।

विचित्रवालुकां नीलां हंससारसनादिताम्।।
रेमे जनकराजस्य सुतां प्रेक्ष्य तदा नदीम्। II.55.32,33

सीता विचित्र वालुका और जलराशि से सुशोभित तथा हंस और सारसों के मुखरित यमुना नदी को देखकर बहुत प्रसन्न होती थीं।

क्रोशमात्रं ततो गत्वा भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।।
बहून् मेध्यान् मृगान् हत्वा चेरतुर्यमुनावने।। II.55.33

इस मार्ग में मिले भक्ष्य हिरणों का वध करते हुए, वे यमुना तटवर्ती वन में विचरने लगे। मैं इस श्लोक का उल्लेख इस उद्देश्य से कर रहा हूँ क्योंकि यह एक प्रमाण है, जिससे पता चलता है कि माँसभक्षण के प्रति उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी।

विहृत्य ते बर्हिणपूगनादिते शुभे वने वानरवारणायुते।
समं नदीवप्रमुपेत्य संमतं निवासमाजग्मुरदीनदर्शनाः।। II.55.34

यह श्लोक दर्शाता है कि वे किस प्रकार वन्य जीवन का भी आनन्द उठाने में सक्षम थे। उन्हें उस वस्तु ये, जो उनके सुखी जीवन के लिये अनिवार्य थी, वञ्चित होने का आभास कभी नहीं हुआ। वे तीनों, यमुना नदी के तट पर रमणीय दृष्य का अवलोकन करने हेतु थोड़ी दूर तक घूमकर वे अपने निवास पर लौट आये।

मैं एक अन्य श्लोक पर आपका ध्यान दिलाना चाहता हूँ क्योंकि यह एक लोकप्रचलित धारणा है कि वन में पूरे चौदह वर्षों तक लक्ष्मण बिल्कुल सोये नहीं और पूरी अवधि उन्होंने रात्रि जागरण किया। इस असंदिग्ध उद्धरण में प्रमाण है कि बात ऐसी नहीं थी।

अथ रात्र्यां व्यतीतायामवसुप्तमनन्तरम्।
प्रबोधयामास शनैर्लक्ष्मण रघुनन्दनः।। II.56.1

लक्ष्मण समय से कुछ अधिक सो गए थे। रात्रि व्यतीत होने पर श्री राम ने जागने के बाद लक्ष्मण को धीरे से जगाया और कहा, "क्योंकि प्रस्थान योग्य समीप है, अतः शीघ्र उठकर चलने की तैयारी करो।" इस सम्बन्ध में टीकाकार कहते हैं :

एतेन चतुर्दशवर्षपर्यन्तं लक्ष्मणः स्वापहीनः अनाहारश्च इति लोकप्रवादः अपास्तः।

इस श्लोक से यह लोकप्रचलित किंवदन्ती निरस्त हो जाती है कि लक्ष्मण बिना सोए बिना भोजन किए चौदह वर्ष पर्यन्त वनवास में रहे।

अब चित्रकूट में पहुँचकर उन्होंने वाल्मीकि के दर्शन किये। तत्पश्चात् श्री राम की आज्ञा से लक्ष्मण ने एक सुन्दर विस्तृत पर्णशाला का निर्माण किया। कवि ने विशेष रूप से वास्तु शान्ति का उल्लेख किया है कि प्रवेश के समय किस प्रकार श्री राम ने स्वयं शास्त्रोक्त विधि का अनुष्ठान किया। सद्गुण सम्पन्न कर्म के ज्ञाता श्री राम ने नियमपूर्वक उन्हीं सभी मंत्रों का पाठ किया, जिनसे वास्तुयज्ञ की पूर्ति होती है। समस्त देवताओं का पूजन करके, लक्ष्मण, सीता और श्री राम ने गृहप्रवेश किया।

सुरम्यमासाद्य तु चित्रकूटं नदीं च तां माल्यवतीं सुतीर्थाम्।
ननन्द रामो मृगपक्षीजुष्टां जहौ च दुःखं पुरविप्रवासात्।। II.56.38

चित्रकूट पर्वत बड़ा ही रमणीय था। वहाँ उत्तम तीर्थोमाल्यवती (मन्दाकिनी) नदी बह रही थी, जिसका बहुत से पशु–पक्षी सेवन करते थे। उस पर्वत से सुशोभित और नदी का सान्निध्य पाकर सबको बड़ा हर्ष और आनन्द हुआ। वे नगर से दूर वन के कष्टों को भूल गए।

अब मैं कुछ उद्धरण प्रस्तुत करने जा रहा हूँ, यह दिखाने के लिए, यघपि सीता इतनी सुसंस्कृत थीं, जिनके जीवन साथी एक महान महापुरुष थे, उनमें भी स्त्री जाति की कुछ स्वभावगत कमज़ोरियाँ विद्यमान थी। हम सब भलीभाँति जानते हैं, जब कभी परिवार में कोई परेशानी अथवा आशंका उपस्थित होती है, तो पति या श्वसुर की जानकारी बिना ही स्त्रियाँ देवी–देवताओं की मन्नत मान लेती हैं, फिर उसे वर्षो तक भूल जाती हैं और फिर वे असमय पुरुषों को इसकी याद दिलाती हैं। स्पष्टतः सीता भी इस कमज़ोरी से अछूती न थीं। यह बात गंगा पार करते समय की है।

मध्यं तु समनुप्राप्य भागीरथ्यास्त्वनिन्दिता।
वैदेही प्राञ्जलिर्भूत्वा तां नदीमिदमब्रवीत।।
पुत्रो दशरथस्यायं महाराजस्य धीमतः।
निदेशं पारयित्वेमं गङ्गे त्वदभिरक्षितः।। II.52,82,83

भागरथी के मध्य में पहुँच कर सीता ने हाथ जोड़ कर गंगा से यह प्रार्थना की, "देवि गंगे! आपको तो यह विदित ही होगा कि इस समय आप किसको ले जा रही हैं। ये परम बुद्धिमान महाराज दशरथ के सुपुत्र हैं और पिता की आज्ञा का पालन करने हेतु वन में जा रहे हैं। इन्हीं पर संसार की आशायें केन्द्रित हैं। ये आपसे सुरक्षित होकर, अपने पिता की आज्ञा का पालन कर सकें, ऐसी कृपा कीजिए।"

सा त्वां देवि नमस्यामि प्रशंसामि च शोभने।
प्राप्तराज्ये नरव्याघ्रे शिवेन पुनरागते।।
गवां शतसहस्राणि वस्त्राण्यन्नं च पेशलम्।
ब्रह्मणेभ्यः प्रदास्यामि तव प्रियचिकीर्षया।।
सुराघटसहस्रेण मांसभूतौदनेन च।
यक्ष्ये त्वां प्रयता देवि पूरीं पुनरुपागता।।
यानि त्वत्तीरवासीनि दैवतानि वसन्ति च।
तानि सर्वाणि यक्ष्यामि तीर्थान्यायतनानि च।।
पुनरेव महाबाहुर्मया भ्रात्रा च संगतः।
अयोध्यां वनवासात्तु प्रविशत्वनघोऽनघे।। II.52.87-91

"शोभाशालिनी देवी! श्री राम जब वन से सकुशल लौटकर पुनः अपना राज्य प्राप्त कर लेंगे, तब मैं पुनः आपको मस्तक नवाऊँगी और आपकी स्तुति करूँगी। केवल इतना ही नहीं, मैं आपको प्रसन्न करने के लिए ब्राह्मणों को एक लाख गौएँ,

बहुत से वस्त्र तथा उत्तमोत्तरय अन्न प्रदान करूँगी।" सीता आगे कहती हैं, "देवी! अयोध्यापुरी में सुरक्षित लौटने पर मैं आपके किनारे सहस्त्र गौओं का दान करूँगी और सौ मटके सुरा के आपको अर्पित करके पूजा सम्पन्न करूँगी।" अवश्य ही आप में से कुछ तो परिचित होंगे, यदि हम कुछ स्थानों पर जायें, तो चाहे हम ब्राह्मण भी क्यों न हों, हमें एक मुर्गे के वध के लिए कुछ पैसा देना ही पड़ता है। "आपके तट पर जो जो देवता, तीर्थ और मन्दिर है, उन सबका पूजन करूँगी। निष्पाप गंगे! ये महाबाहु निष्पाप मेरे पतिदेव, अपने भाई के साथ वनवास से लौटकर पुनः अयोध्या में प्रवेश करें," यह प्रार्थना वे गंगा से करती हैं।

कालिन्दी में भी, जिसका उल्लेख हम कर चुके हैं, वे इसी प्रकार की प्रार्थना करती हैं :

स्वस्ति देवि तरामि त्वां पारयेन्मे पतिर्व्रतम्।
यक्ष्ये त्वां गोसहस्रेण सुराघटशतेन च।।
स्वस्ति प्रत्यागते रामे पुरीमिक्ष्वाकुपालिताम्।। II.55,20,21

यमुना की बीच धारा में आने पर सीता ने उसे प्रणाम किया और कहा, "देवि! इस बेड़े के द्वारा मैं आपके पार जा रही हूँ। आप ऐसी कृपा करें, जिससे हम लोग सकुशल पार हो जायें, मेरे पतिदेव वन विषयक प्रतिज्ञा पूरी करें। इक्ष्वाकु कुलवंशी वीरों द्वारा पालित अयोध्यापुरी में श्री राम को सकुशल लौटने पर मैं आपके किनारे सहस्त्र गौओं का दान करूँगी और सौ मटके सुरा के आपको अर्पित करके पूजा सम्पन्न करूँगी।"

गंगा के निमित्त गौयें एक लाख थीं। कालिन्दी गंगा जैसी विशाल नहीं है, अतः वे मात्रा भी घटा देती हैं। गौयें अब केवल एक सहस्त्र रह गईं और सुरा मटके, सौ। यमुना नदी को पार करके वे उसके दक्षिण तट पर आ पहुँचे। वे यमुना तटवर्ती वन से प्रस्थान करके एक प्रसिद्ध वृक्ष के पास जा पहुँचे, जिसके विषय में *'रामायण'* के अध्येता परिचित होंगे। इसको *'श्यामवट'* के नाम से जाना जाता है। वट के समीप पहुँच कर सीता ने मस्तक झुकाया और इस प्रकार कहा, "महावृक्ष! आपको नमस्कार हो! आप ऐसी कृपा करें कि जिससे मेरे पतिदेव अपने चौदह वर्ष के वनवास व्रत को पूरा करें। हम लोग वन से सकुशल लौटकर माता कौशल्या यशस्विनी सुमित्रा माता का दर्शन कर सकें। मैं तुमसे विनती करती हूँ और तुम्हारी विधिवत् पूजा भी करूँगी।" इस प्रकार अञ्जलि बांध कर परिक्रमा की। यहाँ कोई मन्नत नहीं माँगी गई, न ही सुरा के मटके, न ही गोयें का दान। सीता का देवी देवताओं को प्रसन्न करने का ढंग सामान्य स्त्रियों का सा था, जिसमें पुरुष सम्मिलित नहीं थे।

नमस्तेऽस्तु महावृक्ष पारयेन्मे पतिर्व्रतम्।
कौसल्यां चैव पश्येयं सुमित्रां च यशस्विनीम्।।
इति सीताञ्जलिं कृत्वा पर्यगच्छद्वनस्पतिम्।। II.55.25,26

ये सब वन में कितने प्रसन्न थे। एक दिन राम सीता को चित्रकूट का दर्शन कराने लगे। तदनन्तर उस पर्वत से निकलकर राम ने सीता को रमणीय मन्दाकिनी नदी का भी दर्शन कराया। अब एक अन्तिम शब्द, यह दिखाने के लिए कि वे कितने प्रसन्न थे :

तां तथा दर्शयित्वा तु मैथिलीं गिरीनिम्नगाम्।
निषसाद गिरिप्रस्थे सीतां मांसेन छन्दयन्।।
इदं मेध्यमिदं स्वादु निष्टप्तमिदमग्निना।
एवमास्ते से धर्मात्मा सीतया सह राघवः।। II.96.1,2

यहाँ हमें उनके वन जीवन की एक और झाँकी मिलती है। ऐसा लगता है कि वे दोनों भोजन साथ–साथ करते थे। राम सीता को प्रसन्न करने के लिए माँस देते थे, "यह शुद्ध है, स्वादिष्ट है, अच्छी तरह पकाया गया है।" इससे पता चलता है, दोनों पारस्परिक सौख्य और आदान–प्रदान का आनन्दमय जीवन अयोध्या नगरी के वैभवों को भुला कर व्यतीत कर रहे थे।

अब आगे चलते हैं। भरत के अयोध्या लौ जाने पर श्री राम ने चित्रकूट छोड़ दिया और अत्रि मुनी के आश्रम पर एक रात रुक कर, प्रातः काल ऋषियों से विदा लेकर वे राक्षसों से बसे हुए दुर्गम दंडकारण्य वन की ओर चल दिए। वन में प्रवेश करके श्री राम ने बहुत से आश्रम देखे। वहाँ मुनियों ने सबका विधिवत् सत्कार किया। प्रातः काल उनसे विदा लेकर, पुनः श्री राम आगे बढ़ने लगे।

अब मैं एक उद्धरण पर आता हूँ, जिसमें सीता पूर्णतया अपना आत्मविलोपन प्रदर्शित करती हैं। उस दुर्गम वन में उनकी भेंट एक विराध नामक नरभक्षी राक्षस से हुई। वह तीनों को मारने की धमकी देता है, विशेषकर दोनों भाइयों को। उनको देखकर, वह क्रोध से भरकर उनकी ओर दौड़ा। वह सीता को लेकर कुछ दूर जाकर खड़ा हो गया और बोला, "यह सुन्दरी मेरी भार्या बनेगी और मैं तुम दोनों का रक्तपान करूँगा।" यह सुनकर सीता घबरा गईं और थर–थर काँपने लगीं। राम ने तीखे बाणों का अनुसन्धान करके उस राक्षस को बींधना आरम्भ किया। उनके आघात से घायल वह राक्षस दोनों भुजाओं से उन वीरों को पकड़ कर अन्यत्र जाने के लिये तैयार हुआ। श्री राम ने भी एक शरारत खेली। उसके अभिप्राय को जानकर श्री राम ने लक्ष्मण से कहा, "यह राक्षस हमें ढोकर हमें उसी मार्ग पर ले जा रहा है, जहाँ हमें भी जाना है। इसलिए हमारे चलने का परिश्रम कम हो जायेगा।" उन दोनों को कन्धों पर चढ़ाने के बाद वह राक्षस वन की ओर चल दिया। किन्तु, वे भूल गए कि सीता अकेली रह जायेगी।

ह्रियमाणौ तु तौ दृष्ट्वा वैदेही रामलक्ष्मणौ।
उच्चैःस्वरेण चुक्रोश प्रगृह्य सुभुजा भुजौ।।

एष दाशरथी रामः सत्यवान् शीलवान् शुचिः।
रक्षसा रौद्ररूपेण ह्रियते सहलक्ष्मणः।।
मां वृका भक्षयिष्यन्ति शार्दूला द्वीपिनस्तथा।
मां हरोत्सृज्य काकुत्स्थौ नमस्ते राक्षसोत्तम।। III.4. 1-3

काकुत्स्थ के दक्ष वंशजों, श्री राम और लक्ष्मण को राक्षस लिये जा रहा है, यह देखकर सीता, अपनी दोनों बाहें ऊपर उठाकर, राक्षस को लक्ष्य करके, उच्च स्वर में रोने–चिल्लाने लगीं मानो वह उसकी सुनवाई अवश्य करेगा, "सत्यवादी, शीलवान और शुद्ध आचरण वाले दशरथनन्दन राम के साथ लक्ष्मण को यह क्रूर दिखनेवाला राक्षस लिये जा रहा है। तुम मुझे ही खाने के लिए ले चलो, किन्तु इन दोनों भाइयों को छोड़ दो। इस वन में भेड़िये, चीते और व्याघ्र मुझे खा डालेंगे। उनका शिकार मैं क्यों बनूँ? इससे तो अच्छा है, तुम मेरा ही भक्षण कर लो," सीता ने मानो स्वयं को छुड़ाई शुल्क के रूप में अर्पित करने की पेशकश की।

सामान्यतः परम संकट के समय, चाहे आपके साथ अपने बच्चे भी संकट की चपेट में आ जायें, परन्तु यदि आपका जीवन आपत्ति में है, तो प्रकृति का कुछ ऐसा नियम है कि सर्वप्रथम आपके सामने सबसे प्रभावशाली प्रलोभन यह होगा कि पहले आप अपनी जान बचायें, फिर दूसरों का सोचें। किन्तु, यहाँ सीता इसके विपरीत थीं। उनको प्रशिक्षण ही ऐसा मिला था कि अपनी अवस्थिति बनाए रखने के बजाय, उनको राम और लक्ष्मण का जीवित रहना अधिक मान्य था। सीता की चीत्कार सुनकर राम और लक्ष्मण ने मुड़ कर देखा। उन्हें ध्यान आया कि सीता बिल्कुल अकेली रह गई हैं और वे राक्षस का वध करने में शीघ्रता करने लगे। उन्होंने उसकी भुजायें काट डालीं, किन्तु बाणों से घायल क्षत–विक्षत होने पर भी वह मरा नहीं क्योंकि तपस्या से वर पाकर वह शस्त्रों से अवध्य था। यह देखकर उन्होंने एक बड़ा गड्ढा खोदकर उसे उसमें डाल दिया और मिट्टी से पाट कर उसका अन्त कर दिया। राक्षस का वध करके श्री राम ने सीता को हृदय से लगाकर सान्त्वना दी। तदनन्तर उन्होंने शरभंग ऋषि के आश्रम की ओर प्रस्थान किया, जिसका पता स्वयं विरोध ने दिया था।

शरभंग ऋषि ने, आतिथ्य के लिये निमंत्रण देकर, ठहरने के लिये स्थान दिया। श्री राम ने उनसे कहा, "इस समय तो मैं इस वन में आपके बताए हुए स्थान पर निवास मात्र करूँगा।" मुनि बोले, "इस वन में थोड़ी दूर पर सुतीक्ष्ण मुनि रहते हैं। वे आपके लिये स्थान आदि का प्रबन्ध करेंगे।" अगले दिन चलने से पहले श्री राम के पास बहुत से मुनियों के समुदाय पधारे। उन वानप्रस्थ मुनियों ने राक्षसों के अत्याचार से अपनी रक्षा के लिये अनुरोध किया। श्री राम ने उन्हें आश्वासन दिया। तत्पश्चात् वे सुतीक्ष्ण मुनि के आश्रम पर पहुँचे और उनसे सत्कृत होकर रात को वहीं ठहरे। प्रातःकाल सुतीक्ष्ण मुनि से विदा लेकर श्री राम लक्ष्मण और सीता ने उन श्रेष्ठ महर्षियों के साथ वहाँ से प्रस्थान करने की तैयारी की। यहाँ कवि कुछ ऐसी बात का उल्लेख

करता है, जिसका उसने पहले कभी संकेत नहीं दिया था। मेरा अपना अनुमान है, उसका ऐसा करने में विशेष अभिप्राय है। यह बात उस समय की है, जब वे आश्रम से निकलने वाले थे।

ततः शुभतरे तूणी धनुषी चायतेक्षणा।
ददौ सीता तयोर्भ्रात्रोः खड्गौ च विमलौ ततः।।
अबाध्य च शुभे तूणी चापौ चादाय सस्वनौ।
निष्क्रान्तावाश्रमाद्गन्तुमुभौ तौ रामलक्ष्मणौ।। III.8.18,19

तदनन्तर सीता ने उन दोनों भाइयों के हाथ में परम सुन्दर तूणीर, धनुष और चमचमाते हुए खड्ग प्रदान किये। उन सुन्दर तूणीरों को पीठ पर बाँधकर, वे दोनों भाई आश्रम से बाहर निकले।

यह तो कहीं नहीं बताया गया कि यह सीता का प्रतिदिन का काम था, परन्तु इस समय तो उन्होंने ऐसा ही किया। इसका एक महत्त्व है, जैसा कि मैं स्पष्ट करूँगा। अस्त्र शस्त्र धारण करके वे तुरन्त चल दिए। चलते ही सीता ने अपने पति के समक्ष एक समस्या प्रस्तुत की। इसी सन्दर्भ में सीता यह दिखाती है कि जिन्होंने श्री राम के चरणों में गिरकर, उन राक्षसों से संरक्षण की याचना की, जो कि उन्हें डराते और धमकाते थे, उन ऋषियों के संरक्षण का आश्वासन देकर श्री राम औचित्य के नियमों का उल्लंघन कर रहे हैं। सीता अपने पति की इस कार्यवाही के विरुद्ध एक भारी प्रतिवाद व्यक्त करती है। उनके अनुसार यह एक सामरिक कार्यवाही के समान थी। यह एक गृहस्थ क्षत्रिय के लिए तो उपयुक्त थी, अपितु एक यति या मुनि के लिए नहीं, जो तत्समय वन में राम को होना चाहिए था। उन्हें इस कार्यवाही पर आपत्ति थी, परन्तु इसको अपने पति से व्यक्त करने में उन्होंने कोई भय या संकोच महसूस करने के बजाय, जैसा कि एक सामान्य स्त्री आजकल करती है या जैसा कि उससे अपेक्षित है, एक क्षत्राणी होने के नाते, जो अपने पति के प्रति कर्त्तव्य को भली–भाँति जानती है, वे इसका विरोध करतीं हैं, "यह कार्यवाही मुझे अनैतिक लगती है। आप ऐसा करके धर्म का उल्लंघन करेंगे।" इसीलिए, इस अवसर पर कवि सीता के द्वारा ही अस्त्र–शस्त्र मँगवाता है। यह स्वाभाविक रूप से उनके मन में यह विचार ले आता है कि अच्छा होता कि ये अस्त्र–शस्त्र वहीं रहने दिए जाते, जिससे उनका कोई दुरुपयोग न हो। ऐसे विचार आते ही वे निःसंकोच प्रकट रूप से अपना विरोध प्रदर्शित करती हैं :

अधर्मस्तु सुसूक्ष्मेण विधिना प्राप्यते महान्।
निवृत्तेन तु शक्योऽयं व्यसनात्कामजादिह।।
त्रीणयेव व्यसनान्यत्र कामजानि भवन्त्युत।
मिथ्यावाक्यं परमकं तस्माद्गुरूतरावुभौ।।
परदाराभिगमनं विना वैरं च रौद्रता।
मिथ्यावाक्यं न ते भूतं न भविष्यति राघव।।

कुतोऽभिलषणं स्त्रीणां परेषां धर्मनाशनम्।
तव नास्ति मनुष्येन्द्र न चाभूत्ते कदाचन।।
मनस्यपि तथा राम न चैतद्विद्यते क्वचित्।
स्वदारनिरतस्त्वं च नित्यमेव नृपात्मज।।
तृतीयं यदिदं रौद्रं परप्राणाभिहिंसनम्।
निर्वैरं क्रियते मोहत्तच्च ते समुपस्थितम्।।
प्रतिज्ञातस्त्वया वीर दण्डकारण्यवासिनाम्।
ऋषीणां रक्षणार्थाय वधः संयति रक्षसाम्।।
त्वं हि बाणधनुष्पाणिर्भ्रात्रा सह वनं गतः।
दृष्ट्वा वनचरान् सर्वान् कच्चित्कुर्याः शरव्ययम्।।
क्षत्रियाणां च हि धनुर्हुताशस्येन्धनानि च।
समीपतः स्थितं तेजो बलमुच्छ्रयते भृशम्।। III.9. 2-6,9,10,14,15

"यद्यपि आप महान हैं, तथापि अत्यन्त सूक्ष्म रूप से विचार करने पर आप अधर्म को प्राप्त हो रहे हैं। जब आप कामजनित व्यसनों से सर्वथा निवृत्त हैं, तब यहाँ इस अधर्म से भी बच सकते हैं। मिथ्याभाषण बहुत बड़ा व्यसन है, किन्तु उससे भी भारी दो धर्मोल्लंघन और भी हैं– परस्त्रीगमन तथा बिना किसी उत्तेजक कारण के ही दूसरों के प्रति क्रूरतापूर्ण व्यवहार। यथातथ्य औचित्य के अभाव में युद्ध की स्थिति नहीं आनी चाहिए।" अब यहाँ सीता द्वारा राम चरित्र का चित्रण होता है। एक प्रकार से प्रमाण पत्र, जो राम के प्रति देती है, "रघुनन्दन! इन तीन व्यसनों में से मिथ्याभाषण रूप व्यसन न तो आपमें कभी हुआ है और न भविष्य में होगा ही, यह मैं निश्चित रूप से जानती हूँ। पर स्त्री विषयक अभिलाषा तो आपको कैसे हो सकती है? नरेन्द्र धर्म का नाश करने वाली यह कुत्सित इच्छा न आपके मन में है और न भविष्य में कभी होंगी (यह एक उच्च कोटि का प्रमाणपत्र एक पत्नी से है, हमारी पत्नियों में में से कुछ हमारे आचरण के प्रति इतनी आश्वस्त हो सकती है, जितनी सीता थी। परन्तु वे स्पष्ट रूप से ऐसा श्रेय देने में संकोच करेंगी)। ये दो व्यसन तो आपके पास फटक भी नहीं सकते। श्री राम! यह दोष आपके मन में कभी नहीं आया, फिर वाणी और क्रिया में कैसे आ सकता है? आप तो सदा से अपनी पत्नी में ही अनुरक्त रहने वाले हैं। परन्तु दूसरों के प्राणों की हिंसा अथवा दूसरों के साथ युद्ध करना, बिना किसी उत्तेजना के, यह तीसरा भयंकर दोष है। जो लोग मोहवश बिना वैर–विरोध के युद्ध किया करते हैं, वही दोष, मुझे लगता है, अब आपके सामने उपस्थित है। इन दंडकारण्यवासी ऋषियों ने आपको बताया है कि वे राक्षसों द्वारा किए गए उत्पातों के कारण संत्रस्त हैं। उन्होंने आपसे संरक्षण माँगा है। आपने उनकी रक्षा के लिए युद्ध में राक्षसों का वध करने की प्रतिज्ञा भी की है। आपको इसकी क्या आवश्यकता थी? आप हाथ में धनुष–बाण लेकर भाई के साथ, जो आपके समान इनके प्रयोग में प्रवीण है,

वन में आए हैं। सम्भव है, समस्त वनचारी राक्षसों को देखकर, कदाचित् आप उनके प्रति अपने बाणों का प्रयोग भी कर बैठे। जब भी कोई राक्षस आपको दिखाई देगा, आप उस पर पहले आक्रमण कर बैठें।" वे एक बड़ी कुशाग्र टिप्पणी करती हैं और तत्पश्चात् एक विचारणीय कथा भी सुनाती हैं, जिसकी ओर मैं आपका ध्यान खींचना चाहूँगा : "जैसे आग के समीप रखे हुए ईंधन उसके तेज रूप बल को अत्यन्त उदीप्त कर देते हैं, उसी प्रकार क्षत्रियों के पास धनुष–बाण हो, तो वह उनके बल और प्रताप को उदीप्त कर देता है अर्थात् जैसे अग्नि को ईंधन अपने निकट ही प्राप्त हो जाने पर स्थिति संकटात्मक होने की संभावना बढ़ जाती है, उसी प्रकार युद्ध विशारद क्षत्रिय के पास अस्त्र–शस्त्र सुलभ होने पर संकटपूर्ण स्थिति हो जाती है। यह उसे अपनी शक्ति प्रदर्शन के लिये उकसाती है।"

तत्पश्चात् वे एक याद रखने योग्य एक और दृष्टान्त देती हैं, जो कि अर्थपूर्ण है। इस सुन्दर कहानी की जानकारी इतनी नहीं, जितनी कि होनी चाहिए। यह कहानी एक ऋषि के पतन की है। किसी ऊधः वन में कठोर तपस्यारत एक ऋषि निवास करते थे। उनकी तपस्या देखकर देवता गण (जैसा प्रायः होता है) उनसे ईर्ष्या करने लगे। उनकी तपस्या में विघ्न डालने के लिये, इन्द्र एक योद्धा का रूप धारण कर, हाथ को धरोहर रूप में वह तलवार दे दी, "कृपया इसका ध्यान रखें, जब तक मैं वापस न लौटूँ।" इसके बाद से ही उस ऋषि की जीवनचर्या में बदलाव आना आरम्भ हो गया।

स तच्छस्त्रमनुप्राप्य न्यासरक्षणतत्परः।
वने तं विचरत्येव रक्षन् प्रत्ययमात्मनः।।
यत्र गच्छत्युपादातुं मूलानि च फलानि च।
न विना याति तं खड्गं न्यासरक्षणतत्परः।।
नित्यं शस्त्रं परिवहन् क्रमेण स तपोधनः।
चकार रौद्रीं स्वां बुद्धिं त्यक्त्वा तपसि निश्चयम् ।।
ततः स रौद्रऽभिरतः प्रमत्तोऽधर्मकर्शितः।
तस्य शस्त्रस्य संवासाज्जगाम नरकं मुनिः।। III.9.19-22

उस धरोहर शस्त्र को पाकर मुनि उसकी रक्षा में संलग्न हो गए। वे अपने विश्वास की रक्षा के लिए वन में विचरते हुए भी उसे अपने पास रखते थे। धरोहर की रक्षा में तत्पर रहने वाले, वे मुनि फल–मूल लाने के लिये, जहाँ भी जाते, उस खड्ग को साथ लिए बिना नहीं जाते थे। क्योंकि वह तो चमचमाती हुई पैनी तलवार थी, मुनि की दृष्टि निरन्तर उस पर रहती थी और वे सैद्धान्तिक रूप से उसकी सराहना करने लगे। सराहना करते समय वे उसका स्पर्श करते और उसके विषय–सुख का अनुभव करने लगे। उनके मन में विचार आया किसी शूरवीर के हाथ में इसके द्वारा क्या क्या घोर कर्म सम्पन्न हो सकते हैं! तप ही जिनका मूल धन था, उन मुनि ने नित्य प्रतिदिन उस तलवार को ढोते–ढोते क्रमशः तपस्या का निश्चय छोड़कर अपने मन को

उस तलवार की ख़ूबियों के चिन्तन में निरन्तर लगाने लगे। धर्म की पकड़ ढीली होने पर, तलवार के विषय में चिन्तन करते–करते यदा–कदा वस्तुओं को काटने के प्रयोग करने लगे। उनका मन कोमल, सौम्य और संवेदनशील होने के बजाय क्रूरतापूर्ण बुद्धि वाला हो गया। अधर्म ने उन्हें आकृष्ट कर लिया। वे मुनि प्रमादवश रौद्रकर्म में तत्पर हो गए और निर्दोशता की ऊँचाइयों से गिर कर नर्कभोगी बने। कवि ने इस कथा को बड़े सुन्दर ढ़ंग से प्रस्तुत किया है समुचति तो यही कहना होगा कि सीता ने इसे बड़े सुन्दर ढ़ंग से प्रस्तुत किया। अन्ततः इस बेचारे ऋषि ने क्या किया? तलवार की तो उसे बिल्कुल इच्छा न थी। वह वस्तु तो केवल धरोहर के रूप में उनके पास छोड़ी गई थी, परन्तु उसके सतत् साहचर्य से उनका पतन हो गया। मेरा मानना है कि हमें स्वीकार करना चाहिए कि इस दृष्टांत में बहुत सच्चाई है, यद्यपि काव्य में सत्य को प्रायः चरम सीमा पर पहुँचा दिया जाता है। किसी कठोर वस्तु का निरन्तर अवलोकन हमारे मनोभावों को क्रूरता की ओर ले जाता है और हृदय को पत्थर के समान बना देता है। निर्मम क्रियाओं से अतिपरिचय और कठोर विचारों के चिन्तन से हमारे स्वभाव में परिवर्तन आ जाता है। इसीलिए मैं निस्संकोच कहता हूँ कि मैं उन वक्तव्यों पर बिल्कुल विश्वास नहीं करता हूँ, जो इस समय सन (1944) द्वितीय विश्व महायुद्ध के समय, उन देशों की ओर से दिए जा रहे हैं, जिन्हें इस महायुद्ध में जीतने की आशा है। उनका विचार है कि पराजित देशों को सर्वथा निशस्त्र कर दिया जाये, जिससे उत्पात करने की क्षमता कई पीढ़ियों के लिए समाप्त हो जाये। ये उनको 'आक्रमणशील देशों' की संज्ञा देते हैं। आक्रमणशील देशों को अस्त्र–शस्त्र से वञ्चित कर दिया जाना चाहिए। दूसरी ओर, उन राष्ट्रों को, जो विजयी हो जाते हैं और स्वयं को 'शान्तिप्रिय राष्ट्र' कहते हैं। उनके पास पर्याप्त सैन्य बल होना चाहिए, जिससे वे किसी समय भी विल्पवियों को कुचल सकें। यदि आप ध्यान से देखें, तो यह सर्वथा अवैज्ञानिक है, राष्ट्रों को युद्धप्रिय और शान्तिप्रिय देशों में विभाजित करना। अधिकांश राष्ट्र जो ऊपर उठे हैं, जो किसी न किसी रूप में समृद्ध राष्ट्र कहे जाते हैं, युद्धप्रिय रहे हैं, अत्यधिक युद्धप्रिय। इन सबके पास कितना विशाल सैन्य बल है और वे अधिक समय तक शान्तिप्रिय नहीं रह सकते। इस सैन्य शक्ति का उनके पास होना, उन्हें युद्ध में ढकेलने के लिये पर्याप्त है (आज अमरीका के सन्दर्भ में यही बात ठीक उतरती है –अ.) इस विषय में कोई भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। यह युद्धप्रिय और शान्तिप्रिय में विभाजन ग़लत है। अपने को न्यायसंगत कहने वाले राष्ट्र अपने आपको ऐसा प्रिय घोषित करते हैं, केवल अपने को सशस्त्र रखने के इरादे उचित ठहराने के लिये और अन्य राष्ट्रों को निरस्त्र करने के लिये। उचित तो यही होगा कि कोई राष्ट्र निजी रूप से सशस्त्र न हो और आवश्यक शस्त्र एक अंतरराष्ट्रीय संस्था के हाथ में दे दिये जाये। इस विषय पर परिचर्चा के लिये काफ़ी समय चाहिए। मैं यह ही कहूँगा कि सीता का दृष्टान्त इस सन्दर्भ में ठीक संकेत देता है। यद्यपि हम निश्चित रूप से ऐसा

कल्पनात्मक विचार बना सकते हैं कि कोई राष्ट्र पूर्णतया शस्त्र सम्पन्न होने पर भी कुछ समय के लिए शान्तिप्रिय बना रहे, पाँच वर्ष अथवा दस वर्ष तक अथवा अगली पीढ़ी तक, तथापि इसका कोई आश्वासन दिया नहीं जा सकता कि अगली पीढ़ी अथवा उनकी संतानों की संतान शान्तिप्रिय रहेंगी। ऐसी स्थिति मानव स्वभाव के असंगत है और निश्चित रूप से शस्त्र–सुसम्पन्न मानव स्वभाव के लिये तो अवश्य ही।

निरन्तर अस्त्र शस्त्र धारण रहने क प्रति अपने पति को सावधान करने की धृष्टता करने पश्चात् सीता आगे कहती हैं :

स्नेहाच्च बहुमानाच्च स्मारये त्वां न शिक्षये।
न कथञ्चन सा कार्या गृहीतधनुषा त्वया।। II.9.24

यह एक विश्रुत उद्धरण है, जिसका लोग सदा प्रयोग करते हैं, जब वे किसी बुजुर्ग को परामर्श देते हैं।* "मेरे मन में आपके प्रति जो स्नेह और विशेष आदर है, उसके कारण ही मैं आपको इस प्राचीन घटना के याद दिल रही हूँ। मैं कोई शिक्षा नहीं दे रही हूँ, केवल उसी की याद दिला रही हूँ, जो आप स्वयं जानते ही हैं। दुर्भाग्यवश, जीवन में कभी–कभी परिस्थितियाँ आ जाती हैं, जिनसे हितकर विचार पलायित हो जाते हैं मानो वे मस्तिष्क के किसी कोने में जाकर छिप गये हों और उनको मध्य बिन्दु पर लाना आवश्यक हो जाता है। मैं तो यहाँ सेवा कार्य कर रही हूँ। मैं केवल यही याद दिलाना चाहती हूँ कि आपको धनुष बाण लेकर उनका अनुचित प्रयोग नहीं करना चाहिए।"

सीता अपनी बात का समापन भी बड़ी सुन्दरता के साथ करती हैं :

स्त्रीचापलादेतदुदाहृतं मे धर्मं वक्तुं तव कः समर्थः।
विचार्य बुद्ध्या तु सहानुजेन यद्रोचते तत्कुरु मा विरेण।। III.9.33

"मैंने नारी–जाति की स्वाभाविक चपलता के कारण ही ऐसा सोचा क्योंकि मेरा मन निरन्तर कोमलता के प्रति समर्पित रहता है। मैंने सोचा इसका स्मरण आपको भी करा दूँ। इसीलिये आपकी सेवा में ये बातें निवेदन की हैं। वास्तव में आपको धर्म का उपदेश देने में कौन समर्थ है? आप इस विषय में अपने छोटे भाई के साथ विचार–विमर्श कर लें। आपको जो ठीक लगे, उसे ही निश्चय रूप से करें।"

एक टीकाकार हैं, जिन्होंने इस वाक्य का ग़लत अर्थ लिया है और इसका सर्वथा भिन्न अर्थ दिया है।** तथापि रामायण में ऐसे उद्धरण हैं, जिससे प्रकट होता है कि कवि को यह वाक्य *'स्मारये त्वां न शिक्षये'* बहुत प्रिय हैं। इसका एक उदाहरण युद्ध कांड में भी मिलता है। प्रसंग इस प्रकार है। राम–रावण युद्ध में रावण की शक्ति से लक्ष्मण मूर्च्छित हो गए थे, श्री राम के बाणों से आहत हुआ रावण भयभीत होकर

* यह पाठ *'स्मारये त्वां न शिक्षये'* महेश्वरतीर्थ और गोविन्दराज के द्वारा लिया गया है, जिनकी टीका का अनुसरण यहाँ किया गया है। परन्तु कतक इसको इस प्रकार लेते हैं : *'स्मारये त्वां तु शिक्षये'* और तिलक ने भी इसी को पसन्द किया है।

भाग गया। जब हनुमान की लाई हुई औषधि से लक्ष्मण सचेत हो गए, श्री राम ने पुनः शत्रुओं पर आक्रमण आरम्भ किया। इस बीच रावण भी दूसरे रथ पर सवार होकर श्री राम पर चढ़ आया। श्री राम भूमि पर खड़े थे और रावण रथ पर सवार था। यह देखकर, देवराज इन्द्र ने अपने सारथि, मातलि द्वारा अपना रथ और कुछ अस्त्र–शस्त्र श्री राम की सेवार्थ भेज दिए। तत्पश्चात् राम–रावण युद्ध आरम्भ हुआ। जब आहत होने पर रावण में शस्त्र उठाने की क्षमता नहीं रही, उसका सारथि उसके रथ को रणभूमि से दूर हटा ले गया। परन्तु थोड़ी देर बाद वह पुनः रावण के रथ को श्री राम के समीप ले आया। श्री राम ने सहसा रावण के रथ को आते देखकर मातलि से कहा, "अब बड़े वेग से तुम सावधान हो जाओ और शत्रु के रथ की ओर आगे बढ़ो।" मातलि इन्द्र का सारथि था और अनेक युद्ध देख चुका था और भलीभाँति जानता था कि उसे क्या करना चाहिए। अतएव, उसको यह बताना कि उसे क्या करना है, थोड़ी धृष्टता सी था और वे दोष स्वीकार करते हैं :

कामं न त्वं समाधेयः पुरन्दररथोचितः।।
युयुत्सुरहमेकाग्रः स्मारये त्वां न शिक्षये। II. 108.12,13

"तुम्हें तो देवराज इन्द्र का रथ हाँकने का अभ्यास है। अतएव, तुम्हें कुद सिखाने की आवश्यकता नहीं। मैं एकाग्र होकर युद्ध करना चाहता हूँ। इसीलिए तुम्हारे कर्त्तव्य का स्मरण मात्र करा रहा हूँ, तुम्हें शिक्षा नहीं दे रहा हूँ।"

विभीषण राम से इसी प्रकार कहता है। युद्ध समाप्त होने पर और सीता की अग्नि परीक्षा के उपरान्त राम शीघ्रातिशीघ्र अयोध्या लौटने के लिए उत्सुक थे। विभीषण उनके लिए पुष्पक–विमान प्रस्तुत करता है। वह उनसे, सीता और लक्ष्मण सहित कुछ दिन उनके पास ठहरने के लिये अनुरोध करता है। इसी सन्दर्भ में वह कहता है :

प्रणयाद्बहुमानाच्च सौहृदेन च राघव।।
प्रसादयामि प्रेष्योऽहं न खल्वाज्ञापयामि ते। VI.124.15,16

"श्री राम! मैं केवल प्रेम, सम्मान और सौहार्द हेतु ही आपसे यह प्रार्थना कर रहा हूँ। आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ। मैं आपका सेवक हूँ, इसलिये विनय करता हूँ। आपको आज्ञा या कोई आदेश नहीं दे रहा हूँ।"

** यह तिलक टीका के सम्बन्ध में है, जो कि कतक का अनुसरण करती है, जैसा कि पिछले नोट में बताया गया है, उनका पाठ सर्वथा भिन्न है। *'स्मारये त्वां तु शिक्षये'* पर तिलक की टिप्पणी इस प्रकार है : *"स्नेहात् भवद्विषयात्। बहुमानात् त्वत्कर्तृकान्मद्विषयात्। किं च बहुमानो नाम मदीयोऽयं भर्तेत्येवमभिमानः। स्मारये पुरावृतमिति शेषः। अत्र स्नेहो हेतुः। बहुमानाच्च त्वां तु शिक्षये इत्यर्थः।*
तदेव शिक्षणं करोति – 'न कथंचन' इति । यत्तु तीर्थः 'स्मारये त्वां न शिक्षये' इति पठति व्याचष्टे च तत्तु उत्तरवाक्ये करिष्यमाण शिक्षणेन च्याहतमिति कतक।।"

इन उदाहरणों को ध्यान में रखते हुए यही मानना उचित है कि सीता के वचनों का अर्थ भी ऐसा ही होना चाहिए अन्यथा नहीं। अतएव III.9.24 के पाठ को इसी प्रकार होना चाहिए *'स्मारये त्वां न शिक्षये,'* न कि *'स्मारये त्वां तुशिक्षये।'*

इस सन्दर्भ में, क्योंकि लोग अज्ञानवश प्रायः सीता को दोष देते हैं, मैं बताना चाहूँगा कि स्वयं राम ने भी उनकी बात को किस रूप में लिया क्योंकि यह इस सम्बन्ध में निर्णायक हैं।

किं तु वक्ष्याम्यहं देवि त्वयैवोक्तमिदं वचः।
क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्तशब्दो भवेदिति।। III.10.3

"देवि! मैं तुम्हें क्या उत्तर दूँ? तुमने अभी थोड़ी देर पहले यह बात कही थी कि क्षत्रिय लोग इसलिए धनुष बाण धारण करते हैं कि किसी को दुःखी होकर हाहाकार न करना पड़े, हाय! मुझे सताया गया है अथवा किसी ने हानि पहुँचाई। एक क्षत्रिय का कर्त्तव्य बनता है कि ऐसी परिस्थिति में वह शीघ्रातिशीघ्र जाकर उसकी सहायता करे।"

इसके बाद प्रसिद्ध श्लोक यह आता है :

अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्।
न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः।। III.10.19*

"सीते! मैं अपने वचन और वचन के प्रति निष्ठा को इतना महत्त्व देता हूँ कि इसके लिए मैं बड़ा से बड़ा त्याग भी करने को तैयार हूँ। मैं अपने प्राण छोड़ सकता हूँ, तुम्हारा और लक्ष्मण का भी परित्याग कर सकता हूँ। किन्तु, अपनी प्रतिज्ञा को मैं कदापि नहीं तोड़ सकता। प्रतिज्ञा से अधिक मेरे लिए कुछ भी अधिक पवित्र नहीं। ऐसी प्रतिज्ञा, जो विशेषतः मैंने ब्राह्मणों के प्रति की है।"

अन्त में वे कहते हैं :

मम स्नेहाच्च सौहार्दादिदमुक्तं त्वयानघे।
परितुष्टोऽस्म्यहं सीते न ह्यनिष्टोऽनशिष्यते।।
सदृशं चानुरूपं च कुलस्य तव चात्मनः।
सधर्मचारिणी मे त्वं प्राणेभ्योऽपि गरीयसी।। III.10.21,22

ये बहुत ही सुन्दर पंक्तियाँ हैं। राम कहते हैं, "सीते! तुमने स्नेह और सौहार्दवश जो बातें मुझसे कही हैं, इससे मैं बहुत सन्तुष्ट हूँ क्योंकि जो अपना प्रिय न हो, उसे कोई उपदेश नहीं देता। तुमने मुझसे जो कुछ भी कहा, यह सब कुछ कहने का पूरा–पूरा अधिकार तुम्हारा था। यह शुभ भावनाओं से प्रेरित था। तुम्हारी भी निष्कपट इच्छा है कि मैं धर्म के पथ पर रहूँ। मुझे लेशमात्र भी बुरा नहीं लगा, बल्कि मैं तो इसके लिये तुम्हारी प्रशंसा करता हूँ। मुझे प्रसन्नता है कि तुमने इस प्रकार की बातें कहीं और इन भावनाओं को अपने मन में रखा, अन्यथा इसका पता मुझे कैसे चलता।

---

* देखिए अ.3, पृ.34.

अपने निजी हितैषी के अतिरिक्त और अन्य कौन अपने प्रिय जन के दोषों की ओर ध्यान दिला सकता है? तुम जो कुछ भी उलाहना दे रही हो, केवल इसीलिये कि तुममें मेरे लिये प्रगाढ़ प्रेम हैं। क्योंकि तुम नहीं चाहती कि मैं कोई ग़लती काम करूँ या अपने सिर कोई पाप लूँ। तुमने मेरे साथ इतना घनिष्ठ तादात्म्य स्थापित कर लिया है कि तुम्हें हर क्षण मेरी ही चिन्ता रहती है कि किसी प्रकार मुझे कोई क्षति न पहुँचे, इसीलिए तुम मुझे सावधान करती रहती हो। जीवन में प्रायः हम न तो किसी अप्रिय अमित्र को चेतावनी देते हैं, न ही जिस व्यक्ति के प्रति हम उदासीन होते हैं, उसके लिये कुछ सोचते हैं। इसलिये जो कुछ भी तुमने कहा, मैं उसका सत्य और निष्ठा स्वागत से करता हूँ, यद्यपि मेरे विचार से इस चेतावनी में कुछ तथ्य नहीं। तुम्हारा यह कथन तुम्हारे योग्य तो है ही और तुम्हारे कुल के भी सर्वथा अनुरूप है। तुम मेरी सहधर्मिणी हो और मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय हो। अतः तुम्हें छूट है कि तुम आवश्यकतानुसार मुझे सावधान करो और मेरी ग़लती को सुधारो।"

दो शब्द उपदेश के भी कह दूँ। क्या हम पुरुष अपनी पत्नियों को छूट देते हैं कि हमें सावधान करें, जब हम उनके विचार से ग़लत मार्ग पर हों? सम्भव है कि एक समय आप इतने पत्नीभक्त बन जायें कि आप उनकी ग़लत बातों का भी अनुसरण करें। मैं ऐसी सम्भावना के विषय में नहीं सोच रहा हूँ, मैं पति–पत्नी के बीच ऐसे सम्बन्धों को सोच रहा हूँ, जो एक समुचित आधार पर स्थापित हों, जिससे प्रत्येक एक–दूसरे के कार्यक्षेत्र का आदर करे, परन्तु साथ ही साथ यह भी समझे कि कब गम्भीर चेतावनी की आवश्यकता है। जीवन में, हमारा काम काज हमारी पत्नियों से इतना असंबद्ध नहीं होता कि वे कोई मतलब ही न रखें, हम उनसे उसके विषय में कोई परामर्श ही न लें। कदाचित् इनमें से कुछ मन ही ऐसा भी कहें कि "इन बेचारियों को इस विषय में क्या पता? जब स्त्रियाँ कार्यक्षम ही नहीं, तो परामर्श लेने का प्रश्न ही नहीं उठता।" बहुत सी स्थितियों में तो यह बहाना सम्भवतः मान्य हो सकता है, परन्तु हमेशा ऐसा नहीं होना चाहिए। अपनी पत्नियों को योग्य सहचरी बनाना, जीवन के सुख दुःख में सहगामिनी बनाना हमारा कर्त्तव्य है। यही उनके लिये उपयुक्त कार्य होगा। उन्हें अशिक्षित रख कर उनके साथ समय–समय पर परामर्श न करना अपनी ग़लती को उचित ठहराना सर्वथा अनुचित है। मेरी जानकारी में कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं, जहाँ एक पत्नी निस्संकोच हो अपने पति से कहने का साहस करती है कि वह जो कुछ कर रहा है, वह एक ग़लत काम है। ऐसी स्थिति में कदाचित् उसे मार भी खानी पड़ सकती है। ऐसी स्थिति में उसकी अवहेलना तो होती ही है और पूर्ण उपेक्षा भी। ऐसा होना कोई असामान्य बात नहीं। तुम क्या करते हो, क्या नहीं करते हो, यह तुम्हारे ऊपर है। परन्तु अपने किए को यह सफ़ाई देकर उचित न सिद्ध करो और न ही सिद्ध करने का प्रयास करो कि पत्नी का वर्ग निम्न है और उसका कर्त्तव्य एक दासी के काम तक ही सीमित है। "वह धोबी का हिसाब किताब रख ले, इससे अधिक कुछ

नहीं," यह राम द्वारा सीता को दी गई स्वतन्त्रता से निश्चित रूप से मेल नहीं खाता। वन के निवासी ऋषियों के साथ मैत्री जैसे विषय पर, जिसके कारण काम राम संकट में पड़ सकते थे, राम सीता से ऐसा कैसे कह सकते थे, "तुम्हें ऐसी बातों का ज्ञान नहीं। अतएव इस विषय में कुछ मत बोलो।" उन्होंने सीता को अपनी बात कहने दी और यद्यपि राम ने उनके परामर्श को माना नहीं, तथापि उन्होंने सीता को बताया कि उन्होंने चेतावनी देकर ठीक ही किया और ऐसा करना उचित था। अपने दोनों कुलों की मर्यादा को ध्यान में रखते हुए उचित ही था।

एक और महत्त्वपूर्ण घटना है, जिसके सन्दर्भ में सीता के व्यवहार पर आपत्ति की जाती है। यह बात उस समय की है, जब मारीच स्वर्णमय मृग का रूप धरकर राम के आश्रम में आया और उसने सीता का मन मोह लिया। सीता के आग्रह करने पर राम उसका पीछा करने चले गए और रावण को दिए गये वचनों के अनुकूल मारीच राम की आवाज़ की नक़ल करते हुए चिल्लाने लगता है, "हा सीते! हा लक्ष्मण!" यह सुनकर सीता भयभीत हो जाती है और उसके मन में यह बात बैठ जाती है कि उसके पति अवश्य ही संकट में पड़ गए हैं। वह लक्ष्मण से उनकी सहायतार्थ जाने का अनुरोध करती है। कुछ देर तक तो लक्ष्मण उनकी बात टाल देते हैं। वे कहते हैं, "राम तो इतने शक्तिशाली हैं कि संसार में कोई भी उनके सामने नहीं टिक सकता। कोई संकट उनके पास फटक भी नहीं सकता, जिसका वे स्वयं निवारण न कर सकें। अतएव चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। मैं आपको अकेला छोड़कर नहीं जा सकता।" किन्तु सीता उनको उलाहना देती हैं, यह देखकर कि वे जाने के लिए अनिच्छुक हैं। वे राम के प्रति इतनी अधिक चिन्ताग्रस्त हो जाती हैं कि वे अपना आत्मसंयम खो बैठती हैं। उनके धैर्य का बाँध टूट जाता है और उन्हें इस बात की भी सुधि न रहती कि वे क्या कह रही हैं। क्षण भर के लिए आप स्वयं को सीता की परिस्थिति में रख कर देखिए। सीता का विवाह संसार के महान व्यक्ति से हुआ था। वन में उनके साहचर्य के निमित्त उन्होंने राज्य को छोड़ा था। वहाँ आकर स्वयं ही उन्होंने राम को एक संकटपूर्ण काम के लिए भेज दिया था। श्री राम कुछ संकट में फँस गये हैं, कम से कम वे ऐसा सोचती हैं। यह स्वाभाविक है या नहीं कि ऐसे परम संकट के समय वे सब कुछ भूल जायें? जब वे अपने जीवन तक को बिसार सकती थीं, तो उस समय लक्ष्मण का उन्हें कैसे ध्यान आ सकता था? यदि उनमें कुछ अधिक समझदारी होती, तो कदाचित् वे लक्ष्मण के प्रति उतने कठोर वाक्यों का प्रयोग न करतीं, जैसा कि उन्होंने किया। परन्तु क्रोध के समय किसकी बुद्धि साथ देती है? वह भी इस प्रकार की विपत्ति के समय किस की बुद्धि नियन्त्रण में रहती है? जब आप अत्यन्त दारुण व्यथा से ग्रस्त हों और अनेक प्रकार की आशंकाओं न आपको घेर लिया हो, तो क्या आप अपने शब्दों को तोलने की स्थिति में होंगे? क्या कोई भी ऐसा कर सकता है? फिर हम बेचारी सीता से ऐसी उपेक्षा क्यों करें? हम सब उनकी प्रशंसा

करते और सराहते यदि उन्होंने उन शब्दों का प्रयोग न किया होता। वे एक मुँहफट महिला थी, उनकी वाणी कदाचित् कभी ही नियन्त्रण में रही हो।

अहं तव प्रियं मन्ये रामस्य व्यसनं महत्।
रामस्य व्यसनं दृष्ट्वा तेनैतानि प्रभाषसे।।
नैतच्चित्रं सपत्नेषु पापं लक्ष्मण यद्भवेत्।
त्वद्विधेषु नृशंसेषु नित्यं प्रच्छन्नचारिषु।।
सुदुष्टस्त्वं वने राममेकमेकोऽनुगच्छसि।
मम हेतोः प्रतिच्छन्नः प्रयुक्तो भरतेन वा।। III.45. 22-24

"मुझे लगता है, तुम अब प्रसन्न हो कि राम किसी भारी विपत्ति में फँस गये हैं। इसीलिए तुम राम संकट आया देखकर भी ऐसी बातें बना रहे हो। भाइयों, दायदों और ऐसे व्यक्तियों के मध्य, जो एक ही वस्तु के इच्छुक हों, ऐसा होना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं। लक्ष्मण! तुम्हारे जैसे क्रूर एवं सदा से छिपे हुए शत्रुओं के मन में इस तरह के पापपूर्ण विचार होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। हो सकता है, तुम मेरी इच्छा रखते हो। तुम बड़े दुष्ट हो, श्री राम को अकेले वन में आते हुए पीछे–पीछे चले आए। अथवा यह भी सम्भव है कि भरत ने तुम को भेजा हो और राम को समाप्त करके मुझे उनके पास ले जाने के लिए।"

इससे पहले कि हम एक बार फिर सीता को दोष दें या उनकी निन्दा करें, हम सोच–विचार करें कि उस परम संकट के समय वे वन में कैसा अनुभव कर रही थीं। वहाँ लक्ष्मण के अतिरिक्त कोई और नहीं था, जिससे वे सहायता माँग सकतीं और लक्ष्मण वहाँ से हिलने को भी तैयार नहीं थे। इस मनमाने तर्क के आधार पर कि श्री राम इतने शक्तिशाली और युद्ध में शस्त्र कुशल थे कि संकट कभी उनके पास भी फटक नहीं सकता था। लक्ष्मण कई बार उनके पराक्रम को परख चुके थे और उनका ऐसा विश्वास होना स्वाभाविक था, परन्तु सीता ने तो विरल ही युद्ध करते हुए उन्हें देखा था। अतएव सीता कैसे समझ सकती थीं कि श्री राम को कभी कोई क्षति हो ही नहीं सकती। लक्ष्मण समझ सकते थे। एक बार यह समझ लेने के पश्चात् कि लक्ष्मण पर कुछ न कुछ दबाव डालना ही होगा, उन्होंने सोचा कि कहना सबसे अच्छी युक्ति होगी– लक्ष्मण को भेजने के लिए, उनके प्रति कटुवचन। ऐसा नहीं कि इस उद्देश्य के लिए, उन्होंने कोई सम्यक् विवेचन किया हो, पर यह विचार उनके मन में सहसा आ गया।

तन्न सिध्यति सौमित्रे तव वा भरतस्य वा।
समक्षं तव सौमित्रे प्राणांस्त्यक्ष्ये न संशय।। III.45.25-26*

* देखिए अ.4, पृ.57.

"जिस परोक्ष अभिप्राय के लिये तुम जाने को तैयार नहीं हो, वह तुम्हारा अथवा भरत का मनोरथ सिद्ध नहीं हो सकता। मैं तुम्हारे सामने ही निस्सन्देह अपने प्राण त्याग दूँगी।"

तत्पश्चात् वे रोने लगीं और इस प्रकार बोलीं, "श्री राम से बिछुड़ जाने के बाद मैं गोदावरी में डूब जाऊँगी अथवा गले में फाँसी लगा लूँगी या पर्वत के ऊँचे शिखर से नीचे कूद जाऊँगी, जलती अग्नि में कूद जाऊँगी, अथवा विषपान कर लूँगी, किन्तु श्री राम के सिवाय किसी अन्य पुरुष का स्पर्श कदापि न ही करूँगी।" इस प्रकार प्रतिज्ञा करके शोकमग्न सीता रोती–रोती अपना पेट पीटने लगी। सीता के ऐसे कठोर वचन सुनकर कुपित लक्ष्मण वहाँ से चल दिए। ऐसी परिस्थिति में बेचारे लक्ष्मण क्या कर सकते थे? उन्होंने भरसक प्रयास किया, उनको समझाने के लिए। परन्तु शोक और विषाद के कारण, विवेक उनसे सर्वथा विदा ले चुका था और इसीलिये उनके मुँह से ऐसे उग्र वाक्य निकले। लक्ष्मण को भी आशंका हुई कि सचमुच कहीं सीता ऐसी हरकत कर न बैठें। वे कुछ भी कर सकती थीं, वे एक दृढ़निश्चय महिला थीं और आत्महत्या के इतने विकल्प उनके पास थे। हम सीता को अधिक दोष नहीं दे सकते। किन्तु मन ही मन हम यही चाहते कि सीता को लक्ष्मण के प्रति इस प्रकार की कठोर भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिये था, यह भलीभाँति जानते हुए कि लक्ष्मण पर ये आरोप सर्वथा मिथ्या है। यद्यपि वे बहुत कुछ कह गईं, उन्हें स्वयं ही उन बातों पर कोई विश्वास न होगा। क्रोधावेश में हम बहुत कुछ अनाप–शनाप बोल जाते हैं और हम शब्दों का प्रयोग बिना तोले कर देते हैं और उन्हें यथार्थ की सीमा में रखने का प्रयास नहीं करते। सीता भी इस दोष से मुक्त न थी। जब हम उनकी मानसिक स्थिति की परिकल्पना करते हैं, तो उन्हें क्षमा भी कर सकते हैं। हम यह कह सकते हैं कि यह सर्वथा उनके लिये उचित होता, यदि वे लक्ष्मण से अन्तिम वाक्य इस प्रकार न बोलतीं। परन्तु इससे अधिक मैं कुछ कहने के लिये तैयार नहीं हूँ।

एक बार हम पुनः देखें कि राम की प्रक्रिया इस प्रसंग में क्या हुई क्योंकि मूल्यांकन की यही सम्यक् कसौटी होगी, जब इस घटना की जानकारी राम को दी गई और वे समझ गए कि लक्ष्मण को कैसे–कैसे कटु उलाहने सहने पड़े थे और किन परिस्थितियों में, उन्हें अपने नियत कर्त्तव्य स्थल को छोड़ कर आना पड़ा। श्री राम ने क्या कहा? निस्सन्देह उन्हें अपनी पत्नी का आचरण तो अच्छा नहीं लगा होगा। अवश्य ही उन्होंने माना होगा कि सीता ने जो कुछ किया वह उचित नहीं था। परन्तु उनका अन्तिम मत क्या था, वह देखने योग्य है। उनका प्रेम सीता और लक्ष्मण के प्रति लगभग बराबर ही था। श्री राम लक्ष्मण को सीता से कुछ अधिक प्यार करते थे, ऐसा सीता का विश्वास था। किन्तु ऐसा नहीं था कि श्री राम के हृदय में प्रच्छन्न रूप से कोई भेदभाव छिपा था। वे तो वही कहते थे, जो न्याय संगत होता था। कम से कम

इतना तो हम राम के लिए स्वीकार कर ही सकते हैं। लक्ष्मण की बात सुनकर राम बोले :

जानन्नपि समर्थं मां रक्षसां विनिवारणे।
अनेन क्रोधवाक्येन मैथिल्या निःसृतो भवान्।। III.59.22

न हि ते परितुष्यामि त्यक्त्वा यदसि मैथिलीम्।
कुद्धायाः परूषं वाक्यं श्रुत्वा यत्त्वमिहागतः।।
सर्वथा त्वपनीतं ते सीताया यत्प्रचोदितः।
क्रोधस्य वशमापन्नो नाकरोः शासनं मम।। III.59. 22-24*

"तुमने ठीक नहीं किया कि तुम सीता को अकेली छोड़कर यहाँ चले आये। अवश्य ही तुम जानते थे कि मैं सब इकट्ठे राक्षसों का भी निवारण करने में समर्थ हूँ। मारीच और एक मृग से मुझे कोई भय नहीं हो सकता। तुम यह भलीभाँति समझते थे। फिर भी तुम सीता के क्रोधयुक्त वचन से उत्तेजित होकर निकल पड़े। क्रोधयुक्त नारी के वचन सुनकर तुम यहाँ चले आए, इससे मैं सन्तुष्ट नहीं हूँ। इसके लिए मैं तुम्हें क्षमा नहीं कर सकता। तुमने अपने नियम कर्त्तव्यस्थल को छोड़ दिया और सीता असुरक्षित रह गई। वह वहाँ संकट में है। तुम चले क्यों आए लक्ष्मण! क्रोधित सीता से प्रेरित होकर क्रोध के वशीभूत होकर, तुमने मेरे आदेश का पालन नहीं किया।"

यह सर्वथा अन्याय है। श्री राम केवल यह कहते हैं कि सीता क्रोध में थी, वे यह नहीं कहते कि उसे ऐसा नहीं कहना चाहिए था। वे लक्ष्मण को ही दोष देते हैं। सीता का कोई दोष नहीं, वह तो विक्षिप्त थीं। "तुम्हारे जैसे व्यक्ति को एक विक्षिप्त व्यक्ति पर क्रोधित नहीं होना चाहिए था।" मेरे विचार में एक टीकाकार ने समझदारी की बात कही है। उसे मैं कुछ संकोच के साथ आपकी स्वीकृति के लिए पेश करता हूँ।* सीता की आत्मघात की धमकी को देखते हुए–सुझाव एक यह है कि सीता के अनुरोध के अनुकूल लक्ष्मण को आश्रम से तो चल देना चाहिए था, कुछ दूर। किन्तु आसपास ही ठहरे रहना था, जिससे सीता को तो यह विश्वास हो जाता कि वे राम की तरफ़ चले गये हैं, परन्तु अधिक दूर नहीं, ताकि आपत्ति के समय वे उनकी रक्षा कर सकें। यह बड़ा सटीक सुझाव है। मेरा अनुमान है कि श्री राम के मन में भी यही बात आयी होगी।

◈◈◈

* इस संदर्भ में गोविन्दराज की टिप्पणी इस प्रकार है : *"कथंचिदसहने बहिरागत्यान्तर्हितो भूत्वा तत्परिपालनं कर्त्तव्यम्। केवलमागनं तवापनीतिरेवेति भावः।'* किन्तु लक्ष्ण के दिमाग़ में यह बात नहीं आई क्योंकि वे स्वयं उत्तेजित हो गए। वे भी क्रोधी स्वभाव के थे अथवा उन्हें ऐसा करना उचित न समझा।

सत्ताईसवाँ अध्याय

सीता

लक्ष्मण के चले आने पर रावण को अवसर मिल गया और वह सन्यासी का वेश धारण करके शीघ्र ही पर्णकुटीर पर सीता के सम्मुख आ गया। उस समय सीता अपने पति की चिन्ता में डूबी हुई थीं। रावण ने सीता के सौन्दर्य की प्रशंसा करके उनका परिचय पूछा। सीता ने अतिथि सत्कार के लिए सभी आवश्यक सामग्रियों द्वारा उसका सत्कार किया। उस समय वे कुछ घबराहट सी महसूस कर रही थीं कि एक सन्यासी का स्वागत और सत्कार उन्हें करना पड़ रहा है। वे चाह रही थी कि अच्छा तो यही होता कि उनके पति और देवर भी वहाँ उपस्थित होते। वे इसी प्रतीक्षा में थीं कि वे शीघ्र ही आ जायेंगे। इसीलिये वे बार बार वन में चारों ओर दृष्टि दौड़ा रही थीं। कवि कहता है कि वे बाहर देख अवश्य रही थीं, किन्तु उन्हें सब ओर हरा–भरा वन ही वन दिखाई दिया, न कि राम लक्ष्मण। इसीलिए वे चिन्ताग्रस्त हो गईं। केवल यही नहीं, अपितु उच्च कोटि के अतिथि का स्वागत घर के पुरुषों द्वारा ही होना चाहिए। निश्चित रूप से उन्हें भय भी था कि वे एक कठिन और संकटपूर्ण अभियान पर गये हुये थे। वे साथ ही साथ यह भी सोच रही होंगी कि कुछ सीमा तक वे स्वयं ही इस परिस्थिति के लिये उत्तरदायी हैं और उनका हृदय पुकार रहा होगा कि किसी प्रकार वे दोनों सकुशल लौट आयें।

ततः सुवेषं मृगयागतं पतिं प्रतीक्षमाणा सहलक्ष्मणं तदा।
विवीक्षमाणा हरितं ददर्श तन्महद्वनं नैव तु रामलक्ष्मणौ।। III.46.37

पहली ही बातचीत में रावण ने सीता से पूछा कि वे कौन हैं। उन्होंने अपना परिचय देना आरम्भ कर किया। अपने वृत्तान्त के बीच सीता द्वारा दिये गये एक वक्तव्य की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। वे बताती हैं कि किस प्रकार कैकेयी द्वारा श्री राम को वन में जाने का आदेश सुनाया गया, श्री राम ने अयोध्या से विदा ली और वे उनके साथ चल दीं और लक्ष्मण भी साथ आ गए। इस समय लक्ष्मण के विषय में वे कहती हैं– स्मरण रहे, अभी थोड़ी देर पहले ही लक्ष्मण उनके पास से गए थे, कुछ गरमा–गरम कहा–सुनी के बाद अब उन्हें दुःख हो रहा था कि लक्ष्मण के प्रति उन्होंने कुछ अशोभनीय बातें कह दी थी, उस घटना को हुए कुछ ही क्षण बीते होंगे– वे कहती हैं :

रामस्य पुरुषव्याघ्रः सहायः समरेऽरिहा।
स भ्राता लक्ष्मणो नाम धर्मचारी दृढव्रतः।
अन्वगच्छद्धनुष्पाणिः प्रव्रजन्तं मया सह।। III.47.19,20

"श्री राम के भाई, लक्ष्मण बड़े पराक्रमी हैं। समरभूमि में शत्रुओं का संहार करने वाले पुरुषसिंह लक्ष्मण श्री राम के सहायक हैं, बन्धु हैं, धर्मचारी और दृढ़वती हैं। मेरे पति, जब राज्य का परित्याग कर, सन्यासी वेश धारण कर वन आने लगे, तब लक्ष्मण हाथ में धनुष लेकर हमारे साथ पीछे–पीछे चल दिए।"

यहाँ सीता लक्ष्मण का वर्णन करते समय दो सारगर्भित विशेषणों का प्रयोग करती हैं, जो अर्थपूर्ण हैं क्योंकि सीता द्वारा कहे गये कठोर वचनों के बाद ही इनका प्रयोग हुआ है। वे उनको एक धर्मचारी और 'दृढ़वत्' की संज्ञा देती है। ये शब्द ऐसे नहीं हैं, जिनका प्रयोग ऐसे व्यक्ति के लिए किया गया हो, जो स्वयं अपने भाई की पत्नी पर लोलुप दृष्टि डालने वाला हो। इससे स्पष्ट होता कि अब उनको अहसास हुआ कि उन्होंने लक्ष्मण के प्रति अनुचित कठोर शब्दों का प्रयोग किया था। हम सबको ध्यान में रखना चाहिए कि कठोर वचनों का प्रयोग करते समय, उनका ध्यान उनके अर्थ पर बिल्कुल न था, अपितु लक्ष्मण को उनकी बात मानने के लिये विवश करने के लिये। इससे अधिक सीता के शब्दों में कोई और अभिप्राय नहीं ढूँढना चाहिए।

तदनन्तर वे कहती हैं कि लौटकर आने पर उनके पति उनका अतिथि सत्कार बड़े उदारता से करेंगे।

आगमिष्यति मे भर्ता वन्यमादाय पुष्कलम्।
रुरून गोधान् वराहांश्च हत्वादायामिषान् बहून्।। III.47.23

"मेरे स्वामी प्रचुर मात्रा में वन में उपलब्ध पदार्थ, भिन्न–भिन्न प्रकार के आहार लेकर आते ही होंगे। रुरू, हरिण, घड़ियाल और जंगली सुअर आदि का वध करके बहुत प्रकार के माँस लेकर अभी आते ही होंगे। उस समय आपका विशेष सत्कार होगा।"

मैं यह अंश यह दिखाने के लिये दे रहा हूँ कि उस समय माँसाहार से वे परहेज़ करते थे, ऐसी कल्पना की कोई गुंजाइश नहीं है। यद्यपि सीता ने माँस की प्रचुरता की बात कही थी, किन्तु, वास्तविकता तो यह थी, जैसे कि कवि ने कुछ पहले ही बता दिया था, कि उस दिन जब श्री राम के बाण ने मृगरूपधारी मारीच के हृदय को विदीर्ण कर दिया, उसने मृगरूप कृत्रिम शरीर का त्याग कर राक्षस रूप धारण कर लिया और "हा सीते! हा लक्ष्मण!" कहकर पुकार लगाई। यह देखकर श्री राम सीता और लक्ष्मण की ओर से चिन्तित हो गए थे। उसके शब्द सुनकर श्री राम को आशंका हुई कि आश्रम में कुछ अनिष्ट न हो जाये। अतएव, वे शीघ्र ही लौटना चाहते थे। उस प्रकार की प्रचुर खाद्य सामग्री लाने का समय नहीं था। अतएव, कवि बताता है :

निहत्य पृषतं चान्यं मांसमादाय राघवः।
त्वरमाणो जनस्थानं संसाराभिमुखास्तदा।। III.44.28

वे उस लोकविलक्षण चित्तकबरे मृग का वध करके और अन्य माँस लेकर श्री राम तत्काल ही जनस्थान के निकटवर्ती पंचवटी में स्थित अपने आश्रम की ओर उतावली के साथ चले। उस दिन राम केवल एक पृषत चितकबरा मृग ही लाये।

अब हम इस दृश्य के दूसरे भाग पर आते हैं। जब सीता द्वारा पूछने पर, रावण अपने आपको प्रकट करता हैं और उनको अपनी भार्या बनाने की घृणित कामना व्यक्त करता है। सीता अनियन्त्रणीय क्रोधावेश में उस पर बरस पड़ती हैं। वह अंश, जिसमें वे फटकार सुनाती हैं, अत्यन्त अलंकार युक्त हैं। कवि पुनरावृत्ति वैचित्र्य का प्रयोग करता है अर्थात् एक ही वाक्यांश बार–बार दोहराया गया है। पाठकों पर तो इसका प्रभाव नीरस ही कहा जा सकता है। अतएव, जैसी की अपेक्षा की जा सकती है, इसमें परिपक्वता, प्रौढ़ता काव्य सौन्दर्य एवं विचारों की गम्भीरता का सर्वथा अभाव है। इसका प्रयोग केवल रावण को फटकार सुनाने के लिए ही किया गया है। मैं स्वयं नहीं मानता कि इस अंश को पढ़कर आप विश्वास के साथ दावा करेंगे कि सीता ने सचमुच ऐसी अलंकृत उपमाओं, रूपकों तथा आलंकारिक पुनरावृत्ति का प्रयोग किया होगा। यह तो केवल एक कुपित नारी की कवि कल्पना है, जो अपनी आत्मरक्षा हेतु अपनी वाग्मिता की पूरी परकाष्ठा तक उठ जाती है।

रावण के पापपूर्ण मनोभावों से व्यथित होकर सीता निस्संकोच और निर्भीक होकर उसे मुँहतोड़ उत्तर देने लगीं। उनके शब्द क्रोध व तिरस्कार से परिपूर्ण थे, "पापी निशाचर! तू तो उनके सामने एक सियार है और में एक सिंहनी हूँ। मैं तेरे लिए सर्वथा अलभ्य हूँ, इसका क्या तुझे अहसास नहीं? क्या तू मुझ जैसी श्री राम की पतिव्रता और सुयोग्य सहचरी को प्राप्त करने की तुच्छ इच्छा रखता है? अरे! जैसे सूर्य को प्रभा पर कोई हाथ नहीं लगा सकता, उसी प्रकार तू मुझे छू भी नहीं सकता। अभागे राक्षस, तेरा इतना साहस! तू श्री राम का प्रिय पत्नी का अपहरण करना चाहता है? निश्चय ही तुझे सोने के वृक्ष दिखाई देने लगे हैं। कहा जाता है, ऐसा मृत्युदंडित व्यक्तियों के साथ होता है। अपने दुस्साहस के कारण अब तू मौत के निकट आ पहुँचा है। तू श्री राम की पत्नी को हस्तगत करना चाहता है। ऐसा जान पड़ता है कि तू अत्यन्त वेगशाली मृगवैरी भूखे सिंह और फुंकारते हुए विषधर सर्प के मुख से उनके दाँत तोड़ना चाहता है, पर्वत श्रेष्ठ महान मन्दराचल को अपने दुर्बल हाथ से ले जाने की इच्छा रखता है तथा आँख को नुकीली सुई से पोंछता और छुरे को जीभ से चाटता है। क्या तू गले में पत्थर बाँधकर समुद्र को पार करना चाहता है? सूर्य और चन्द्रमा, दोनों को अपने हाथ से हर लेने की इच्छा रखता है, जो तू श्री राम की पत्नी पर बलात्कार करने पर उतारू हुआ है? यदि तू श्री राम की कल्याणवृत्त भार्या का अपहरण करना चाहता है, तो अवश्य ही जलती हुई आग को देखकर भी तू कपड़े में

बाँधकर ले जाने की इच्छा रखता है। अरे! तू श्री राम की भार्या, जो सर्वथा उनके ही योग्य है, हस्तगत करना चाहता है, तो निश्चय ही तू लोहे के नुकीले मुखवाले शूलों के बीच चलने की अभिलाषा रखता है। जो अन्तर वन में रहने वाले सिंह और सियार में है, जो अन्तर समुद्र और एक छोटी नदी में है, जो अन्तर अमृत और जौ कि कांजी में हैं, वही अन्तर राघव और तुझमें हैं। जो अन्तर सोने और सीसे में हैं, जो अन्तर चन्दन मिश्रित जल और कीचड़ में है, जो अन्तर हाथी और बिलाव में हैं, वही अन्तर दशरथ नन्दन श्री राम और तुझमें है। गरुड़ और कौवे में, मोर और जल काक में तथा वनवासी हँस और गृध में, जो अन्तर है, वही अन्तर दशरथनन्दन श्री राम और तुझमें है। जब सहस्त्र नेत्रधारी इन्द्र के समान प्रभावशाली श्री राम हाथ में धनुष और बाण लेकर खड़े हो जायेंगे, उस समय तू मेरा अपहरण करके भी मुझे पचा नहीं सकेगा, ठीक उसी प्रकार, जैसे मक्खी घी पीकर उसे पचा नहीं सकती।"

आपको याद ही होगा कि जब सीता रावण द्वारा आकाश मार्ग से ले जाई जा रही थीं, उन्होंने पम्पा सरोवर के ऊपर से जाते हुए, पर्वत शिखर पर पाँच वानरों को बैठे देखा। उस समय भी सीता में इतनी सुध–बुध थी कि उन्होंने यह सोचकर कदाचित् श्री राम उनकी खोज करते–करते उधर आये, तो ये वानर श्री राम का समाचार कह सकेंगे कि भाग्य ने उनके साथ क्या खेल खेला! उन्होंने अपनी रेशमी चादर उतारी और कुछ वस्त्र और आभूषण ाख कर उन वानरों के बीच फेंक दिए। कदाचित् रावण बड़ी घबराहट के कारण यह कार्य न देख सका। मैं इन बातों का उल्लेख यह दिखाने के लिए कर रहा हूँ कि संकट से समय भी वे एक प्रबुद्ध नारी थीं। वे भली प्रकार जानती थी कि किस स्थिति में क्या करना चाहिए। तदनन्तर रावण उन्हें राक्षसियों को सुपुर्द करके अशोक–वाटिका में ले जाने का आदेश देता है। रावण राक्षसियों को इस प्रकार आदेश देता है :

तत्रेनां तर्जनैर्घोरैः पुनः सान्त्वैश्च मैथिलीम्।
आनयध्वं वशं सर्वा वन्यां गजवधूमिव।। III.56.31

"निशाचरियों! पहले तो भयंकर गर्जन–तर्जन करके इसे डराना, धमकाना, फिर मीठे–मीठे वचनों से समझा–बुझाकर जंगल की हथिनी की भाँति इस सीता को तुम सब वश में लाने की चेष्टा करना। जैसे भी हो, किसी न किसी प्रकार इसका दिमाग़ ठिकाने पर लाओ, जिससे वह मेरी इच्छापूर्ति के लिए मान जाये।"

हम कल्पना कर सकते हैं कि इस समय से लेकर हनुमान के आगमन तक लगभग दस महीनों के अन्तराल में रावण बराबर सीता से मिलने आता रहा होगा और सभी प्रकार से यातना देता होगा। कवि ने हमारी जानकारी के लिए कुछ थोड़े से ही दृश्यों का वर्णन किया है, तथापि जो संताप बेचारी सीता ने लगातार झेले होंगे, उन्हें हमें बताने में पर्याप्त हैं। कल्पनातीत है कि कवि उनका वर्णन किस प्रकार कर पाया है या आप और हम इसके बारे में सोचते हैं, जिनको केवल छोटी–छोटी घटनाओं,

उतार–चढ़ावों की जानकारी है, जिनके कारण सीता ने इतने आँसू बहाये होंगे। यद्यपि वह वाटिका अत्यन्त रमणीय थी, परन्तु वहाँ आने पर सीता के अंग–अंग में शोक व्याप्त हो गया।

सा तु शोकपरीताङ्गी मैथिली जनकात्मजा।
राक्षसीवशमापन्ना व्याघ्रीणां हरिणी यथा।।
शोकेन महता ग्रस्ता मैथिली जनकात्मजा।
न शर्म लभते भीरुः पाशबद्धा मृगी यथा।। III.56. 34,35

राक्षसियों के वश में पड़कर उनकी दशा बाघिनियों के बीच में घिरी हुई हरिणी के समान हो गई। महान शोक से ग्रस्त हुई सीता जाल में फँसी हुई मृगी के समान भयभीत होकर क्षणभर के लिये भी चैन नहीं पाती थी।

ये दो श्लोक, जो कि पूरे सर्ग के प्रतिनिधि हैं, दो उपमायें हैं। हमारा कवि उपमाओं का धनी है। कोई भी स्थिति हो वह अधिक से अधिक सम्भव तुलनाओं और दृष्टान्तों के प्रयोग बिना उनका वर्णन नहीं करता। ऐसा प्रतीत होता है कि ये स्वाभाविक रूप से उसके मुँह से झड़ती हो। एक बार जब बात बहुत बढ़ गई और रावण द्वारा दी गई यातनायें वर्णनातीत और असहनीय हो गई, वे एक लम्बे श्लोकों के सर्ग में स्वगत कथन द्वारा अपने भाव व्यक्त करती हैं (सुन्दर कांड 28)। अरण्य कांड के उस अलंकारयुक्त अंश, जिसको मैंने अभी दिया है, वर्णन की दृष्टि से भारी वैषम्य है। यह वाग्मिता की उच्च श्रेणी तक पहुचँ जाता है और इसमें विविध रसों का मिश्रण है, जो निस्सन्देह करुण रस के ही रूप भेद हैं। इसमें शोक है, निर्वेद और नैराश्य हैं, उपालम्भ हैं, और अन्त में, आत्महत्या करने का संकल्प भी हैं।

रावण के उन वचनों को सुनकर सीता भय, शोक और क्षोभ में डूब गईं, जैसै वन में सिंह के पंजे में पड़ी हुई कोई गजराज की बच्ची। उन उजड्ड राक्षसियों के बीच उनकी बार–बार धमकी और रावण द्वारा फटकारी गई भीरु स्वभाव वाली सीता निर्जन एवं बीहड़ वन में माता–पिता द्वारा छुटी हुई अल्पव्यस्क सुकोमल बालिका के समान विलाप करने लगीं। मन ही मन वे कहती हैं, "सन्तजन ठीक ही कहते हैं कि बिना समय आये किसी की मृत्यु भी नहीं आती! इसीलिए तो मैं पुण्यहीना नारी इतनी धमकियों के बावजूद भी जीवित हूँ। मेरा हृदय सुख रहित, सन्ताप भरा होने पर भी, निश्चय अत्यन्त दृढ़ हैं। इसीलिए इन्द्र के वज्र द्वारा मारे हुए पर्वत शिखर की भाँति इसके सहस्त्र टुकड़े नहीं हो गये। मैं इस दुष्ट रावण के हाथ से मारी जाने वाली हूँ, इसलिए यहाँ आत्मघात करने में भी कोई दोष नहीं लगता। कुछ भी हो, जैसे द्विज किसी अद्विज को वेदमंत्र का उपदेश नहीं दे सकता, उसी प्रकार मैं भी इस निशाचर को अपने हृदय का अनुराग नहीं दे सकती। हाय! लोकनाथ श्री राम के आने से पूर्व ही यह दुष्ट राक्षस अपने तीखे शस्त्रों से मेरे अंग–अंग के टुकड़े कर डालेगा, ठीक वैसे

ही जैसे एक शल्य चिकित्सक (किसी विशेष अवस्था में) गर्भस्थ शिशु को टूक–टूक कर देता है। मैं बड़ी दुखिया हूँ। दु:ख की बात है कि मेरी अल्प अवधि के ये दो महीने भी जल्दी ही समाप्त हो जायेंगे। राजा के कारगार में क़ैद हुए फांसी की सजा पाने वाले चोर की जो दशा होती है, वही मेरी भी है। हा राम! हा लक्ष्मण! हा सुमित्रे! हा कौसल्ये! और हा मेरी माताओं! जिस प्रकार बवंडर में पड़ी हुई नौका महासागर में डूब जाती है, उसी प्रकार मन्दभागिनी सीता प्राण संकट की दशा में पड़ी हुई है। निश्चय ही किसी अपवित्र भूत–प्रेत आत्मा ने मृगरूप धारण करके मेरे कारण ही उन दोनों राजकुमारों की हत्या कर दी होगी, जिससे वे मुझे छुड़ा न सकें। जैसे दो सिंह वज्रपात से मार दिए जाते हैं, वही दशा उनकी भी हुई होगी। अब मेरी समझ में आया, अवश्य ही उस समय शत्रु काल ने ही मृग का रूप धारण करके मुझको लुभाया, जिससे प्रभावित होकर मुझ मूढ़ नारी ने उन दोनों आर्यपुत्रों को अशोभनीय बातें कहकर मृग के पीछे भेज दिया। हा सत्यव्रती महाबाहु श्री राम! हा पूर्ण चन्द्रमा की कान्ति के समान मुख वाले रघुन्नदन! हा जीव–जगत के हितैषी प्रियतम! आपको पता नहीं है कि मैं राक्षसों के हाथ मारी जाने वाली हूँ। मेरी यह अनन्योपासना, क्षमा, भूमिशयन, धर्म सम्बन्धी नियमों का पालन, पतिव्रतपरायणता सभी कृतघ्न व्यक्तियों के प्रति किये गये उपकारों की भाँति निष्फल हो गए। यदि मैं अत्यन्त कृश और कान्तिहीन होकर आपके दर्शन न कर सकूँगी, तो निराश होकर मुरझा जाऊँगी, निरन्तर विरूप और उदासीन रहने से। यह धर्म भी मेरे लिए व्यर्थ हो गया और पत्नीव्रत भी काम न आया। हाय! मैं तो इस शोक सन्तप्त दुर्दशा में ही समाप्त हो जाऊँगी। मैं समझती हूँ, आप नियमानुसार चौदह वर्ष पूर्ण करके, पिता की आज्ञा का पालन करके और अपने व्रत का पालन करके जब वन से लौटेंगे, तब निर्भय और बहुत सी सफल मनोरथ हो सुन्दरियों के साथ विवाह करके आप उनके साथ स्मरण करेंगे। किन्तु श्री राम! मैं तो केवल आपकी ही अनुरागिनी हूँ। मेरा हृदय चिरकाल तक केवल आपसे ही बँधा रहेगा। अब तक मैंने तप, व्रत आदि, जो कुछ भी किया, वह सब कुछ मेरे लिए व्यर्थ सिद्ध हुआ है। उस अभीष्ट फल को न देने वाले धर्म का आचरण करके अब मुझे प्राणों का परित्याग करना पड़ेगा। बाल्य काल से ही मेरा मन तुम्हें समर्पित हो चुका था, अनेक वर्ष पूर्ण आनन्द एवं सन्तोष के साथ तुम्हारे संग व्यतीत किये। कौन सा कष्ट और सन्ताप ऐसा था, जिसे मैंने नहीं झेला? अब मैं अकेली ही निस्सहाय मर जाऊँगी। इस दुर्भाग्य को क्यों अब देर तक चलने दूँ? मैं शीघ्र ही किसी तीखे शस्त्र तथा विषपान करके क्यों न अपने जीवन का अन्त कर दूँ? परन्तु इस आरक्षित स्थान में मुझे कोई विष या शस्त्र देने वाला भी नहीं है।" इस प्रकार रोती–बिलखती अपने भाग्य को कोसती हुई, काँपते हुए कृश शरीर, लटके हुए मुख, कान्तिहीन आकृति वाली सीता, जिसका चित्त केवल राम में ही लगा हुआ था, एक दूर तक फैले हुए पुष्पित शिंशपा वृक्ष की ओर चल दीं। सीता उस अशोक–वृक्ष के निकट उसकी शाखा पकड़कर खड़ी हो गईं। शोक और नैराश्यग्रस्त

सीता ने बहुत सोच–विचार के बाद अपने कुछ केश लेकर अपने गले में बाँध लिये और फंदा लगा लिया और दृढ़ संकल्प भाव से मन ही मन में सोचने लगीं, "इसी प्रकार मैं अब शीघ्र ही यमराज के पास पहुँच जाऊँगी।" इस प्रकार शान्तभाव से प्राण त्याग के लिये उद्यत होकर जब वे श्री राम, लक्ष्मण और अपने कुल के विषय में विचार करने लगीं, उस समय एक चमत्कार हुआ। सीता के समक्ष ऐसे कुछ लोकप्रसिद्ध श्रेष्ठ शकुन प्रकट हुए, जो शोक की निवृत्ति करने वाले और सान्त्वना देने वाले थे मानो यह सन्देश दे रहे हों, "सौभाग्य अब दूर नहीं।" इन शकुनों का दर्शन और उनके शुभ फलों का अनुभव उन्हें पहले भी हो चुका था।

अब मैं आपको कुछ चटपटी बातें बताने जा रहा हूँ, परन्तु कुछ थोड़ी–सी ही, जो इस विशाल भंडार में से बटोरा जा सकती हैं, जिनमें कुछ महत्त्वपूर्ण भी हैं, जिनका यदा–कदा लोग उद्धरण देते हैं। जैसे कि सब जानते हैं, ऐसी मान्यता हैं कि एक सच्चरित नारी का सतीत्व अग्नि के समान है। उसमें अग्नि सदृश शक्ति है और वह किसी भी व्यक्ति को जलाकर राख कर सकती है, जो उसका बलात्कार या अपमान करने का दुस्साहस करता हो। ऐसा विश्वास हमारे साहित्य में परम्परागत है। कुछ लोग तो इसे अक्षरशः सत्य मानते हैं और कहते हैं और ऐसा लिखते भी हैं कि सीता में सतीत्व की अग्नि व्याप्त थी और यदि वह चाहतीं, तो स्वयं ही अपने कष्टों का अन्त कर सकती थीं। वे ऐसी धारणा से परिचित थे और उन्हें ऐसा विश्वास भी था। परन्तु लंका से लौटने पर हनुमान वानरों से इस प्रकार कहते हैं :

सर्वथातिप्रवृद्धोऽसौ रावणो राक्षसाधिपः।।
तस्य तां स्पृशतो गात्रं तपसा न विनाशितम्।। V.59.3,4

"रावण सर्वथा महान तपोबल सम्पन्न जान पड़ता है, जिसका दुष्ट इरादे से अंग सीता का स्पर्श करते समय उनकी तपस्या से नष्ट नष्ट नहीं हो गया।" वे आगे भी कहते हैं :

नियतः समुदाचारो भक्तिर्भर्तरि चोत्तमा।
यन्न हन्ति दशग्रीवं स महात्मा दशाननः।।
निमित्तमात्रं रामस्तु वधे तस्य भविष्यति।। V.59.34,35

"सीता में सुदृढ़ सदाचार विद्यमान है, अपने पति के प्रति अनन्य भक्ति है। यदि सीता के सतीत्व की अग्नि ने रावण को नहीं जलाया, इससे प्रतीत होता है, रावण महात्मा है। किन्तु, फिर भी उसकी तपस्या द्रुतगति से क्षीण हो रही है। सीता हरण के पाप से तो वह नष्टप्राय ही है। जब राम अपना बदला लेने यहाँ आयेंगे, उन्हें उसके वध में केवल एक बाण चलाने की ज़रूरत है, क्योंकि वह दुष्टता पर उतारू है और सीता को इतना सता रहा है कि उसका तपस क्षीण हो रहा है। श्री राम के आने पर तो वह केवल आकृति मात्र ही रह जायेगा।"

ज़रा देखें, सीता इस सम्बन्ध में क्या कहती हैं। इस विषय में सीता की एक उक्ति है, जो प्रासंगिक है :

असन्देशात्तु रामस्य तपसश्चानुपालनात्।
न त्वां कुर्मि दशग्रीव भस्म भस्मार्हतेजसा।। V.22.20

जब रावण सीता को दस मास की अवधि देता है, वे उसे फटकारती हैं। वे कहती हैं, "दशमुख रावण! क्योंकि मेरा तेज ही तुम्हें भस्म करने के लिए पर्याप्त हैं। यदि मैं चाहूँ, तो तुम्हारे विरुद्ध उसका प्रयोग करूँ। परन्तु मैं ऐसा नहीं कर रही हूँ क्योंकि मैं अपना तपोबल सुरक्षित रखना चाहती हूँ। इसके अतिरिक्त श्री राम का कोई आदेश भी नहीं मिला हैं कि मैं अपनी प्रतिरक्षा स्वंय करूँ। यह भार उन्ही पर हैं कि वे स्वंय आकर मुझे बचायें। मुझे अपना बचाव अपने आप नहीं करना चाहिए।" इससे स्पष्ट है कि उन्हें पूर्ण विश्वास था कि अन्ततः उन्हें बचा लिया जायेगा।

सीता की एक और विशेषता भी प्रकट होती है। वे स्वभाव से अत्यन्त कोमल थीं। प्रायः करुणा और दया से परिपूर्ण होने के कारण वे एक मक्खी को भी क्षति पहुँचाना नहीं चाहती थीं। फिर भी दिन–दिन, घंटे–घंटे रावण के कारागार में कष्ट सहते–सहते और इन राक्षिसयों द्वारा संत्रस्त होते–होते, वे एक दिन फूट पड़ती हैं।

यादृशानीह दृश्यन्ते लङ्कायामशुभानि वै।
अचिरेणैव कालेन प्राप्स्याम्येव मनोरथम्।।
नूनं लङ्का हते पापे रावणे राक्षसाधमे।
शोषं यास्यति दुर्धर्षा प्रमदा विधवा यथा।।
नूनं राक्षसकन्यानां रुदन्तीनां गृहे गृहे।
श्रोष्यामि नचिरादेव दुःखार्तानामिह ध्वनिम्।।
सान्धकारा हतहोता हतराक्षसपुङ्गवा।
भविष्यति पुरी लङ्का निर्दग्धा रामसायकैः।। V.26.26,27,29,30

"अब समय शीघ्र आने वाला है, जब कि मेरा यह मनोरथ पूर्ण होगा। तुम सबका यह दुराचार तुम्हारे लिए शीघ्र ही विपरीत परिणाम उपस्थित करेगा, ऐसा स्पष्ट जान पड़ता है। लंका में जैसै–जैसै अशुभ लक्षण दिखाई दे रहे हैं, उससे प्रतीत होता है कि यह सब चमक–दमक नष्ट हो जायेगी। पापाचारी रावण के वध के उपरान्त यह दुर्धर्ष लंका भी निश्चय ही विधवा की भाँति सूख जायेगी। निश्चय ही मैं बहुत शीघ्र ही घर–घर से आतुर राक्षस कन्याओं की क्रन्दन ध्वनि सुनूँगी। क्योकि प्रत्येक कोई न कोई राक्षस युद्ध के लिए जायेगा और मारा जायेगा चारों और दुःख ही दुःख व्याप्त होगा। श्री राम के बाणों से दग्ध होने के कारण समस्त लंकापुरी की प्रभा नष्ट हो जायेगी। इसमें अन्धकार छा जायेगा और यहाँ के सभी प्रमुख राक्षस काल के गाल में चले जायेंगे।"

अपनी व्यथा के कारण सीता ने अपने मस्तिष्क में लंका की दुर्दशा का ऐसा चित्र बनाया। यह सर्वथा स्वाभाविक ही है। आपको या हमें उनको दोष देना उचित नहीं है।

क्या हम सीता को दोष दे सकते हैं? एक अन्य प्रसंग में भी, जब हनुमान सीता से बड़ी स्नेहमयी विदा लेकर चलने लगे, विदाई के समय सीता ने हनुमान से एक रात रुकने का अनुरोध किया। यह प्रसंग अयोध्या कांड के उस अंश की याद दिलाता है, जब दशरथ ने श्री राम से एक रात रुकने का अनुरोध किया था। जैसे श्री राम ने दशरथ की बात नहीं मानी, वैसे ही हनुमान ने सीता के अनुरोध का पालन नहीं किया। हनुमान के जाते ही राक्षसियों की नींद खुली और उनके कान में वार्तालाप की कुछ भनक पड़ चुकी थी, कदाचित् उन्होंने हनुमान और सीता के वार्तालाप का कुछ अंश सुन भी लिया हो। उन्होनें सीता से पूछा, "यह वानर कौन है, जिससे तुम अभी–अभी बातें कर रही थी? वह तो कोई आफ़त का परकाला मालूम होता है। वह सब वृक्षों का नाश रावण के वनों को क्षति पहुँचाता फिरता है।" सीता ने उत्तर इस प्रकार दिया :

अथाब्रवीत्तदा साध्वी सीता सर्वाङ्गसुन्दरी।
रक्षसां भीमरूपाणां विज्ञाने मम का गतिः।।
यूयमेवाभिजानीत योऽयं यद्वा करिष्यति।
अहिरेव ह्यहेः पादान् विजानाति न संशय।।
अहमप्यस्य भीतास्मि नैनं जनामि को न्वयम्।
वेद्मि राक्षसमेवैनं कामरूपिणमागतम्।। V.42.8-10

"अपनी इच्छानुसार रूप धारण करने वाले राक्षसों को समझने या पहचानने का मेरे पास क्या साधन है? तुम्हीं जानो यह कौन है और क्या करेगा? साँप के पैरों को साँप ही पहचानता है, इसमें संशय नहीं (यह कहावत उस समय सुज्ञात होगी)। मैं भी इसे देख कर बहुत डरी हुई हूँ। मुझे नहीं मालूम यह कौन है। मैं तो इसे इच्छानुसार रूपधारी कोई राक्षस ही समझती हूँ।"

प्रत्यक्षतः यह सफ़ाई को छिपाना था, इसमें संशय नहीं। इस पर काफ़ी वाद–विवाद भी हुआ है। मैं तो यही समझता हूँ कि सीता के लिए सफ़ाई देने की उत्सुकता के लिये लोगों ने अनेक प्रकार की दलीलें दी हैं। एक वर्ग कहता है कि इस श्लोक में प्रच्छन्न अर्थ निहित है, जो सत्य है और वही सीता का आशय भी था। वे बड़ी चतुराई से इस अंश में से शब्दों को तोड़–मरोड़कर और कुछ अंशों की अपेक्षा करके अन्ततः ऐसा अर्थ तैयार कर देते हैं, जो न तो प्रासंगिक है, न ही तर्कसंगत, न ही सीता के लिए शोभनीय। अन्य मानते हैं कि सीता का कथन असत्य था, किन्तु वे पूछते हैं कि क्या सीता राक्षसियों को सच्चाई बताने के लिये बाध्य थीं? मैं नहीं कहता कि वे बाध्य थीं। किन्तु, वे अप्रत्यक्षतः स्वीकार करते हैं कि यह असत्य था। उनका मत है कि उनका ऐसा करना स्मृतिसम्मत था, जिसके अनुसार कुछ पाँच परिस्थितियों में व्यक्ति असत्य बोल सकता है और उसे पाप नहीं लग सकता। यदि इन पाँच परिस्थितियों को देखें,

तो पता चलता है कि वे इतनी लचीली हैं कि दुनिया में आज तक बोले गए सभी असत्यों को ढक सकती है। मैं एक उदाहरण दूँगा, जो कि इस सन्दर्भ में प्रासंगिक है।

विवाहकाले रतिसंप्रयोगे प्राणात्यये सर्वधनापहारे।
विप्रस्य वार्थेऽप्यनृतं वदेयुः पञ्चानृतान्याहुरपातकानि।।

"आप झूठ बोल सकते हैं, यदि इससे आप एक ब्राह्मण को बचा सकते हो ('मृत्यु से, पहले इसका आशय यह ही रहा होगा। बाद में, किसी ब्राह्मण के हित या कल्याण के लिये')। किसी पुरुष के लिये पत्नी अथवा किसी कन्या के लिये पति ढूँढने के लिये आप झूठ बोल सकते हैं।"

निस्सन्देह जीवन जटिल है और नई–नई समस्यायें उठती रहती हैं। हो सकता है, जिस व्यक्ति को आप बचाना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में आप पाठकों को बदल कर '*विप्रस्य चार्थे*' की बजाय '*मित्रस्य चार्थे*' कर सकते हैं। टीकाकार ने यहाँ सीता के बचाव के लिए इसी वर्णन का आश्रय लिया है।

आप और हम यह प्रश्न उठा सकते हैं कि क्या, कहाँ और कब हनुमान का उपनयन संस्कार हुआ था और क्या उनको 'ब्राह्मण' कहा जा सकता है? तथ्य तो यह है कि सीता भी वैसा आचरण कर रही थीं, जैसा कोई विपत्ति में फँसा हुआ व्यक्ति करता है। जब स्वयं हमारा जीवन संकट में है, उस समय कोई भी आचरण संहिता काम नहीं आती। उस समय हम कुछ भी कर सकते हैं। आत्मरक्षा की मूलवृत्ति किसी भी नैतिक निर्देश से अधिक बलवान होती है। हम सरलतम सम्भव उपाय से उस उपस्थित संकट निकले का प्रयास करते हैं। यह एक प्राकृतिक नियम है, जिससे कोई अछूता नहीं रह सकता। वाल्मीकि भी नहीं चाहते थे कि उनके नायक और नायिकायें इस नियम के अपवाद हों। वे उनको मानवीय रूप में ही दर्शाते हैं। इस विषय में एक शब्द और है। उस समय सीता स्वयं तो विपत्ति में फँसी हुई नहीं थी, न ही उन्हें स्वयं को बचाने का कोई उद्देश्य था। परन्तु, हनुमान तत्काल ही उनके पास से गए थे और उनके वार्तालाप की भनक राक्षसियों को लग गई थी। उन्हें अपनी सहज–भावना से ऐसा लगा कि हनुमान को रावण के कोप की आशंका थी। ऐसी विपदा के समय उनके लिए सरलतम मार्ग अपनाना क्या अस्वाभाविक था? हनुमान की रक्षा करना उनका परम कर्त्तव्य था। उस परम संकट के समय, जैसा कि वे स्वयं को बचाने के लिए करती, उन्होंने वैसा ही किया। हनुमान, जो उन्हें बचाने के लिए अपनी सुरक्षा की परवाह किए बिना आये थे, उनके लिये ऐसा करना सर्वथा उचित था। यह दुर्भाग्य की बात है कि असत्य केवल संकट के समय ही नहीं बोला जाता, जब वह आवश्यक होता है। इस स्थिति विशेष में सीता झूठ का आश्रय लिए और राक्षसियों को गुमराह करे बिना भी काम चला सकती थीं, क्योंकि जिस व्यक्ति जिस व्यक्ति की वे सुरक्षा में तत्पर थीं, वह स्वयं अपने को बचाना ही नहीं चाहता था! जब वे राक्षसियों से बातचीत

कर रही थीं, ठीक उसी समय, हनुमान लंका की वीथियों में घूम–घूम कर और चिल्ला–चिल्लाकर कह रहे थे, "मैं सुग्रीव का सेवक हनुमान हूँ, राम का दूत हूँ। मैं इस नगरी को ध्वस्त कर दूँगा। यदि सहस्त्रों रावण भी मेरे सामने आ जायें, तो मैं उनकी चटनी बना दूँगा।" इस दृष्टि से तो यह कथन सीता का सत्य से विचलन ही था, जो सर्वथा अनावश्यक ही था। परन्तु यह जीवन का यथार्थ है। मैं समझता हूँ कि कवि ने यहाँ जीवन के अन्धेरे और उजाले दोनों की गहराइयाँ प्रदर्शित की है। वह अपनी मर्मज्ञता जीवन का एक अत्यन्त तीक्ष्णदृष्टि अध्येता है। वह केवल इतना बताता है कि हममें से श्रेष्ठ व्यक्ति भी, जो नैतिक शिखर पर पहुँच चुके हैं, चरम प्रलोभन के क्षण में अपने आदर्शों से गिर सकते हैं और उस पतन से बचा भी जा सकता था। गोविन्दराज साथ–साथ स्मृति श्लोक '*मित्रस्य चार्थे*' उद्धृत कर कहते हैं, '*इति स्मरणादसत्योक्ति*' (यह स्मृति के अनुसार असत्योक्ति है।)।" नागेशभट्ट लिखते हैं, "*वैदेह्या वचनमज्ञानप्रतिपादकम्। अनेनात्मत्राणदौ मृषावादो न दोषेयति ध्वनितम्,*" इससे हनुमान के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में सीता का अज्ञान ही प्रदर्शित होता है। मेरे विचार से ये टिप्पणियाँ बिल्कुल स्पष्ट है। इनकी उपेक्षा कर पाठ में कोई प्रच्छन्न अर्थ ढूँढने की आवश्यकता नहीं है। अन्य स्पष्टीकरण को गढ़ने का प्रयत्न भी अस्वाभाविक है।

हनुमान के सन्दर्भ में मैंने लंका दहन का उल्लेख किया था। सीता से मिलने के उपरान्त हनुमान ने लंका में काफ़ी उत्पात मचाया। अन्ततः इन्द्रजित द्वारा बनाये जाकर वे रावण के दरबार में पहुँचाये गए। रावण के आदेशानुसार राक्षसों ने हनुमान की पूँछ में आग लगाकर, लंकापुरी में घुमाना आरम्भ किया। राक्षसियों ने सीता को यह समाचार दिया। यह सुनकर सीता शोक से सन्तप्त हो गई और मन ही मन हनुमान के कुशल प्रेम की मंगल कामना में संलग्न हो गईं।

उपतस्थे विशालाक्षी प्रयता हव्यवाहनम्।
यद्यस्ति पतिशुश्रूषा यद्यस्ति चरितं तपः।।
यदि वास्त्येकपत्नीत्वं शीतो भव हनूमतः।
यदि कश्चिदनुक्रोशस्तस्य मय्यस्ति धीमतः।।
यदि वा भाग्यशेषो मे शीतो भव हनूमतः।
यदि मां वृत्तसम्पन्नां तत्समागमलालसाम्।।
स विजानाति धर्मात्मा शीतो भव हनूमतः।
यदि मां तारयेदार्यः सुग्रीवः सत्यसङ्गरः।।
अस्माद्दुःखाम्बुसंरोधाच्छीतो भव हनूमतः। V.53.28-32

हनुमान के अनजाने, वे अग्नि से प्रार्थना करने लगीं। जब उन्होंने लंका दहन की घटनाओं को सुना, वे अपने उद्धारक के लिए प्रार्थना करने लगीं, "अग्नि देव! यदि मैंने पति की सेवा की है, यदि मुझमें कुछ भी तपस्या तथा पातिव्रत्य शक्ति है, तो तुम हनुमान के लिए शीतल हो जाओ। यदि बुद्धिमान श्री राम के मन में मेरे लिए

किंचिन्मात्र भी दिया है, अथवा मेरा सौभाग्य शेष है, तो तुम हनुमान के लिए शीतल हो जाओ। यदि धर्मात्मा श्री राम मुझे सदाचार सम्पन्न और मिलन के उत्सुक जानते हैं, तो तुम हनुमान के लिए शीतल हो जाओ। यदि सत्य प्रतिज्ञ आर्य सुग्रीव के उद्धारक मेरा इस दुःख से उद्धार कर सकें, तो तुम हनुमान के लिए शीतल हो जाओ।"

ये प्रसिद्ध श्लोक हैं और विशेष रूप से मैं आपका ध्यान इनकी ओर दिलाना चाहता हूँ, जिससे आपको ऐसा न लगे कि मैं मूल पाठ को सरसरी ढंग से दे रहा हूँ और उन अंशों को छोड़ रहा हूँ, जिन पर पूर्ववर्ती पाठकों ने अपने ध्यान केन्द्रित किया है और जिन पर आप चाहेंगे कि मैं अब आपका ध्यान दिलाऊँ।

आपको स्मरण होगा कि जब मैंने त्रिजटा के स्वप्न का उल्लेख किया था। जब राक्षसियाँ सीता को बहुत उत्पीड़ित कर रही थीं, वे दारुण व्यथा से सन्तप्त और शोकातुर थीं। उस समय त्रिजटा उन्हें अपने एक सुन्दर स्वप्न के विषय में बताती है। वह स्वप्नफल को सीता के लिए हितकर बताती हैं, "मुझे तो अब सीता के अभीष्ट मनोरथ की सिद्धि उपस्थित दिखाई देती है। राक्षसराज रावण और सेना के विनाश और श्री राम की विजय में अब विलम्ब नहीं है। लंकापुरी का शीघ्र ही विध्वंस होने जा रहा है और पुण्य की स्थापना होने वाली है और तब तुम राक्षसियों को दुःख भोगना पड़ेगा। श्री राम को जब मालूम होगा कि तुमने सीता को कैसे–कैसे दुःख दिए, वे भी तुम्हें ऐसी ही यातनायें देंगे। याद रखो कि वह क्षण शीघ्र ही आने वाला है। मेरी सलाह मानो और समय से पहले चेत जाओ। यद्यपि तुमने सीता को बहुत डराया है और धमकाया है, फिर भी तुम इनकी शरण में जाकर क्षमा माँगो और अभय की याचना करो, जिससे ये तुम्हें बचा सकें। श्री राम की ओर से राक्षसों के लिए घोर संकट उपस्थित हुआ है। ये ही उस भय से तुम्हारी रक्षा करने में समर्थ हैं।" कवि इस सुन्दर सर्ग की समाप्ति इस श्लोक से करता है :

ततः सा ह्रीमती बाला भर्तुर्विजयहर्षिता।
अवोचद्यदि तत्तथ्यं भवेयं शरणं हि वः।। V.27.53

(58-90 में इसी श्लोक की पुनरुक्ति हनुमान द्वारा की गयी है)

त्रिजटा के शब्दों से सीता को बड़ी सान्त्वना मिली। उनको लगा कि अन्त में सब कुछ ठीक हो जायेगा। इस प्रकार पतिदेव की विजय के संवाद से हर्ष भरी सीता उन सबसे बोली, "तुम्हारे बिना माँगे ही और तुम्हारे मेरे पैरों में पड़ने से पूर्व ही मैं तुम्हें क्षमा कर दूँगी। यदि त्रिजटा की बात सत्य हुई, तो मैं अवश्य ही तुम्हारी रक्षा करूँगी।"

वह अवसर भी आया, जब सीता ने सचमुच उनकी रक्षा की। आपको स्मरण होगा कि रावण के वध के पश्चात् और विभीषण के राज्याभिषेक के पश्चात् राम के आदेश से हनुमान सीता को सूचित करने आये और उन्होंने बताया कि उनका भाग्योदय हो गया है और शुभ दिन लौट आए हैं। सीता को राम का सन्देश देने के

उपरान्त हनुमान हर्षपूर्वक उनसे बोले, "देवि! यदि आपकी आज्ञा हो, तो इन समस्त राक्षसियों को, जो आपको डराती–धमकाती थीं और विभिन्न प्रकार से पीड़ित करती थीं, मार डालना चाहती हूँ।" आपको स्मरण होगा, मैंने आपको कुछ अंश दिये थे, जिनका भाव कुछ वीभत्स और डरावना है। ये सब विकराल, विकट आकार वाली क्रूर और अत्यन्त दारुण हैं। मैं भी विभिन्न आघातों से इनका वध करना चाहता हूँ। मेरी इच्छा तो ऐसी है कि मुक्के, लात, थप्पड़, पिंडलियों और घुटनों की मार से इन्हें घायल कर इनके दाँत तोड़ दूँ। इनकी नाक–कान काट लूँ तथा इनके बाल नोंच लूँ। इन सबको पीट–पीटकर मार डालूँ। इसके लिए आप केवल आज्ञा कर दें।" कवि सुस्पष्ट तो ऐसा नहीं कहता, परन्तु मुझे निश्चय है कि उसकी इच्छा है कि हम इस दृश्य का स्मरण करें, जब उन्हें अवश्य ही अभय दान दिया था। हनुमान ने इसे सुन लिया था। कवि भी श्री राम के बजाय, हनुमान के द्वारा, जो उनके बाद सबसे महत्त्वपूर्ण हैं, ये बातें कहलवाता है। अब प्रस्तुत है, सीता का प्रसिद्ध उत्तर, जब वे हनुमान को अपमानित उनको शिक्षा देती हैं, जिसको वे कभी भी भूल न सकें। मैं मूल पाठ न देकर केवल अनुवाद मात्र ही दे रहा हूँ।

हनुमान के ऐसा कहने पर करुणामयी सीता मन ही मन चिन्ता करने लगीं, और इस निश्चय पर पहुँची और बड़े दृढ़ और हृदयग्राही ढंग से हनुमान से इस प्रकार बोलीं, "हमें इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि इन स्त्रियों की अपनी स्वयं की कोई ऐसी इच्छा नहीं थी। ये बेचारी तो एक दारुण राजा के आश्रय में रहने के कारण पराधीन थीं। दूसरों की आज्ञा से ही सब कुछ करती थीं। अतः स्वामी की आज्ञानुसार आचरण करने वाली इन दासियों पर क्रोध करने का क्या लाभ? ये मेरी दुर्दशा का कारण नहीं हैं। मेरा दुर्भाग्य ही था तथा पूर्व जन्म के दुष्कर्मों का फल ही था। इसीलिए मुझे यह कष्ट भोगना पड़ा, क्योंकि सभी प्राणी अपने शुभाशुभ कर्मों का फल भोगते हैं। कर्म का सिद्धान्त अटल है। मेरा हार्दिक निवेदन है कि मेरे दुर्भाग्य के लिये इन बेचारियों को दोष मत दो। मेरे लिये तो दैव का ही ऐसा विधान था। मुझे तो अपने पूर्व जन्म के दुष्कर्मों का फल भोगना ही था। यदि रावण की दासियों का कुछ अपराध भी हो, तो मैं उन्हें क्षमा करती हूँ। उस राक्षसराज की आज्ञा से ही ये मुझे डराया धमकाया करती थीं। अब वह मर गया है, ये मुझसे कुछ नहीं कहती हैं। इन्होंने यहाँ डराना–धमकाना बन्द कर दिया है।"

इस विषय में एक पुराना नीति वचन है और वह धर्म सम्मत है, जो किसी ने कभी रीछ सिखाया था। एक बार एक बाघ ने किसी व्याध का पीछा किया। व्याध भाग कर एक वृक्ष पर चढ़ गया, जिस पर पहले से ही एक रीछ बैठा हुआ था। बाघ वृक्ष की जड़ के पास पहुँच कर पेड़ पर बैठे हुए रीछ से बोला, "हम और तुम दोनों ही वन के जीव हैं। यह व्याध तो हम दोनों का शत्रु है। अतः तुम इसे नीचे गिरा दो।" रीछ ने ऐसा करने से मना कर दिया। "यह व्याध मेरे निवास स्थान पर आकर एक प्रकार से मेरी

शरण में आ चुका है। अतिथि कोई भी हो, वह रक्षणीय है। मैं आतिथ्य नियम को नहीं तोड़ूँगा। यदि इसे गिरा दूँगा, तो धर्म की हानि होगी," ऐसी ऊँची बात कहकर रीछ एक धार्मिक व्यक्ति की नींद सो गया। अब बाघ ने व्याध से कहा, "देखो! इस सोये हुए रीछ को तुम नीचे गिरा दो।" व्याध ने रीछ को धक्का दे दिया, परन्तु रीछ अभ्यास वश दूसरी डाल पकड़ने के कारण गिरने से बच गया। बाघ को भी रीछ को फुसलाने की क्षमता–कला को आज़माने का नया अवसर मिल गया। उसने पुनः रीछ से कहा, "यह व्याध तुम्हें गिराना चाहता था, यह तो कृतघ्न है। इसलिये अब तो इसे नीचे ढकेल ही दो।" बाघ के इस प्रकार उकसाने पर रीछ ने व्याध को नीचे नहीं गिराया *'परः पापमादत्ते'* इस श्लोक का गुणगान करके मुँह तोड़ उत्तर दिया। बड़े शान्त भाव और सहृदयता पूर्वक ढंग से उसने इस प्रकार शाश्वत आचार संहिता का निरूपण किया, "श्रेष्ठ पुरुष दूसरे के प्रति बुराई करने वाले पापियों के पापकर्म को नहीं अपनाते हैं। उसके बदले में उनके साथ पापपूर्ण बर्ताव भी नहीं करते हैं, और सत्य का मार्ग नहीं छोड़ते हैं।" मर्यादा का यह शाश्वत नियम है। अतः अपनी प्रतिज्ञा एवं सदाचार की किसी भी प्रकार से रक्षा करनी चाहिए क्योंकि साधु पुरुष अपने उत्तम चरित्र से ही विभूषित होते हैं। सदाचार ही उनका एक मात्र आभूषण है। अपने आपको आर्य होने का दावा करने वाले श्रेष्ठ पुरुष को चाहिए, कोई पापी हो या पुण्यात्मा, और वह वध योग्य अपराधी भी क्यों न हो, उस पर दया करें, क्योंकि ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है, जिससे कभी भी कोई अपराध नहीं होता। अतः हमें दंड और प्रतिशोध का विचार छोड़ देना चाहिए। जो लोग हिंसा में रमते हैं और सदा पाप आचरण करते हैं, उन क्रूर स्वभाव वाले पापियों का भी अमंगल नहीं करना चाहिए।" (VI.116.37-45)

क्या सीता को अपने द्वारा दिए गये रक्षा हेतु आश्वासन का स्मरण था? हनुमान ने भी इसे सुना था। अभी समय भी इतना नहीं बीता था कि दोनों में से कोई भी इस बात को भूला हो। मेरा तो ऐसा अनुमान है कि कवि की ऐसी इच्छा है कि इन दोनों प्रसंगों को जोड़ दिया जाये।

अब मैं आता हूँ, इन छहों कांडों में से सबसे अधिक मार्मिक तथा गम्भीर दृश्य पर, जहाँ राम सीता पर दाम्पत्यच्युति का दोषारोपण करते हैं। वे उनसे कहते हैं कि दूसरे के घर में रहने के कारण और चरित्र में सन्देह के कारण वे सीता को वापस लेने में असमर्थ हैं और कहते हैं कि वह अपने लिए कहीं से भी संरक्षण लेने में स्वतंत्र हैं, दसों दिशायें उनके लिए खुली हैं। सीता ने उदात्त भाषा में जो उत्तर दिया, वह मैं देता हूँ। एक ऐसी नारी जिसको सर्वथा बेसहारा पूर्णतया अपने ऊपर छोड़ दिया गया था, जो सर्वथा वञ्चित कर दी गयी थी, उस आशा से, जिसको उसने उन बारह महीनों की अवधि तक संजो कर रखा था, वह अत्यन्त क्रूर ढंग से दोषी ठहराये जाने पर भी, किंकिर्त्तव्यविमूढ स्थिति में भी पूरे आत्मसंयम से अपने भाव व्यक्त करती है, जब कि सारी दुनिया की आँखें उस पर टिकी हुई थीं। नेत्रों के जाल से भीगे हुए मुख को

आँचल से पौंछती हुई, वह धीरे–धीरे गद्गद् स्वर में पतिदेव से इस प्रकार बोलती है, "आप ऐसी कठोर, अनुचित, कर्णकटु और रूखी बातें क्यों सुना रहे हैं, जैसे कोई (*'प्रकृतः'*) निम्न श्रेणी का पुरुष एक निम्नकोटि की स्त्री (*'प्राकृतामिव'*) से न कहने योग्य बातें कह डालता है (VI. 119. 5), उसी प्रकार आप भी मुझसे कह रहे हैं। मैं निश्चयपूर्वक कह रही हूँ कि जैसा आप सोच रहे हैं, मैं वैसी नहीं हूँ। निष्ठा रखिये, विश्वास कीजिये। मैं आपसे पूछती हूँ कि क्या कुछ स्त्रियों के ग़लत आचरण के कारण क्या आप पूरी स्त्री जाति पर सन्देह कर सकते हैं? यह उचित नहीं है। यदि पूर्व अनुभव द्वारा आप मुझे परख चुके हैं, तो इस सन्देह को मन से निकाल दीजिये। रावण के शरीर से जो इस शरीर का स्पर्श हो गया है, यदि आप उसकी बात करते हैं, तो उसका कारण मेरी विवशता थी। मैंने स्वेच्छा से ऐसा नहीं किया, न ही वह मुझे सहनीय था। यह तो मेरे दुर्भाग्य का ही दोष है। मेरे अधीन मरा हृदय है, जो सदा आपके ही साथ रहता है। परन्तु, मेरे अंग जब पराधीन हो गये थे, तो मैं क्या कर सकती थी? आप दूसरों को मान–सम्मान देने वाले हैं और मेरा मान भी आप ही के हाथ में हैं। हम दोनों का अनुराग सदा साथ–साथ बढ़ा है, हम सदा से साथ–साथ रहते आए हैं। अतएव, आपको मेरे विषय में पूरी–पूरी जानकारी होनी चाहिए। इतने पर भी यदि आपने मुझे ठीक नहीं समझा और मेरा परित्याग करते हैं, तो मैं सर्वथा नष्ट और परित्राण–विहीन हो जाऊँगी। लंका में मुझे खोजने क लिए जब आपने उन महावीर हनुमान को भेजा था, तो उसी समय क्यों नहीं भेज दिया, मेरे परित्याग का निश्चय–मेरे भाग्य का निर्णायक सन्देश। उस समय वानर वीर हनुमान के मुख से आपके द्वारा अपने परित्याग की बात सुनकर मैं उनके सामने ही अपने प्राणों का त्याग भी कर सकती थी और आप भी इस झंझट से बच जाते। इस प्रकार अपने और अपने मित्रों के जीवन को संकट में डालकर आपको यह युद्ध नहीं करना पड़ता। नृपश्रेष्ठ! आपने तो एक निम्नकोटि के व्यक्ति के भाँति रोष में आकर, मेरे शील–स्वभाव का विचार छोड़कर, केवल निम्नकोटि की स्त्रियों के स्वभाव को ही अपने सामने रखा है। सदाचार के मर्म को जानने वाले राजा जनक की यज्ञभूमि से आविर्भूत होने के कारण, मुझे 'जानकी' कहकर पुकारा जाता है। मैं भूतल से प्रकट हुई हूँ। क्या केवल नाम मात्र के लिये उस परिवार की हूँ? साधारण मानव जाति से विलक्षण हूँ, दिव्या हूँ। आपने इन सब विशेषताओं तथा मेरे इतने समय तक के आचरण की ओर ध्यान नहीं दिया। आप तो यह भी भूल गए कि बाल्यावस्था में आपने मेरा पाणिग्रहण किया था, शाश्वत प्रेम और दाम्पत्य जीवन का वचन भरा था। आपके प्रति मेरे हृदय में जो भक्ति भाव है और मेरे में जो शील है, उसको मैंने अवर्णनीय परीक्षा–घड़ियों में भी दृढ़तापूर्वक संवार कर रखा है। वह सब आप भूल गए हैं। मुझे दोषी ठहराने से पहले आपने इन सब बातों का एक पर के बराबर भी महत्त्व नहीं दिया है और अन्ततः मेरा परित्याग कर दिया है।" इतना कहकर सीता का गला भर आया। वे रुकीं और उन्होंने अपने

स्वामी के मुख की ओर देखा, किन्तु उनकी भावशून्य, कठोर, निर्दय मुखाकृति में ज़रा सी ढील नहीं आई। यह अहसास होने पर कि उनके भाग्य का निर्णय हो चुका है, वे रोती और अश्रुपात करती लक्ष्मण की ओर मुड़ीं, जो एक स्तब्ध और हतबुद्धि के समान व्यक्ति मौन बैठे हुए थे, और गद्‌गद् वाणी में बोलीं :

चितां में कुरु सौमित्रे व्यसनस्यास्य भेषजम्।
मिथ्योपधातोपहता नाहं जीवितुमुत्सहे।। VI.119.18*

"सुमित्रानन्दन! मेरे लिये चिता तैयार कर दो। अपने पति द्वारा संदिग्ध समझी गयी और परित्यक्ता, मिथ्या कलंक से कलंकित होकर मैं जीवित रहना नहीं चाहती, न ही मैं क्षणभर और जीवित रहूँगी। अग्नि, अन्तकारी अग्नि ही मेरे इस दुःख की दवा है।"

अब मैं कथा के अन्तिम अध्यायों पर आता हूँ, जो कि उत्तर कांड में है। अभिषेक के विषय में, जो उनके नवजीवन और सौभाग्य का आरम्भ है, इसके पश्चात् इस व्याख्यानमाला को समाप्त करते समय कहूँगा। इस समय हम श्री राम, लक्ष्मण, सीता और अन्य लोगों को अयोध्या के राजभवन की अशोक–वाटिका में देखते हैं। चतुर्विक आनन्द–प्रमोद और हर्ष का वातावरण है। श्री राम यथासम्भव सीता के मन बहलाव का प्रयास कर रहे हैं।

अशोकवनिकां स्फीतां प्रविश्य रघुनन्दनः।
आसने च शुभाकरे पुष्पप्रकरभूषिते।।
कुशास्तरणसंवीते रामः संनिषसाद ह।
सीतामादाय हस्तेन मधु मैरेयकं शुचि।।
पाययामास काकुत्स्थः शचीमिव पुरन्दरः।
मांसानि च सुमृष्टानि फलानि विविधानि च।।
रामस्याभ्यवहारार्थं किङ्करास्तूर्णमाहरन्।
उपानृत्यंश्च राजानं नृत्यगीतविशारदाः।।
बालाश्च रूपवत्यश्च स्त्रियः पानवशानुगाः।
उपानृत्यन्त काकुत्स्थं नृत्यगीतविशारदाः।।
मनोऽभिरामा रामास्ता रामो रमयतां वरः।
रमयामासा धर्मात्मा नित्यं परमभूषितः।। VII.42.17-22

सीता के सुख और शान्ति के दिन इने–गिने थे। अतएव यदि हम इन पारस्परिक प्रेम और आह्लाद के दृश्यों का विस्तार पूर्वक निरूपण करें, तो बिल्कुल अनुचित न होगा। श्री राम सीता का मन बहला रहे हैं। इन श्लोकों में कवि ने दिखलाया है कि श्री राम ने अपने हाथ से मधु और मैरेयक (एक प्रकार का मादक पेय) लेकर सीता को पिलाया, जैसे देवराज इन्द्रशची को सुधापान कराते हैं। सेवक गण तुरन्त ही अच्छा

* देखिए अ.12, पृ.189.

पकाया हुआ मसालेदार माँस तथा नाना प्रकार के फल–मिठाई ले आए। जब दोनों साथ बैठ गए मदिरा और माँस का आनन्द ले रहे थे, नृत्य और गायन में निपुण अप्सरायें और नाग कन्यायें उनके मनोरंजन के लिए उपस्थित थीं। वे मधुपान के मद से वशीभूत थीं। उन्होंने गायन और नृत्य द्वारा कहानियाँ सुनाकर उनका मनोरंजन किया। इन आमोद–प्रमोद का आनन्द लूटने के कारण कहीं आप यह न समझें कि श्री राम में भी विलासप्रियता पुट था और उन्हें विलास की वस्तुयें और रंग–रलियाँ प्रिय थीं। कवि कहता है :

स तया सीतया सार्धमासीनो विरराज ह।
अरुन्धत्या सहासीनो वसिष्ठ इव तेजसा।। VII.42.23

उस समय श्री राम सीता के साथ सिंहासन पर विराजमान होकर अपने तेज से अरुन्धती के साथ बैठे हुए, वसिष्ठ के समान शोभायमान थे। अब ज़रा निम्नलिखित श्लोक पर दृष्टिपात करें :

एवं रामो मुदा युक्तः सीतां सुरसुतोपमाम्।
रमयामास वैदेही महन्यहनि देववत्।। VII.42.24

इस प्रकार श्री राम प्रतिदिन देवता के समान आनन्दित रहकर देवकन्या के समान सुन्दर सीता के साथ रमण करते थे। अब इस सुखी जीवन के पश्चात् आता है, विपत्ति काल, जो उनके भाग्य में लिखा था।

अब्रवीच्च वरारोहां सीतां सुरसुतोपमाम्।।
अपत्यलाभो वैदेहि त्वयि मे समुपस्थितः।
किमिच्छसि वरारोहे कामः किं क्रियतां तव।। VII.42.30,31

वे देवकन्या के समान सुन्दर सीता से बोले, "विदेह नन्दिनी! अब तुम्हारे लिए प्रसूति का समय निकट आ गया है। बताओ, तुम्हारी क्या इच्छा है? मैं तुम्हारी इच्छा पूर्ति का प्रयास करूँगा। बताओ, मैं तुम्हारा कौन सा मनोरथ पूरा करूँ?" इस पर सीता मुस्कराने लगीं क्योंकि उनकी कोमल अवस्था की ओर संकेत किया गया था। सीता ने मुस्करा कर राम से कहा :

तपोवनानि पुण्यानि द्रष्टुमिच्छामि राघव।।
गङ्गातीरोपविष्टानामृषीणामुग्रतेजसाम्।
फलमूलाशिनां देव पादमूलेषु वर्तितुम्।।
एष मे परमः कामो यन्मूलफलभोजिनाम्।
अप्येकरात्रं काकुत्स्थ निवसेयं तपोवने।।
तथेति च प्रतिज्ञातं रामेणाक्लिष्टकर्मणा। VII. 42. 32-35

"रघुनन्दन! मेरी इच्छा एक बार उन पवित्र तपोवनों को देखने की हो रही है। गंगातट पर रहकर फल–मूल खाने की इच्छा है। जो उग्र तेजस्वी महर्षि है, उनके

समीप कुछ दिन रहना चाहती हूँ। फल–मूल का आहार करने वाले महात्माओं के तपोवन में एक रात निवास करूँ, उन्हीं जैसा सादा, मिताहारी निष्कपट जीवन केवल फल मूल खाकर व्यतीत करूँ, यही इस समय मेरी सबसे बड़ी अभिलाषा है।" उन बेचारी को क्या पता था कि वे क्या माँग रही हैं? क्योंकि सचमुच ही श्री राम ने उनकी इच्छा पूरी की, न केवल एक दिन के लिए, वरन् बारह वर्ष की लम्बी अवधि के लिए।

सब जानते ही हैं कि किस प्रकार राम द्वारा सीता के अपनाये जाने का समाचार नगर भर में फैलाया गया। पुरवासी इस विषय में गप–शप करने लगे कि और राम नागरिकों के लिये हानिकारक उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं, "उन्होंने एक ऐसी स्त्री को घर में रख लिया है, जो पूरे बारह महीने पर पुरुष के घर में रह चुकी थी और वह भी एक दुष्चरित्र पुरुष के! यदि सीता ने ऐसा आचरण किया और उन्हें क्षमा कर दिया गया, तो हमारी स्त्रियाँ भी इस प्रकार के विशेष अधिकार माँगेंगी। और हमें आगे चलकर इन सब बातों को सहन करना पड़ेगा और न जाने क्या–क्या और। समय बुरा आ गया है।" जब इस प्रकार के लोकापवाद की सूचना राम को मिली, उन्होंने अपने भाइयों को बुलाकर उनसे कहा, "यह तो मेरे ऊपर एक कलंक है, जिसे मैं सहन नहीं कर सकता। इसे तो किसी न किसी प्रकार पोंछना ही होगा।" तत्पश्चात् उन्होंने अपना सीता परित्याग का निर्णय सुनाया। अतः सीता को अयोध्या के बाहर ले जाया गया और यह काम लक्ष्मण को सौंपा गया। वे सीता को रथ द्वारा वन में गंगा के तट तक ले गए और फिर नाव द्वारा उन्हें गंगा के दूसरे पार पहुँचाया गया। भागीरथी के दूसरे तट पर पहुँच कर लक्ष्मण के नेत्रों में आँसू भर आये। यह देखकर सीता अत्यन्त उद्विग्न हो उठीं और लक्ष्मण से बोलीं, "लक्ष्मण, बचाओ क्या बात है? ठीक–ठीक बताओ।" तदनन्तर लक्ष्मण ने बड़े दुःख के साथ, उनके परित्याग की बात बताई। वे बोले, "महाराज की आज्ञानुसार मैं आपको आश्रमों के पास ले जाकर आपको वहीं छोड़ देता हूँ। यहाँ मेरे पिता के घनिष्ठ मित्र महर्षि वाल्मीकि रहते हैं। आप उन्हीं की छत्रछाया में आश्रय लेकर सुख पूर्वक रहेंगी।" लक्ष्मण के ये वचन सुनकर सीता मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ीं। यह पहली बार नहीं था, जबकि उन पर मर्मान्तक प्रहार हुआ था। उनके नेत्रों से आँसुओं की अजस्त्र धारा बहती रही। फिर होश में आकर वे कुछ क्षण मौन रहकर सोच–विचार में निमग्न हो गयीं। वे एक साहसी और सन्तोषी नारी तो थीं ही। उस समय भी मान मर्यादा की गरिमा का विस्मरण न करते हुए वे लक्ष्मण से बोलीं, "लक्ष्मण! मेरे अन्तिम शब्द सुनो। निश्चय से ही विधाता ने मुझे दुःख भोगने के लिए जीवित रखा है। इसीलिए, आज जीवन के समस्त दुःखों का समूह मूर्त्तिमान होकर मुझे दर्शन दे रहा है। मैंने न जाने पूर्व जन्म में कौन सा ऐसा पाप किया था अथवा किसका उसका स्त्री से विछोह करवाया था, जो अपनी ओर से शुद्ध आचरण वाली होने पर भी, महाराज ने मुझे त्याग के योग्य समझा। पहले वनवास में मैं उनके साथ आश्रम में रही। राम मेरे साथ थे और मैं उनकी सेवा में

संलग्न रहती थी और मुझे किसी प्रकार के कष्ट अथवा कमी का अनुभव नहीं हुआ। किन्तु, अब मैं अकेली प्रियजनों के बिना किस प्रकार आश्रम में रहूँगी? विपत्ति के समय किससे अपना दुःख कहूँगी? यदि मुनि जन मुझसे पूछेंगे कि राम ने किस अपराध के कारण तुम्हारा परित्याग किया, तो मैं उन्हें कौन सा अपराध बताऊँगी? मैं यहाँ अपनी एकाकी उपस्थित की सफ़ाई किस प्रकार दूँगी? वे एक स्वर से कहेंगे, 'हमारे राजा श्री राम तो मूर्त्तरूप से न्याय के अवतार हैं, उन्होंने क्यों आपका परित्याग किया?'"

"लक्ष्मण! मुझे अब इस जीवन से क्या प्रयोजन? मैं तो अभी गंगा माँ की गोद में अपने प्राण विसर्जन कर देती, किन्तु, इस समय मैं ऐसा नहीं कर सकूँगी क्योंकि मेरे अन्दर राजवंश की सन्तति विद्यमान है। ऐसा करने से मेरे पतिदेव का राजवंश नष्ट हो जायेगा। अब मुझे अपने भाग्य पर छोड़ दो। जाने से पहले मेरी एक बात सुन लो। मेरा सन्देश लेते जाओ। मेरी सब सासुओं से और महाराज से भी हाथ जोड़कर उनके चरणों में मस्तक नँवा कर मेरी ओर से उनको कुशल सन्देश सुना देना। जब मेरी ओर से सिर नँवा कर तुम उनके चरण स्पर्श कर लो, तो राम से कहना, 'वास्तव में मन से तो आप जानते ही हैं कि सीता शुद्ध चरित्र हैं, सर्वदा आपके हित में तत्पर रहती हैं और आपके प्रति परम भक्ति रखने वाली हैं। आप धर्मज्ञ हैं और सदा उसका पालन करते हैं। आपने प्रजा की ओर से अपवाद से डर कर मुझे त्यागा है, ठीक है, आपकी आज्ञा का स्वागत है। आप धर्मपूर्वक बड़ी सावधानी से साथ पुरवासियों के साथ वैसा ही बर्ताव करें, जैसा आप अपने भाइयों के प्रति करते हैं। यदि प्रजा के बीच अपनी ख्याति बनाये रखने के लिए मेरा त्याग आवश्यक था, तो मैं इसके लिये भी तैयार हूँ। मुझे अपने शरीर की कोई चिन्ता नहीं है, उससे कम नहीं, बल्कि अधिक ही। प्रत्येक स्त्री की भाँति मेरे लिये भी पति ही सर्वस्व है, पति ही बन्धु है, पति ही गुरु है, पति ही देवता है। इसलिए मैं अपने प्राणों की बाज़ी लगाकर भी विशेष रूप से पति का प्रिय करना चाहूँगी। लक्ष्मण! आज तुम भी देख लो। मेरे शरीर में गर्भवती होने के स्पष्ट चिह्न हैं। राम यह भली प्रकार जानते हैं, फिर भी उचित है कि तुम भी अपनी आँखों से मेरी अवस्था के साक्षी बनो।" सीता के इस प्रकार कहने पर लक्ष्मण बहुत दुःखी हुए। उन्होंने ज़ोर से रोते हुए सीता की परिक्रमा की और दो घड़ी सोच–विचार कर उनसे कहा, "यह आप मुझसे क्या कह रही हैं? मैंने पूर्व में भी कभी आपको सम्पूर्ण रूप से नहीं देखा है। केवल आपके चरणों के दर्शन किए हैं। फिर आज यहाँ वन के भीतर श्री राम की अनुपस्थिति में मैं आपकी ओर कैसे देख सकता हूँ?" यह कहकर उन्होंने सीता को पुनः प्रणाम किया और वे नाव पर चढ़ गए। समय पूरा होने पर सीता ने वाल्मीकि आश्रम में दो जुड़वाँ पुत्रों को जन्म दिया। पहले उत्पन्न हुए बालक का नाम वाल्मीकि ने कुश और छोटे का नाम लव निश्चित किया। महर्षि की देख रेख में बालक बड़े होने लगे।

अभी अन्तिम दृश्य शेष है। वह भी कुछ कम करुण नहीं, किसी भी अन्य दृश्य से, किन्तु यह दृश्य अपनी ही श्रेणी का है। यह हमारे किसी भी अनुभव से परे है– सर्वथा कल्पनानीत। अपने विस्मयकारी प्रभाव से यह हमें आवाक् कर देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि हम पृथ्वी पर न रहकर किसी अन्य लोक में पहुँच गए हैं। समय बीतने पर श्री राम ने अश्वमेध यज्ञ किया और उनके आदेशानुसार नैमिष्यारण्य के गोमति के तट पर यज्ञ का विशाल यज्ञमण्डप बनाया गया। यज्ञ एक वर्ष से भी अधिक चलता रहा। यज्ञ जब आरम्भ हुआ तत्समय वाल्मीकि महर्षि अपने शिष्यों सहित वहाँ पधारे। उन्होंने, अपने दोनों शिष्यों, सीता के पुत्रों, लव और कुश से कहा कि वे घूम फिर कर 'रामायण' काव्य का गायन करें। श्री राम ने भी वह गान सुना। उन्होंने सब विद्वानों को एकत्रित करके 'रामायण' के गायक उन दोनों बालकों को सभा में बुलाया। दोनों मुनि कुमारों ने अपने सभी श्रोताओं को अपने गायन से मुग्ध कर दिया। श्री राम द्वारा पूछे जाने पर उन्होंने बताया कि उस काव्य के रचयिता महर्षि वाल्मीकि हैं, जो यज्ञ स्थल पर उपस्थित हैं। इस प्रकार श्री राम सबके साथ 'रामायण' पाठ सुनते रहे। उस कथा से राम को पता चला कि कथा के गायक सीता के पुत्र हैं। यह जानकर राम ने दूतों द्वारा वाल्मीकि मुनि के पास सन्देश भेजा, "यदि सीता का चरित्र शुद्ध है, तो वे आपकी अनुमति से यहाँ आकर जन–समुदाय में अपनी शुद्धता प्रमाणित करें।" अगले दिन श्री राम यज्ञशाला में पधारे। उस समय उन्होंने समस्त ऋषियों को बुलाया। मुनिवर वाल्मीकि सीता के साथ यज्ञशाला में पहुँचे। महर्षि के साथ सीता सिर झुकाए चली आ रही थीं, दोनों हाथ जुड़े थे और नेत्रों से आँसू झर रहे थे। उस समुदाय के बीच मुनिवर ने सीता की शुद्धता का समर्थन किया। तदनन्तर श्री राम बोले, "सीता के सम्बन्ध में जैसा आप कह रहे हैं, वह सब ठीक है। मैं यह जानता हूँ, कुश और लव मेरे ही पुत्र हैं तथापि जनसमुदाय में शुद्धता होनी चाहिए।" प्रियजनों जगह–जगह से आये हुए मांडलिक राजाओं, मंत्रियों और व्यापारियों के समक्ष वे सीता को अपनी पवित्रता की शपथ लेने को कहते हैं। उस समय सीता तपस्विनियों के अनुरूप गेरुआ वस्त्र धारण किए हुए थीं। आप देखें, नियति किस प्रकार दुःखद अन्त तक उनका पीछा करती है! क्या एक बार पुनः उन्हें शपथ लेनी होगी? सबकी उपस्थिति के बीच वे हाथ जोड़े, दृष्टि और मुख नीचे किए एक दैवी समर्पण से वे बोलीं :

यथाहं राघवादन्यं मनसापि न चिन्तये।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति।।
मनसा कर्मणा वाचा यथा रामं समर्चये।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति।।
यथैतत् सत्यमुक्तं मे वेद्मि रामात् परं न च।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति।।

तथा शपन्त्यां वैदेह्यां प्रादुरासीत्तदद्भुतम्।
भूतलादुत्थितं दिव्यं सिंहासनमनुत्तमम्।।
ध्रियमाणं शिरोभिस्तु नागैरमितविक्रमैः।
दिव्यं दिव्येन वपुषा दिव्यरत्नविभूषितैः।।
तस्मिंस्तु धरणी देवी बाहुभ्यां गृह्य मैथिलीम्।
स्वागतेनाभिनन्द्यैनामासने चोपवेशयत्।
तामासनगतां दृष्ट्वा प्रविशन्तीं रसातलम्।।
पुष्पवृष्टिरविच्छिन्ना दिव्या सीतामवाकिरत्।। VII.97.15-21

"मैं रघुनाथ के सिवा किसी दूसरे पुरुष का स्पर्श तो दूर कभी चिन्तन तक नहीं करती। यदि यह सत्य है, तो हे भगवती पृथ्वी देवी! मुझे अपनी गोद में ले लो। यदि मैं मन कर्म, वचन से केवल श्री राम की ही आराधना करती हूँ। हे माँ भगवती पृथ्वी देवी! मुझे अपनी गोद में ले लो। श्री राम को छोड़कर मैं किसी अन्य पुरुष को नहीं जानती, यदि यह सत्य है, तो हे माँ भगवती पृथ्वी देवी! मुझे अपनी गोद में ले लो। माँ, मेरे लिए द्वार खोलो, मैं जहाँ से आई हूँ वही जाना चाहती हूँ, यह भूलोक मेरे लिए नहीं है, न ही पति और न ही प्रजा, जिनको कोई भी प्रमाण सन्तुष्ट नहीं कर सकता।"

सीता के इस प्रकार की शपथ लेते ही, अपनी माँ से मूल स्थान में ले जाने की प्रार्थना करते ही पृथ्वी फट गयी और भूतल से एक अद्भुत सिंहासन उभर आया, जो अत्यन्त दिव्य एवं सुन्दर था। दिव्य रत्नों से विभूषित पाँच शिरों वाले महापराक्रमी नागों ने दिव्य रूप धारण करके उस दिव्य सिंहासन को धारण कर रखा था। सिंहासन पर पृथ्वी अधिष्ठात्री देवी दिव्य रूप धारण करके प्रकट हुई। उन्होंने सीता को अपनी गोद में उठा लिया और स्वागतपूर्वक अभिनन्दन करके सिंहासन पर बैठा लिया, यह कहते हुए, "पुत्री वापस चलो, इस लोक का तुम्हें अब पर्याप्त अनुभव हो चुका है।" सिंहासन पर बैठकर सीता रसातल में प्रवेश करने लगीं। उस समय देवताओं ने पुष्पवृष्टि द्वारा उन्हें सम्मानित किया।

भूलोक उस देवी की महानता को समझ न पाया, उनके अद्वितीय चरित्र को सराह न सका, किन्तु उच्च लोक ने सराहा। वे सर्वथा निर्दोष प्रमाणित हो गईं, निर्दय पति और उनकी प्रजा, अनेक प्रमाणों के बावजूद भी, उन पर सन्देह करते रहे। कुछ शब्द राम के प्रति भी देना चाहूँगा। ऐसा न समझे कि इस नरश्रेष्ठ पति के प्रति आपके मन में कुछ कठोर भावनायें छोड़ना चाहता हूँ। किन्तु, स्पष्टीकरण हेतु दो शब्द कहना आवश्यक है। श्री राम कोई साधारण मनुष्य नहीं थे, जबकि अनेक बातों में हमारे ही समान थे, उनमें भी अनेक कमज़ोरियाँ थीं जैसी साधारण मनुष्य में होती हैं। उन्होंने अपनी साधना द्वारा मानवीय गुणों को अत्यन्त उत्कृष्ट स्तर पर पहुँचा दिया था। प्रश्न यह उठता है कि वे अपनी पत्नी के प्रति इतने निष्ठुर क्यों हुए, बावजूद अशंकनीय प्रमाणों के। सीता सदा ही उनके प्रति कर्त्तव्य निष्ठ रही थीं। मैंने पहले भी इस बात को

समझाने का प्रयास किया है, पुनः दोहराता हूँ। क्योंकि श्री राम के वास्तविक स्वरूप को समझना आवश्यक है, जो दिव्यता की इतनी ऊँचाई पर पहुँच चुका था कि हम, साधारण जीवन संग्राम में संलग्न हुए व्यक्ति, उनके अभिप्राय को समझने में सर्वथा अक्षम हैं। फिर भी परोक्ष रूप से संकेत दिया जा सकता है, यह जो कुछ कवि ने कहा उस पर आधारित है। श्री राम के वास्तविक स्वरूप को न दशरथ समझ सके थे, न ही लक्ष्मण, न ही भरत, न ही उनको प्रजा ने, न ही उस समय किसी अन्य ने समझा। यदि समझा गया, तो केवल सुमित्रा और सीता द्वारा। ऐसा प्रतीत होता है कि ये लोग ऐसा समझते थे कि मानवीय प्रकृति की जो उच्चतम अपेक्षायें हैं, श्री राम उन्हें पूरा कर रहे थे। वे दिए हुए वादे को कार्यान्वित कर रहे थे और उसकी पूर्ति के लिए कोई त्याग, कोई बलिदान अधिक नहीं था। इस बात को उनके समय में किसी ने न समझा, यही राम का सबसे बड़ा दुर्भाग्य था। यह तो राम के चरित्र की गरिमा है, यद्यपि उनका उपहास किया गया, उनको ताने मारे गए, उनके कर्त्तव्य पथ पर अनेक रुकावटें डाली गई, उनके निकटवर्ती लोगों द्वारा— पिता, माता, भाई प्रजाजन यहाँ तक गुरु वसिष्ठ द्वारा भी। इन सब विरोधों के बावजूद भी वे दुनिया के विरुद्ध डटे रहे, और अकेले— यही उनके लिए सर्वोच्च कर्त्तव्य था, चाहे वह कितना भी कठोर क्यों न था। श्री राम की महानता यही है कि धर्मपालन करने में उनके लिए कोई त्याग भी दुष्कर नहीं था। धर्म के अनेक रूप थे, कभी वह प्रकट होता, अपने पिता के वचनों के रूप में, कभी कुल मर्यादा के रूप में, कभी शत्रु को दंड देने के रूप में। किसी भी परिस्थिति में, जो उन्हें उच्चतम धर्म लगा, उसी का उन्होंने पालन किया और उसकी पूर्ति हेतु कुछ भी त्याग ऐसा नहीं था, जो वे न कर सके। पत्नी को त्याग दो, जीवन तक को त्याग दो, लेकिन धर्म को अक्षुण्ण रखो। अन्य कोई विकल्प नहीं था। नियमपरायणता की इतनी कठोरता हमको लोगों के लिए समझना कठिन है। यही राम की शाश्वत महिमा है। राम धर्म की अमूर्त अवधारणा के प्रति सदा सुदृढ़ रहे, चाहे इसके लिए उन्हें किसी भी ग़लतफहमी का शिकार होना पड़ा अथवा उनके ऊपर एक अमानुषिक निष्ठुर व्यक्ति होने का आरोप भी थोपा गया, एक ऐसा व्यक्ति होने का, जो अपनी पत्नी के प्रति भी इतना निर्मम हो गया था, वह भी एक ऐसी नारी के प्रति, जो नारी जाति के समस्त सद्‌गुणों की प्रतीक थी। यदि इस बात को आप पूरी तरह से समझ न पाये हों, यदि कभी आपको ऐसा लगे कि अच्छा तो यही रहता कि श्री राम एक दो चरण नीचे उतर आते, तो यह आप ही जानें। अतः हम श्री राम को कोई दोष न दें, चाहे हम सीता की दुर्दशा पर कितना भी करुणार्द्र क्यों न हों।

◈◈◈

अट्ठाईसवाँ अध्याय

कैकेयी

कैकेयी के नाम यह एक अनर्थसूचक मुहावरा बन गया है। प्रायः अब यह एक ऐसी स्त्री के लिये प्रयोग किया जाता है, जो अनैतिक ढंग से अपना प्रभाव बढ़ाकर उसका प्रयोग अनुचित उद्देश्य के लिए करती है। 'रामायण' में वह असुन्दर पात्रा है। उसमें प्रतिभा थी, विशेष प्रकार की योग्यतायें भी थीं, किन्तु उसने उनका दुरुपयोग स्वार्थपरता के लिए किया। उसमें सत्ता का मोह था, लोगों के प्रति तानाशाही प्रवृत्ति थी और जो भी उसकी छत्रछाया में आया, उसे बाद में पछताना पड़ा। यह तो बिल्कुल स्पष्ट है कि इन सब बातों के बावजूद वह एक महत्वपूर्ण पात्रा थी। वह क्रूर थी, वह ईर्ष्यालु थी और झूठ भी बोलती थी। यद्यपि उसको यह चेतावनी दे दी गई थी कि उसकी हरक़तों से उसके पति की मृत्यु भी हो सकती है, फिर भी वह अपनी लक्ष्यपूर्ति के मार्ग से न हटी। केवल एक ही बात जिससे उसके चरित्र की क्षतिपूर्ति हुई है, वह है श्री राम के प्रति उसका पहले का स्नेहमय भाव और वह स्नेह, जो उसे उनकी ओर से मिला। इनमें से कौन–सा कारण था, और कौन–सा परिणाम, यह स्पष्ट नहीं। हम उसे श्री राम के सद्‌गुणों को पहचानने और निष्कपट भाव से उन्हें सराहने का श्रेय दे सकते हैं। कवि यह बताता है कि जहाँ तक उनके आचरण के सम्बन्ध है, श्री राम ने अपनी माता और कैकेयी के बीच कोई भेदभाव नहीं किया। इसके अतिरिक्त यह भी अनेक बार कहा गया है कि कैकेयी के प्रति स्नेहप्रदर्शन और सेवा में वे उसके पुत्र, भरत से अधिक आगे थे।

इस सामान्य धारणा के साथ अच्छा तो यही होगा कि हम आरम्भ करें, सुमन्त्र द्वारा कैकेयी की उत्पत्ति और उसकी माता के चरित्र के सम्बन्ध में दिए गये वृत्तान्त से। यह प्रसंग उस समय का है जब सीता और लक्ष्मण सहित श्री राम दशरथ के पास जाकर वनवास के लिए विदा माँगने आते हैं। राजा शोक से व्याकुल होकर अचेत हुए पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं। कैकेयी को छोड़कर सभी रानियाँ रो पड़ती हैं। सुमन्त्र भी रोते–रोते मूर्च्छित हो गए। होश आने पर साहस कर सारथि सुमन्त्र सहसा उठकर खड़े हो गए। कैकेयी के व्यवहार पर वे बड़े क्षुब्ध थे। कैकेयी को फटकार कर उन्होंने उससे इस प्रकार कहना आरम्भ कर किया, "कैकेयी मैं समझता हूँ कि तुम्हारी माता का अपने कुल के अनुरूप जैसा स्वभाव था, वैसा ही तुम्हारा भी है। तुम्हारी माता के

दुराग्रह की बात भी हम जानते हैं। इस विषय में जैसा पहले सुना गया है, वह बताया जाता है।" संकेत है, कैकेयी सीता के प्रति अत्यन्त दुष्टतापूर्ण व्यवहार के प्रदर्शन की ओर कैकेयी की माता से सम्बन्धित वृत्तान्त सुमन्त्र स्वयं ही संक्षेप में सुनाते हैं। ऐसा प्रकट होता है कि कैकेयी की माता, अश्वपति की पत्नी, एक अच्छी स्त्री नहीं थी। किसी साधु के वरदान से कैकेयी नरेश समस्त प्राणियों की बोली समझने की क्षमता रखते थे। एक बार जब वे शय्या पर लेटे हुए थे, दो चींटियाँ आपस में बोल रही थी। उनका अभिप्राय राजा को समझ में आ गया और वे कई बार जोर से हँसे। उसी शय्या पर उनकी पत्नी भी सोई हुई थी, वह यह समझकर कि राजा उसकी हँसी उड़ा रहे हैं, कुपित हो उठी। वह अपनी जिज्ञासा को नहीं दबा सकी और पूछने लगी कि हँसी का कारण क्या है। राजा के दृढ़ता पूर्वक इन्कार करने पर वह कहने लगी, "तुम्हें बताना ही पड़ेगा। अन्यथा, मैं तो यह समझूँगी कि आप मेरे ऊपर हँस रहे थे। राजा ने उत्तर दिया तुम जो चाहो, निष्कर्ष निकाल सकती हो, मैं तुम्हारे ऊपर नहीं हँसा। परन्तु, यदि मैं तुम्हें अपने हँसने का कारण बताऊँ, तो परिणाम होगा, मेरी उसी क्षण मृत्यु, इसमें संशय नहीं।" यह सुनकर रानी ने कहा, "तुम जीओ या मरो, मुझे परवाह नहीं, परन्तु मुझे इसका कारण बता दो। यदि नहीं बताओगे, तो मैं इसी क्षण अपने प्राण दे दूँगी।" रानी के ऐसा कहने पर राजा ने अपने गुरु के पास जाकर सब वृत्तान्त सुनाया। गुरु ने उत्तर दिया, "इस स्त्री को घर से निकाल दिया जाये। परन्तु तुम कदापि उसे यह बात न बताना।" यह सुनकर राजा ने रानी को घर से निकाल दिया। कथा से ऐसा प्रतीत होता है, राजा ने फिर विवाह नहीं किया और कहा, "एक का अनुभव ही काफ़ी है।"

सुमन्त्र कहते हैं, "तुम भी इसी प्रकार दुर्जनों के मार्ग पर स्थित हो और राजा से अनुचित आग्रह कर रही हो। आज मुझे यह लोकोक्ति बिल्कुल ठीक मालूम होती है, तुम सर्वथा अपनी माँ के समान हो। तुम ऐसी न बनो, इस लोकोक्ति को अपने जीवन में चरितार्थ न करो। तुम हर बात में अपनी माँ की नक़ल न करो। ऐसी माँग न करो, जिसका परिणाम अन्ततः वैध्वय हो।" परन्तु वास्तव में, उसने किया ऐसा ही। वह टस से मस न हुई। उसने सिद्ध कर दिया कि सुमन्त्र का दृष्टान्त उस पर पूरा-पूरा लागू था। कवि कहता है कि जब सुमन्त्र सब कह चुके, तो वे उसके चेहरे को निहार रहे थे। सम्भवतः उस पर कोई प्रभाव पड़ा हो, परन्तु उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। कैकेयी के मन में न क्षोभ था और न दुःख। उसके चेहरे के रंग में कोई बदलाव नहीं आया। वह वही कठोर स्त्री थी, जैसे पहले थी, जब उसने अपनी माँगें रखी थीं। यह वही महिला है, जिसकी करतूतें आगे चलकर पर्याप्त स्थान लेंगीं। सच तो यह है कि वही सब संकटों की जड़ थी।

किस प्रकार का व्यवहार वह अपनी सपत्नियों से करती थी, यह पहला विषय है, जिसका उल्लेख मैं करने जा रहा हूँ। यह तो सर्वविदित था और इसके लिए वह

बदनाम भी थी कि जिस प्रकार वह अपने पति पर अपने प्रभाव का दुरुपयोग करती थी। उसने सचमुच इन सब की पदवी को बहुत नीचे गिरा दिया था। स्वयं मंथरा कहती है :

दर्पान्निराकृता पूर्वं त्वया सौभाग्यवत्तया।
राममाता सपत्नी ते कथं वैरं न यातयेत्।। II.8.37

"यदि तुम राम को युवराज पद पर अभिषिक्त हो जाने दोगी, कौशल्या शक्तिशाली हो जायेगी। तुमने पहले जो पति का अत्यधिक प्रेम प्राप्त होने के कारण घमण्ड में आकर, जिनका तुमने अनादर किया था, वे तुम्हारी सौत, राजमाता कौशल्या पुत्र की राज्यप्राप्ति से सौभाग्यशालिनी हो जायेंगी। क्या उन्हें याद नहीं आयेगी, जो कुछ तुमने अपने अनुकूल दिनों में उनके प्रति किया है, अब वे तुमसे बदला क्यों न लेगीं, कदाचित् ब्याज समेत।"

दशरथ भी कैकेयी से कहते हैं, जब उसने अपनी माँगे प्रस्तुत कीं :

किं मां वक्ष्यति कौसल्या राघवे वनमास्थिते।
किं चैनां प्रतिवक्ष्यामि कृत्वा विप्रियमीदृशम्।।
यदा यदा हि कौसल्या दासीवच्च सखीव च।
भार्यावद्भगिनीवच्च मातृवच्चोपतिष्ठति।।
सततं प्रियकामा मे प्रियपुत्रा प्रियंवदा।
न मया सत्कृता देवी सत्कारार्हा कृते तव।।
इदानीं तत्तपति मां यन्मया सुकृतं त्वयि।। II.12.67-70

"यदि राम वन चले गए, तो कौशल्या मुझे क्या कहेगी? उसका ऐसा महान अपकार करके मैं क्या उत्तर दूँगा? हाय! जिसका पुत्र मुझे सबसे प्यारा है, वह प्रियवचन बोलने वाली, जब जब कि वह सब दासी, सखी, पत्नी, बहिन और माता की भाँति मेरा प्रिय करने वाली है, वह मेरी सेवा में उपस्थित होती थी, तब योग्य देवि का भी मैंने तेरे ही कारण सत्कार नहीं किया। उसके पद और चरित्र अनुकूल उसके प्रति मैंने व्यवहार नहीं किया। मैंने उसे जो पीड़ा पहुँचाई है और तेरे साथ जो मैंने इतना अच्छा बर्ताव किया है, यह सब कुछ याद आकर, इस समय मुझे सन्तप्त कर रहा है।"

सुमित्रा प्रेक्ष्य वै भीता कथं मे विश्वसिष्यति। II.12.72

मैं समझता हूँ, ये शब्द, *'प्रेक्ष्य वै सीता'* जानबूझ कर प्रयुक्त किए गए हैं। सुमित्रा पत्नियों में सबसे अधिक विनम्र और समझदार थी। मेरे विचार से कुल मिलाकर वह कौशल्या से भी अधिक विकसित और परिपक्व पत्नी थी। अतः वे कहते हैं, "श्री राम के अभिषेक का निवारण और वनवास के लिये प्रस्थान देखकर निश्चय ही सुमित्रा भयभीत हो जायेगी, फिर वह कैसे मेरा विश्वास करेगी? किस प्रकार मैं उस शान्त महिला की ओर देख सकूँगा?"

जब राम कौशल्या के पास जाकर उस दारुण समाचार को सुनाते हैं, जो उन्हें अपनी सौतेली माँ और पिता से मिला था, कौशल्या कहती हैं :

यदि पुत्र न जायेथा मम शोकाय राघव।
न स्म दुःखमतो भूयः पश्येयमहमप्रजाः।।
एक एव हि वन्ध्यायाः शोको भवति मानसः।
अप्रजास्मीति संतापो न ह्यन्यः पुत्र विद्यते।। II.20.36,37

"बेटा राम! तुम उत्पन्न ही क्यों हुए थे? यदि तुम्हारा जन्म न हुआ होता, तो मुझे इस एक ही बात का शोक रहता। आज, जो मुझ पर इतना भारी दुःख आ पड़ा है, उसे वन्ध्या होने पर भी मुझे न देखना पड़ता। वन्ध्या को केवल एक ही मानसिक शोक होता है। उसके मन में सन्ताप बना रहता है कि मेरे कोई सन्तान नहीं है, इसके अतिरिक्त उसे दूसरा दुःख नहीं होता। किन्तु एक पुत्र प्राप्त करके और वह भी तुम जैसा, ज़रा देखो, मेरी क्या गति होगी?"

न दृष्टपूर्वं कल्याणं सुखं वा पतिपौरुषे।
अपि पुत्रे तु पश्येयमिति रामस्थितं मया।।
सा बृहन्यमनोज्ञानि वाक्यानि हृदयच्छिदाम्।
अहं श्रोष्ये सपत्नीनामवराणां वरा सती।।
अतो दुःखतरं किं नु प्रमदानां भविष्यति।
मम शोको विलापश्च यादृशोऽयमनन्तकः।। II.20. 38-40

"मैंने पृथ्वी के चक्रवर्ती सम्राट को वरण किया, किन्तु मुझे मिला क्या? पति के प्रभुत्वकाल में एक ज्येष्ठ पत्नी को जो सुख प्राप्त होना था, वह मुझे पहले कभी कहीं देखने को भी न मिला। मैं सोचती थी पुत्र के राज्य में सब सुख देख लूँगी, इसी आशा से अब तक जीवित रही। अब मैं इस राजमहल में अभागिन रानियों में सबसे अधिक अभागिन रानी हो जाऊँगी। यदि मेरे पुत्र को निर्वासित कर दिया जायेगा, तो मेरी क्या गति होगी? बड़ी रानी होकर भी मुझे अपनी सौतों के बहुत से अप्रिय वचन सुनने पड़ेंगे। स्त्रियों के लिए इससे बढ़कर महान दुःख और क्या होगा? अतः मेरे शोक और विलाप का कोई अन्त नहीं है। जैसा तुम जानते ही हो, एक स्त्री, जो अत्यन्त सौभाग्यशाली समझी जाती है, यदि उसने एक पुत्र को जन्म दिया है। परन्तु जब वह उस पुत्र को खो बैठती है, तो जो विपत्तियाँ उस पर उस समय बरसायी गयी थीं, जब उसके पुत्र नहीं था, वे सब दुगुनी तिगुनी हो जायेंगी।"

त्वयि संनिहितेऽप्येवमहमासं निराकृता।
किं पुनः प्रोषिते तात ध्रुवं मरणमेव मे।।
अत्यन्तं निगृहीतास्मि भर्तुर्नित्यमतन्त्रिता।
परिवारेण कैकेय्याः समा वाप्यथवावरा।।

नित्यक्रोधतया तस्याः कथं नु खरवादि तत्।
कैकेय्या वदनं द्रष्टुं पुत्र धक्ष्यामि दुर्गता ।। II.20.41,42

"तुम सब लगभग सत्ताईस वर्ष के हो गये हो। एक व्यस्क पुत्र के मेरे निकट रहने पर भी, जो अपने पिता का इतना लाड़ला है, विश्व भर में सम्मानित है, मैं सौतों से तिरस्कृत रही हूँ। तुम्हारे परदेस चले जाने पर मेरी दशा क्या होगी? उस दशा में तो मेरा मरण ही निश्चित है। पति की ओर से तो मुझे सदा अत्यधिक तिरस्कार ही मिला है, कभी प्यार सम्मान प्राप्त नहीं हुआ। मैं कैकेयी की दासियों के बराबर अथवा उनसे भी गयी बीती समझी जाती हूँ। बेटे! इस दुर्गति में, जब तुम चले जाओगे, मैं किस प्रकार सदा क्रोधी स्वभाव वाली उस कैकेयी के मुख को देख सकूँगी?"

दश सप्त च वर्षाणि तव जातस्य राघव।
आसितानि प्रकङ्क्षन्त्या मया दुःखपरिक्षयम्।।
अपश्यन्ती तव मुखं परिपूर्णशशिप्रभम्।
कृपणा वर्तयिष्यामि कथं कृपणजीविकाम्।। II.20.44-47

यह दिखाने के लिए कि मैं ग़लती पर हूँ, मैंने जो श्लोक अभी दिये हैं, उनके अनुसार इस समय राम की आयु केवल सत्रह वर्ष है। इस विषय में कुछ वाद–विवाद है। आयु इस समय सत्रह वर्ष नहीं हो सकती। इसमें कुछ ग़लती है। अतः कुछ लोगों का मत है कि उनकी आयु सत्रह में वह जोड़कर निकालती है, जबकि उनका उपनयन हुआ था। इस हिसाब से उनकी आयु इस समय सत्ताईस–अट्ठाईस वर्ष बैठती है।

कौशल्या आगे कहती है, "रघुनन्दन! तुम्हारे उपनयन रूप द्वितीय जन्म के लिये सत्रह वर्ष बीत गए। तुम अब सत्रह जमा दस वर्ष– सत्ताईस वर्ष अर्थात् तुम अब सत्ताईस वर्ष के हो गए। अब तक मैं यही आशा लगाए चली आ रही थी कि अब मेरा दुःख दूर हो जायेगा। मैंने इस दुर्गति को बहुत सहा, अब सहा नहीं जाता। मैं अब एक अभागिन का जीवन जी रही हूँ। पूर्ण चन्द्रमा के समान तुम्हारे मुख को देखे बिना मैं दुःखिनी कैसे जिऊँगी?"

उपवासैश्च योगैश्च बहुभिश्च परिश्रमैः।
दुःखं संवर्धितो मोघं त्वं हि दुर्गतया मया।। II.20.48

"मैंने तुम्हारे लालन–पालन में क्या–क्या नहीं सहा? मुझे उपवास रखना पड़ा, भूखे–प्यासे जाना पड़ा, अत्यधिक एद्यम करना पड़ा। यह सब व्यर्थ चला गया है। यदि तुम्हें इस देश से निकाला जाना था, तो मुझ भाग्यहीन ने बार बार उपवास, देवताओं की अर्चना–पूजा, न जाने क्या–क्या परिश्रमजनक उपाय करके व्यर्थ ही इतने कष्ट से तुम्हारा पालन–पोषण किया।"

इस प्रकार की बातें प्रायः मातायें तभी करती हैं, जब वे अपने पुत्रों की ओर से असंतुष्ट अनुभव करती हैं। आपको कदाचित् ध्यान होगा कि मैंने भरत द्वारा अपनी

माता कैकेयी का चरित्र–चित्रण पहले दिया था, जो कि उनके यह जानने से पूर्व का है कि अयोध्या में उनकी अनुपस्थिति में क्या कुछ अनुचित हुआ है,* सीता और लक्ष्मण सहित राम का वनगमन और उसके उपरान्त दशरथ की मृत्यु। मंत्रियों तथा मुनिओं ने राजा विहीन होने वाली दुर्दशा का वर्णन करके वसिष्ठ जी से किसी को शीघ्र ही राजा बनाने का अनुरोध किया। वसिष्ठ जी की आज्ञानुसार पाँच दूत भेजे गये, कैकेय देश, भरत और शत्रुघ्न को लाने के लिये। भरत ने पहले पिता, श्री राम और लक्ष्मण, कौशल्या व सुमित्रा की कुशल पूछी। तदनन्तर अपनी माता की। वे कैकेय जाने से पूर्व, जैसा अपनी माता को जानते थे, उसका वर्णन कर, वे वसिष्ठ के दूतों से इस प्रकार पूछते हैं :

आत्मकामा सदा चण्डी क्रोधना प्राज्ञमानिनी।
अरोगा चापि मे माता कैकेयी किमुवाच ह।। II.70.10

"जो सदा अपना ही स्वार्थ सिद्ध करना चाहती है और अपने आपको बहुत बुद्धिमती समझती है, उस उग्र स्वभाव वाली कोपशीला, मेरी माता कैकेयी को तो कोई कष्ट नहीं है? उसने क्या कहा?"

अयोध्या लौटने पर जब भरत को सब वृत्तान्त अपनी माता से मिला, उन्होंने कैकेयी को धिक्कारा और उसके प्रति महान रोष प्रकट किया। जब वे पूछते हैं, उनके भाई श्री राम क्यों घर से निकाला गया, वे कहते हैं :

तथा ज्येष्ठा हि मे माता कौसल्या दीर्घदर्शिनी।
त्वयि धर्मं समास्थाय भगिन्यामिव वर्तते।।
तस्याः पुत्रं कृतात्मानं चीरवल्कलवाससम्।
प्रस्थाप्य वनवासाय कथं पापे न शोचसि।। II.73.10,11

"मेरी बड़ी माता कौशल्या ने धर्म का आश्रय लेकर तुम्हारे साथ बहिन का सा बर्ताव किया है। उसके लिए तुम्हारा उनके प्रति कैसा व्यवहार रहा है क्योंकि वे बहुत दूरदर्शिनी हैं। वे एक प्रज्ञावती महिला हैं, अत्यन्त व्यवहारकुशल है। उन्हें उचित और अनुचित की समझ है। उन्होंने तुम्हारी अनुदारता का बदला रुखाई से नहीं दिया। मुझे तो यह आश्चर्य है, तुम्हें उसके बेटे को वन में भेज कर छाल व खाल पहनने पर विवश करने का लेशमात्र शोक भी नहीं।"

ज़रा देखते हैं बूढ़े राजा पर कैकेयी ने कितनी पकड़ अपनी बनाई हुई थी। उसका प्रभाव उन पर कितना था? श्री राम के अभिषेक का समाचार पाकर खिन्न हुई मन्थरा ने जब कैकेयी को उकसाना आरम्भ किया और राम के राज्याभिषेक को कैकेयी के लिये अनिष्टकारी व भरत के लिये भयजनक बताकर, वह अन्ततः कैकेयी को भड़काने में सफल हो गई। उसने राजा से प्रतिश्रुत दो वरों को माँगने की सलाह दी और कोपभवन में जाने को भी कहा। उस समय मन्थरा कैकेयी से कहती है :

* देखिए अ.13, पृ.213.

दयिता त्वं सदा भर्तुरत्र से नास्ति संशयः।
त्वत्कृते स महाराजो विशेदपि हुताशनम्।।
न त्वां क्रोधयितुं शक्तो न क्रुद्धां प्रत्युदीक्षितुम्।
तव प्रियार्थं राजा हि प्राणानपि परित्यजेत्।।
न ह्यतिक्रमितुं शक्तस्तव वाक्यं महीपतिः।
मन्दस्वभावे बुद्ध्यस्व सौभाग्यबलमात्मनः।। II.9. 24-26

"इसमें सन्देह नहीं कि तुम अपने पति को सदा से बहुत प्रिय रही हो। तुम्हारे लिये महाराज अग्नि में भी प्रवेश कर सकते हैं। तुमने उन पर इतना जादू डाला हुआ है कि वे न तो तुम्हें कुपित कर सकते हैं, और न ही तुम्हें कुपित अवस्था में देख सकते हैं। राजा दशरथ तुम्हारी इच्छापूर्ति के लिए अपने प्राणों का भी परित्याग कर सकते हैं। महाराज तुम्हारी बात को किसी प्रकार भी टाल नहीं सकते। तुम अपने सौभाग्यबल का स्मरण करो और उसका पूरा–पूरा लाभ उठाओ।"

जब राजा कोप भवन में आये, तो उन्होंने कैकेयी को मलिन वस्त्र पहने धरती पर लोटते देखा। उसके पुष्पहर और दिव्य आभूषण धरती पर यत्र–तत्र बिखरे पड़े थे। वे उसके अंगों पर हाथ फेरते हुए उससे पूछते हैं, "देवि! क्या बात है? बताओ न, आख़िर बात क्या है? तुम जो इस प्रकार दुःख देने के लिये धूल में लोट रही हो, उसका क्या कारण है? मेरे मन में तो तुम्हारे लिये सदा कल्याण भावना रहती है। तुम मुझसे कुछ भी प्राप्त कर सकती हो? मेरे रहते हुए तुम क्यों धरती पर लोट रही हो? क्या कभी ऐसा हुआ है कि मैंने तुम्हारा मन नहीं रखा है? इस समय ऐसा क्यों हो रहा है?"

कः प्रियं लभतामद्य को वा सुमहदप्रियम्।
मा रोदीर्मां च कार्षीस्त्वं देवि संपरिशोषणम्।।
अवध्यो वध्यतां को वा वाध्यः को वा विमुच्यताम्ः।
दरिद्रः को भवत्वाढ्यो द्रव्यवान्वाप्यकिंचनः।।
अहं चैव मदीयाश्च सर्वे तव वशानुगाः।
न ते किंचिदभिप्रायं व्याहन्तुमहमुत्सहे।।
आत्मनो जीवितेनापि ब्रूहि यन्मनसेच्छसि।
बलमात्मनि जानन्ती न मां शङ्कितुमर्हसि।। II.10.32-35

बूढ़े राजा के न्याय का नमूना आप देखिए! वे कहते हैं, "तुम कहो तो सही, तुम को किसका प्रिय काम करना है। तुम्हारे किस उपकारी को प्रिय मनोरथ प्राप्त हो अर्थात् किस अपकारी को अत्यन्त कठोर दंड दिया जाये? अपना हृदय न दुखाओ, तुम रोओ मत। तुम्हारी इच्छानुसार किस निर्दोषी का वध किया जाये अथवा किस प्राणदंड योग्य व्यक्ति को मुक्त किया जाये? किस दरिद्र को धनवान और किस धनवान और किस धनवान को दरिद्र बनाया जाये? मैं और मेरे सेवक सभी तुम्हारी आज्ञा के अधीन हैं। तुम्हारे किसी भी मनोरथ का भंग नहीं कर सकता। उसे पूरा

अवश्य करूँगा, चाहे उसके लिए मुझे प्राण ही क्यों न देने पड़ें। अतः जो कुछ तुम्हारे मन में हो वह स्पष्ट कह दो। अपने बल–प्रभाव को को जानते हुए भी तुम्हें मुझ पर सन्देह नहीं करना चाहिए कि मैं तुम्हारी बात मानूँगा या नहीं। जिसमें तुम्हें प्रसन्नता मिले, मैं वही करूँगा।"

अवलिप्ते न जानासि त्वतः प्रियतरो मम।
मनुजो मनुजव्याघ्राद्रामादन्यो न विद्यते।।
तेनाजय्येन मुख्येन राघवेण महात्मना।
शपे ते जीवनार्हेण ब्रूहि यन्मनसेच्छसि।।
यं मुहूर्तमपश्यंस्तु न जीवयमहं ध्रुवम्।
तेन रामेण कैकेयि शपे ते वचनक्रियाम्।।
आत्मना वात्मजैश्चान्यैर्वृणे यं मनुजर्षभम्।
तेन रामेण कैकेयि शपे ते वचनक्रियाम्।।
आत्मना वात्मजैश्चान्यैर्वृणे यं मनुजर्षभम्।
तेन रामेण कैकेयि शपे ते वचनक्रियाम्।।
भद्रे हृदयमप्येतदनुमृश्योद्धरस्व मे।
एतत्समीक्ष्य कैकेयि ब्रूहि यत्साधु मन्यसे।।
बलमात्मनि पश्यन्ती न मां शङ्कितुमर्हसि।
करिष्यामि तव प्रीतिं सुकृतेनापि ते शपे।। II.11.5-10

"अपने सौभाग्य पर गर्व करने वाली कैकेयी! क्या तुम्हें मालूम नहीं है, नरश्रेष्ठ श्री राम के अतिरिक्त दूसरा कोई अन्य मनुष्य नहीं है, जो मुझे तुमसे अधिक प्रिय हो जो प्राणों के द्वारा भी आराधनीय है और जिन्हें जीतना किसी के लिये भी असम्भव है। उस प्रमुख वीर महात्मा राम की शपथ खाकर कहता हूँ कि तुम्हारी कामना पूर्ण होगी। अतः तुम्हारे मन में जो इच्छा है, उसे बताओ।" बेचारे दशरथ को क्या पता था कि वे क्या कर रहे हैं क्योंकि उसी राम पर संकट का पहाड़ टूटने वाला है! उन्होंने तो सोचा था कि राम किसी भी संकट से परे हैं, वे बहुत दूर हैं। इसलिए वे कैकेयी से इस प्रकार बोले थे, "जिसको दो घड़ी भी न देखने पर मैं निश्चय ही जीवित नहीं रह सकता, उसी राम की शपथ खाकर मैं कहता हूँ कि जो कुछ तुम कहोगी, मैं करूँगा। अपने तथा अपने दूसरे पुत्रों की अपेक्षा मैं, जिस नरश्रेष्ठ राम का वरण करने को उद्यत हूँ, उसी का शपथ खाकर कहता हूँ कि तुम्हारी बात पूरी करूँगा," वे औरों को भी सम्मिलित कर लेते हैं। "भद्रे! मेरा यह हृदय भी तुम्हारे वचनों की पूर्ति के लिए तत्पर है। ऐसा सोचकर तुम अपनी इच्छा व्यक्त करके इस दुःख से मेरा उद्धार करो। इस बात पर दृष्टिपात करके (राम मुझे कितने प्रिय हैं) तुम्हें जो अच्छा लगे, वह कहो। अपने बल को देखते हुए, तुम्हें मुझ पर शंका नहीं करनी चाहिए। मैं अपने सत्कर्मों की शपथ खाकर कहता हूँ कि तुम्हारा प्रिय कार्य अवश्य करूँगा।"

कैकेयी अपनी माँग का परिणाम और उसके अनर्थकारी स्वरूप को भलीभाँति जानती थी। ये आश्वासन भी उसके लिये पर्याप्त न थे। अतः जैसा हम देखेंगे, वह दशरथ को और भी कठोर वादों द्वारा अधिक बाँधती है। उसने अपने अत्यन्त भयंकर अभिप्राय को इस प्रकार व्यक्त किया :

यथा क्रमेण शपसि वरं मम ददासि च।
तच्छृण्वन्तु त्रयस्त्रिंशद्देवाः साग्निपुरोगमाः।।
चन्द्रादित्यौ नभश्चैव ग्रहा रात्र्यहनी दिशः।
जगच्च पृथिवी चेयं सगन्धर्वा सराक्षसा।।
निशाचराणि भूतानि गृहेषु गृहदेवताः।
यानि चान्यानि भूतानि जानीयुर्भाषितं तव।।
सत्यसन्धो महातेजा धर्मज्ञः सुसमाहितः।
वरं मम ददात्येष तन्मे शृण्वन्तु देवताः।। II.13-16

"राजन्! आप जिस प्रकार एक के पश्चात् एक शपथ खाकर मुझे वर देने के लिए उद्यत हुए हैं, उसे अग्नि आदि तैंतीस करोड़ देवता भी सुन लें। चन्द्रमा, सूर्य, आकाश, ग्रह, रात–दिन, चारों दिशायें, जगत्, यह पृथ्वी, गन्धर्व, राक्षस, रात में विचरने वाले प्राणी, घरों में रहने वाले देवता तथा अन्य सब प्राणी– ये सब आपके कथन को जान लें अर्थात् आपकी बातों के साक्षी बनें, सब देवतागण सुनें। महातेजस्वी, सत्यप्रतिज्ञ तथा शुद्ध आचार–विचार वाले ये महाराज मुझे वर दे रहे हैं। स्मरण रखिए, आपकी बातों को इन सबने सुन लिया है। यह न सोचिए कि आपने मुझसे ही कुछ कहा है, अखिल विश्व ने सब कुछ सुन लिया है, एक–एक शब्द।"

इस प्रकार राजा को वशीभूत करके कैकेयी उन्हें पहले दिए हुए वरों का स्मरण कराती है। उसने भरत के लिए अभिषेक और राम कौ चौदह वर्ष का वनवास माँगा। अपने कुचक्र के निष्पादन के लिए शैतान धर्मग्रन्थों का भी उपयोग कर सकता है। इस स्त्री में पुरुषोचित्त विशेषतायें विद्यमान थीं। वह पिछले इतिहास का हवाला देती है और ऐसे महापुरुषों के उदाहरण देती है, जिन्होंने कठिन वादे किए थे और उन्होंने अपने वादों को निभाया भी था, जिसके फलस्वरूप उन्हें स्वर्ग प्राप्त हुआ वह आगे कहती है, "मैंने भी आपको धर्म की राह पर खड़ा कर दिया है अर्थात आपको भी पुण्य अर्जित करने का अवसर मिला है क्योंकि आपको भी अपने वचनों का पालन करना है। ऐसा करने से आप भी स्वर्ग में प्रवेश करने के अधिकारी बन सकते हैं।" मुझे आशा है कि आप शैब्य राजा की कथा तो जानते ही हैं।

शैब्यः श्येनकपोतीये स्वमांसं पक्षिणे ददौ।
अलर्कश्चक्षुषी दत्वा जगाम गतिमुत्तमाम्।। II.12.43

राजा शैब्य ने बाज़ और कबूतर के झगड़े में कबूतर के प्राण बचाने की प्रतिज्ञा दी थी और उन्होंने बाज़ नामक पक्षी को अपने शरीर का माँस काट कर दे दिया।

शैब्य की कथा तो सुविज्ञात है। इसी प्रकार राजा अलर्क ने अपने दोनों नेत्रों को दान दे दिया और उत्तमगति प्राप्त की। अलर्क नामक एक राजा था, जिसका वादा था कि वह किसी भी याचक को उसकी मुँह माँगी भेट देगा। एक बार उसके पास एक अन्धा व्यक्ति आया, वह एक वेदों का पारंगत ब्राह्मण था। अन्धा बोला, "मैं अपनी आँखे आपको देता हूँ और आप अपनी मुझे दे दीजिये।" अलर्क ने कहा, "अच्छी बात, मैं इसके लिए वचन देता हूँ," और उसने अपनी आँखें निकाल कर उसे दे दीं।

कैकेयी राजा को सत्य पर दृढ़ रहने के लिए प्रेरणा देकर अपने वरों की पूर्ति के लिये दुराग्रह दिखाती है।

सरितां तु पतिः स्वल्पां मर्यादां सत्यमन्वितः।
सत्यानुरोधात्समये वेलां स्वां नातिवर्तते।। II.14.6

"समुद्र को ही देखो, कितना सत्यनिष्ठ है! एक बार वचन देने के पश्चात् सत्य का ही अनुसरण करने के कारण पर्व आदि के समय में भी वह अपनी सीमा और तट का उल्लंघन नहीं करता (बावजूद इसके कि वहाँ कोई ज़ीक्फ़्रीड लाइन* जैसी कोई चिरस्थायी नहीं है)।"

सत्यं समनुवर्तस्व यदि धर्मे धृता मतिः।
स वरः सफलो मेऽस्तु वरदो ह्यसि सत्तम।। II.14.8

"आपकी बुद्धि तो धर्म में स्थित है, तो सत्य का अनुसरण कीजिए। मेरा माँगा हुआ वर सफल होना चाहिए," इस प्रकार कैकेयी ने राजा दशरथ को कठोर शपथों द्वारा प्रतिबद्ध कर लिया।

दशरथ ने विलाप करते हुए दृढ़ विरोध किया, उन्होंने कैकेयी से अनुनय–विनय की, फटकारा, समझाया और विनय करते हुए, ऐसा वर न माँगने के लिए अनुरोध किया। परन्तु सब निष्फल हुआ। कैकेयी का हृदय नहीं पिघला। तब राजा दशरथ कहते हैं, "मेरा पुत्र अत्यन्त निष्कपट और सरल स्वभाव वाला है। हाय! मैं तो इस षड्यंत्रकारिणी अधमा द्वारा फँसा लिया गया हूँ। मैं नहीं चाहता कि मेरा पुत्र वन को जाये।"

नालं द्वितीयं वचनं पुत्रो मां प्रतिभाषितुम्।
स वनं प्रव्रजेत्युक्तो बाढमित्येव वक्ष्यति।।
यदि मे राघवं कुर्याद्वनं गच्छेति भाषितः।
प्रतिकूलं प्रियं मे स्यान्न तु वत्सः करिष्यति।।
शुद्धभावोऽपि भावं न तु ज्ञास्यति राघवः।
राघवे हि वनं प्राप्ते सर्वलोकस्य धिक्कृतम्।। II. 12. 85-87

"अपने पुत्र राम को यदि मैं अस्पष्टतः कह दूँ कि तुम वन चले जाओ, तो वह तुरन्त 'बहुत अच्छा' कहकर मेरी आज्ञा स्वीकार कर लेगा। मेरा पुत्र राम इतना

भोला–भाला और सत्यनिष्ठ है कि कोई दूसरी बात कहकर प्रतिकूल उत्तर कभी न देगा। परन्तु यदि मेरी अवज्ञा करके वह बन न जाये, मेरे लिए तो यही प्रिय कार्य होगा। किन्तु मेरा बेटा ऐसा नहीं करेगा। वह तो एक ऐसा व्यक्ति है, जिसके लिये सच्चरित्रता हठधर्मी बन गयी है। यदि राम वन को चला गया, तो समस्त लोगों का धिक्कार पात्र बनकर एक अपराधी के रूप में मृत्यु अवश्य ही मुझे यमलोक में पहुँचा देगी।"

तत्पश्चात् राजा दशरथ दूसरी योजना प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं :

प्रियं चेद्भवतस्यैतद्रामप्रव्राजनं भवेत्।।
मा स्म मे भरतः कार्षीत्प्रेतकृत्यं गतायुषः। II.12.92,93

"यदि भरत को राम का वन गमन प्रिय लगे और वह तुम्हारी इच्छानुसार राज्य लेना स्वीकार करे, तो मेरी मृत्यु के बाद, वह मेरा अन्त्येष्टि संस्कार न करे।"

अब मैं एक प्रश्न पर आता हूँ, जो यदा–कदा विवादास्पद बन जाता है। परन्तु मेरे विचार से बात बिल्कुल स्पष्ट है। फिर भी इस काव्य में इस विषय में कुछ एक निश्चित बात नहीं मिलती। कवि कभी एक बात कहता है, कभी दूसरी। मैं इसको यथासम्भव स्पष्ट करने का प्रयास करूँगा। प्रश्न यह है– दशरथ ने इन वरदानों को स्वीकार किया, फलस्वरूप श्री राम निर्वासित हुए। उन्होंने (दशरथ) यह एक अविवेक पूर्ण कर्म क्यों किया? इसकी अपेक्षा बिल्कुल नहीं की जा सकती थी। अधिकांश लोग ऐसा कहते हैं और यह आम धारणा भी है कि दशरथ अपनी दूसरी पत्नी के प्रति इतने आकर्षित थे कि उन्होंने उसकी सब बातें मान ली। कौन सा ऐसा वृद्ध है, जो दूसरी बार विवाह करके अपनी नई पत्नी का ग़ुलाम नहीं बन जाता? यह तो सर्वविदित है ही। यह तो सब जानते ही हैं कि कैकेयी एक अच्छी स्त्री नहीं थी। वह बहुत चालाक थी और उसने राजा को पूर्णतया अपने वश में कर रखा था। उसने अपनी मन मानी करवायी और राजा को ख़ूब नचाया। यही आम धारणा है कि कैकेयी के सम्मोहन के कारण वे प्रतिरोध न कर सके। ऐसी बात नहीं है कि कैकेयी उस समय नवोढ़ा थी। ये वर तो उसे सैंकड़ों वर्ष पूर्व ('पूरा' II.11.18) दिए गए थे, सुर–असुर संग्राम के अवसर पर, जब देवता भी पृथ्वी के अधिपतियों से सहायता लेते थे। किन्तु, यदि हम 'रामायण' ग्रन्थ की सूक्ष्म समीक्षा करें, तो पता चलता है कि दशरथ ने जो कैकेयी की बात मानी, उसका कारण सम्मोहन या आकर्षण नहीं था क्योंकि उनको तो बिना किसी हिचक के उन्होंने अलग कर दिया था, जैसे ही उन्हें यह अहसास हुआ कि कैकेयी एक अनैतिक स्त्री थी। उन्होंने स्वयं को उससे प्रभावित होने नहीं दिया। उन्हें उससे कोई भय नहीं था, वरन् वे स्वयं ही ऐसे वचन से प्रतिबद्ध थे, जिसकी उपेक्षा वे न कर सके। क्योंकि वे सत्यव्रत थे, इक्ष्वाकु कुलोत्पन्न थे, जो कभी भी अपना वचन नहीं तोड़ते थे, वे फँस गए। उन्होंने कैकेयी के फन्दे से निकलने का प्रयास किया, परन्तु निकल न सके। वे स्वयं इस प्रकार कहते हैं :

यदा तु बहवो वृद्धा गुणवन्तो बहुश्रुताः।।
परिप्रक्ष्यन्ति काकुत्स्थं वक्ष्यामि किमहं तदा।
कैकेय्या क्लिश्यमानेन पुत्रः प्रव्राजितो मया।
यदि सत्यं ब्रवीम्येतत्तदसत्यं भविष्यति।। II.12.65,67

वृद्ध राजा भली भाँति जानते थे कि लोग इस विषय में क्या कहेंगे? उनको इसका पूरा–पूरा अनुमान था कि सब लोग जानते हैं कि वे कैकेयी से कितने प्रभावित थे। इसीलिए वे अत्यन्त खिन्न थे। "जब अनेक बहुश्रुत गुणवान अथवा वृद्ध पुरुष, जो सब जानते हैं, मुझसे पूछेंगे, 'राम कहाँ है? राम कहाँ है?' मैं उनसे क्या कहूँगा? मैं उनसे कैसे कहूँगा कि कैकेयी के दबाव देने पर मैंने अपने बेटे को घर से निकाल दिया। यदि मैं यह कहता हूँ कि 'अपनी पत्नी को वचन देकर मैं प्रतिबद्ध हो गया था। अपने वचन के प्रति मिथ्यावादी न हो सकने के कारण ही मैंने राम को निर्वासित किया,' सत्य तो यही होगा। परन्तु वे लोग मेरी इस बात पर विश्वास न करेंगे, उनको यह सब असत्य ही लगेगा और वे कहेंगे, यह बूढ़ा झूठ बोल रहा है। यह मेरे लिए अत्यन्त दुःखदायी बात होगी और मैं लोकनिन्दा से किसी प्रकार बच न पाऊँगा। सब मुझे ही दोष देंगे।"

अतएव, उन्होंने दूसरी युक्ति का प्रयोग करने का प्रयास किया, और वे कैकेयी से बोले :

न जीवितं मेऽस्ति कुतः पुनः सुखं विनात्मजेनात्मवतः कुतो रतिः।
ममाहितं देवि न कर्तुमर्हसि स्पृशामि पादावपि ते प्रसीद मे।। II.12.112

"देवि! अपने बेटे राम के बिना मेरा जीवन नहीं रह सकता, फिर सुख कहाँ होगा? आत्मज्ञ पुरुषों को भी अपने पुत्र से विछोह हो जाने पर चैन नहीं मिलता। अतः तुम मेरा अहित न करो। मैं एक वयोवृद्ध पुरुष हूँ, तुम मेरी तरुणी पत्नी हो। फिर भी मैं तेरे चरण छूता हूँ। तुम मुझ पर प्रसन्न हो जाओ। क्या इतने पर भी मेरी विनती स्वीकार न करोगी? क्या राम के प्रति अपना दुराग्रह न छोड़ोगी?"

स भूमिपालो विलपन्ननाथवत्सिन्त्रया गृहीतो हृदयऽतिमात्रया।
पपात देव्याश्चरणौ प्रसारितावुभावसंस्पृश्य यथातुरस्तथा।। II.12.113

इस प्रकार राजा दशरथ मर्यादा का उल्लंघन करने पर भी, उस हठीली स्त्री के वश में पड़कर, अनाथ की भाँति विलाप कर रहे थे। दशरथ के ऐसा कहने पर, "मैं तुम्हारे चरण छूता हूँ," कैकेयी ने अपने पैर आगे बढ़ा दिए। वह खूब समझाती थी कि उस समय वह एक बड़े लेनदार की हैसियत में है और दशरथ केवल एक कर्ज़दार हैं। दशरथ कैकेयी के चरण भी छूना चाहते थे। परन्तु अधिक रोने के कारण उनकी आँखें ठीक काम नहीं कर रही थीं। वे पैरों को न पाकर, मूर्छित होकर गिर पड़े, ठीक उसी प्रकार जैसे कोई रोगी किसी वस्तु को छूना चाहता है, किन्तु दुर्बलता के कारण वहाँ

तक न पहुँचकर बीच में ही अचेत हो जाता है। इस प्रकार वे संयोगवश ही अपनी पत्नी के चरण छूने की बदनामी से बाल–बाल बच गए।

इससे पता चलता है कि कैकेयी ने स्वयं को दुष्टता की किस सीमा तक पहुँचा दिया था।

एवं प्रचोदितो राजा कैकेय्या निर्विशङ्कया।
नाशकत्पाशमुन्मोक्तुं बलिरिन्द्रकृतं यथा।। II.14.11

कैकेयी ने जब निःशंक होकर अपने प्राणों का परित्याग करने की धमकी देकर राजा को प्रेरित किया, राजा दशरथ उस सत्यरूपी बन्धन से अपने आपको मुक्त न कर सके, जैसे राजा बलि इन्द्रप्रेरित वामन के पाश से अपने को मुक्त करने में असमर्थ रहे।

कैकेयी द्वारा बारंबार प्रेरित किए जाने पर व्यथित हुए राजा दशरथ ने इस प्रकार कहा :

धर्मबन्धेन बद्धोऽस्मि नष्टा च मम चेतना। I.14.24

"मेरी चेतना विलुप्त होती जा रही है, मैं सोचने में असमर्थ हूँ। मैं धर्म के बन्धन से बँधा हुआ हूँ– वह भी अपने दिए हुए वचन की पूर्ति के लिए।" इस प्रकार आप देख सकते हैं कि इसी बात ने राजा को इतना विवश किया।

अब हम इस नारी की एक अन्य विशेषता पर आते हैं– जो मैं पहले भी बता चुका हूँ– कि वह झूठ भी बोलती थी। पूरी रात कैकेयी अपने वरों के लिये दुराग्रह करती रही। जब रात बीत गई और प्रभात हुआ श्री राम के अभिषेक का शुभमुहूर्त आ पहुँचा। वसिष्ठ भी अयोध्यापुरी आ पहुँचे। उन्होंने महाराज के सचिव, सुमन्त्र को महाराज को उनके आगमन की सूचना देने को भेजा क्योंकि उनके लिए यह आदेश था कि उन्हें भीतर आने के लिए किसी समय भी न रोका जाये। सुमन्त्र राजा के पास जाकर खड़े हो गए, उन्होंने उनकी दशा देखी और देखा कि वे बात करने की स्थिति में न थे। वे शोक और जागरण के कारण ऊँघ रहे थे। सुमन्त्र ने पूछा क्या बात है? महाराज स्वस्थ तो हैं? सुमन्त्र बड़े बुद्धिमान थे और वे स्थिति को समझ गये। जब दुःख और दीनता के कारण राजा कुछ भी बोल न सके, तब कैकेयी ने इस प्रकार का उत्तर दिया।

सुमन्त्र राजा रजनीं रामहर्षसमुत्सुकः।।
प्रजागरपरिश्रान्तो निद्राया वशमेयिवान्।
तद्गच्छ त्वरितं सूत राजपुत्रं यशस्विनम्।।
राममानय भद्रं ते नात्र कार्या विचारणा। II. 1.62-64

"सुमन्त्र! महाराज अभी नींद में हैं। वे रात भर राम के राज्याभिषेक जनित हर्ष के कारण उत्कंठित होकर जागते रहे। अधिक जागरण के कारण उन्हें इस समय नींद

आ गयी है। अतः सूत तुम तुरन्त जाओ और यशस्वी राम को यहाँ बुला लाओ। जो कुछ मैंने कहा है, उस पर शंका करने की कोई आवश्यकता नहीं। कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिए।"

महल में पहुँचकर राम ने देखा कि पिता जी विषाद में डूबे हुए हैं। उनके नेत्रों में आँसू भरे हुए थे और मुख से कोई शब्द भी नहीं निकल रहा था। इस अप्रत्याशित दृश्य को देखकर श्री राम अत्यन्त विक्षुब्ध हो उठे। वे कैकेयी को प्रणाम करके पूछने लगे, "पिता जी स्वस्थ तो हैं? मुझसे अनजाने में कोई अपराध तो नहीं हो गया जिससे पिता जी मुझसे रुष्ट हो गए हैं? बात क्या है? मुझे स्पष्ट रूप से बताओ।"

न राजा कुपितो राम व्यसनं नास्य किंचन।
किंचिन्मनोगतं त्वस्य त्वद्भयान्नाभिभाषते।।
प्रियं त्वामप्रियं वक्तुं वाणी नास्योपवर्तते।
तदवश्यं त्वया कार्यं यदनेनाश्रुतं मम।।
एष मह्यं वरं दत्वा पुरा मामभिपूज्य च।
स पश्चात्तप्यते राजा यथान्यः प्राकृतस्तथा।।
अतिसृज्य ददानीति वरं मम विशां पतिः।
स निरर्थं गतजले सेतुं बन्धितुमिच्छति।। II.18.20-23

राम के इस प्रकार पूछने पर वह निर्लज्ज कैकेयी बड़ी ढ़िटाई के साथ अपने मतलब की बात इस प्रकार बोली, "राम! न तो राजा कुपित हैं और न ही इन्हें कोई कष्ट हुआ है। इनके मन में कोई ऐसी बात है, जिसे तुम्हारे डर से ये कह नहीं पा रहे हैं। तुम इनको अत्यन्त प्रिय हो, अतएव तुमसे कोई अप्रिय बात नहीं कह पा रहे हैं। किन्तु, इन्होंने जो प्रतिज्ञा मुझसे की है, उसका पालन अवश्य होना चाहिए। वह मैं तुम्हें बताती हूँ। इन्होंने पहले तो मेरा सत्कार करते हुए मुझे दो वरदान दिए और अब ये साधारण असंस्कृत मनुष्यों की भाँति पश्चाताप कर रहे हैं, जिनको इन्होंने सत्यभाव से दिया था 'मैं दूँगा,' ऐसी प्रतिज्ञा करके। ये मुझे वर दे चुके हैं और अब उनके निवारण के लिए व्यर्थ प्रयत्न कर रहे हैं। पानी फैल जाने पर उसे रोकने के लिए बाँधने की निरर्थक चेष्टा कर रहे हैं।" वह एक प्रतिज्ञा द्वारा राम को भी प्रतिबद्ध कर लेती है, जैसे कि उसने अपने पति को किया था।

धर्ममूलमिदं राम विदितं च सतामपि।
तत्सत्यं न त्येजेद्राजा कुपितस्त्वत्कृते यथा।। II 18.24

"राम! सत्य ही धर्म का मूल है, यह सत्पुरुषों का भी निश्चित सिद्धान्त है। ऐसा न हो कि ये महाराज तुम्हारे कारण मुझ पर कुपित होकर सत्य को छोड़ बैठें। अच्छा हो या बुरा हो, तुम्हें रुचिकर हो या अरुचिकर, जैसे भी इनके सत्य का पालन हो, वैसा तुम्हें करना चाहिए।"

यदि तद्वक्ष्यते राजा शुभं वा यदि वाशुभम्।
करिष्यसि ततः सर्वमाख्यास्यामि पुनरस्त्वहम्।। II 18.25

"यदि राजा जिस बात को कहना चाहते हैं, वह शुभ हो अथवा अशुभ, तुम सर्वथा उसका पालन करो, तो मैं सारी बात तुमसे कहूँगी।"

यदि त्वभिहितं राज्ञा त्वयि तन्न विपत्स्यते।
ततोऽहमभिधास्यामि न ह्येष त्वयि वक्ष्यति।। II 18.26

"यदि राजा की कही हुई बात को सुनकर तुम उसे नष्ट न होने दो, यदि तुम उनकी प्रत्येक आज्ञा का पूर्ण रूप से पालन करो, तो मैं सब कुछ खुल कर बता दूँगी, वे तुमसे स्वयं कुछ न कह सकेंगे।"

श्री राम तो जैसा आप सब जानते ही हैं, उदारता और महानता के मूर्त्तरूप है। वे कहते हैं, "ठीक है, इस विषय में आपके मन में एक क्षण के लिए भी कोई सन्देह नहीं होना चाहिए।"

तद्ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकाङ्क्षितम्।
करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते।। II.18.30

"देवि! राजा को जो बात अभीष्ट है, वह मुझे बताओ। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, उसे अवश्य पूर्ण करूँगा, चाहे वे स्वयं कहें या न कहें। राम कभी दो प्रकार की बात नहीं करता, जो एक बार कह दिया– कह दिया।"

यदि सत्प्रतिज्ञं त्वं पितरं कर्तुमिच्छसि।
आत्मानं च नरश्रेष्ठ मम वाक्यमिदं श्रणु।। II.18.34

"नरश्रेष्ठ! न केवल तुम्हारे पिता ही, अपितु तुम भी मेरे प्रति अब पवित्र प्रतिज्ञा से प्रतिबद्ध हो। यदि तुम अपने पिता को सत्यवादी सिद्ध करना चाहते हो, तो मेरी बात सुनो।"

अब बिना किसी हिचकिचाहट के अपनी दोनों माँगें राम के सम्मुख रख दीं– "पिता की आज्ञानुसार तुम्हें आज ही चौदह वर्ष के लिए दंडकारण्य वन में प्रवेश करना चाहिए और राजा में जो तुम्हारे अभिषेक के लिये जो सामान जुटाया है, उस सबके द्वारा यहाँ भरत का अभिषेक किया जाये।"

एतेन त्वां नरेन्द्रोऽयं कारूण्येन समाप्लुतः।
शोकसंक्लिष्टवदनो न शक्नोति निरीक्षितुम्।।
एतत्कुरू नरेन्द्रस्य वचनं रघुनन्दन।
सत्येन महता राम तारयस्व नराधिपम्।। II 18.39,40

"बस इतनी सी बात है! ऐसा करने से तुम्हारे वियोग का दुःख सहन करना पड़ेगा, यही सोचकर महाराज दुःख में डूब गए है। इनका मुख सूख गया है और वे तुम्हारी ओर देखने का साहस भी नहीं कर पा रहे हैं, तुमसे बात करना तो दूर की बात

है। रघुनन्दन राम! तुम राजा की आज्ञा का पालन करके, इनके महान सत्य की रक्षा करके, नरेश को संकट से उबार लो, जिससे उन्हें स्वर्ग मे अपने उचित स्थान की प्राप्ति हो।"

हम देखते हैं कि कैकेयी ने राम को इस प्रकार बड़ी कुशलता से फँसाया, उन्हीं साधनों से, जिनके द्वारा उनका फँसना निश्चित था क्योंकि राम ऐसे व्यक्ति थे, जो मर्यादा के नियमों का पालन अत्यन्त यथार्थता के साथ करते थे। कैकेयी के विषय में चर्चा करते समय मैंने पहले ही बताया था कि कैकेयी को राम पर पूरा–पूरा विश्वास था कि वे किसी भी क़ीमत पर अपने पिता के वचन पूर करेंगे। कैकेयी का राम के प्रति विश्वास दुनिया में सबसे बड़ा प्रमाण है, उनकी महानता का। कैकेयी ने इस परिस्थिति का पूरा लाभ उठाने में विलम्ब नहीं किया। मैंने इन बातों का उल्लेख इसलिए किया है कि सब इस बात से सहमत हों कि दशरथ का कैकेयी के प्रस्ताव का मानने का कारण उसके प्रति केवल आकर्षण नहीं था। अब वे उसके प्रति विषयासक्ति के प्रभाव में नहीं थे, वे उसे भूल चुके थे। उनकी विवशता का कारण केवल यही था कि वे सत्यभाव से दिए गये पुनीत वचनों से प्रतिबद्ध थे। राम को इस प्रकार फँसा लेने के बाद कैकेयी एक क़दम और आगे बढ़ती है और राम से कहती है :

यावत्त्वं न वनं यातः पुरादस्मादभित्वरन्।
पिता तावन्न ते राम स्नास्यते भोक्ष्यतेऽपि वा।। II.19.16

"राम! यह भी जान लो तुम्हें क्या करना है। जब तक तुम शीघ्रता से इस नगर से वन को नहीं चले जाते, तब तक तुम्हारे पिता स्नान अथवा भोजन नहीं करेंगे।"

शोक में डूबे हुए दशरथ, जो अभी तक बोलने में असमर्थ थे, जैसे ही उन्होंने कैकेयी की यह बात सुनी, वे एक लम्बी साँस लेकर ज़ोर से चिल्ला कर बोले :

धिक्कष्टमिति निश्वस्य राजा शोकपरिप्लुतः।
मूर्च्छितो न्यपतत्तस्मिन् पर्यङ्के हेमभूषिते।। II.19.17

"धिक्कार है! हाय! बड़ा कष्ट हुआ। देखो, यह दुष्टा क्या कह रही है! कितना झूठ, कितनी बकवास मेरे विषय में कर रही है।"

वे मूर्च्छित होकर उस स्वर्णजटित पलंग पर गिर पड़े। जैसा कि मैंने आरम्भ में ही कहा था, आप सब प्रमाणित रूप से देख सकते हैं कि दशरथ ने यह सब अपना वचन निभाने के लिए ही किया। वह कैकेयी का सौन्दर्य न था, न ही उसके प्रति आकर्षण का जादू, जिसने उन्हें विवश किया, किन्तु दुनिया ने इस तथ्य पर विश्वास नहीं किया। उनके परिवार में भी किसी ने ऐसा विश्वास किया। लक्ष्मण ने तो अन्त तक इस तथ्य पर विश्वास नहीं किया। उन्होंने तो इस प्रकार की उक्ति का भी प्रयोग किया, "यह एक दुष्टा स्त्री और सठियाए हुए मेरे मूर्ख पिता।" जब श्री राम ने कौशल्या के भवन में जाकर अपने वनवास का समाचार दिया, वे अत्यन्त शोकातुर होकर

विलाप करने लगीं। लक्ष्मण भी उनके पास पहुँच गए, जिससे राम का कार्य और भी कठिन हो गया। लक्ष्मण स्वयं इस प्रकार शिकायत करते हैं :

न रोचते ममाप्येतदार्ये यद्राघवो वनम्।
त्यक्त्वा राज्यश्रियं गच्छेत्स्त्रिया वाक्यवशंगतः।। II.21.2

"बड़ी माँ, मुझे तो यह बात अच्छी नहीं लग रही है कि श्री राम राज्यलक्ष्मी का परित्याग करके वन जायें।"

यह उन्होंने राम के लिये कहा था, किन्तु वास्तव में यह दशरथ पर लागू था क्योंकि दशरथ की प्रतिबद्धता के फलस्वरूप ही राम भी प्रतिबद्ध हुए।

विपरीतश्च वृद्धश्च विषयैश्च प्रधर्षितः।
नृपः किमिव न ब्रूयात्त्वोह्यमानः समन्मथः।। II.21.3

"महाराज इस समय इस स्त्री के वशीभूत हो रहे हैं क्योंकि उनकी प्रकृति विपरीत हो चुकी है। एक तो वे बूढ़े हैं, दूसरे विषयों के वशीभूत हैं। इसीलिए, वे नरेश कैकेयी जैसी स्त्री की प्रेरणा से क्या नहीं कह सकते? क्या नहीं कर सकते? ऐसी स्थिति में क्या उनकी बात मानना और उसका पालन करना उचित होगा? वे कुछ भी कह सकते हैं। क्या हम बुद्धिमानों को उनका अनुसरण करना चाहिए?" यह लक्ष्मण द्वारा वर्णन है। यदि लक्ष्मण को ऐसी भ्रान्ति थी, तो यह माना जा सकता है कि शेष दुनिया भी इस भ्रान्ति का शिकार हो सकती है।

बात इसी पर ही नहीं समाप्त होती। स्वयं राम की भी कुछ ऐसी ही धारणा थी, जैसा कि वे स्पष्ट रूप से लक्ष्मण से कहते हैं। अयोध्या छोड़ने के बाद कई नदियों को पार करके जब तीनों शृंगवेरपुर में गंगातट पर पहुँचे और रात्रि में वहाँ निवास किया। वहाँ निषादराज गुह को उनके आगमन क पता चला। वे उनके सत्कार के लिए उपस्थित हुए। अगले दिन श्री राम ने सुमन्त्र को अयोध्यापुरी लौट जाने की आज्ञा दी। तत्पश्चात् तीनों नावों पर बैठा कर गंगातट पर वत्स देश में वे पहुँच गए। सांयकाल के समय ठहरने के लिये सब एक वृक्ष के नीचे चले गए। अपने जनपद से बाहर यह उनकी पहली रात्रि थी, जिसमें सुमन्त्र उनके साथ नहीं थे। ये घटनायें इतनी द्रुतगति से घटी थीं कि श्री राम को उनके विषय में सोचने–विचारने का समय ही नहीं मिला था। इस समय धीरे–धीरे सब विगत घटनाओं का पुनरवलोकन करने लगे। वे उनका समीचीन मूल्यांकन करते हैं। तत्पश्चात् लक्ष्मण से कहते हैं :

ध्रुवमद्य महाराजो दुःखं स्वपिति लक्ष्मण।
कृतकामा तु कैकेयी तुष्टा भवितुमर्हति।।
सा हि देवी महाराजं कैकेयी राज्यकारणात्।
अपि न त्यावयेत्प्राणान् दृष्ट्वा भरतमागतम्।। II.53.6,7

"लक्ष्मण! आज महाराज निश्चय ही बड़े दुःख से सो रहे होंगे। परन्तु, कैकेयी सफल मनोरथ होने के कारण बहुत सन्तुष्ट होगी। कहीं ऐसा न हो कि भरत के युवराज पद से सन्तुष्ट न होकर वह महाराज को प्राणों से भी वियुक्त कर दे, अपने बेटे भरत को पक्का राजा बनाने के लिए।"

अनाथश्च हि वृद्धश्च मया चैव विनाकृतः।
किं करिष्यति कामात्मा कैकेय्या वशमागतः।। II.53.8

"महाराज का कोई रक्षक न होने के कारण वे सर्वथा अनाथ हैं, वे बूढ़े हैं और मैं भी उनके पास नहीं हूँ। वह कामात्मा कैकेयी के वश में हैं। ऐसी दशा में वे बेचारे अपनी रक्षा किस प्रकार करेंगे?"

ध्यान देने योग्य बात है कि राम भी उन्हें *'कामात्मा'* कहते हैं :

इदं व्यसनमालोक्य राज्ञश्च मतिविभ्रमम्।
काम एवार्थधर्माभ्यां गरीयानिति ते मतिः।। II.53.9

कल्पना कीजिये, श्री राम भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं और उन्हें *'कामात्मा'* बताते हैं क्योंकि पिछले दिन के अनुभव ने उनके अन्तरतम को दग्ध कर दिया था। राम के यथार्थ रूप को जानते हुए भी, दशरथ ने अपनी पत्नी की प्रसन्नता के लिए उनको निर्वासित कर दिया है।

को ह्याविद्वानपि पुमान प्रमदायाः कृते त्यजेत्।
छन्दानुवर्तिनं पुत्रं ततो मामिव लक्ष्मण।। II.53.10

"अपने ऊपर आये हुए संकट को और राजा की मति भ्रान्ति को देखकर मुझे तो ऐसा लगता है कि यह कहना ठीक नहीं है कि धर्म और अर्थ काम से पहले आते हैं। महाराज के अनुसार तो अर्थ और धर्म की अपेक्षा काम का ही महत्व अधिक है।"

"लक्ष्मण! देखो, पिता जी ने मेरे साथ क्या किया। संसार भर में सबसे अधिक आज्ञाकारी पुत्र मैं हूँ। उसको फिर भी एक स्त्री के लिए निर्वासित कर दिया। संसार में कौन सा पुरुष होगा, जो अपने पुत्र का परित्याग कर दे, वह भी एक स्त्री के लिए? हमारे पिता जी अत्यन्त बुद्धिमान और विद्वान हैं, फिर भी उन्होंने ऐसा किया। यह एक तिरिया के छल–कपट का नमूना है। भावी जीवन के लिये एक गाँठ बाँधने योग्य यदि कोई चेतावनी चाहिए, तो यह है कि मनुष्य को धर्म और अर्थ की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए और साथ ही साथ काम पर पूरा नियन्त्रण रखना चाहिए।"

अर्थधर्मौ परित्यज्य यः काममनुवर्तते।
एवमापद्यते क्षिप्रं राजा दशरथो यथा।। II.53.13

"सच तो यह है, जो अर्थ और धर्म का परित्याग करके केवल काम का अनुसरण करता है, वह उसी प्रकार शीघ्र ही आपत्ति में पड़ जाता है, जिस प्रकार इस

समय, महाराज दशरथ। यदि इस सत्य की उपेक्षा करने की चेतावनी चाहिए, तो उसका उदाहरण तुम्हारे और मेरे पिता जी हैं।"

मन्ये दशरथान्ताय मम प्रव्रजनाय च।
कैकेयी सौम्य संप्राप्ता राज्याय भरतस्य च।। II.53.14

"सौम्य! मैं समझता हूँ कि महाराज दशरथ के प्राणों का अन्त करने, मुझे देश निकाला देने और भरत को राज्य दिलाने के लिये ही इस कुल में कैकेयी का विवाह हुआ था। वह इस राजभवन में आकर और रानी बनकर राजा दशरथ को मारने जा रही है।"

इससे पता चलता है कि, जैसा मैंने पहले संकेत किया था, श्री राम, जो कि नैतिकता की सर्वोच्च ऊँचाइयों तक उठने में सक्षम हैं, उनके मन में भी किसी क्षण निम्न कोटि के विचार उठ उभर आते हैं। ऐसा नहीं है कि वे सदा ऐसा ही कहते रहेंगे अथवा उनके सोच में सदा ऐसी बातें वे अवश्य ही शीघ्र रहेंगी। इन विचारों पर विजय प्राप्त कर लेंगे। परन्तु यह भी सच है कि उनके अवचेतन मन में ऐसे विचार भी विद्यमान थे, जो यदा–कदा प्रकट हो जाते थे।

जैसा कि दुनिया मानती थी, राम विश्वास करते थे, लक्ष्मण एक और प्रमाण है कि दशरथ केवल उसकी प्रतिज्ञा से प्रतिबद्ध थे, काम के वशीभूत नहीं थे और आम लोग भी किन्तु, जैसे ही यह सब कुछ घटित हुआ, दशरथ कैकेयी से कहते हैं। "मुझे स्पर्श न करना, मुझे स्पर्श न करना, मुझे तुमसे कोई वास्ता नहीं।"

न पश्यति रजोऽप्यस्य यदा रामस्य भूमिपः।
तदार्तश्च विषण्णश्च पपात धरणीतले।।
तस्य दक्षिणमन्वागात्कौसल्या बाहुमङ्गना।
वामं वास्यान्वगाद्बाहुं कैकेयी भरतप्रिया।। II.42.3,4

उनकी दृष्टि राम, लक्ष्मण और सीता को ले जा रहे रथ पर टिकी थी। जहाँ तक उसकी धूल उड़ती दिखाई देती है, उस पर उनकी दृष्टि टिकी रही। जब धूल भी नहीं दिखाई देने लगी, तब वे अत्यन्त आर्त और विषादग्रस्त होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। उस समय उनकी दो पत्नियाँ– कैकेयी और कौशल्या उपस्थित थीं। उनको सहारा देने के लिये कौशल्या दाहिनी बाँह के पास आईं और कैकेयी उनके वाम भाग में पहुँचीं।

तां नयेन न संपन्नो धर्मेण विनयेन च।
उवाच राजा कैकेयीं समीक्ष्य व्यथितेन्द्रियः।।
कैकेयि मा ममाङ्गानि स्प्राक्षीस्त्वं दुष्टचारिणी।
न हि त्वां द्रष्टुमिच्छामि न भार्यां न च बान्धवी।। II.42.5,6

कैकेयी को देखते ही नय, विनय, और धर्म से सम्पन्न राजा दशरथ की समस्त इन्द्रियाँ व्यथित हो उठीं। वे बोल उठे, "पापपूर्ण विचार रखने वाली कैकेयी! तु मेरे अंगों

का स्पर्श न कर, मैं तुझे देखना भी नहीं चाहता। तू न मेरी भार्या है और न बान्धवी। तुम्हारे मेरे समस्त सम्बन्ध समाप्त होते हैं।"

ये च त्वामनुजीवन्ति नाहं तेषां न ते मम।
केवलार्थपरां हि त्वां त्यक्तधर्मां त्यजाम्यहम्।। II.42.7

"जो तेरा आश्रय लेकर जीवन निर्वाह करते हैं, तेरे अनुचर, परिचर, सेवक व हितैषी है, न मैं उनका कुछ हूँ और न ही वे मेरे परिजन हैं। तूने केवल धन में आसक्त होकर धर्म का त्याग किया है, इसलिए मैं तेरा परित्याग करता हूँ।"

अगृहणां यच्च ते पाणिमग्निं पर्यणयं च यत्।
अनुजानामि तत्सर्वमस्मिंल्लोके परत्र च।। II.42.8

"तुम कहोगी, 'तुम्हारे साथ मेरा विवाह हुआ है। यह सच है, मैंने तेरा पाणिग्रहण किया है और तेरे साथ अग्नि परिक्रमा भी की है। तेरे साथ वह सारा सम्बन्ध इस लोक और परलोक के लिए भी त्याग देता हूँ।" *'अनुजानामि'* का सामान्य अर्थ न लेकर यहाँ उलटे अर्थ में इसका प्रयोग किया गया है। "कोई बन्धन अब मुझे तुमसे और बाँध नहीं सकता। मैं तुम्हें न इस लोक में, न ही परलोक में अपनी मानूँगा, उस परलोक में जहाँ मुझे अब जाना है।"

भरतश्चेत्प्रतीतः स्याद्राज्यं प्राप्येदमव्ययम्।
यन्मे स दद्यात्पिपन्नर्थं मां मा तद्दत्तमागमत्।। II.42.9*

"तेरा पुत्र भरत भी, यदि इस विघ्न बाधा से रहित राज्य को पाकर प्रसन्न हो, तो वह मेरे मरणोपरान्त मेरे श्राद्ध में, जो कुछ पिंड आदि दान करे, वह मुझे प्राप्त न हो। मैं उसे ग्रहण करना नहीं चाहूँगा।"

तदनन्तर महाराज दशरथ तुरन्त कौशल्या के साथ उनके भवन में चले गए। न तो कैकेयी वहाँ कभी गई, और न ही कैकेयी को उन्होंने स्वयं बुलाया। अतएव, वे कैकेयी से फिर मिले बिना ही संसार से सदा के लिए विदा हो गए। यह सब बताने का उद्देश्य है, इस तथ्य की पुष्टि करना कि राजा दशरथ ने कैकेयी को पूर्णतया अस्वीकार कर दिया, जैसे ही उन्हें आभास हुआ कि वह कितनी दुष्टा थी, कितनी वह श्री राम के सद्गुणों के प्रति बदल गई थी। अतः ऐसा कहना कि दशरथ ने जो कुछ किया, वह कैकेयी के प्रति आकर्षण के कारण किया, ऐसी बात है, जिसका स्वयं कवि भी समर्थन नहीं करता।

जब अपने प्रिय पुत्र के वनवास से शोकाकुल राजा दशरथ ने कौशल्या और सुमित्रा के निकट अपने प्राणों को परित्याग कर दिया, अन्तःपुर की सब विधवा हुई तीन सौ पचास स्त्रियाँ वहाँ आ पहुँचीं और विलाप करने लगीं। उनके साथ कैकेयी भी आई। कौशल्या एक सामान्य स्त्री थीं और सामान्य स्त्रियों के समान उनकी कमज़ोरियाँ

* देखिए अ.13, पृ.228.

भी थी। कैकेयी को देखते ही उन्होंने राजा के मस्तक को अपनी गोदी में ले लिया, यह सोचकर कि कहीं कैकेयी ऐसा न करे। शोकाकुल कौशल्या कैकेयी से तुरन्त कहने लगीं :

कौसल्या वाष्पपूर्त्तङ्गी विविधं शोककर्शिता।
उपगृह्य शिरो राज्ञः कैकेयी प्रत्यभाषत।।
सकामा भव कैकेयि भङ्क्ष्व राज्यमकण्टकम्।
त्यक्त्वा राजानमेकाग्रा नृशंसे दुष्टचारिणि।। II.66.2,3

"तुम मेरे स्वामी के होते अपने बेटे को युवराज–पद देना चाहती थीं। पर अब मेरे स्वामी भी स्वर्ग सिधारे। राम मुझे छोड़कर वन चले गए। अब यह राज्य तुम्हारे लिए ही है, बिना किसी विघ्न या बाधा के।"

विहाय मां गतो रामो च स्वर्गतो मम।
विपथे सार्थहीनेव नाहं जीवितुमुत्सहे।।
भर्तारं तं परित्यज्य का स्त्री दैवतमात्मनः।
इच्छेज्जीवितुमन्यत्र कैकेचयास्त्यक्तधर्मणः।।
न लुब्धो बुध्यते दोषान् किंपाकमिव भक्ष्यन्।
कुब्जानिमित्तं कैकेय्या राघवाणां कुलं हतम्।। II.66.5,6

"अब मैं इस कंटकाकीर्ण मार्ग में साथियों से बिछुड़ कर, असहाय हुई, जीवित न रह सकूँगी। नारि धर्म को त्याग देने वाली कैकेयी के अतिरिक्त संसार में कौन सी दूसरी स्त्री होगी, जो अपने आराध्य देवता स्वरूप पति का परित्याग करके जीना चाहेगी? जैसे कोई धन का लोभी दूसरों को विष खिला देता है और उसे आगामी हत्याओं के दोषों का ध्यान ही नहीं रहता, इसी प्रकार इस कैकेयी ने कुब्जा के कारण रघुवंश का नाश कर दिया।"

फिर दूसरी रानियों ने भी ऐसा ही कहा।

कैकेय्या दुष्टभावाया राघवेण वियोजिताः।
कथं पतिघ्न्या वत्स्यामः समीपे विधवा वयम्।। II.66.19

"श्री राम से बिछुड़कर हम सब विधवायें इस दुष्ट विचार वाली कैकेयी के समीप कैसे रहेंगे, जिसने अपने पति की हत्या की है।"

नराश्च नार्यश्च समेत्य सङ्घशो विगर्हमाणा भरतस्य मातरम्।
तदा नगार्यां नरदेवसंक्षये बभूवुरार्ता न च शर्म लेभिरे।। II.66.29

झुंड के झुंड स्त्री–पुरुष एक साथ खड़े होकर भरत–माता कैकेयी की निन्दा करने लगे। उस समय सभी अयोध्यावासी शोकाकुल हो रहे थे। किसी को भी शान्ति नहीं मिल रही थी। वस्तुतः पूरे नगर ने कैकेयी की निन्दा की।

अब एक प्रश्न को उठाना आवश्यक हो जाता है। वनगमन के समय राम ने कैकेयी से कहा था, "आज ही महाराज की आज्ञा से, दूत शीघ्रगामी घोड़ों पर सवार

होकर, भरत के मामा के यहाँ से बुलाने चले जायें। मैं अभी चौदह वर्षों के लिए तुरन्त वन चला जाता हूँ।" राम की यह बात सुनकर कैकेयी बहुत प्रसन्न हुई। उसे विश्वास हो गया कि वे वन को चले जायेंगे। अतः राम को शीघ्र ही वन गमन की प्रेरणा देती हुई वह बोली, "तुम ठीक कहते हो, भरत को बुलाने के लिए शीघ्र ही दूत भेजे जायेंगे।" इसके अतिरिक्त, यह सोचकर कि कहीं वे भूल जायें, सुमन्त्र को अयोध्यापुरी लौट जाने की आज्ञा देते समय भी राम ने सुमन्त्र से कहा था, "मेरी ओर से महाराज को यह निवेदन कीजियेगा कि भरत को शीघ्र ही बुलवा लें और आने पर, अपने अभीष्ट युवराज पद पर उनका अभिषेक कर दें।" परन्तु कैकेयी ने ऐसा नहीं किया। कैकेयी उस समय सर्वेसर्वा थी, इसके लिए कुछ कर सकती थी। उसने किसी कारण से, जो स्पष्ट नहीं है, भरत को शीघ्र बुलाने के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया। उनको बुलवाने की व्यवस्था वसिष्ठ जी द्वारा की गई। उनकी आज्ञानुसार पाँच दूत अयोध्या से कैकेय देश के लिये रवाना किए गये। स्वयं कैकेयी ने ऐसा क्यों नहीं किया? उसके मन में क्या था? यह प्रश्न किया जा सकता है। मैं स्वयं तो नहीं जानता, इसका उत्तर क्या दिया जाये, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति, अगर चाहे, तो इसका उत्तर अपनी बुद्धि के अनुसार दे सकता है। यह एक ऐसा प्रश्न है, जिससे हम बच नहीं सकते। यह प्रश्न सदा मेरे मन में उठता रहा है।

अब 'रामायण' में एक महत्वपूर्ण लेखांश आता है, जिसके भी आन्तरिक अर्थ की व्याख्या मैं नहीं कर पा रहा हूँ। यह है, एक अद्भुत भेंट, जो कि भरत और उसकी माता कैकेयी के बीच भरत के तुरन्त अयोध्या लौटने के बाद होती है। भरत वापस आते ही तुरन्त अपनी माता से मिलने के लिए गये। उन्हें अपेक्षा थी कि उनके पिताजी भी वहीं मिलेंगे। उन्हें पिताजी दिखाई नही दिये, केवल माता को ही देखा तत्पश्चात् एक वार्तालाप उन दोनों के बीच हुआ। मुझे लगता है कि वह स्वाभाविक नहीं था। क्या कोई उलझन थी या कोई अन्य कारण था, जिसने उन्हें एक दूसरे से इस प्रकार बातचीत करने के लिए बाध्य किया? सम्भवतः अध्येताओं में बहुत से अधिक बुद्धिमान हों, जो इसे गहराई से देख सकते हों, यदि वे इसकी व्याख्या कर सकें, तो मुझे बहुत प्रसन्नता होगी। प्रथम अभिवादन और चरणस्पर्श के उपरान्त अपने पुत्र, भरत को छाती से लगाकर कैकेयी ने उनका मस्तक सूँघा और उन्हें बैठाकर, वार्तालाप आरम्भ किया कैकेयी ने, "सब कुशलपूर्वक तो हैं, रास्ते में तुम्हें अधिक थकावट तो नहीं हुई?" भरत ने उत्तर दिया, "मुझे चले हुए आज सातवाँ दिन है, मैं अभी पहुँच रहा हूँ। मेरे मामा, नाना सब सकुशल हैं।" लौटते समय ही भरत ने देख लिया था कि अयोध्या में सब कुछ उल्टा–पुल्टा नज़र आ रहा था। नगर में पूर्णतया शोक छाया हुआ था। उनका माथा ठनका। वे आशंकित हो गए। वे अपनी माता से मिलते हैं, परन्तु सीधा प्रश्न नहीं करते। कैकेयी भी उन्हें तुरन्त तथ्य से अवगत नहीं कराती है। वह इधर–उधर की बातें करने लगती है। भरत कहते हैं, "राजदूतों के शीघ्रातिशीघ्र चलने

के सन्देश के कारण मैं कुछ पहले ही चला आया हूँ। अच्छा बताओ, महाराज कहाँ है? क्या वे बड़ी माता कौशल्या के भवन में गये हुए हैं? ऐसा करना तो उनके लिये कुछ असामान्य है।" कैकेयी तो राज्य के लोभ से मोहित थी, वह उस घोर समाचार को प्रिय सा समझती हुई बोली। "बेटा! एक दिन समस्त प्राणियों की जो गति होती है, उसी गति को वे भी प्राप्त हो गए हैं, वे चल बसे हैं।" माता की बात सुनकर भरत अत्यन्त पीड़ित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े और मूर्च्छित हो गये। जब उनकी चेतना लौटी, वे राम के विषय में पूछते हैं। वे कहते हैं, "राम आदि सब भाई धन्य हैं, जिन्होंने उपस्थित रहकर पिता जी का अन्त्येष्टि संस्कार किया।" तत्पश्चात् वे कहते हैं, "अब जो मेरे भाई, पिता और बन्धु हैं, जिनका मैं परम दास हूँ, उनको मेरे आने की शीघ्र सूचना दो। मैं उनके चरणों में प्रणाम करूँगा। माँ, यह भी बताओ मेरे धर्मज्ञ पिता ने अन्तिम समय में क्या कहा था? क्या मेरे लिये, जो दूरस्थ था, कोई विशेष सन्देश नहीं छोड़ा? उनके अन्य पुत्र बड़े भाग्यशाली थे। मेरे लिए जो उनका अन्तिम सन्देश हो, वह मैं सुनना चाहूँगा।" भरत के इस प्रकार पूछने पर, कैकेयी ने इस प्रकार कहा :

रामेति राजा विलपन् हा सीते लक्ष्मणेति च।
स महात्मा परं लोकं गतो गतिमतां वरः।।
इमां तु पश्चिमां वाचं व्याजहार पिता तव।
कालधर्मपरिक्षिप्तः पाशैरिव महागजः।।
सिद्धार्थास्ते नरा राममागतं सीतया सह।
लक्ष्मणं च महाबाहुं द्रक्ष्यन्ति पुनरागतम्।। II.72.36-38

"अन्तिम सन्देश, जो तुम्हारे पिता महाराज ने छोड़ा, उसमें तुम्हारे लिये कुछ नहीं कहा," उसका आशय यही था। उन्होंने इस प्रकार कहा, "हा राम! हा सीते! हा लक्ष्मण!" इस प्रकार विलाप करते हुए वे परलोक चले गए। जैसे पाशों से बँधा हुआ महान गज विवश हो जाता है, उसी प्रकार कालधर्म के वशीभूत हुए, उनके अन्तिम वचन इस प्रकार थे, "जो लोग सीता और लक्ष्मण के साथ पुनः लौटकर आए हुए महाबाहु राम को देखेंगे, वे ही कृतार्थ होंगे।" बस इतना ही, भरत का कोई जिक्र नहीं। यही वह बात थी, जिसका लेपन वह भरत पर करना चाहती थी। यह दूसरी अप्रिय बात सुनकर भरत और भी चिन्तित हुए। उन्होंने पुनः माता से पूछा, "भाई राम लक्ष्मण और सीता के साथ कहाँ गए हैं?" इस पर कैकेयी उत्तर देती है, "राजकुमार राम तापसी वेश वल्कल धारण करके सीता और लक्ष्मण के साथ दंडक वन चले गए हैं।" वे कैकेयी से पूछते हैं, "माँ! किस कारणवश? क्या श्री राम ने किसी ब्राह्मण का धन तो नहीं हरा लिया था? किसी निष्पापी धनी या दरिद्र की हत्या तो नहीं की? उनका मन किसी पराई स्त्री पर तो नहीं गया? किस अपराध के कारण भैया को दंडकारण्य के लिये निर्वासित कर दिया गया?" तत्पश्चात् कैकेयी ने अपनी करतूत को ठीक–ठाक बताना आरम्भ किया। उसने बड़े हर्ष से भरकर कहा, "नहीं! राम ने ऐसा कुछ नहीं किया।"

न रामः परदारांश्च चक्षुर्भ्यामपि पश्यति। II.72.49

"राम परायी स्त्री पर तो दृष्टि तक नहीं डालते," यह था कैकेयी का प्रमाण–पत्र, जो उसने राम के प्रति दिया।

तत्पश्चात् उसने सब कुछ जो घटित हुआ था, बिल्कुल सच–सच बतला दिया, "जब मैंने सुना राम का अभिषेक अयोध्या में होने जा रहा है, तब मैंने तुम्हारे लिये अभिषेक और राम के लिए वनवास के लिये प्रार्थना की। महाराज ने अपने सत्यप्रतिज्ञ स्वभाव के कारण मेरी बात मान ली! राम लक्ष्मण और सीता के साथ वन को भेज दिए गए।"

तमपश्यन् प्रियं पुत्रं महीपालो महायशाः।।
पुत्रशोकपरिहीनः पञ्चत्वमुपपेदिवान्। II.72.51,52

"तत्पश्चात अपने प्रिय पुत्र श्री राम को देखकर वे महायशस्वी पुत्र शोक से पीड़ित होकर परलोकवासी हो गए," वह सब कुछ बताकर अपनी बात इस प्रकार समाप्त करती है :

त्वया त्विदानीं धर्मज्ञ राजत्वमवलम्ब्यताम्।।
त्वत्कृते हि मया सर्वमिदमेवंविधं कृतम्। II.72.52,53

"धर्मज्ञ! अब तुम राजपद सँभालो। तुम्हारे लिए ही मैंने यह सब कुछ किया है (मैंने यह अनैतिक नाटक खेला, महाराज को यमलोक भेज दिया और इन लोगों को निर्वासित कर दिया, केवल तुम्हें राजा बनाने के उद्देश्य से)।"

मा शोकं मा च सन्तापं धैर्यमाश्रय पुत्रक।।
त्वदधीना हि नगरी राज्यं चैतदनायकम्। II.72.53,54*

"बेटा! शोक और सन्ताप न करो, धैर्य का आश्रय लो। अब यह नगर और निष्कंटक राज्य केवल तुम्हारे अधीन है।"

तत्पुत्र शीघ्रं विधिना विधिनज्ञैर्वसिष्ठमुख्यैः सहितो द्विजेन्द्रैः।
संकाल्य राजानमदीनसत्वमात्मानुमुर्त्यामभिषेचयस्व।। II.72.54

"अतएव वत्स! अब विधि–विधान के ज्ञाता वसिष्ठ आदि प्रमुख ब्राह्मणों के साथ, उदार हृदय वाले महाराज का अन्त्येष्टि संस्कार करके इस पृथ्वी पर राज्याभिषेक कराओ।"

मैं स्वयं नहीं जानता कि इस वार्तालाप के विषय में क्या कहा जाये? क्या इस प्रसंग का रूप यही होगा? यदि आज कोई एक नाटक लिखे, जिसमें यह समाचार व्यक्त किया जाना हो, मैं नहीं जानता, इस नाटक का आरम्भ और अन्त इसी प्रकार किया जायेगा। ये थे, कैकेयी के अन्तिम शब्द। कदाचित् इसके बाद भी कैकेयी द्वारा

* पाठ के 'अनायमकम्' (जो किसी मार्गदर्शक के बिना है)। इसके स्थान पर गोविन्दराज *"अनामयम्"* (निष्कंटक) अपनाते हैं। बंबई संस्करण में और यहाँ भी यही पाठ लिया गया है।

कुछ अनुपूरक शब्दों का उपयोग हुआ हो। परन्तु इसके बाद कैकेयी की बात सुनने में नहीं आई। ऐसा प्रतीत होता है कि यह देखकर कि भरत ने किस रूप में उसकी करतूतों को लिया और कितनी कठोरता से उसकी निन्दा की। बार बार उन्होंने यह कहा, "मैं चाहता हूँ कि तुम्हारा वध कर दूँ। तुमने मेरे सम्पूर्ण वंश का विनाश कर दिया," इत्यादि। कैकेयी को भारी धक्का लगा और वह स्तम्भित और सुन्न सी हो गयी उसे समझ में नहीं आ रहा था कि वह क्या करे। उसे कभी ऐसी आशा न थी कि उसके किये–कराये काम का परिणाम इतनी शीघ्र कटु रूप धारण कर लेगा। जब मन्थरा ने आकर उसे पहली बार राम के अभिषेक के विषय में बताया था, यद्यपि उसने बुरे उद्देश्य से यह समाचार दिया था, किन्तु कैकेयी ने इस समाचार का हर्ष से स्वागत किया था और प्रसन्न होकर पारितोषिक रूप में अपना हार उसे दे दिया था। उसके मन में आसानी से किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं आया। मन्थरा को उस पर अपनी पौशाचिक पटुता का प्रयोग करना पड़ा, इस प्रकार की बातें कहकर, "तुम कौशल्या की दासी बनकर रह जाओगी और तुम्हारे पुत्र भरत को राम के इशारों पर नाचना पड़ेगा। सम्भवतः राम उन्हें निर्वासित भी कर दें अथवा उनका अन्त ही कर दें।" यह सब सुनकर ही कैकेयी के मन में परिवर्तन आ गया। कौशल्या के प्रति उसकी कैसी भावनायें थीं। इसकी भी झलक देखिए, मानो क्षणदीप की दीप्ति के समान!

स त्वं धर्मं परित्यज्य रामं राज्येऽभिषेच्य च।
यह कौसल्यया नित्यं रन्तुमिच्छसि दुर्मते।। II.12.45

जब दशरथ उसको समझाने का प्रयास करते हैं और इस प्रकार के वर न माँगने के लिये अनुरोध करते हैं, कैकेयी उन्हें अपना वचन पूरा करने का अनुरोध करती है। वह कहती है, "दुर्बुद्धि नरेश! आप तो धर्म को तिलांजलि देकर राम को राज्य देकर कौशल्या के साथ आमोद–प्रमोद करना चाहते हैं। आप मुझसे सन्तुष्ट नहीं है (उसके अनुसार राम का अभिषेक करके वे धर्म का परित्याग कर रहे हैं)।" वह पुनः धमकी देती है :

एकाहमपि पश्येयं यद्यहं राममातरम्।
अञ्जलिं प्रतिगृह्णानतीं श्रेयो ननु मृतिर्मम।। II.12.46

"यदि मैं एक दिन भी कौशल्या को राजमाता के रूप में अन्य लोगों से हाथ जुड़वाता देख लूँगी, तो उस समय मैं अपने लिये मरना ही अच्छा समझूँगी," यह थी कौशल्या के प्रति उसकी भावनायें।

अब प्रश्न यह है– इस लड़खड़ा देने वाले धक्कों के बाद और अपने पुत्र के दृढ़ प्रतिवाद के पश्चात् क्या कैकेयी में कोई परिवर्तन हुआ? स्वयं 'रामायण' काव्य में पर्याप्त प्रमाण मिलता है कि कैकेयी निष्ठुर स्वभाव वाली, कठोर प्रकृति वाली और पाषाण हृदय वाली स्त्री होने के बावजूद, उसको पछतावा हुआ, उसने स्वयं को सुधार

लिया। इस तथ्य की ओर मैं आपका ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा मानो एक प्रमाण के रूप में, कि यह था, श्री राम के नैतिक चरित्र का प्रभाव। काफ़ी समय उनके साथ रहने के कारण और उन्हें जान लेने के बाद, उनसे स्नेह, आदर, सम्मान का अनुभव करने के पश्चात्, कैकेयी जैसी स्त्री को भी अधर्म के मार्ग पर चलना असम्भव हो गया। इसका पता कैसे चलता है? इसके लिए दो–तीन संकेत उपलब्ध हैं। कवि तो अपनी ओर से स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहता, किन्तु आप स्वयं ही इस तथ्य का निष्कर्ष निकाल सकते हैं और वह भी पूर्ण विश्वास के साथ। जब भरत अपने मन्त्रियों के दल सहित राम को वापस बुलाने गए, उनके साथ महल की सब स्त्रियाँ भी गई थीं। यदि कैकेयी चाहती और श्री राम को वापस लाने में उसकी रुचि न होती, तो वह घर पर रह सकती थी। अवश्य ही कोई न कोई उसकी देखभाल कर लेता, किन्तु उसने ऐसा नहीं किया। वह सबके साथ उस मंडली में सम्मिलित हुई, केवल दिखावे मात्र के लिए नहीं।

कैकेयी च सुमित्रा च कौसल्या च यशस्विनी।
रामानयनसंहृष्टा ययुर्यानेन भास्वता।। II.83.6

कैकेयी, सुमित्रा और यशस्विनी कौशल्या देवी भी राम को लौटाने के लिए उस यात्रा से पुलकित होकर एक ही चमकदार रथ पर सवार हुईं। यहाँ तीनों रानियों का उल्लेख किया गया है। इसीलिए बहुवचन, जिसमें सभी आ जाते हैं, का प्रयोग किया गया है। अतः वह भी *'रामायण–संहृष्टा'* थी अर्थात् वह भी इस बात से प्रसन्न थी कि राम को वापस लाया जाये। इसी संभावना से पुलकित थी, तात्पर्य यही है। टीकाकार एकवचन *'यानेन'* की ओर ध्यान दिलाते हैं क्योंकि वे तीनों रानियाँ थी, प्रत्येक एक अलग रथ का प्रयोग कर सकती थी, किन्तु वे सब एक ही रथ में साथ गईं, जिससे एक–दूसरे को सान्त्वना दे सकें। अतएव, निष्कर्ष यह है कि कैकेयी ने अन्य दोनों रानियों का साथ दिया और श्री राम के प्रति स्नेहपूर्ण वचन कहे और उने लौटाने की कामना व्यक्त की। अतः ऐसा विश्वास होता है कि उसमें सुधार प्रक्रिया का आरम्भ हो चुका था।

इसके अतिरिक्त देखिए श्री राम से सम्बन्धित यह श्लोक, जो मैं पहले भी दे चुका हूँ।*

तं मातरो बाष्पगृहीतकण्ठचो दुःखेन नामन्त्रयितुं हि शेकुः।
स त्वेव मातृरभिवाद्य सर्वा रुदन् कुटीं स्वां प्रविवेश रामः।। II.112.31

चित्रकूट में श्री राम और भरत की बातचीत के अन्त में जब सब कुछ समाप्त प्रायः हो गया, श्री राम पिता की आज्ञा पालन करने में दृढ़ संकल्प रहे। जब श्री राम भरत को समझाकर और अपनी चरण–पादुका देकर चित्रकूट से सबको विदा करते हैं, उस समय सभी माताओं का गला आँसुओं से रुँध गया था। वे शोक के कारण राम

से अलविदा भी न कहे सकीं। विदाई की घड़ी में उनके गले रुँध गए, न ही राम उन्हें विदाई दे सके। वे सब माताओं को प्रणाम करते हुए, उनके चरण स्पर्श कर कुटी में अन्दर चले गए। टीकाकार बहुवचन *'सर्वमातृः'* की ओर ध्यान दिलाता है, जिसके अन्तर्गत कैकेयी भी सम्मिलित थी। युद्ध कांड में भी एक अत्यन्त सारगर्भित शब्द का प्रयोग हुआ है। पट्टाभिषेक की अन्य सब औपचारिकता सम्पन्न होने वाली थी। भरत ने श्री राम के पास आकर निवेदन किया, "आप अपना राज्य वापस ग्रहण कीजिये, जिसे आपने मुझे धरोहर के रूप में दिया था।" उन्होंने सब लोगों की उपस्थिति में औपचारिक रूप से सम्मानपूर्वक श्री राम से प्रार्थना की :

शिरस्याञ्जलिमाधाय कैकेय्यानन्दवर्धनः।
बभाषे भरतो ज्येष्ठं रामं सत्यपराक्रमम्।।
पूजिता मामिका माता दत्तं राज्यमिदं मम।
तद्ददामि पुनरस्तुभ्यं यथा त्वमददा मम।। II.131.1,2*

तत्पश्चात् कैकेयी नन्दन भरत ने मस्तक पर अंजलि बाँधकर अपने बड़े भाई सत्यपराक्रमी श्री राम से कहा, "आपने मेरी माता का सम्मान किया और यह राज्य मुझे दे दिया। जैसे आपने मुझे दिया, उसी प्रकार मैं अब आपको वापस दे रहा हूँ।"

'कैकेय्यानन्दवर्धन' विशेष नाम का प्रयोग कवि ने यहाँ किया है। सामान्यतः इस शब्द का प्रयोग कवि भरत के लिए नहीं करता। उसने केवल एक बार पूर्व भी इस शब्द का प्रयोग किया था, जैसा कि मैं शीघ्र ही बताऊँगा। श्री राम को बहुधा *'कौशल्यानन्दवर्धन'* और लक्ष्मण को *'सुमित्रानन्दवर्धन'* कहा गया है। परन्तु भरत को बिदले ही *'कैकय्यानन्दवर्धन'* कहा गया है। इस स्थान पर कवि ने प्रत्यक्षतः इस शब्द का प्रयोग यह दिखलाने के लिये किया कि जो भरत ने किया, वह कैकेयी को अच्छा लगा, उसे हर्ष हुआ। वे अपने बड़े भाई से कहते, "आप जब वनवास के लिए गए, आपने ऐसा मेरी माता के आदेश का पालन करने के लिये किया था। चौदह वर्ष पूर्व मेरी माता इच्छा का सम्मान करते हुए, यह राज्य मेरे लिये देकर वन का चले गये थे। जैसा कि मैंने आपको बता दिया था, इस राज्य को मैंने केवल धरोहर के रूप में लिया था और इसे आपक लिये ही रखे रखा है। मैंने प्रशासन भी आपकी ओर से आपकी चरण–पादुकाओं की सहायता से चलाया है। सब बातों की सूचना उन्हें देता वहाँ हूँ और उन्हीं का आदेश लेकर सब कार्य करता रहा हूँ। यह आपकी धरोहर उसी प्रकार अब आपको लौटा रहा हूँ।"

जैसा मैंने ऊपर कहा था, मैं बताऊँगा कि शब्द *'कैकय्यानन्दवर्धन'* का प्रयोग भरत क लिये और कहा हुआ है। अयोध्या कांड में जब शोकाकुल अयोध्यावासी उनके पीछे–पीछे आ रहे थे, राम ने मुड़कर कहा, "आप लोग क्यों मेरे पीछे–पीछे आ रहे हैं?

* देखिए अ.30.

अब भरत तुम्हारे राजा हैं। उन पर भरोसा रखें, वे आपके उसी प्रकार हितैषी हैं, जैसे मेरे पिता जी थे।"

स हि कल्याणचरित्रः कैकेय्यानन्दवर्धनः।
करिष्यति यथावद्धः प्रियाणि च हितानि च।। II.45.7*

"भरत का चरित्र बड़ा ही सुन्दर और सबका कल्याण करने वाला है। कैकेयी के आनन्दवर्धन आप लोगों का यथाव्रत हित करेंगे।"

अपने भाई की प्रशंसा करके राम इस शब्द का प्रयोग कदाचित् इस आशय से करते हैं कि भरत ने उस राज्य को अपनी माता द्वारा राजमहल षड्यंत्र के फलस्वरूप लिया है।

अब केवल एक बात मैं और कहना चाहता हूँ। मैंने पहले सुमन्त्र द्वारा कैकेयी की माता का वर्णन का उल्लेख किया था। कवि सर्ग का अन्त इस प्रकार करता है :

नैव सा क्षुभ्यते देवी न च स्म परिदृश्यते।
न चास्या मुखवर्णस्य लक्ष्यते विक्रिया तदा।। II.35.35

देवी कैकेयी के मन में न तो क्षोभ हुआ, न ही दुःख। उस समय उसके चेहरे पर भी कोई अन्तर नहीं आया। सुमन्त्र के समझाने और फटकारने के बावजूद भी कैकेयी अपनी हट से टस से मस न हुई। इससे पहले सुमन्त्र ने यह भी कहा था, "आज मुझे यह प्रसिद्ध लोकोक्ति बिल्कुल सच मालूम लगती है कि 'पुत्र पिता के समान और पुत्री माँ के समान होते हैं।' तुमने अपने जीवन में इसे चरितार्थ कर दिया है।"

कितना सुन्दर प्रशंसात्मक वाक्य था! मैं अरण्य कांड के एक अंश की ओर ध्यान दिलाना चाहता हूँ, जहाँ पर लक्ष्मण द्वारा इस प्रकार की प्रचलित मान्यता का संकेत दिया गया है। जब लक्ष्मण अपने भाई भरत के विषय में राम से बात करते हैं। प्रसंग यह है। श्री राम को पंचवटी आश्रम में रहते हुए शरद ऋतु बीत गयी और हेमन्त का आरम्भ हुआ। एक दिन राम गोदावरी नदी तट पर स्नान के लिए गए, सीता और लक्ष्मण भी उनके पीछे–पीछे चले। लक्ष्मण हेमन्त ऋतु की प्रशंसा करते चलते हैं। सहसा उन्हें भरत का ध्यान आ जाता है, जो अयोध्या में एक तपस्वी जीवन व्यतीत कर रहे हैं। वे राम से कहते हैं, निश्चय ही भरत ने स्वर्गलोक पर विजय प्राप्त कर ली है, क्योंकि वे भी तपस्या में स्थित होकर आपके वनवासी जीवन का अनुसरण कर रहे हैं। वे कहते हैं :

न पित्र्यमनुवर्तन्ते मातृकं द्विपदा इति।
ख्यातो लोकप्रवादोऽयं भरतेनान्यथा कृतः।। III.16.34

* देखिए अ.13, पृ.220.

"प्रायः मनुष्य जाति में वंशागुत गुण पिताओं से नहीं माताओं से प्राप्त होते हैं। किन्तु, हमारे भाई भरत इसका अपवाद हैं, क्योंकि वे पिता के ऊपर गए हैं माता के ऊपर नहीं।"

इस लोकोक्ति को भरत ने अपने आचरण से मिथ्या प्रमाणित कर बिल्कुल उल्टा दिया हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कदाचित् देश के एक भाग में एक कहावत प्रचलित थी और दूसरे भाग में दूसरी अथवा यह भी हो सकता है कि लोग एक ही कहावत को एक प्रकार की परिस्थितियों में एक ढंग और दूसरे प्रकार की परिस्थितियों में आवश्यकतानुसार दूसरे ढंग से प्रयोग करते हैं।

कैकेयी के सम्बन्ध में अब मुझे कुछ अधिक नहीं कहना है। अगले अध्याय में मैं कौशल्या और सुमित्रा दोनों के चरित्र का चित्रण करूँगा क्योंकि सुमित्रा और कैकेयी की जोड़ी से, इन दोनों की जोड़ी अधिक उपयुक्त लगती है। कौशल्या के विषय में अधिक समय नहीं लगऊँगा, यद्यपि अयोध्या कांड में उनका वर्णन सुमित्रा से अधिक स्थान लेता है। कौशल्या के चरित्र में आपको वैसे विशिष्ट बिन्दु नहीं मिलेंगे, जैसे कि सुमित्रा के चरित्र में। सुमित्रा एक पूर्ण विकसित पात्रा है, जिसकी ओर ध्यान आकर्षित हुए बिना नहीं रह सकता। परन्तु कौशल्या एक धर्मपरायणा सामान्य महिला थीं, अपने ही ढंग की बहुत अच्छी नारी थी, किन्तु मानवीय मनोवृत्ति वाली एक नारी, जिसमें विद्यमान थे हमारी माताओं और बहनों के सब गुण–अवगुण। उनकी विशेष महानता इस बात में है कि वे राम की जननी थीं। वे सुमित्रा से इस एक बात में भिन्न हैं। सुमित्रा यद्यपि सबसे छोटी पत्नी थीं, उनका कौशल्या पर अधिक स्नेह था, कौशल्या से नितान्त भिन्न प्रकृति की थीं। उनकी निजी योग्यता अधिक ऊँची हैं। प्रतीत होता है अन्य रानियों की अपेक्षा वे अध्यात्मिक दृष्टि से अधिक विकसित थी। जैसा कि मैंने पहले भी कहा था, राम के परिपार्श्व में वे केवल एक ऐसी महिला हैं, जो श्री राम के चरित्र को समझती थीं और उसके महत्व को ऊँचे से ऊँचे स्वर में सराह सकती थी। सर्वसाधारण लोग तो यही मानते थे कि श्री राम राज्य त्याग करने में भारी ग़लती कर रहे हैं और एक अव्यवहारिक दुनिया में रह रहे है। अकेली सुमित्रा ही ऐसी महिला थीं, जिन्होंने श्री राम के चरित्र को ठीक–ठीक समझा और उसे सराहा। आगे जब मैं उनका भाषण और उनकी उक्तियाँ दूँगा, तब आप देखेंगे कि इस काव्य की कुछ सर्वश्रेष्ठ उक्तियाँ और उच्चतम मनोभाव सुमित्रा के माध्यम से व्यक्त हुए हैं।

◈◈◈

उनत्तीसवाँ अध्याय

कौशल्या और सुमित्रा

हम पहले ही देख चुके हैं कि जब श्री राम ने अपने निर्वासन आदेश की सूचना अपनी माता को दी, वे मार्मिक दुःखावेश से फूट पड़ीं। उस समय वे अयोध्या के राजमहल में बीते अपने अतीत का पुनरीक्षण करने लगी। अपने दुःखों को रोते हुए, वे कहती हैं कि जब से कैकेयी आयी है, उनके मन की शान्ति छिन गई है और पटरानी होने के नाते, जो उन्हें आदर–सत्कार मिलता था, वह भी जाता रहा। अपनी भावनाएँ अभिव्यक्त करते हुए, उन्होंने अपने पुत्र से उन्हें भी वन को साथ ले चलने का अनुरोध किया, क्योंकि पुत्र के बिना उनका जीना अत्यन्त दूभर हो जायेगा। कौशल्या की व्यथा को देखकर लक्ष्मण भी, जो पास खड़े थे, स्वंय व्यथित हो उठे। परन्तु पुरुष स्वभाव के कारण उनकी व्यथा क्रोध में परिणत हो गई, जिसकी अभिव्यक्ति अपने पिता और अपनी सौतेली माता कैकेयी के प्रति रोष में फूट निकली। उन्होंने बल प्रयोग की धमकी भी दी। वे अपने भाई से कहते हैं, "आपकी सहायता के बिना मैं अकेला ही इन लोगों से निबट लूँगा। मैं इस बूढ़े को सबक सिखा दूँगा। जब तक मेरे पास ये अस्त्र–शस्त्र हैं, आपको अपना यथोचित अधिकार मिलना ही चाहिये। मैं आपको वह सब फिर वापस लौटवा सकता हूँ, जो इस समय आपके हाथ से निकल चुका है।" उन्होंने इस बात को लेकर इतना तूल दिया कि शोकमग्न कौशल्या भी अपने मन में चिन्तित हो गई। वे बिल्कुल नहीं चाहती थी कि राजगद्दी के लिए कुटुम्ब युद्ध तक बात पहुँच जाए, जिसमें उनके पति और उनके पुत्र आपस में विपक्षी बन जाएँ। किन्तु क्योकि आक्रोश प्रर्दशन में लक्ष्मण का अभिप्राय एक हितैषी का सा था, वे लक्ष्मण के अभिप्राय का ज़ोर द्वारा विरोध भी नहीं करना चाहती थी। अतएव वे शान्त स्वभाव से बोलीं :

भ्रातुस्ते वदतः पुत्र लक्ष्मणस्य श्रुत त्वया।
यदत्रानन्तरं कार्यं कुरुष्व यदि रोचते।। II 21.21

"पुत्र! तुमने अपने भाई लक्ष्मण की कही हुई बातें सुन लीं। तुम जैसा ठीक समझो, वही करो।" उन्होनें अन्तिम निर्णय राम पर ही छोड़ दिया, यह संकेत देते हुए कि उनके कोमल हृदय में किसी भी प्रकार का बल प्रयोग स्वीकार्य नहीं था। फिर वे बोलीं :

यदि त्वं यास्यसि वनं त्यक्त्वा मां शोकलालसाम्।
अहं प्रायमिहासिष्ये न हि धक्ष्यामि जीवितुम्।। II 21.27

"यदि तुम मुझे साथ नहीं ले जाते हो, तो यहीं ठहर कर मेरी रक्षा करो। मैं यहाँ पर बिल्कुल सुरक्षित नहीं। मुझे इस बात की कोई चिन्ता नहीं कि तुम्हें राजसिंहासन नहीं मिलता, पर ठहरो यहीं, चाहे भिखारी बनकर। यदि तुम मुझे साथ नहीं ले जाओगे अथवा यहाँ नहीं रुकोगे, तो ऐसी स्थिति में मेरे लिये केवल एक ही विकल्प रह जायेगा कि मैं प्रायोपवास करके अपने आप को समाप्त कर दूँ। जीवित रहना मेरे लिये असम्भव होगा। हमारे शास्त्रों के अनुसार माता का दर्जा पिता के समान ही होता है, बल्कि थोड़ा सा उससे भी ऊँचा। बहुत सी बातों में उसको अग्रता का अधिकार होता है। जैसे तुम स्वयं को पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए बाध्य मानते हो, उसी प्रकार तुम मेरी आज्ञा का पालन करने के लिये भी बाध्य हो। मैं तुम्हें वन जाने की अनुमति नहीं देती हूँ। मैं प्रस्थान के लिये मना करती हूँ।" इस प्रकार माता के आग्रह के दबाव से विवश किए जाने पर श्री राम किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गए। समझ नहीं पा रहे थे, क्या करना चाहिये। वे केवल इतना ही कह सके :

अनुमन्यस्व मां देवि गमिष्यन्तमितो वनम्।
शापितासि मम प्राणैः कुरु स्वत्ययनानि मे।। II.21.46

"देवि! मैं यहाँ से वन को जाऊँगा। तुम मुझे आज्ञा दो और मेरे लिये स्वस्ति वचन कराओ। यह बात मैं अपने प्राणों की शपथ दिलाकर कहता हूँ।" परन्तु कौशल्या फिर भीटस से मस न हुई, वे अब भी उन्हें रोकती है।

यथैव ते पुत्र पिता तथाहं गुरुः स्वधर्मेण सुहृत्तया च।
न त्वानुजानामि न मां विहाय सुदुःखितामर्हसि गन्तुमेवम्।। II.21.52

"बेटा! धर्म और सौहार्द के नाते जैसे पिता तुम्हारे लिए आदरणीय गुरुजन हैं, वैसे ही मैं भी हूँ। मैं तुम्हें वन जाने की आज्ञा नहीं देती, न ही मुझ दुःखिया को छोड़कर तुम्हें कहीं जाना चाहिये।"

श्री राम पिता की आज्ञा के पालन को ही धर्म बताकर माता और लक्ष्मण को समझाने का प्रयास करते हैं, परन्तु लक्ष्मण का रोष शान्त नहीं होता। दोनों भाइयों के बीच वाक्कलह आरम्भ हो जाता है। राम लक्ष्मण को समझाते हुए अपने वनवास में दैव को ही कारण बताते हैं। वे कहते हैं, "मेरे इस प्रवास में तथा पिता द्वारा दिए हुए राज्य को हाथ से निकल जाने के लिए भाग्य को कौन टाल सकता है? दैव ही इसका कारण हो सकता है। दैव का मुक़ाबला कौन कर सकता है? देवताओं में भी कोई ऐसा नहीं है, जो दैव विधान को मिटा सके। यह दैव का ही विधान है कि मेरा राज्यभिषेक न हो और मैं निर्वासित किया जाऊँ। अतः यह निश्चय ही उसकी प्रेरणा से मुझ में और कैकेयी में यह भारी उलट–फेर हुआ। किसी को भी उसकी अवज्ञा करने का साहस

नहीं। दैव की यह इच्छा पूरी होनी ही चाहिये।" लक्ष्मण पुनः एक बार उलाहना देते हैं, "कैसा दैव? किसका दैव? वीरों के लिये कोई दैव नहीं होता। आप और मैं किसी दैव से डरने वाले नहीं है। जो कायर है और जिसमें पराक्रम का नाम नहीं है, वही दैव का आश्रय लेता है। शक्तिशाली पुरुष दैव की उपासना नहीं करते। वे अपना भाग्य स्वयं बनाते हैं। अपना भाग्य तो हम स्वयं ही निर्माण करते हैं। अतः मैं तो लड़ूँगा, आज संसार के लोग देखेंगे कि दैवशक्ति कितनी प्रबल है या पुरुषार्थ कितना बलवान है। लक्ष्मण श्री राम के अभिषेक निमित्त विरोधियों का सामना करने के लिये उद्यत हो जाते हैं।" विलाप करती हुई कौशल्या पुनः राम से उन्हें भी साथ ले जाने के लिये आग्रह करती है।

कथं धेनुः स्वकं वत्सं गच्छन्तं नानुगच्छति।
अहं त्वानुगमिष्यामि पुत्र यत्र गमिष्यसि।। II.24.9

"वत्स! धेनु आगे जाते हए अपने बछड़े के पीछे कैसे चलती है। उसी प्रकार मैं भी तुम जहाँ भी जाओगे, तुम्हारे पीछे-पीछे चलूँगी। मुझे अपने पीछे पाओगे।"

मैंने जैसा पहले भी बताया था, श्री राम का धर्म के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा थी। अतः जब उन्होंने देखा कि संकट और परीक्षा घड़ी में उनके आस पास के सब लोग कर्त्तव्यपथ से बिदक रहे हैं, वे धर्म के स्वरूप का उच्च स्तर पर प्रतिपादन करने के लिए उद्यत हो जाते हैं और बिना किसी लिहाज़ के अपनी माता को भी कर्त्तव्य पालन का उपदेश इस प्रकार देने लगते हैं :

कैकेय्या वञ्चितो राजा मयि चारण्यमाश्रिते।
भवत्या च परित्यक्तो न नूनं वर्तयिष्यति।।
भर्तुः किल परित्यागो नृशंसः केवलं स्त्रियाः।
स भवत्या न कर्त्तव्यो मनसापि विगर्हितः।।
यावज्जीवति काकुत्स्थः पिता मे जगतीपतिः।
शुश्रूषा क्रियतां तावत्स हि धर्मः सनातनः।। II.24.11-13

"माँ! कैकेयी ने मेरे पिता महाराज के साथ धोखा किया है। वह अब उनका ध्यान बिल्कुल नहीं रखेगी। इधर मैं वन जा रहा हूँ। इन परिस्थितियों में यदि तुम भी मेरे साथ चलोगी, तो मेरे वृद्ध पिता संकट के समय किस पर निर्भर होंगे? निश्चय ही वे जीवित न रह सकेंगे। पति का परित्याग नारी के लिए क्रूरतापूर्ण कर्म है, जिसकी सत्पुरुषों ने कड़ी निन्दा की है। तुम्हें तो ऐसी बात मन में भी नहीं लानी चाहिये। मेरे पिता जब तक जीवित है, तुम उन्हीं की सेवा करो। तुम्हारा स्थान उन्हीं के समीप है। पति की सेवा ही स्त्री का सनातन धर्म है।"

अपने पुत्र द्वारा इस प्रकार समझाये जाने पर कौशल्या ने कुछ बुरा नहीं माना। अपितु, उन्हें कुछ-कुछ अपनी भूल का अहसास भी हुआ। उनके मन ही मन यह

विचार आया, "यद्यपि मेरा पुत्र मुझे शिक्षा दे रहा है, तथापि उसके द्वारा कही जाने वाली बात ग्रहण करने योग्य है।" उनकी प्रकृति ऐसी थी कि उन्हें उचितानुचित का बोध कराना कठिन नहीं था।

एवमुक्ता तु कौसल्या रामेण शुभदर्शना।
तथेत्युवाच सुप्रीता राममक्लिष्टकारिणम्।। II.24.14

श्री राम के ऐसा कहने पर देवी कौशल्या ने अत्यन्त प्रसन्न होकर अनायास ही श्री राम से कहा, "अच्छा बेटा! तुम ठीक कहते हो। मैं ऐसा ही करूँगी। मैं यही ठहरूँगी।"

राम केवल इतना ही कहकर सन्तुष्ट नहीं हुए। वे उनकी स्वीकृति को पुष्ट करने के लिए कुछ और आगे बढ़े। उनके ऐसा करने पर कौशल्या में कुछ प्रतिक्रिया होती है, वे फिर पुरानी बात पर लौट आती हैं। उनके मुख पर आसुँओं की धार बह चली। वे अत्यन्त आर्त होकर अपने प्रिय पुत्र से बोलीं :

आसां राम सपत्नीनां वस्तुं मध्ये न मे क्षमम्।
नय मामपि काकुत्स्थ वनं वन्यां मृगीं यथा।।
यदि ते गमने बुद्धिः कृता पितुरपेक्षया।। II.24.19,20

"बेटा! अब मुझसे इन सौतों के बीच नहीं रहा जायेगा। वे तिरस्कार की भावना से प्रेरित होकर मुझ पर उँगली उठाया करेंगी। यदि पिता की आज्ञा पालन करने के लिये तुमने वन जाना निश्चित कर ही लिया है, तो मुझे भी वनवासिनी हरिणी की भांति वन में ही ले चलो।"

ज़रा देखिए, इस व्यथित दशा में उनका मन किस प्रकार कभी इधर, कभी उधर डोलता है। यह बिल्कुल स्वाभाविक है। यह सुनकर राम अपना लम्बा धर्मोपदेश पुनः आरम्भ कर देते हैं। वे धर्म के उच्च विषय पर उपदेश करने में कभी थकते नहीं थे। यह उनका विशेष अधिकार क्षेत्र है और उनका विशेष लक्ष्य है। पृथ्वी पर धर्म स्थापित करने के उद्देश्य से ही वे अवतरित हुए थे। चाहे माता हो या पिता हो, सबके प्रति उनका यही परम लक्ष्य है, इस बात से अवगत कराना कि किसी को किस परिस्थिति में क्या करना उचित है और क्या अनुचित। रोती हुई माता को सांत्वना देते हुए वे बोले :

व्रतोपवासनिरता या नारी परमोत्तमा।।
भर्तारं नानुवर्तेत सा तु पापगतिर्भवेत्।
भर्तुः शुश्रूषया नारी लभते स्वर्गमुत्तमम्।।
अपि या निर्नमस्कारा निवृत्ता देवपूजनात्।
शुश्रूषामेव कुर्वीत भर्तुः प्रियहिते रता।।
एष धर्मः पुरा दृष्टो लोके वेदे श्रुतः स्मृतः।

अग्निकार्येषु च सदा सुमनोभिश्च देवताः।।
पूज्यास्ते मत्कृते देवि ब्राह्मणाश्चैव सुव्रताः।
एवं कालं प्रतीक्षस्व ममागमनकाङ्क्षिणी।।
नियता नियताहारा भर्तुश्शुश्रूषणे रता।
प्राप्स्यसे परमं कामं मयि प्रत्यागते सति। II.24.25-30

"उत्कृष्ट गुण और जाति आदि की दृष्टि से परम उत्तम तथा व्रत–उपवास में तत्पर होकर, जो नारी पति की सेवा नहीं करती, उसे पापियों को मिलने वाली गति नर्क की प्राप्ति होती है। किसी स्त्री के लिये शास्त्रोक्त व्रत–उपवास और अन्य परंम्परागत अनुष्ठानों का पालन करना ही कर्त्तव्य नहीं है। उसे अपने पति की आज्ञा पर चलना चाहिये। पति की सेवा और उसकी खुशियों की पूर्त्ति मात्र से स्त्री को स्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है। दूसरी ओर, यदि एक नारी प्रतिदिन मन्दिर नहीं जाती अथवा देवता की पूजा–वन्दना से भी दूर रहती है, तो कोई बात नहीं। वह नारी पति की सेवा मात्र से उत्तम गति स्वर्गलोक को प्राप्त कर लेती है (श्री राम यहाँ पुरुषों के पक्ष का प्रतिपादन कर रहे हैं)।"

अतः नारी को चाहिये कि वह पति के प्रिय हितसाधन में सदा तत्पर रहे। यही स्त्री का वेद और लोक विश्रुत सनातन धर्म है। इसी का श्रुति और स्मृतियों में वर्णन है। "देवि! तुम मेरे लिये मंगलकामना करते हुए, नियमित आहार करके नियमों का पालन करती हुई, स्वामी की सेवा में संलग्न रहो और मेरे आगमन की इच्छा से समय की प्रतीक्षा करो। चौदह वर्ष पूरे करके मैं सकुशल लौट आऊँगा। मेरे आगमन पर हम सब पुनः एकत्रित हो जायेंगे और तुम्हारी शुभ कामना पूर्ण होगी।" इस प्रकार फिर राम के समझाने पर कौशल्या ने अपने पुत्र द्वारा अपने कर्त्तव्य का बोध हो जाता है। वे कहती हैं :

गमने सुकृतां बुद्धिं न ते शक्नोमि पुत्रक।।
विनिवर्तयितुं वीर नूनं कालो दुरत्ययः।
गच्छ पुत्र त्वमेकाग्रो भद्रं तेऽस्तु सदा विभो।। II.24.32,33

"निश्चय ही काल की गति का उल्लघंन करना अत्यन्त कठिन है। तुम्हारे वन गमन के निश्चित विचार को मैं पलट न सकी। उसका आदेश है कि तुम मुझे यहीं छोड़ कर जाओ। अतएव मुझे इसे मानना ही होगा। सामर्थ्यशाली पुत्र! अब तुम निश्चित होकर वन को जाओ। तुम्हारा सदा ही कल्याण हो।" देवी कौशल्या ने जब देखा श्री राम वनवास का दृढ़ निश्चय कर चुके हैं, तब वे हृदय से उनको आशीर्वाद देती हुई बोलीं :

न शक्यसे वारयितुं गच्छेदानीं रघूत्तम।
शीघ्रमेव निवर्तस्व वर्तस्व च सतां क्रमे।। II.25.2

"अब मैं तुम्हें रोक नहीं सकती, इस समय जाओ। सत्पुरुषों के मार्गपर स्थित रहना, अपना कर्त्तव्य निभाना और फिर वन से शीघ्र ही लौट कर आ जाना।"

उन्हें भलीभांति मालूम है कि श्री राम को वापस लौटने में चौदह वर्ष तो लगेंगे ही, किन्तु फिर भी वे शीघ्र लौटने का आग्रह करती हैं। मैं समझता हूँ उनका आशय है कि अवधि के बाद किसी भी कारण से विलम्ब नहीं होना चाहिये। आगे वे कहती हैं :

य पालयसि धर्मं त्वं धृत्वा च नियमेव च।
स वै राघवशार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षतु।। II.25.3

यह 'रामायण' के सुप्रसिद्ध श्लोकों में से एक है। "तुम नियमपूर्वक प्रसन्नता के साथ जिस धर्म का पालन करते हो, वही सब ओर से तुम्हारी रक्षा करें। वन में अनेक संकटों का सामना करना पड़ता है। अनेक जाल, अनेक अंधकूप होते हैं। जब उनका सामना हो, तो धर्म का स्मरण करना। जिस धर्म का पालन इतनी कर्त्तव्यनिष्ठा के साथ कर रहे हो, वही धर्म तुम्हारी रक्षा अवश्य करेगा। तुम तो स्वयं सच्चरित हो, जिसमें सम्पूर्ण मानवीय सद्गुणों का निवास है। अतएव, तुम्हारे ये सद्गुण हर प्रकार की सम्भावित क्षति के प्रति तुम्हारा कवच बनेगे। तुम निष्ठावान पुत्र हो और अपने माता–पिता की आज्ञा का पूर्णतया पालन करने वाले हो। साथ–साथ तुम सत्यव्रत हो। एक उच्चकोटि के मनुष्य में और क्या चाहिये?"

आशीर्वाद देने के पश्चात् कौशल्या ने विधिवत देवताओं का पूजन आम्रभ किया। तदनन्तर उन्होंने श्री राम के लिये मंगलकामना करते हुए अग्नि को लाकर, एक महात्मा ब्राह्मण के द्वारा उसमें पूर्ण विधिविधान से एक बड़ा होम करवाया। यह लगता है, कौशल्या उन धर्मानुष्ठानों में प्रवीण थीं और मंत्रों का शुद्ध उच्चारण स्वयं कर सकती थीं। पुरोहित और अन्य ब्राह्मणों को अच्छी प्रकार से भोजन करा कर उनकी इच्छानुसार दक्षिणा देकर श्री राम की माता ने एक आशीर्वाद का उच्चारण आरम्भ कर दिया, जो कई श्लोकों में मुखरित हुआ है। प्रायः हम अपनी कथा–कहानियों में जैसा देखते हैं कि कठिन परिस्थिति उपस्थित होने पर अपने पुत्रों की कुशल–क्षेम के लिये चिन्तित माता उनकी रक्षा के लिये देवी–देवताओं का आह्वान करती है। यह स्थिति भी इसी के समरूप है। कौशल्या भी श्री राम से कहती है, "जैसे उनकी रक्षा हुई, भगवान तुम्हारी भी रक्षा करे।" *'यन्मंगलं.....तत्ते भवतु मंगलम्'* इस वाक्य की पुनरावृत्ति यहाँ चार बार हुई है (II.25.32-36)। इस प्रकार की पुनरावृत्ति वाल्मीकि की अलंकारिक विशेषता है। कौशल्या ने इस प्रकार कहा, "वृत्रासुर का नाश करने के निमित्त इन्द्र को जो मंगलमय आशीर्वाद प्राप्त हुआ था, वही मंगल तुम्हारे लिये भी हो। पूर्वकाल में विनता देवी ने स्वर्गलोक से अमृत मंगवाने के लिये अपने पुत्र गरुड़ के लिये जो मंगलकृत्य किया था, वही तुम्हें भी प्राप्त हो। अमृत की उत्पत्ति के समय जब देवताओं और दानवों में सग्रांम हुआ था,उस समय इन्द्र की माता, अदिति ने जो

मंगलमय आशीर्वाद दिया था, और जिसको देवताओं ने स्वीकार किया, वही आशीर्वाद तुम्हारे लिये भी सुलभ हो। जब अनुपम तेजस्वी भगवान विष्णु ने बलि को जीतने के लिये वामन अवतार धारण करके तीन पग बढ़ा कर तीनों लोकों को नाप लिया था, उस समय जो उनके लिये मंगलकामना की गई थी, वही मंगलकामना तुम्हें भी प्राप्त हो। ये सब तुम्हारी रक्षा करें और अपना आशीर्वाद दें।" कवि स्पष्ट रूप से बताता है, तदनंतर शोकाकुल कौशल्या ने ऊपर से प्रसन्न होकर मन्त्रों का स्पष्ट उच्चारण तो किया, किन्तु उस समय वे वाणीमात्र से ही उच्चारण कर सकीं, हृदय से नहीं। उनका हृदय श्री राम से वियोग की सम्भावना से व्यथित था। किन्तु, प्रत्यक्षतः उन्होंने ऐसा जताया मानो वे प्रसन्न थीं। आप ज़रा इस विदाई के अवसर को गाम्भीर्य की कल्पना करने का प्रयास करें। वे अपने पुत्र को चौदह वर्ष के लिये वन जाने की विदा दे रही थीं, वह भी श्री राम जैसै पुत्र को। श्री राम के मस्तक को कुछ झुका कर माता ने सूंघा और उन्हे हृदय से लगा कर कहा, "यदि भाग्य ने साथ दिया, तो आशा करती हूँ, जब तुम पूर्णकाम होकर स्वस्थ–सकुशल अयोध्या लौटोगे, उस समय तुम्हें राजमार्ग पर स्थित देखकर सुखी होऊँगी। पिता की कठोर आज्ञा पालन करने का जो व्रत तुमने लिया है, उसे पूरा करके जब तुम यहाँ आकर राजसिंहासन संभाल कर अपने महान पूर्वजों के पथ पर अग्रसर होओगे, उस समय मैं प्रसन्नता पूर्वक तुम्हारा दर्शन करूँगी। अब जाओ और वनवास से लौट कर राजोचित मंगलमय वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर राज्य करो। ब्रह्मांड की समस्त शक्तियाँ अनिष्ट से तुम्हारी रक्षा करें। मैंने सदा जिनका पूजन–वन्दन किया है, वे समस्त देवतागण, भूतगण, देवोपम नाग एवं सम्पूर्ण दिशाएँ मेरी ये भेंट स्वीकार करें और मेरी प्रार्थना भी कि तुम वन मे जाकर आराम से रहो और फिर सकुशल लौट कर आ जाओ।" ऐसी माता का जब हम ध्यान करते हैं, तो भाव विभोर हुए बिना नहीं रह सकते। कवि बताता है कि कौशल्या ने श्री राम की दक्षिणावर्त्त परिक्रमा की। यह कुछ असमान्य सी बात लगती है, क्योंकि छोटों के लिये शुभकामनायें करते समय सामान्यतः यह मर्यादित नहीं है। परिक्रमा का उद्देश्य सम्भवतः उनकी बलायें लेना था।

देवी माता के चरणों में बार बार प्रणाम करके श्री राम इससे भी अधिक कष्टकर दृश्य का सामना करने के लिये सीता के महल की ओर चल दिए। जैसा कि हम देख चुके हैं, वहाँ उन्होंने पिता की आज्ञानुसार वन जाने का निश्चय बताते हुए, पहले सीता को घर में रहने के लिये समझाया, परन्तु सीता का अधिक आग्रह, विलाप, घबराहट देखकर अन्ततः श्री राम ने उन्हें साथ चलने की अनुमति दे दी। लक्ष्मण भी आग्रह करके साथ चलने की अनुमति प्राप्त कर लेते हैं। हमारी भेंट श्री राम से तब होती है, जब वे सीता और लक्ष्मण सहित दशरथ के पास वनवास के लिये विदा मांगने पहुँचते हैं। उस समय वे अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से और उचित रीति से अपनी माता की उचित देखभाल करने की प्रार्थना करते हैं। जैसा कि पहले भी बता चुका हूँ, कोई भी हो, श्री

राम उसको कर्त्तव्य की शिक्षा देते हुए कभी नहीं उकताते। इसलिए स्वभावतः अपने पिता से इस प्रकार कहते हैं :

इयं धार्मिक कौसल्या मम माता यशस्विनी।
वृद्धा वाक्शुद्धशीला च न च त्वां देव गर्हते।।
मया विहीनां वरद प्रपन्नां शोकसागरम्।
अदृष्टपूर्वव्यसनां भूयः संमन्तुमर्हसि।।
पुत्रशोकं यथा नर्हेत्वया पूजयेन पूजिता।
मां हि सञ्चिन्तयन्तीयं त्वयि जीवत्तपस्विनी।।
इमां महेन्द्रोपम जातगर्धिनीं तथा विधातुं जननीं ममार्हसि।
यथा वनस्थे मयि शोककर्शिता न जीवितं न्यस्य यमक्षयं व्रजेत्।।

II.38.15-18

"धर्मात्मन! मेरी माता कौशल्या अब वृद्ध हो चली हैं। इनका स्वभाव बहुत ही उच्च और उदार है। इस दुःखद स्थिति को प्राप्त होकर भी वे कभी आपकी न्निदा नही करतीं। इन्होंने पहले कभी इतना भारी संकट न देखा होगा। ये मेरे बिना शोकसागर में डूब जायेंगी। अतः आप पहले से भी अधिक इनका सम्मान करते रहें। आप जैसे पूज्यतम पति के आश्रय में ये मेरी माता जीवन धारण करें और किसी प्रकार से पुत्रशोक का अनुभव न करें। ये निरन्तर अपने बिछुड़े हुए बेटे को देखने के लिये उत्सुक रहेंगी। कहीं ऐसा न हो कि मेरे वन जाने के उपरान्त शोकाकुल होकर अपने प्राण त्याग दें। अतएव, आप मेरी माता को सदा ऐसी ही परिस्थिति में रखें, जिससे उक्त आशंका की कोई गुंजाइश न रह जाये।"

राजा दशरथ से विदा लेकर जब सीता कौशल्या से विदा लेने गई, कौशल्या ने अपनी दोनों भुजाओं में कर अपनी छाती से लगा लिया और उनके मस्तक को सूँघा। उस समय उन्होंने सीता को पति सेवा का उपदेश देते हुए कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण बातें भी कहीं, जिनकी ओर मैं आपका ध्यान दिलाना चाहता हूँ। कौशल्या सीता से कहती हैं, "अब तुम अपने पति के संग वन जाओ। तुम तो एक असाधारण नारी हो, कितनी स्त्रियाँ ऐसी होंगी, जो इस प्रकार अपने पति के साथ उसकी विपत्ति और दुर्दिन में भागी होने के लिये उसका अनुसरण करेंगी?" स्त्रियों को सबसे अधिक निन्दा स्त्री जाति से ही मिलती है। पुरुष लोग उनके इतने कटु आलोचक नहीं होते, जितनी स्त्रियाँ। कौशल्या इस प्रकार कहती हैं :

असत्यः सर्वलोकेऽस्मिन् सततं सत्कृताः प्रियैः।।
भर्तारं नानुमन्यन्ते विनिपातगतं स्त्रियः।
एष स्वभावो नारीणामनुभूय पुरा सुखम्।।
अल्पामप्यादृं प्राप्य दुष्यन्ति प्रजहत्यापि।

असत्यशीला विकृता दुर्गा अहृदयाः सदा।।
असत्यः पापसंकल्पाः क्षणमात्रविरागिणः।
न कुलं न कृतं विद्या न दत्तं नापि संग्रहः।।
स्त्रीणां गृहणाति हृदयमनित्यहृदया हि ताः।
साध्वीनां तु स्थितानां हि शीले सत्ये श्रुते स्थिते।।
स्त्रीणां पवित्रं परमं पतिरेको विशिष्यते।
स त्वया नावमन्तव्यः पुत्रः प्रव्राजितो वनम्।।
तव देवसमस्त्वेष निर्धनः सधनोऽपि वा। II.39.20-26

"बेटी! जो स्त्रियाँ अपने प्रिय पति के द्वारा सम्मानित होकर भी संकट में पड़ने पर उसका आदर नहीं करती, वे स्त्रियाँ सम्पूर्ण जगत में 'दुष्टा' के नाम से पुकारी जाती हैं। दुष्टा स्त्रियों का यह स्वभाव होता है कि सबसे पहले वे पति द्वारा यथेष्ट सुख मांगती हैं। परन्तु जब थोड़ी सी भी विपत्ति पड़ती है, तब उस पर दोषारोपण करती हैं और उनका साथ तक भी छोड़ देती हैं। एक क्षण में वे अपने सम्पूर्ण प्रेम का परित्याग कर देती हैं। जो झूठ बोलने वाली, विकृत चेष्टा करने वाली, दुष्ट पुरुषों का संसर्ग रखने वाली, पति के प्रति सदा हृदयहीनता का परिचय देने वाली, कुलटा, पाप का इरादा रखने वाली, और छोटी सी बात के लिये भी क्षणमात्र में पति की ओर से विरक्त होने वाली, ऐसी स्त्रियाँ सभी दुष्टा कही जायेंगी। उत्तम कुल, किया हुआ उपकार, विद्या, आभूषण आदि का दान और संग्रह यह सब पति द्वारा करे जाने पर भी स्त्रियों के हृदय को नहीं वश में कर पाता क्योंकि उनका चित्त अव्यस्थित होता है। इसके विपरीत जो सत्य, सदाचार, शास्त्रों की आज्ञा और कुलोचित मर्यादा में रहती हैं, उन साध्वी स्त्रियों के लिये एक मात्र पति ही परम पवित्र एवं सर्वश्रेष्ठ देवता होता है। वे निर्धन हों या धनी, तुम्हारे लिये देवता तुल्य हैं।"

इस अति कठोर निन्दा का मैं समर्थन नहीं करता, किन्तु हमारा साहित्य ऐसी बातों से परिपूर्ण है। पाश्चात्य साहित्य भी ऐसी बातों से अछूता नहीं है। प्रायः नारी को पददलित किया गया है और उसके साथ दुर्व्यवहार किया गया और उसको पूर्णतया अविश्वसनीय ठहराकर उसकी निन्दा की गई है। कौशल्या कहती हैं, "मेरा पुत्र सच्चरित है। तुम्हें उसे देवता मानकर उसकी पूजा करनी चाहिये, वही तुम्हारा र्स्वस्व है। यदि इस समय वह धन से वञ्चित है, तो इससे क्या हुआ?" यद्यपि सीताको इस शिक्षा की आवश्यकता नहीं थी, फिर भी वे कर्त्तव्य का स्मरण कराने हेतु अपनी सास के प्रति आभार प्रकट करती हैं। स्त्रियों के विरुद्ध ऐसे निन्दापूर्ण वक्तव्य प्रायः देखने में आते हैं। इसी सन्दर्भ में एक बात और ध्यान में आती है। वनवास काल में जब श्री राम अगस्त्य ऋषि के आश्रम में अतिथि होते हैं, उस समय भी प्रज्ञा के महान स्रोत, वे मुनि भी स्त्रियों के प्रति इसी प्रकार के विचार प्रकट करते हैं :

एषा हि प्रकृतिः स्त्रीणामासृष्टे रघुनन्दन।
समस्थमनुरज्यन्ति विषमस्थं त्यजन्ति च।। III.13.5

"सृष्टिकाल से लेकर अब तक स्त्रियों का प्रायः यही स्वभाव रहता आया है। यदि पति अच्छी अवस्था में है अर्थात् धनधान्य से सम्पन्न, स्वस्थ एवं सुखी है, तो वे उसमें अनुराग रखती हैं। परन्तु, यदि वह विषम अवस्था में पड़ जाता है, तो उसे त्याग देती है।"

सचमुच में तो ऐसा सोचा करता था कि आज की नारियाँ पुरातन काल की नारियों से अत्यधिक बेहतर है। वे सदा हमारा साथ देती हैं, चाहे हम कितना भी गिर जाये। यदि इस तर्क को हम एक सीमा के आगे बढ़ायें, तो सम्भवतः बहुत सी अनपेक्षित बातें सामने आ सकती हैं। परन्तु, तथ्य तो यह है कि पुरातन नारी आर्थिक रूप से अधिक स्वतंत्र थी। वह स्वतंत्र रूप से कहीं भी जा सकती थी और अब की अपेक्षा अपनी देखभाल भी अधिक अच्छे ढंग से कर सकती थी। इस समय उसकी स्वतंत्रता सीमित है। वह शिष्टाचार और मर्यादा के कठोर नियमों से जकड़ी हुई है, जिनके उल्लंघन का परिणाम भारी दंड और लांछन होता है। फलस्वरूप निस्सन्देह हमारी आधुनिक महिला को रोक–टोक का सामना करना पड़ता है, यदि वह पुरातन काल की महिला की उपयोग करे।

शतह्रदानां लोलत्वं शस्त्राणां तीक्ष्णतां तथा।
गरुडानिलयोः शैघ्र्यमनुगच्छन्ति योषितः।। III.13.6

"स्त्रियाँ इन वस्तुओं का अनुसरण करती हैं : विद्युत की चपलता, शास्त्रों की तीक्ष्णता तथा गरुड़ एवं वायु की तीव्र गति। विद्युत के समान उनकी मनोदशा भी केवल क्षणभर के लिए टिकती है। यदि एक समय स्त्री की मनोदशा अच्छी है अथवा उसका आचरण भी सराहनीय है, फिर भी उसका आगे भरोसा नहीं किया जा सकता। जैसे शस्त्र तीक्ष्ण होते हैं, इसी प्रकार नारी भी होती है। वे गरुड़ अथवा वायु के समान तीव्र गति से दूर भाग सकती हैं। वे किसी नियम विशेष पर दृढ़ नहीं रहतीं।"

इस प्रकार के कठोर पक्षपातपूर्ण लाञ्छन नारियों के चरित्र के विरुद्ध प्रायः देखने को मिलते हैं। मैंने इन दो उदाहरणों को इस लिये चुना हैं क्योंकि एक और कौशल्या इस ढंग पर बोलती हैं और दूसरी ओर अगस्त्य भी उसी शैली में। अब हम अपेक्षाकृत एक अधिक सुन्दर प्रसंग पर आते हैं। जब लक्ष्मण अपनी माता सुमित्रा से विदा लेने जाते हैं, वे क्या कहती हैं?

सृष्टस्त्वं वनवासाय स्वनुरक्तः सुहृज्जने।
राम प्रमादं मा कार्षीः पुत्रः भ्रातरि गच्छति।।
व्यसनी वा समृद्धो वा गतिरेष तवानघ।
एष लोके सतां धर्मो यज्जेयेष्ठवशगो भवेत्।।

इदं हि वृत्तमुचितं कुलस्यास्य सनातनम्।
दानं दीक्षा च यज्ञेषु तनुत्यागो मृधेषु च।। II 40.5-7

सुमित्रा को राम की वास्तविक प्रकृति का पूरा ज्ञान है। अतः वे अपने पुत्र से कहती है, "वत्स! तुम्हारे जन्म पर ही मुझे पता चल गया था कि तुम अपने जीवन का पर्याप्त समय वन में व्यतीत करोगे। तुम अपने सुहृद श्री राम के परम अनुरागी हो। इसलिए मैं तुम्हें सहर्ष वनवास के लिये विदा करती हूँ। अपने बड़े भाई के लिये वन में इधर–उधर जाते समय क्षण भर के लिये भी तुम उनकी सेवा में कभी प्रमाद न करना। उनके प्रति सदा यथोचित और सत्कार देना। वे संकट में हो अथवा समृद्धि में, वे ही तुम्हारी परम गति हैं। संसार में सत्पुरुषों का यही धर्म है कि सर्वदा अपने बड़े भाई की आज्ञा के अधीन रहें। दान देना, यज्ञ में दीक्षा ग्रहण करना और युद्ध में शरीर त्यागना यही इस कुल का उचित एवं सनातन आचरण रहा है।"

वैसे तो लक्ष्मण को इस प्रकार उनके द्वारा प्रेरित किये जाने की आवश्यकता नहीं थी। इसके बाद एक प्रसिद्ध श्लोक रहा है :

लक्ष्मणं त्वेवमुक्त्वा सा संसिद्धं प्रियराघवम्।
सुमित्रा गच्छ गच्छेति पुनःपुनरुवाच तम्।।
रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्।। II 40.8,9

अपने पुत्र, लक्ष्मण से ऐसा कहकर सुमित्रा ने वनवास के लिये निश्चित विचार रखने वाले सर्वप्रिय श्री राम से कहा, "बेटा! जाओ तुम्हारा मार्ग मंगलमय हो।" तत्पश्चात् वे लक्ष्मण से बोली, "लक्ष्मण! एक प्रकार से अब तुम्हारे जीवन में बड़ा परिवर्तन आने वाला है। वस्तुतः यह परिवर्तन नहीं होगा। तुम अपने माता–पिता को छोड़कर नहीं जा रहे हो और न ही अत्यन्त प्रिय नगरी अयोध्या को ही। तुम राम को अपना पिता दशरथ समझना, जनकनन्दिनी सीता को अपनी माता सुमित्रा मानना, और वन को ही अयोध्या जानना। अब सुखपूर्वक यहाँ से प्रस्थान करो।"

कुछ सर्गों के बाद (सर्ग 43) हम देखते हैं, अपना दुःख सहन करने में असमर्थ कौशल्या एक लम्बा और दयनीय विलाप करती हैं। शय्या पर पड़े महाराज दशरथ श्री राम का ही चिन्तन करते–करते लम्बी साँसे खींचते हुए, तीनों के चले जाने से, अत्यन्त उदास हो जाते हैं। पास बैठी उतनी ही उदास कौशल्या भी बड़ा कारुणिक विलाप करने लगती हैं। वे महाराज से कहती हैं, "श्री राम पर अपना विष उंडेलकर टेढ़ी चाल से चलने वाली कैकेयी, केंचुली छोड़कर नूतन शरीर से प्रकट हुई सर्पिणी की भांति अब स्वच्छन्द विचरेगी। जैसे घर में रहने वाला दुष्ट सर्प बार–बार भयभीत करता है, उसी प्रकार श्री राम को वनवास देकर सफल मनोरथ हुई, यह कैकेयी मुझे तथा अन्य सबको संत्रस्त करती रहेगी। यदि राम भीख माँगते हुए भी घर में रहते

अथवा मेरे पुत्र को दास भी बना दिया गया होता, तो भी वरदान मुझे अभीष्ट होता और मैं भाग्य से समझौता कर लेती। कैकेयी ने अपनी इच्छानुसार ऐसा अपवित्र कार्य किया है, जैसे किसी अग्निहोत्री ब्राह्मण ने अमावस्या या पूर्णिमा के दिन देवताओं को उनके भाग्य से वञ्चित करके, वह भाग राक्षसों को अर्पित कर दिया हो। मेरे पुत्र, वीर महाबाहु, गजराज के समान मन्दगति से चलने वाला कोदंडधारी, धनुर्धर राम का भाग्य भी कैसा है कि वे अपनी पत्नी और लक्ष्मण के साथ बीहड़ वन में भटक रहे हैं। जिन्होंने जीवन में कभी दुःख नहीं देखा था, ऐसे राम लक्ष्मण और सीता को आपने कैकेयी की बातों में आकर वन भेज दिया। उन बेचारों को कष्ट के सिवाय अब वन में क्या रखा है? अमूल्य वस्तुओं से वञ्चित वे तीनों तरुण सुख भोगने के समय घर से निकाल दिए गए। अब वे फल–मूल का भोजन करके न जाने कैसे रहेंगे? उस भोजन पर निर्भर रह कर, जो अधेड़ सन्यासियों का होता है, कैसे चौदह वर्ष व्यतीत होंगे? क्या अब मेरे जीवन में शोक को नष्ट कराने वाला शुभ दिन फिर आयेगा, जब मैं सीता और लक्ष्मण सहित राम को यहाँ देख सकूंगी? कब वह शुभ अवसर आयेगा, जब वीर राम और लक्ष्मण वन से लौट कर आयेंगे और यह सुनते ही विख्यात अयोध्यावासी हर्ष से उल्लसित होंगे और घर–घर फहराये गए ध्वज समूह नगर की शोभा बढ़ायेंगे? न जाने कब राम और लक्ष्मण को पुनः वन से आया देखकर यह अयोध्यापुरी पूर्णिमा के उमड़ते हुए समुद्र की भाँति हर्षोल्लास से परिपूर्ण होगी? जैसे सांड गाय को आगे करके चलता है, उसी प्रकार वीर महाबाहु राम रथ पर सीता को आगे करके कब अयोध्यापुरी में प्रवेश करेंगे? न जाने कब यहाँ सहस्त्रों मनुष्य पुरी में प्रवेश करते समय राजमार्ग पर चलते हुए मेरे दोनों शत्रुदमन पुत्रों पर खीलों की वर्षा करेंगे? उत्तम आयुध लिये शिखरयुक्त पर्वतों के समान प्रतीत होने वाले राम और लक्ष्मण सुन्दर कुंडलों से अलंकृत होकर, कब अयोध्यापुरी में प्रवेश करते हुए, मेरे नेत्रों के समक्ष प्रकट होंगे? कब ब्राह्मण कन्यायें हर्षपूर्वक फूल और फल अर्पित करती हुई अयोध्या की परिक्रमा करेंगी? न जाने कब देवताओं के समान तेजस्वी राम पृथ्वी पर सामयिक वर्षा की भाँति जन समुदाय और मेरा लालन करते हुए यहाँ पधारेंगे? इस समय मेरी विपत्ति को देखते हुए तो निस्सन्देह ऐसा लगता है कि मुझ नीच आचरण करने वाली नारी ने पूर्वजन्म में बछड़ों को दूध पीने के लिए उद्यत होते ही उनकी माताओं के स्तन काट दिए होंगे। जिस प्रकार किसी सिंह ने किसी छोटे से बछड़े वाली गाय को बलपूर्वक बछड़े से अलग कर दिया हो, उसी प्रकार कैकेयी ने बलपूर्वक मुझे अपने बेटे से विलग कर दिया है। जो उत्तम गुणों से युक्त और सम्पूर्ण शस्त्रों में प्रवीण है, उस इकलौते पुत्र को खाकर मैं जीवित नहीं रह सकती। अब प्रिय पुत्र राम और महाबली लक्ष्मण को देखे बिना, मुझ में जीवित रहने की शक्ति शेष नहीं है। जैसे ग्रीष्म ऋतु में प्रभाकर सूर्य भगवान अपनी किरणों से पृथ्वी को अधिक तप्त कर देते हैं, उसी प्रकार यह शोकजनित अग्नि मुझे आज जला रही है।" [II.43]

जब कौशल्या इस प्रकार अपनी मनोव्यथा उंडेल रही थी, धर्मपराणा सुमित्रा, उच्चकोटि की समझदारी भावनाओं द्वारा कर्त्तव्य के प्रति उन्हें उपदेश से भरपूर सान्त्वना देने का प्रयास कर रही थी। यहाँ हम कौशल्या और सुमित्रा के बीच एक बड़ा अन्तर देखते हैं। सुमित्रा में आत्मसंयम अपेक्षाकृत अधिक है क्योंकि वह वस्तुस्थितियों को यथार्थ रूप में समझती हैं। यद्यपि वे भी कौशल्या की भांति अपने पुत्र से विलग हो रही हैं, वे इतनी शोकसन्तप्त नहीं हैं क्योंकि वे जानती है कि राम और सीता के वन जाने का जीवन–लक्ष्य क्या है। वे धर्म के आदेश पनर वन जा रहे हैं और इस आदेश को रद्द किया नहीं जा सकता।

कौशल्या को इस प्रकार से विलाप करते देखकर, सुमित्रा ने ये धर्मयुक्त वचन कहे, "आर्या! तुम्हारा विषाद अनुचित है। तुम तो माताओं में सबसे अधिक भाग्यशालिनी हो। तुम्हारे पुत्रउत्तम गुणों से युक्त और पुरुषों में श्रेष्ठ हैं। उनके लिये इस प्रकार का विलाप करना, दीनतापूर्वक रोना, व्यर्थ है। इस प्रकार रोने–धोने से क्या लाभ? तुम्हारे स्थायी हित के निमित्त, जो अपने पिता को सत्यवादी बनाने के लिए वन चले गए है, वे तुम्हारे महाबली राम उस श्रेष्ठ धर्म में स्थित हैं, जिसका सत्पुरुषों ने सर्वदा, सम्यक् प्रकार से पालन किया है। वह परलोक में भी सुखमय फल प्रदान करने वाला है। ऐसे धर्मात्मा के लिये कदापि शोक नही करना चाहिये। निष्पाप लक्ष्मण भी समस्त प्राणियों के प्रति दयालु हैं। वे भी धर्म के श्रेष्ठ मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं। लक्ष्मण के लिये यह बड़े सौभाग्य की बात है। सीता भी, जो सुख भोगने के योग्य है, वनवास के समस्त दुःखों को भलीभाँति जानते हुए भी, अपने कर्त्तव्यपालन की शुद्ध भावनाओं से प्रेरित होकर, तुम्हारे धर्मात्मा पुत्र का अनुसरण कर रही है। जो प्रभु संसार में अपनी कीर्तिमयी पताका फहरा रहे हैं और सदा सत्यव्रत पालन करने के लिए तत्पर रहते हैं, ऐसे पुत्र राम के लिये कौन सा श्रेय इहलोक अथवा परलोक में दुर्लभ है। श्री राम तो मूर्तिमान धर्म हैं। उनकी पवित्रता और उत्तम महात्म्य तो अखिल विश्व में विख्यात है। निश्चय ही सूर्य अपनी किरणों से उन्हें सन्तप्त नहीं कर सकता। सभी ऋतुओं में वनों से निकली हुई उचित सर्दी और गर्मी से युक्त सुखद एवं मंगलमय वायु राम की सेवा करेगी। रात्रि के समय धूप का कष्ट निवारण करने वाला शीतल चन्द्रमा सोते हुए निष्पाप राम का अपनी किरणों द्वारा आलिंगन करेगा और उन्हें प्रसन्नता प्रदान करेगा। बहिन! ज़रा स्मरण करो, राम के द्वारा रणभूमि में तिमिध्वज (शम्बर) के पुत्र दानवराज सुबाहु को दंडक वन में मारा गया देखकर स्वंय ब्रह्मा ने आकर उन महातेजस्वी राम को बहुत से दिव्य अस्त्र–शस्त्र प्रदान किए थे। अतएव, उनके लिये वन में कोई त्रास नहीं है। वे वहाँ ऐसे ही रहेंगे, जैसे वे पुरुषसिंह श्री राम शूरवीर हैं। वे अपने बाहुबल का आश्रय लेकर जैसे महल में रहते थे, उसी प्रकार वन में भी निर्भय होकर रहेंगे। जिनके बाणों का लक्ष्य बनकर सभी प्राणी विनाश को प्राप्त हो जाते हैं, उनके शासन में तो सम्पूर्ण पृथ्वी और समस्त प्राणी है। राम की जैसी गौरव और गरिमा है, जैसा पराक्रम

है, और जैसी कल्याणमयी शक्ति है, उससे ज्ञात होता है कि वे वनवास से लौटकर शीघ्र ही अपना राज्य प्राप्त कर लेंगे। राम सूर्य के भी सूर्य (प्रकाशक) हैं, अग्नि के भी अग्नि (दाहक) हैं, वे प्रभु के भी प्रभु है, लक्ष्मी की भी उत्तम लक्ष्मी, कीर्ति की भी कीर्ति और क्षमा की भी क्षमा हैं। केवल इतना ही नहीं, वे देवताओं के भी देवता तथा भूतों के भी उत्तम भूत हैं। वे वन में रहें या नगर में, उनको कौन क्षति पहुँचा सकता है? पुरुषशिरोमणि राम शीघ्र ही पृथ्वी, सीता और लक्ष्मी– इन तीनों के साथ राज्य पर अभिषिक्त होंगे। जिनको नगर से निकलते देखकर अयोध्या का जन मानस शोक से आहत होकर नेत्रों से आँसू बहा रहा है, कुश और चीर वल्कल धारण करके जाते हुए, जिन अजय, नित्यविजयी वीर के पीछे–पीछे सीता के रूप में साक्षात् लक्ष्मी ही उनके साथ गई है, उनके लिये क्या दुर्लभ है? जिनके आगे धनुर्धारियों में श्रेष्ठ लक्ष्मण स्वयं बाण और खड्ग आदि शस्त्र लिये जा रहे हैं, उनके लिये जगत में क्या दुर्लभ है? देवि! मैं तुमसे सत्य कहती हूँ, तुम वनवास की अवधिपूर्ण होने पर श्री राम को अवश्य देखोगी। अतएव, तुम शोक और मोह को छोड़ दो। कल्याणि! तुम नवोदित चन्द्रमा के समान अपने पुत्र को पुनः अपने चरणों में मस्तक रखकर प्रणाम करती हुई देखोगी। राजभवन में प्रविष्ट होकर पुनः कौसलों के राजपद पर अभिषिक्त हुए अपने पुत्र को अतुल राजलक्ष्मी से सम्पन्न देखकर तुम शीघ्र ही अपने नेत्रों से विषाद के आँसुओं के बजाय भरपूर आनन्द के आँसू बहाओगी। देवि! श्री राम के लिये तुम्हारे मन में शोक और दुःख नहीं होना चाहिये, क्योंकि उनमें कोई अशुभ बात दिखाई नहीं देती। तुम्हारा सौभाग्य निश्चित है, श्री राम को कोई भी कष्ट, कोई भी दुःख, कोई भी संकट स्पर्श नहीं कर सकता। तुम सीता और लक्ष्मण सहित अपने पुत्र को यहाँ उपस्थित देखोगी। आपके आस–पास चिन्ताग्रस्त, जो लोग आपको उत्सुकतापूर्ण देख रहें हैं, तुम्हें उदाहरण के लिये इन सबको धैर्य बंधाना चाहिये, जिससे भविष्य के प्रति वे आशावान रहें। स्वयं ही इस समय अपने हृदय को क्यों इतना दुःखित कर रही हो! तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये क्योंकि तुम्हें राम जैसा बेटा मिला है। राम से बढ़कर सन्मार्ग में स्थिर रहने वाला मनुष्य संसार में दूसरा कोई नहीं है। जैसे वर्षाकाल के मेघ जलवृष्टि करते हैं, उसी प्रकार सुहृदों सहित तुम अपने पुत्र को अपने चरणों में प्रणाम करते देखोगी और आनन्दपूर्ण आँसुओं की वर्षा करोगी।" यहाँ पर सुमित्रा अपनी बुद्धिमानी तथा समझदारी के पूरे शिखर पर है। श्री राम के निकटस्थ व्यक्तियों में लक्ष्मण को छोड़कर कदाचित् केवल सुमित्रा ही हैं, जिन्होंने राम की वास्तविक प्रकृति को समझा, उनके वनगमन के उद्देश्य और उनकी क्रिया के औचित्य और धर्मशीलता को समझा।

तत्पश्चात् हम एक बड़े करुण दृश्य पर आते हैं। श्री राम को गंगा के दक्षिण तट पर पहुँचा कर और उनसे विदा लेकर सारथि सुमन्त्र अयोध्या लौट आये और उसी भवन की ओर गए, जहाँ राजा दशरथ लेटे हुए थे। आठवीं ड्योढ़ी में प्रवेश करके उन्होंने देखा राजा कौशल्या के भवन में बैठे पुत्रशोक में मलिन दीन दुःखी एवं आतुर

हो रहे हैं। उसी भवन में कौशल्या, सुमित्रा और महाराज के कुछ विश्वसनीय परिजन भी उपस्थित थे। सुमन्त्र ने महाराज के पास जाकर अभिवादन किया और श्री राम का सन्देश ज्यों का त्यों दे दिया।

स तूष्णीमेव तच्छ्रुत्वा राजा विभ्रान्तचेतनः।
मूर्च्छितो न्यपतद्भूमौ रामशोकाभिपीडितः।। II.57.26

राजा दशरथ श्री राम के वियोग से पीड़ित होकर मूर्च्छित हो गए और भूमि पर गिर पड़े। पृथ्वी पर गिरते ही अन्तःपुर की सब स्त्रियाँ चीत्कार करने लगीं। उस समय कौशल्या ने सुमित्रा की सहायता से राजा को उठाकर पलंग पर लेटा दिया। व्यथा के घाव पुनः हरे हो गए, अब कौशल्या स्वयं पर नियन्त्रण न रख सकी और वृद्ध महाराज को उलाहना देने लगीं।

इदं तस्य महाभाग दूतं दुष्करकारिणः।
वनवासादनुप्राप्तं कस्मान्न प्रतिभाषते।।
अहोममनयं कृत्वा व्यपत्रपसि राघव।
उत्तिष्ठ सुकृतं तेऽस्तु शोके न स्यात्सहायता।।
देव यस्या भयाद्रामं नानुपृच्छसि सारथिम्।
नेह तिष्ठति कैकेयी विसर्ब्धं प्रतिभाष्यताम्।। II. 57.29-31

कैसा विचित्र प्रश्न था! बेचारे दशरथ उत्तर में कह ही क्या सकते थे? कौशल्या ने इस प्रकार कहा, "महाराज! ये सुमन्त्र जी श्री राम के दूत होकर उनका सन्देश लेकर आए हैं। आप इनसे बातचीत क्यों नहीं करते? रघुनन्दन! पुत्र का वनवास देना अन्याय है। यह अन्याय करके आप लज्जित क्यों हो रहे है? (यह तो वस्तुतः घाव पर नमक छिड़कने के समान था) उठिए, आपको अपने सत्य के पावन पुण्य का फल प्राप्त हो। शोक करने से क्या लाभ? देव! आप जिस भय से श्री राम का समाचार नहीं पूछ रहे हैं, वह कैकेयी यहाँ उपस्थित नहीं है। अतः निर्भय होकर इनसे बात क्यों नहीं करते?"

ऐसा कहकर कौशल्या का गला भर आया और वे शोकाकुल होकर पृथ्वी पर गिर पड़ीं। इस पर सभी रानियाँ उन्हें चारों ओर से घेर कर रोने लगीं।

ततस्तमन्तःपुरनादमुत्थितं समीक्ष्य वृद्धास्तरुणाश्च मानवाः।
स्त्रियश्च सर्वा रुरुदुः समन्ततःपुरं तदासीत्पुनरेव सङ्कुलम्।।
II.57.34

अन्तः पुर से उठे हुए उस आर्तनाद को सुनकर, नगर में बूढ़े और जवान, सभी रो पड़े। सारी स्त्रियाँ रोने लगी। सारा नगर पुनः शोक से व्याकुल हो उठा। शोक और विषाद का कैसा मर्मस्पर्शी दृश्य था। वहाँ एक अप्रशमित आर्तनाद छा गया।

कुछ समय बाद राजा दशरथ के पास बैठी, आर्त कौशल्या ने फिर वही बात छेड़ते हुए राजा को उपालम्भ देना आरम्भ किया। उन्होंने अपने पति से इस प्रकार कहा, "तीनों लोकों में आपका महान यश फैला हुआ है। रघुकुल नरेश बड़े दयालु, उदार और प्रिय वचन बोलने वाले होते हैं, तथापि आपने इस विषय पर विचार नहीं किया कि सुख–वैभव में पले–पोसे दोनों पुत्र और सीता वनवास के कष्टों को कैसे सहन करेंगे। वह सुकुमारी तरुणी सीता, जो सुख भोगने योग्य है, वह वन की सर्दी–गर्मी कैसे सहेगी? सीता, जो स्वादिष्ट व्यञ्जनों से युक्त अन्न का भोजन किया करती थी, अब वह नीवार का सूखा भात कैसे खायेगी? जो सदा मधुर गीत–वाद्य की ध्वनि सुना करती थी, वही वन में जंगली सिंहों का अशोभन शब्द कैसे सुनेगी? जो इन्द्रध्वज के समान समस्त लोकों के लिये आनन्द प्रदान करने वाले थे, वे महाबाहु राम कैसे सोते होंगे? कदाचित् उनकी परिघ जैसी मोटी बाँहे ही उनका तकिया होगी। जिसकी कान्ति कमल के समान है, जिसके ऊपर सुन्दर केश शोभा पाते हैं, जिसकी प्रत्येक साँस से कमल की सुगन्ध निकलती है, जिसके मुख मंडल पर कमल सहज सुन्दर नेत्र सुशोभित है, ऐसे मनोहर राम के मुख को मैं कब देखूंगी? मेरा हृदय वज्र का बना हुआ है, इसमें संशय नहीं, क्योंकि राम दर्शन के बिना मेरे हृदय के सहस्त्रों टुकड़े क्यों नहीं जाते? आपने यह अत्यन्त निर्दयतापूर्ण कर्म किया है कि बिना कुछ सोच–विचार के, एक मात्र कैकेयी के कहने पर मेरे बच्चों को देश से निकाल दिया। फलस्वरूप वे सुख भोग्ययोग्य होकर भी वन में भटक रहे होंगे। यदि पन्द्रहवें वर्ष भी मेरे राम सकुशल पुनः वन से लौटेंगे, तो भी भरत उनके लिये राज्य और राजकोश छोड़ देंगे, ऐसी सम्भावना दिखाई नहीं देती। क्या प्रतिदिन ऐसा देखने में नहीं आता कि कुछ लोग अपने पितरों के श्राद्ध में अपने बन्धु–बान्धवों को पहले भोजन कर देते हैं और उनसे कृतकृत्य होकर निमन्त्रित श्रेष्ठ ब्राह्मणों की ओर ध्यान देते हैं। परन्तु, वहाँ जो गुणवान एवं विद्वान देवतुल्य ब्राह्मण होते हैं, वे अपमान के भय से उस भुक्तशेष अन्न को उसी प्रकार ग्रहण नहीं करते। जैसे अच्छे बैल अपने सींग कटाने को तैयार नहीं होता, श्रेष्ठ पुरुष भीड़ में जुटना पसन्द नहीं करते। बाध दूसरे जानवरों के लाये या खाये हुए शिकार को खाना नहीं चाहता। यज्ञ में उपयुक्त नैवेद्य– जैसे कि घी, उपले, पवित्र कुशा, कत्था आदि एक बार प्रयोग में आने के पश्चात फिर से प्रयुक्त नहीं किये जाते। इसी प्रकार ज्येष्ठ और श्रेष्ठ भ्राता अपने छोटे भाई के भोगे हुए राज्य इस प्रकार की अपकीर्ति राम कदापि सह नहीं सकता, जिस प्रकार एक बाघ अपनी पूँछ को मसलने नहीं देता। यदि सारा विश्व एक ओर हो जाता, तो भी वह उसको युद्ध में परास्त कर सकता था। क्योंकि वह अधर्म की निम्न गति में गिरने को तैयार न था, उसके राज्य को बलपूर्वक नहीं छीना। क्या वह अपने सुवर्णजड़ित शरों द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि के जल–थल को अग्नि में भस्त नहीं कर सकता था? एक बैल, बाघ या शेर के भाँति शक्तिशाली पुत्र स्वयं अपने ही संतान को चट कर जाती है। अपने धर्मात्मा पुत्र

को बिना उचित कारण के निर्वासित करके आपने हमारे पूर्वजों द्वारा स्थापित पुरातन आचार–संहिता की अवमानना की है। हे राजन्! नारी के लिये एक सहारा उसका पति है, दूसरा पुत्र, तीसरा उसके बन्धु–बान्धव, चौथा अन्य कोई नहीं। इन सहारों मे से आप तो मरे रहे ही नहीं। दूसरा राम हैं, जिनको वन को भेज दिया गया और मैं उसके पीछे जाना नहीं चाहती। बन्धु–बान्धव सब दूर हैं, अतएव तीसरा सहारा भी अब नहीं रहा। क्योंकि मैं आपकी सेवा छोड़कर राम के पास वन जाना नहीं चाहती हूँ, इसलिए मैं सर्वथा आपके द्वारा मारी गई। आपने श्री राम को वनवास देकर समस्त राष्ट्र का विनाश कर डाला। हम, इस महल की स्त्रियाँ बरबाद हुई हैं, मंत्रिगण तथा राजकीय कर्मचारी बरबाद हुए हैं, इस नगर के समस्त निवासी भी नष्टप्राय हो गए हैं। केवल आपके पुत्र, भरत और कैकेयी ही प्रसन्न हुए हैं।" (II.61.1-29)

शोक से व्याकुल और अपने पति से ऐसे निष्ठुर वचन कहने पर विवश हुई बेचारी नारी के प्रति, क्या आपके मन में सहानुभूति नहीं उमड़ेगी? प्रायः ऐसा होता है कि जब किसी घर में अत्यन्त असामयिक मृत्यु हो जाती है, चारों और खड़े लोग विलाप करते हुए शोक प्रदर्शित करते हैं। उनमें से कोई एक व्यक्ति किसी दूसरे को बुरा भला कहने लगता है। मानव प्रकृति ऐसा ही है। शोकमग्न, कुपित कौशल्या ने जब वृद्ध महाराज को इस प्रकार के उलाहने दिए, उनके शब्दों ने राजा के मर्मस्थल को छेद दिया। शोक और अनुताप से वे अभिभूत हो गए। दीर्घकाल के पश्चात् चेतना आने पर, पास में बैठी हुई कौशल्या को देखकर, वे पुनः चिन्ताग्रस्त हो गए। इस दशा में वे अर्धचेतन अवस्था में पहुँच गए और उनके मस्तिष्क में अतीत की घटनाएँ घूमने लगीं। उन्हें याद आया, अतीत का एक दुष्कर्म भी, जो शब्दभेदी बाण चलाने वाले नरेश द्वारा अनजाने ही हो गया था। श्री राम के वियोग शोक से सन्तप्त महाराज नीचे मुँह किए थर–थर काँपने लगे और कौशल्या को मनाने के लिये हाथ–जोड़ कर बोले, "कौसल्ये! मैं तुम से विनती करता हूँ, तुम प्रसन्न हो जाओ, *'रचितोऽयं मयांजलि,'* देखो, मैंने ये दोनों हाथ जोड़ लिए हैं। तुम तो सदा सब पर वात्सल्य और दया दिखाने वाली हो, फिर मेरे पर इतनी कठोर क्यों हो गई? देवि! पति गुणवान हो अथवा गुणहीन, धर्मपरायणा सती नारियों के लिये वह प्रत्यक्ष देवता होता है। तुम तो सदा धर्म में तत्पर रहने वाली हो और लोक में भले–बुरे को समझने वाली हो। क्या तुम स्पष्टरूप से मेरी दशा नहीं देख रही हो? मैं स्वयं ही अनुताप और भर्त्सना से भरा हुआ हूँ। क्या तुम्हें जले पर नमक छिड़कना चाहिये। मैं जानता हूँ कि तुम भी दुःखित हो, और मैं भी दुःख से व्याकुल हूँ। अतः इतने कठोर वचन न कहो," इस प्रकार वे पत्नी से अनुनय–विनय करते हैं।

इसके बाद आता है, कौशल्या का वक्तव्य, जिससे अधिक विषादपूर्ण वचन मैंने कभी नहीं पढ़े। दुःखी हुए राजा के मुख से कहे गए, उन कारुणिक वचनों को सुनकर, कौशल्या अपने नेत्रों से आँसू बहाने लगी। एक शालीन नारी होने के कारण अधर्म के

भय से वे रो पड़ी। पुत्र के कारण चिन्तित होने से वे अपना सन्तुलन खो बैठी थीं। जैसे ही उन्हें अपने कर्त्तव्य की याद दिलाई गई, वे होश में आ गयीं। उन्हें अहसास हुआ कि वे अपना विवेक कितना खो बैठी थी। तुरन्त ही पति की अञ्जलि पकड़ कर और उसे आदरपूर्वक शिलोधार्य करके बोली :

प्रसीद शिरसा याचे भूमौ निपतितास्मि ते।
याचितास्मि हता देव हन्तव्याहं न हि त्वया।।
नैषा हि सा स्त्री भवति श्लाघनीयेन धीमता।
उभयोर्लोकयोर्वीर पत्या या संप्रसाद्यते।।
जानामि धर्मं धर्मज्ञ त्वां जाने सत्यवादिनम्।
पुत्रशोकार्तया तत्तु मया किमपि भाषितम्।।
शोको नाशयते धैर्यं शोको नाशयते श्रुतम्।
शोको नाशयते सर्वं नास्ति शोकसमो रिपुः।।
शक्यमापतितः सोढुं प्रहारो रिपुहस्ततः।
सोढुमापतितः शोकः सुसूक्ष्मोऽपि न शक्यते।।
वनवासाय रामस्य पञ्चरात्रोऽद्य गण्यते।
यः शोकहतहर्षायाः पञ्चवर्षोपमो मम।।
तं हि चिन्तयमानायाः शोकोऽयं हृदि वर्धते।
नदीनामिव वेगेन समुद्रसलिलं महत्।। II.62.12-18

"देव! मैं आपके सामने पृथ्वी पर पड़ी हूँ। आपके चरमों में मस्तक रखकर याचना करती हूँ, आप प्रसन्न हों। मैंने घोर दुष्टता की है, जिससे आपको मेरे से याचना करनी पड़ी। इससे अधिक पाप और क्या होगा? मुझसे अपराध हुआ है, फिर भी मैं आपसे क्षमा पाने योग्य हूँ। पति अपनी स्त्री के लिये इहलोक और परलोक में भी स्पृहनीय है। इस जगत में, जो स्त्री अपने बुद्धिमान पति द्वारा अञ्जलि बाँध कर मनाई जाती हैं, वह कुल–स्त्री कहलाने योग्य नहीं। महाराज! मैं स्त्री–धर्म को जानती हूँ और यह भी जानती हूँ कि आप सत्यवादी हैं और जो कुछ आपने किया है, वह केवल अपना वचन निभाने के लिये किया है। इस समय जो कुछ अशोभनीय बातें मैंने कहीं हैं, वह पुत्रशोक से पीड़ित होने के कारण मुख से निकल गयी है। जब पुत्र की याद सताती हैं, मैं सब कुछ भूल जाती हूँ, यहाँ तक कि अपना कर्त्तव्य भी । शोक धैर्य का नाश करता है। शोक शास्त्रज्ञान और सुनी हुई अच्छी बातों को भी लुप्त कर देता है। शोक सब कुछ नष्ट कर देता है। अतः शोक के समान दूसरा कोई शत्रु नहीं है। शत्रु के हाथ का प्रहार सह लिया जा सकता है। किन्तु देववश प्राप्त थोड़ा सा भी शोक नहीं सहा जाता। राम को वन गए आज पाँच रात व्यतीत हो गई। ये पाँच रात पाँच वर्ष के समान प्रतीत हो रहीं है। राम का चिन्तन करने के कारण मेरे हृदय का शोक बढ़ता ही जा रहा है, जिस प्रकार नदियों के वेग से समुद्र का जल बढ़ जाता है।"

कौशल्या के इस प्रकार के शुभ वचनों को सुनकर राजा को साँत्वना मिली और उनकी मानसिक स्थिति भी सामान्य हुई। अगले दो सर्गों में दशरथ अपने दुष्कर्म का वृत्तान्त सुनाते हैं। जब वे राजकुमार थे और धनुर्धर रूप से विख्यात थे, शब्द–भेदी बाण चलाने में प्रवीण थे। एक बार शिकार खेलने के लिये सरयू नदी के तट पर गये, इस आशा से कि रात के समय कोई हिंसक पशु पानी पीने के लिये आयेगा, तो उसका आखेट करेंगे। उस समय वातावरण अन्धकारपूर्ण था। अकस्मात् उन्हें पानी में घड़ा भरने की आवाज़ सुनाई दी, जो उन्हें हाथी के पानी पीने के समान प्रतीत हुई। तत्समय उन्होंने आवाज़ को लक्ष्य करके अपना बाण छोड़ा। बाण का शिकार, हाथी न होकर, एक निर्दोष मुनिकुमार हो गया, जो अपने बूढ़े–अन्धे माता–पिता के लिये पानी लेने आया था। जब उन्होंने अपने अनजाने में अपराध के विषय में उनको वृत्तान्त सुनाया, उन्होंने पुत्र शोक से अपने प्राण त्याग दिए। प्राण त्यागने से पूर्व उन्होंने दशरथ का शाप दिया, "राजन्! इस समय पुत्रवियोग से जैसा कष्ट हमें हो रहा है, तुम्हें भी उसी प्रकार होगा, तुम भी पुत्र शोक के जाल में आ जाओगे।" यह प्रसंग दो सर्गों में है और अत्यन्त कारुणिक है। सुनते–सुनते कौशल्या और सुमित्रा को नींद आ गई। श्री राम को पुकारते–पुकारते और शोकपूर्ण विलाप करते–करते, आधी रात बीतते राजा दशरथ ने अपने प्राण त्याग दिए। कौशल्या और सुमित्रा निद्रा में थीं। उन्हें पता नहीं चला कि राजा दिवंगत हो गये। रात बीतने पर प्रतिदिन की भाँति बन्दीजन स्तुतिपाठ के लिये राजमहल में उपस्थित हुए। जब सूर्योदय होने पर भी राजा बाहर नहीं निकले, अन्तः पुर की स्त्रियाँ उनकी शय्या के पास जाकर, उन्हें जगाने लगीं। स्पर्श करने पर देखा, उनमें जीवन का कोई चिह्न नहीं था। फिर वे उच्च स्वर में आर्तनाद करने लगीं। उनके रोने की आवाज़ सुनकर कौशल्या और सुमित्रा की भी नींद टूट गई। राजा का शरीर छू कर "हा नाथ!" की पुकार करती हुई, वे दोनों रानियाँ पृथ्वी पर गिर पड़ीं। तदनन्तर पीछे से आयी हुई कैकेयी और अन्य रानियाँ शोक से सन्तप्त होकर रोने लगीं। दिवंगत राजा के शव को देखकर कौशल्या के नेत्रों से अश्रुधारा बह चली। वे शोकाकुल होकर राजा के मस्तक को गोद में लेकर कैकेयी से इस प्रकार बोलीं :

इदं ते राज्यकामस्य राज्यं प्राप्तकमण्टकम्।
संप्राप्तं बत कैकेय्या शीघ्रं क्रूरेण कर्मणा।।
प्रस्थाप्य चीरवसनं पुत्रं मे वनवासिनम्।
कैकेयी कं गुणं तत्र पश्यति क्रूरदर्शिनी।।
क्षिप्रं मामपि कैकेयी प्रस्थापयितुमर्हति।
हिरण्यनाभो यत्रास्ते सुतो मे सुमहायशाः।।
अथवा स्वयमेवाहं सुमित्रानुचरा सुखम्।
अग्निहोत्रं पुरस्कृत्य प्रस्थास्ये यत्र राघव।।
कामं वा स्वयमेवाद्य तत्र मां नेतुमर्हसि।

यत्रासौ पुरुषव्याघ्रः पुत्रो मे तप्तये तपः।।
इदं हि तव विस्तीर्णं धनधान्यसमाचितम्।
हस्त्यश्वरथसंपूर्णं राज्यं निर्यातितं तथा।।
इत्यादिबहुभिर्वाक्यैः क्रूरैः संभर्त्सितोऽनघः।
विव्यथे भरतसतीर्वं व्रणे तुद्येव सूचिना।। II.75.11-17

फिर आप जानते ही हैं, भरत वसिष्ठ द्वारा बुलाये गए। हमने पूर्व में ही उस अभागे दृश्य को देखा है। भरत के आगमन का सुनकर कौशल्या का रक्त फिर खौल उठा। वे सुमित्रा को घसीटती हुई, भरत के पास जाने को तत्पर थीं, किन्तु भरत स्वंय वहाँ आ गए। कौशल्या शोकविह्वल होकर फूट पड़ीं, "बेटा! तुम राज्य चाहते थे न? अब यह निष्कंटक राज्य तुम्हें प्राप्त हो गया है, किन्तु खेद यही है कि कैकेयी ने जल्दी के कारण बड़े क्रूर कर्म द्वारा इसे प्राप्त किया है। क्रूरतापूर्ण दृष्टि रखने वाली कैकेयी न जाने इसमें कौन सा लाभ देखती थी कि उसने मेरे बेटे को चीर–वस्त्र पहना कर वन भेज दिया। अब कैकेयी को चाहिये कि मुझे भी शीघ्र ही उसी स्थान पर भेज दे, जहाँ मेरे महायशस्वी पुत्र राम हैं।" तदनन्तर, वे एक प्रकार से धमकी देती हैं, "सुमित्रा को साथ लेकर और अग्निहोत्र को आगे करके मैं स्वयं ही सुखपूर्वक उस स्थान को प्रस्थान करूँगी, जहाँ राम निवास कर रहे हैं।" तात्पर्य यह है कि वे उन्हें अपने पिता का अन्तिम संस्कार नहीं करने देंगीं। गृहाग्नि का उस संस्कार के लिये होना अत्यन्त आवश्यक है। "पटरानी होने के नाते मुझे इस अग्नि पूरा–पूरा अधिकार है। तुम स्वयं ही अपनी इच्छानुसार मुझे वहाँ पहुँचा दो, जहाँ मेरे पुत्र राम तप कर रहें है। यह धन–धान्य सम्पन्न हाथी, घोड़े एवं रथों से भरा पूरा विस्तृत राज्य कैकेयी ने तुम्हें दिलवाया है," इस प्रकार की बहुत सी कठोर बातें कहकर कौशल्या ने निरपराध भरत की भर्त्सना की। भरत को बहुत पीड़ा हुई, मानो किसी ने घाव पर सुंई चुभो दी हो। इसके बाद आता है, 'रामायण' का एक अंश, जो बहुत ही प्रसिद्ध है। कौशल्या के सामने भरत बार–बार शपथ खाकर कहते हैं कि वे सर्वथा निर्दोष हैं। वे अपनी माता द्वारा किये गए कुकर्म को उचित नहीं ठहराते, जिससे श्री राम, सीता और लक्ष्मण सहित वन को गए। यह सब कांड उनकी जानकारी के बिना ही किया गया। उन्हें अत्यधिक प्रसन्नता होगी, यदि उनका लौट आना सम्भव हो सके। अड़तीस श्लोकों (II.75.21-58) में वे शपथपूर्वक वे इस कांड में अपना कोई हाथ होने से इन्कार करते हैं। वे कहते हैं, "यदि वास्तव में मैं दोषी हूँ, तो मुझे दुनिया के सब सम्भव दुष्कर्मों का दंड मिले। यदि मेरी इच्छानुसार मेरे भाई का वनवास मिला हो, तो मुझे अमुक दंड मिले, अमुक पाप लगे।" इस प्रकार पति तथा पुत्र से बिछुड़ी कौशल्या को शपथ द्वारा आश्वासन देते हैं। भरत भी दुःख से व्याकुल होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। कौशल्या पुनः अनुताप से अभिभूत हो जाती हैं। तत्समय, अनेक शपथों द्वारा अपनी सफ़ाई देते हुए, शोक सन्तप्त एवं अचेत भरत से कौशल्या इस प्रकार बोलीं :

मम दुःखमिदं पुत्र भूयः समुपजायते।
शपथैः शपमानो हि प्राणानुपरुणत्सि मे ।। II.75.61

"बेटा! तुम अनेकानेक शपथ खाकर मेरे प्राणों को जो पीड़ा दे रहे हो, इससे मेरा दुःख और भी बढ़ता जा रहा है।" यह अन्तिम महत्त्वपूर्ण दृश्य है, जो याद करने योग्य है। इसके बाद के दृष्यों में हम केवल कौशल्या को बोलते देखते हैं। अन्य रानियाँ प्रायः मौन रहती हैं। यह विशेषाधिकार कौशल्या को, पटरानी होने के कारण प्रान्त था। जब राम को अयेध्या लौट चलने के लिए भरत मनाने आये, उस समय रानियाँ भी साथ आयीं। महर्षि वसिष्ठ, राजा दशरथ की रानियों को आगे करके, उस स्थान की ओर चले, जहाँ राम का आश्रम था। जैसे ही उन्होंने उस परिसर में प्रवेश किया, उन्हें मन्दाकिनी नदी दिखाई दी। उत्तरी भारत की नदियों के तट अत्यन्त ऊँचे है, पानी तक पहुँचने के लिये एक लम्बे मार्ग को पार करना पड़ता है। रानियाँ जब मन्दाकिनी तट पर पहुँचीं, उन्होंने वहाँ राम और लक्ष्मण के स्नान करने का घाट देखा। लक्ष्मण प्रायः जल लेने के लिए आते रहते थे और उन्होंने अपने लिए एक मार्ग बना लिया था। कौशल्या अन्य रानियों सहित जब वहाँ पहुँचती हैं, उनका ध्यान भी उस ओर जाता है। उस समय कौशल्या अत्यन्त दुःखी होकर अश्रुपात करने लगीं। उन्होंने सुमित्रा से कहा :

इदं तेषामनाथानां क्लिष्टमक्लिष्टकर्मणाम्।
वने प्राक्केवलं तीर्थं ये ते निर्विषयीकृताः।।
इतः सुमित्रे पुत्रस्ते सदा जलमतन्द्रितः।
स्वयं हरति सौमित्रिर्मम पुत्रस्य कारणात्।।
जघन्यमति ते पुत्रः कृतवान्न तु गर्हितः।
भ्रातुर्यद्यर्थसहितं सर्वं तद्धितं गुणैः।। II.103.4-6

"देश से निर्वसित और सब की पीड़ा हरने वाले उन मेरे अनाथ पुत्रों का यह वन में दुर्गम तीर्थ है, जिसे इन्होंने सबसे पहले स्वीकार किया। मेरे और तुम्हारे पुत्र दोनों ही सुख साधनों के बीच पले थे। उन्हें स्वयं कुछ कार्य नहीं करना पड़ता था। अब निरालस्य लक्ष्मण स्वयं जाकर, यहाँ से मेरे पुत्र के लिये जल लेकर आया करते हैं। यदि तुम्हारे पुत्र ने छोटे–छोटे कार्य करने स्वीकार किये हैं, तदापि वे सेवा–कार्य करना बुरा नहीं मानते हैं। किन्तु ऐसा मत मानो कि ऐसा कार्य करके वे अपना मान घटा रहे हैं।" तदनन्तर कौशल्या एक सुन्दर बात कहती हैं, "हम सब श्री राम को वापस लौटाने के लिये आयें है। आज ही हम लौट चलेंगे।" देखिए, कौशल्या कितनी आशावादी हैं। उन्हें पूरी–पूरी आशा हैं कि भरत की ओर से आग्रह होने के कारण श्री राम वापस चलने के लिए सहमत हो जायेंगे। अब कौशल्या कहती हैं, "कदाचित् आज का दिन अन्तिम है, जब तुम्हारे पुत्र को पानी लाने का काम करना पड़ेगा।" फिर,

अहायमपि ते पुत्रः क्लेशानामतथोचितः।
नीचार्यसमाचारं सज्जं कर्म प्रमुञ्चतु।। II.103.7

"तुम्हारा यह पुत्र भी उन क्लेशों को सहन करने योग्य नहीं है। अब राम लौट चलें और निम्न श्रेणी के पुरुषों के योग्य, जो दुःखजनक कार्य हैं, उसे वह छोड़ दें।" कौशल्या '*अपि*' शब्द का प्रयोग क्यों करती है? टीकाकार अपनी पटुता का उपयोग अच्छा करता है। मेरे विचार से यह ठीक ही है। सुमित्रा के दूसरे पुत्र, शत्रुघ्न ने अभी तक ऐसा कार्य नहीं किया है, उसको भी इस प्रकार का कोई कार्य करना नहीं पड़ेगा। अर्थ केवल यही हो सकता है। आगे जाकर कौशल्या ने देखा कि उनके आने से पहले ही राम, लक्ष्मण और सीता ने पिता के निधन का समाचार पाकर स्नान कर लिया था और कुशा के ऊपर पिंड रख छोड़ा था। चावल के अभाव में इंगुदी के फल का पिंड बनाया गया था। कौशल्या और अन्य सभी यह देखते हैं, और वे पुनः एक बार शोकसन्तप्त होकर दशरथ की सभी रानियों से कहती हैं :

चतुरन्तां महीं भुक्त्वा महेन्द्रसदृशो भुवि।
कथमिङ्गुदिपिण्याकं स भुङ्क्ते वसुधाधिपः।।
अतो दुःखतरं लोके न किंचित्प्रतिभाति मे।
यत्र रामः पितुर्दद्यादिङ्गदीक्षोदमृद्धिमान्।।
रामेणेङ्गुदिपिण्याकं पितुर्दत्तं समीक्ष्य मे।
कथं दुःखेन हृदयं न स्फोटति सहस्रधा।।
श्रुतिस्तु खल्वियं सत्या लौकिकी प्रतिभाति मे।
यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः।। II.103.12-15

"जो चारों समुद्रों तक की पृथ्वी का राज्य भोगकर, भूतल पर देवराज इन्द्र के समान प्रतापी थे, वे भूपाल, महाराज दशरथ पिसे हुए इंगुदी फल का पिंड कैसे खा रहें होंगे? संसार में इससे बढ़कर महान दुःख मुझे और कोई प्रतीत नहीं होता, जिसके अधीन होकर श्री राम समृद्धशाली होते हुए भी अपने पिता को इंगुदी फल का पिंड दें। यह देखकर मेरे हृदय के सहस्रों टुकड़े क्यों नहीं हो जाते? यह लोक विख्यात कहावत निश्चत ही मुझे सत्य प्रतीत होती है कि मनुष्य जो स्वयं खाता है, उसके देवता भी उसी अन्न को ग्रहण करते हैं। श्री राम ने जो कुछ किया, वह ठीक ही है। देवता किसी मनुष्य से उसी वस्तु की अपेक्षा करते हैं, जो उसे उपलब्ध हो। वे उस प्रकार की अपेक्षा नहीं कर सकते, जिसके लिए वे अपनी उच्च पदवी के आधार पर हक़दार हैं।"

अन्तिम दृश्य देखिए, जिसमें कौशल्या की तस्वीर उभर कर सामने आती है। वे अपने पुत्र श्री राम, लक्ष्मण और सीता को देखती हैं। सीता को देखकर वह कहती हैं :

विदेहराजस्य सुता स्नुषा दशरथस्य च।
रामपत्नी कथं दुःख संप्राप्ता निर्जने वने।।

पद्ममातपसंतप्तं परिक्लिष्टमिवोत्पलम्।
काञ्चनं रजसा ध्वस्तं क्लिष्टं चन्द्रमिवाम्बुदैः।।
मुखं ते प्रेक्ष्य मां शोको दहत्यग्निरिवाश्रयम्।
भृशं मनसि वैदेहि व्यसनारणिसम्भवः।। II.103.24-26

"तुम्हारा जन्म विदेहराज जनक के कुल में हुआ। तुम इक्ष्वाकु कुल के राजा दशरथ की पुत्र वधू और श्री राम की पत्नी हो। इस निर्जन वन में कितना दुःख क्यों भोग रही है। बेटी! तुम्हारा मुख धूप से झुलसे हुए कमल, कुचले हुए कोमल उत्पल, धूल से ध्वस्त हुए सुवर्ण और बादलों से ढके चन्द्रमा के समान श्रीहीन हो रहा है। विदेहनन्दिनी! जैसे आग काष्ठ को दग्ध कर देती है, उसी प्रकार तुम्हारे इस मुख को देखकर, यह शोकानल मुझे जला रहा है।"

इसके पश्चात् अब हम सब रानियों से विदा लेते हैं, कौशल्या से भी। इसके उपरान्त वे नज़र आती हैं, परन्तु केवल एक मौन भूमिका अदा करती हैं।

मैंने अब 'रामायण' के महान पात्रों के सम्पूर्ण मंडल का चित्रण पूरा कर लिया है। यद्यपि मैंने परम्परागत दृष्टिकोण नहीं अपनाया है क्योंकि मैं उस भूमिका को खेलने का दावा नहीं कर सकता। अधिकांश लोगों की भावनाओं को ध्यान में रखते हुए मैं अभिषेक का संक्षिप्त वर्णन करके इस वृत्तान्त को समाप्त करूँगा, जो कोई भी 'रामायण' विषय को वह प्रायः इसी प्रथागत रूप से समाप्त करता है। मैं भी ऐसा ही करूँगा।

◈◈◈

तीसवाँ अध्याय

अभिषेक

परम्परा के अनुसार, यह अन्तिम अध्याय श्री राम और सीता के राज्याभिषेक के महोत्सव पर है। इस महाकाव्य में चार बार अभिषेक समारोहों का उल्लेख हुआ है। पहली बार अयोध्या कांड में होता है, परन्तु वहाँ यह उत्सव होते–होते रह गया, सम्पन्न नहीं हो पाया। अगली बार सुग्रीव का अभिषेक किष्किन्धा के राजा के रूप में होता है। तत्पश्चात् ऐसा अवसर आया, विभीषण को राज्याभिषेक समारोह पर। वस्तुतः यह दो चरणों में सम्पन्न हुआ। एक बार युद्ध आरम्भ होने से पूर्व, भारतीय भूमि पर, जब श्री राम के आदेश पर उसका सांकेतिक अभिषेक किया गया था और फिर असली राज्याभिषेक युद्ध की समाप्ति पर, जब लंका का राज्यसिंहासन ख़ाली हो गया था। उसके बाद आता है, अयोध्या में महान अभिषेक समारोह, जिसके विषय में अब चर्चा करते हैं।

कतिपय शब्द, उन दूसरे आयोजनों की भिन्नता अवसरों के विषय में, क्योंकि कुछ देखने वाली बात है, इन उत्सवों के बीच क्या–क्या तैयारियाँ की गईं, क्या–क्या सामग्री एकत्रित की गईं और किस प्रकार यथार्थ रूप में अभिषेक या स्नान किया गया। मैं मात्र एक श्लोक पढ़ता हूँ, जिसमें वसिष्ठ निष्पाप रूप से उस नियतिबद्ध प्रातः को राजगृह के निकट आकर सूचना देते हैं कि सभी तैयारियाँ पूरी हो चुकी हैं।

इमे गङ्गोदकघटाः सागरेभ्यश्च काञ्चनाः। II.14.34

"इन सोने के मंगलघड़ों में गंगाजन और भिन्न–भिन्न समुद्रों और महासागरों से लाया हुआ जल भरा हुआ है।"

जल से भरे हुए सोने के कलशों को भलीभाँति सजाया गया था। साथ चलने वालों में उल्लेख है, आठ सुन्दर कुमारियों और एक हाथी का, जो प्रायः राजा के द्वारा प्रयोग किया जाता था। फिर, कवि उन सभी एकत्रित की हुई वस्तुओं का अधिक विस्तार से वर्णन करता है। वे उल्लेखनीय हैं– *"काञ्चना जलकुम्भाश्च"* (II.15.4-8)। ऐसी भव्य तैयारी की गयी थीं। यहाँ यह एक महत्त्वपूर्ण बात ध्यान देने योग्य यह है कि यह जल भिन्न–भिन्न प्रकार के स्थानों से लाया गया हैं, जहाँ–जहाँ भी जल पवित्र माना जाता था– नदियों में, किसी गुमनाम कुएँ में अथवा किसी सरोवरों में, इन सभी जगहों से लाया गया है। मैं ध्यान इस बात की ओर दिलाना चाहता हूँ कि जैसे ही दशरथ के

मन में राम के अभिषेक का विचार आया, उन्होंने तुरन्त इस के लिये अगले ही दिन की तिथि निश्चित कर दी। अब प्रश्न यह उठता है– जल इन दूरस्थ भिन्न–भिन्न स्थानों से इतने अल्प समय में कैसे लाया गया? इसका तो मतलब यह है कि वृद्ध राजा के स्वभाव से चालाकी थी और जल पहले ही मँगवा लिया होगा। अथवा हम ऐसा अनुमान भी लगा सकते हैं, जो मेरे विचार में किंचित अपव्ययी है, कि राजमहलों में इस प्रकार का जल सदैव उपलब्ध रहता होगा। किन्तु, मेरे विचार से तो ऐसा मान्ना कुछ असंभाव्य लगता है। मैं तो समझता हूँ कि दशरथ ने सचमुच इस उत्सव का विचार काफ़ी पहले से बना लिया होगा और पवित्र जल भी एकत्रित कर लिया होगा।

अब हम किष्किन्धा कांड में सुग्रीव के अभिषेक पर आते हैं।

आजग्मुस्तत्र मुदिता वराः कन्यास्तु षोडश।। IV.26.28

सोलह सुन्दर कन्याएँ भी सुग्रीव के पास लाई गईं।

ऐसा लगता है कि युवराज के लिये आठ कन्याएँ पर्याप्त थीं। परन्तु क्योंकि सुग्रीव का अभिषेक स्वयं राजपद के लिये होने वाला था, सोलह कन्याएँ लाई गईं। पर जल के विषय में भी यहाँ अब कोई कठिनाई नहीं थी। जल उसी समय लाया गया क्योंकि सुग्रीव की सेवा में वानर उपलब्ध थे, वे विलक्षण कार्य करने में सक्षम भी थे। फिर भी उल्लेख किया गया है कि जल नदियों, समुद्रों और अन्य पवित्र स्थानों से लाया गया था।

नदीनदेभ्यः संहृत्य तीर्थेभ्यश्च समन्ततः।
आहृताय च समुद्रेभ्यः सर्वेभ्यो वानरर्षभाः।।
शास्त्रदृष्टेन विधिना महर्षिविहितेन च। IV. 26.32-34

श्रेष्ठ वानरों ने नदियों, सम्पूर्ण दिशाओं के तीर्थों और समस्त समुद्रों से लाये हुए निर्मल जल के एकत्रित करके सोने के कलशों में रख दिया। महर्षियों के बताये हुए विधिविधान के अनुसार स्वर्णमय कलशों में रखे हुए स्वच्छ जल से सांड के सींगों द्वारा सुग्रीव का अभिषेक किया गया। एक टीकाकार के अनुसार इस अवसर पर सहायता के लिये कुछ ब्राह्मण पड़ोस के प्रदेशों से लाए गये थे, क्योंकि इसका अनुमान लगाना कठिन है कि वानरों में से किस–किस को शास्त्रज्ञान था।

एक टीकाकार ने वस्तुतः बोधायन का उल्लेख किया है, परन्तु मुझे इस में सन्देह है। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि अभिषेक का अनुष्ठान केवल सुग्रीव के सुहृदों– गज, गवाक्ष, गवय, शरभ, गन्धमादिन, द्विविद, हनुमान और जाम्बवान द्वारा ही सम्पन्न हुई। एक अन्य बात भी ध्यान देते योग्य है। कवि ने कहीं भी इस बात का उल्लेख नहीं किया कि सुग्रीव के साथ राजतिलक के अवसर पर तारा बैठी थी, अथवा रूमा। प्रतीत होता है, इस सम्मान का उसने अकेले ही आनन्द लिया। विभीषण के आगामी अभिषेक के अवसर पर लक्ष्मण ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। परन्तु, यह

स्पष्ट नहीं है कि सुग्रीव के अभिषेक के अवसर पर उन्होंने भाग लिया या नहीं। कवि ने इसके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है। अतः मुझे तो ऐसी संभावना लगती है कि अनुष्ठान सुग्रीव की जाति के लोगों तक ही सीमित था।

विभीषण को सांकेतिक रूप से पहली बार समुद्र के इस पार ही अभिषिक्त किया गया था।

इति ब्रुवाणं रामस्तु परिष्वज्य विभीषणम्।
अब्रवील्लक्ष्मणं प्रीतः समुद्राज्जलमानय।।
तेन चैनं महाप्राज्ञमभिषिञ्च विभीषणम्।
राजानं रक्षसां क्षिप्रं प्रसन्ने मयि मानद।।
एवमुक्तस्तु सौमित्रिरभ्यषिञ्चद्विभीषणम्।
मध्ये वानरमुख्यानां राजानं रामशासनात्।। VI.19.24-26

रावण से तिरस्कृत होकर विभीषण लंका छोड़कर, अपने चार अनुचरों सहित आकाश–मार्ग से दो ही घड़ी में उस स्थान पर आ पहुँचा था, जहाँ श्री राम विराजमान थे। उन्होंने अपना परिचय देकर श्री राम की शरण में आने की इच्छा व्यक्त की। श्री राम के अभय देने पर वह आकाश–मार्ग से उतर कर श्री राम के चरणों में गिर पड़े और श्री राम के पूछने पर उन्होंने रावण की शक्ति का भी परिचय दिया। श्री राम ने रावण के वध की प्रतिज्ञा करके विभीषण को लंका का राजा बनाने का आश्वासन दिया और विभीषण ने भी उन्हें यथाशक्ति सहायता देने का वचन दिया। विभीषण के ऐसा कहने पर श्री राम ने उन्हें हृदय से लगा लिया। प्रसन्न होकर लक्ष्मण से कहा, "तुम समुद्र का जल ले आओ और उसके द्वारा राक्षसराज का अभिषेक कर दो।" उनके ऐसा कहने पर लक्ष्मण नेमुख्य–मुख्य वानरों के मध्य श्री राम के आदेशनुसार विभीषण का राक्षस राजपद पर अभिषेक कर दिया।

समुद्र समीप होने के कारण जल का लाना अत्यन्त सुकर था। यहाँ स्पष्ट उल्लेख है कि वे लक्ष्मण ही थे, जिन्होंने विभीषण को अभिषिक्त किया। ऐसा ही तब भी हुआ जब रावण वध के पश्चात् और उसका अन्त्येष्टि संस्कार करने के बाद, राम ने इन्द्र के सारथि मातलि को दिव्य रथ समेत विदा किया और लक्ष्मण को विभीषण के राज्याभिषेक करने का आदेश दिया। लक्ष्मण ने वानरयूथपतियों को सोने के घड़े देकर, उन्हें समुद्र जल लाने की आज्ञा दी।

ततस्त्वेकं घटं गृह्य संस्थाप्य परमासने।
घटेन तेन सौमित्रिरभ्यषिञ्चद्विभीषणम्।।
लङ्काया रक्षसां मध्ये राजानं रामशासनात्।
विधिना मन्त्रदृष्टेन सुहृद्गणसमावृतम्।।
अभ्यषिञ्चत् स धर्मात्मा शुद्धात्मानं विभीषणम्। VI.115.14-16

जल आ जाने पर, लक्ष्मण ने एक घट लेकर उन्हें उत्तम आसन पर बैठा कर उस घट के जल से विभीषण का वेदोक्त विधि के अनुसार लंका के राजपद पर एक बार फिर अभिषेक किया। यह अभिषेक श्री राम की आज्ञानुसार हुआ था। उस समय राक्षसों के बीच, सुहृदों से घिरे हुए, विभीषण राजसिंहासन पर विराजमान थे।

इस समय भी विभीषण की पत्नी का कोई उल्लेख नहीं है। लक्ष्मण के पश्चात् सभी राक्षसों और वानरों ने उनका अभिषेक किया। मुख्य पात्र के लिये यह कितना कष्टकर रहा होगा, निरन्तर अपने ऊपर पानी उँड़लवाना, किन्तु श्री राम के अभिषेक के समय राम के साथ कठिनाई और भी अधिक हुई होगी क्योंकि उनके पार्श्व में सीता भी उपस्थित थीं। यह तो आगे ही पता लगेगा कि उन दोनों पर कितना पानी उंडेला गया और कितने लोगों द्वारा।

वास्तविक रीति पर जाने से पहले हम एक छोटे से बिन्दु की ओर ज़रा ध्यान देंगे। युद्ध कांड के 131वें सर्ग के आरम्भ में कतिपय श्लोक हैं, जो शब्दशः लगभग वे ही हैं, जो अयोध्या कांड के 105वें सर्ग में है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि कवि को उन्हीं श्लोकों को दो जगह दोहराने में परिस्थितियों में एक आसाधारण सा दृश्य लगा होगा। वह था क्या? अयोध्या कांड में भरत पूरे राजमहल, सेना और अयोध्या के प्रमुख नागरिकों सहित श्री राम से मिलने और उन्हें लौटाने के लिये राज़ी कराने आते हैं। उस समय वे अपने वक्तव्य में, श्री राम से राज्य ग्रहण करने का अनुरोध करते हैं, राजमुकुट धारण करने के लिये आमन्त्रित करते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं क्योंकि वे स्वंय को राजपद ग्रहण करने के लिये अयोग्य मानते हैं, श्री राम को ही राजपद ग्रहण करना चाहिये। जब श्री राम महान विजय प्राप्त कर अयोध्या लौटते हैं, ठीक उसी प्रकार, भरत पुनः उन्हें राज्य अर्पित करते हैं। वे कहते हैं, "आपके प्रतिनिधि रूप में अब तक में राजकाज देखता रहा हूँ। अब आप स्वयं यहाँ विद्यमान हैं, मैं यह राज्य आपको वापस सौंपता हूँ।" भरत ने एक बार फिर राज्य श्री राम को भेंट किया, ठीक उसी प्रकार जैसे पहले किया था। कवि इन दो अवसरों की समानता को ध्यान में रखते हुए, उन्हीं श्लोकों का उपयोग करता है। मैं पहले युद्ध कांड और फिर अयोध्या कांड के श्लोक प्रस्तुत करता हूँ और तत्पश्चात् उनका अनुवाद।

पूजिता मामिका दत्तं राज्यमिदं मम।
तद्ददामि पुनस्तुभ्यं यथा त्वमददा मम।।
धुरमेकाकिना न्यस्तामृषभेण बलीयसा।
किशोरीव गुरुं भारं न वोढुमहमुत्सहे।।
वारिवेगेन महता भिन्नः सेतुरिव क्षरन्।
दुर्बन्धनमिदं मन्ये राज्यच्छिद्रमसंवृतम्।।
गतिं खार इवाश्वस्य हंसस्येव च वायसः।

नान्वेतुमुत्सहे राम तव मार्गमरिन्दम्।।
यथा चारोपितो वृक्षो जातश्चान्तर्निवेशने।
महांश्च सुदुरारोहो महास्कन्धप्रशाखवान्।।
शीर्येत पुष्पितो भूत्वा न फलानि प्रदर्शयन्।
तस्य नानुभवेद्दर्शं यस्य हेतोः स रोप्यते।।
एषोपमा महाबाहो त्वमर्थं वेत्तुमर्हसि।
यद्यस्मान्मनुजेन्द्र त्वं भक्तान् भृत्यान्न शाधि हि।।
जगद्ह्याभिषिक्तं त्वामनुपश्यतु सर्वतः।
प्रतपन्तमिवादित्यं मध्याह्ने दीप्ततेजसम्।।
तूर्यसंङ्घातनिर्घोषैः काञ्चीनूपुरनिःस्वनैः।
मधुरैर्गीतशब्दैश्च प्रतिबध्यस्व राघव।। VI.131.2-10

सान्त्विता मामिका माता दत्तं राज्यमिदं मम।
तद्ददामि तवैवार्हं भुङ्क्ष्व राज्यमकण्टकम्।।
महतेवाम्बुवेगेन भिन्नः सेतुर्जलागमे।
दुरावारं त्वदन्येन राज्यखण्डमिदं महत्।।
गतिं खार इवाश्वस्य तार्क्ष्यस्येव पतत्रिणः।
अनुगन्तुं न शक्तिर्मे गतिं तव महीपते।।
सुजीवं नित्यशस्तस्य यः परैरुपजीव्यते।
राम तेन तु दुर्जीव यः परानुपजीवति।।
यथा तु रोपितो वृक्षः पुरुषेण विवर्धितः।
ह्रस्वकेन दुरारोहो रूढस्कन्धो महाद्रुमः।।
स यथा पुष्पितो भूत्वा फलानि न निदर्शयेत्।
स तां नानुभवेत्प्रीतिं यस्य हेतोः प्ररोपितः।।
एषोपमा महाबाहो तमर्थं वेत्तुमर्हसि।
यदि त्वमस्मान् वृषभो भर्ता भृत्यान्न शाधि हि।।
श्रेणयस्त्वां महाराज पश्यन्त्वगचाश्च सर्वशः।
प्रतपन्तमिवादित्यं राज्ये स्थितमरिंदमम्।।
तवानुयाने काकुत्स्थ मत्ता नर्दन्तु कुञ्जराः।
अन्तःपुरगता नार्यो नन्दन्तु सुसमाहिता।। II.105.4-12

सारे शब्द और मनोभाव, दोनों सन्दर्भों के अनुरूप हैं। "मेरी माता की इच्छा और भावनाओं का सम्मान करते हुए, आपने यह राज्य मुझे दिया था, उनकी अभिलाषा पूरी हो गई। जैसे यह राज्य आपने मुझे दिया था, उसी प्रकार मैं अब उसे आपको सौंप रहा हूँ। इस असहनीय भार को मैं नहीं ढो सकता। अत्यन्त बलवान बैल, जिस भार को अकेला ढो लेता है, उसे एक क्षुद्र बछड़ा नहीं ढो सकता। उसी प्रकार मैं

भी इस भारी भार को ढोने में असमर्थ हूँ। मैं इतने बड़े राज्य के संकटों से सकुचाता हूँ क्योंकि यदि एक बार व्यवस्था ज़रा सी भी बिगड़ जाये, तो उसका शमन करना सहज नहीं होता, जैसे बाँध टूट जाने पर पानी की तेज़ धारा को नियंत्रित करना अत्यन्त कठिन होता है। मैं आपके अनुसरणीय पदचिह्नों का अनुसरण कैसे कर सकता हूँ? जैसे गधा घोड़े की चाल और एक कौवा हंस की मनोहर गति का प्रदर्शन नहीं कर सकता, उसी प्रकार मुझे में भी आपकी गति आपकी पालन–पद्धति की अनुसरण करने की शक्ति नहीं है। एक और उचित उपमा मेरे ध्यान में आ रही है। जैसे घर के भीतर बग़ीचे में एक वृक्ष लगाया गया हो और वह जमकर बहुत बड़ा हो गया हो, वह अपनी विशालता से मनुष्यों के हृदय में विस्मय पैदा करता है, जो उसके सामने बौने लगते है। वही वृक्ष इतना बड़ा हो गया कि उस पर चढ़ना भी कठिन हो रहा था, भारी तना था और मोटी–मोटी शाखायें थी। उस पर फूल तो लगे, किन्तु उसमें अपने फल नहीं दिखा सका। उस व्यक्ति के हृदय में नैराश्य व कई वर्षों के अपव्यय की भावना को महसूस करें, जिसने उसे बोकर उसका अत्यधिक सावधानी से पोषण किया, जब वह उसकी प्रचुरता और विपुल प्रत्याशा को बंजर होते देखता है। अब मेरी मेरी प्रार्थना है कि ऐसी विपत्ति हम पर न आए। यदि भर्त्ता होकर भी आप भृत्यों का भरण–पोषण नहीं करेंगे, तो आप भी उस निष्फल वृक्ष के समान माने जायेंगे। अब तो हमारी यह इच्छा है कि सब लोग आपका अभिषेक देखें और आपको अयोध्या का मूर्तिमान मुकुट धारण किए मध्याह्न काल के सूर्य की भाँति आपका तेज–प्रताप बढ़ता ही जाय। अब आप इस उच्चपद की गरिमा और गौरव को धारण करें और उसके अनुरूप वैभव को भी अपनायें। अब आप विविध वाद्यों की मधुर ध्वनि तथा उससे अधिक मधुर सुन्दरी किशोरियों के बीच छोटे–छोटे घुंघरुओं युक्त मेखला तथा नूपुरों की झनकार और सुनकर सोये और जागें (VI.131.2-10)।" इस प्रकार अत्यन्त प्रभावी निमंत्रण के साथ भरत ने अनुरोध किया।

अयोध्या कांड के उद्धरणों की पृष्ठभूमि इस प्रकार है। पिता के अन्त्येष्टि संस्कार से निवृत्त होने पर मंत्री आदि ने भरत से राज्य ग्रहण करने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया। महर्षि वसिष्ठ ने उन्हें राज्य पर अभिषिक्त होने का आदेश दिया, परन्तु, भरत ने इन सब अनुरोधों को अस्वीकार कर दिया। वे श्री राम को लौटा लाने के लिए सेना और माताओं सहित वन को चल दिए। निषादराज गुह की सहायता से गंगा पार करके वे सेना सहित भरद्वाज मुनि के आश्रम पर पहुँचे। उनसे वे मार्ग पूछ कर चित्रकूट पहुँचते हैं। सेना को पर्वत के नीचे ठहरा कर, महर्षि वसिष्ठ को माताओं हित भरत, शत्र1घ्न, युमन्त्र और निषादराज गुह को लेकर श्री राम पर्णशला की ओर बढ़ चले। कुशल समाचार पूछने के पश्चात् श्री राम ने भरत से उनके वन आगमन का उद्देश्य पूछा। भरत ने राज्य ग्रहण करने का अनुरोध किया, किन्तु श्री राम ने उसे अस्वीकार कर दिया। भरत ने श्री राम से पुनः पुनः अनुरोध करके पिता की मृत्यु का समाचार

दिया। समाचार पाकर श्री राम अचेत हो गए, थोड़ी देर विलाप करने लगे। तदनन्तर सभी भाइयों ने श्री राम को जलांजलि देने का स्मरण कराया। सीता आगे–आगे, उनके पीछे लक्ष्मण, लक्ष्मण के पीछे श्री राम और अन्य लोग उनके पीछे चले। इस प्रकार वे मन्दाकिनी के तटपर पहुँचे। वहाँ जलांजलि देकर श्री राम ने भाइयों सहित पिता के लिए पिंडदान अर्पित किया। तत्पश्चात् वे वहाँ से आकर वेदी पर बैठ गए। इसी बीच वसिष्ठ जी भी तीनों रानियों के साथ आ गए। श्री राम, लक्ष्मण और सीता ने माताओं की चरणवन्दना की, वसिष्ठ जी को प्रणाम करके श्री राम उनके साथ बैठ गए।

अगले दिन प्रातः नित्यकर्म उपरान्त तीनों सुहृदों के साथ सब श्री राम के पास आकर चुपचाप बैठ गए। उस समय भरत ने श्री राम से कहा, "भैया! पिता जी ने वरदान देकर मेरी माता को सन्तुष्ट कर दिया। माता ने जो राज्य मुझे दिया, उसे मैं अब अपनी और से आपकी सेवा में समर्पित करता हूँ, इसका पालन–पोषण कीजिये। वर्षाकाल के महावेग से टूटे हुए सेतु की भाँति इस विशाल राज्यखंड को संभालना, आपके सिवाय, किसी दूसरे के लिये अत्यन्त दुष्कर है। पृथ्वीनाथ! जैसे गधा घोड़ों की और साधारण पक्षी गरुड़ की चाल नहीं चल सकता, ठीक उसी प्रकार मुझमें भी आपकी पालन पद्धति का अनुसरण करने की शक्ति नहीं है। श्री राम! जिसके पास आकर अनेक लोग जीवन–निर्वाह करते हैं, उसी का जीवन उत्तम हैं, और जो लोग दूसरों का आश्रय लेकर निर्वाह करते हैं, उनका जीवन दुःखमय होता है। जैसे किसी व्यक्ति ने फल की इच्छा से एक वृक्ष लगाया और पाल–पोस कर बड़ा कर दिया और वह बड़ी–बड़ी शाखाओं और पत्तों वाला ऐसा विशाल वृक्ष हा सुरीले वाद्ययंत्रों की ध्वनि गूंजे और प्रसन्नतापूर्वक अभिनन्दन करती अन्तः पुर की स्त्रियों के कमरबंद व नूपुरों की ध्वनि आपका मनबहलाव व मनोरंजन करे (II.105.4-12)।"

आप देख सकते हैं, किस प्रकार ये भावनायें दोनों अवसरों के लिए उपयुक्त हैं। ये हैं, भरत के शब्द, जो राजमुकुट ग्रहण करने के लिये एक अत्यन्त प्रभावी अकाट्य आमंत्रण है।

श्री राम नन्दिग्राम आ पहुँचे, उन्होंने महर्षि वसिष्ठ के चरण छुए। एक सुन्दर आसन पर उन्हें बैठा कर वे स्वयं दूसरे आसन पर बैठ गए। अब उनको अभिषेक के महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान के लिए तैयार किया जाता है। सबसे पहला कार्य था, चौदह वर्ष के वनवासी जीवन के उपरान्त, उन्हें फिर से नगरोचित वेश धारण करना। उनके सिर तथा मुखमंडल पर घने बाल उगे हुए थे। उनको इस भार से मुक्त करना था। शत्रुघ्न के आदेशानुसार कितने ही नाई वहाँ उपस्थित थे।

ततः शत्रुघ्नवचनान्निपुणाः श्मश्रुवर्धकाः।
सुखहस्ताः सुशीघ्राश्च राघवं पर्युपासत।। VI.131.13

किस प्रकार इन सबने मिलकर उनके सिर पर काम किया होगा, यह मेरी समझ से बाहर है। कदाचित् कुछ को पहले चुना गया होगा, फिर प्रत्येक ने एक–एक मिनट का समय माँगा होगा। इन सबको स्नान कराया गया। तदनन्तर, श्री राम ने स्नान किया। यहाँ ध्यान देने की बात यह है, तीनों भाइयों के स्नान का उल्लेख है और सुग्रीव और विभीषण के स्नान का भी, परन्तु वहाँ शत्रुघ्न का कोई उल्लेख नहीं है। पहले भी चित्रकूट में प्रसिद्ध संवाद के अवसर पर, जब सब भाई साथ बैठे थे, शत्रुघ्न का उल्लेख नहीं है। टीकाकारों का मत है हमें मान लेना चाहिये कि शत्रुघ्न भी उनमें सम्मिलित होंगे ही। कदाचित् समारोह के विधि–विधान का नायक और व्यवस्था में संलग्न होने के कारण उन्हें स्नान का समय सबसे बाद में मिला हो। स्नान के उपरान्त, विचित्र पुष्पमाला, सुन्दर अनुलेपन और बहुमूल्य पीताम्बर धारण करके आभूषणों से सुशोभित श्री राम राजसिंहासन पर विराजमान हुए। सीता का शृंगार भी दशरथ की सभी रानियों ने मिलकर किया। सामान्यतः यह काम पेशावर दासियों द्वारा किया जाता है, परन्तु इस अवसर पर ऐसा स्वयं करने में वे सम्मान अनुभव करना चाहती थीं। कवि स्पष्टतः कहता है कि नन्दिग्राम से अयोध्या के लिये शोभायात्रा में भाग लेने वाले सब वानरों ने मानवीय आकृति धारण कर ली थी, कदाचित् अपने को अधिक दर्शनीय बनाने के लिए। युद्ध कांड में विशेषरूप से बताया गया है कि युद्ध से एक दिन पूर्व श्री राम ने सेना के लिए एक आदेश दिया था और कहा था, "मैं जानता हूँ कि तुम सब मानवीय रूप धारण करने में सक्षम हो, किन्तु इस युद्ध के दौरान मैं बिल्कुल नहीं चाहता कि तुम ऐसा करो। तुम वानर रूप में ही रहना। हमारे पक्ष में केवल सात लोग ही मानवीय आकृति धारण करें, अन्य नहीं।" किन्तु, अभिषेक के अवसर पर अब ऐसी आवश्यकता नहीं थी। वानरों ने अभिषेक के लिए जल एकत्रित किया। उस जल का क्या हुआ, जो राजा दशरथ ने पहले से ही अभिषेक के लिए मंगवाया था और जिसका उपयोग नहीं हुआ था, मैं स्वयं नहीं जानता।

उवाच च महातेजाः सुग्रीवं राघवानुजः।
अभिषेकाय रामस्य दूतानाज्ञापय प्रभो।।
सौवर्णान् वानरेन्द्राणां चतुर्णां चतुरो घटान्।
ददौ क्षिप्रं स सुग्रीवः सर्वरत्नविभूषितान्।।
यथा प्रत्यूषसमये चतुर्णां सागराम्भसाम्।
पूर्णैर्घटैः प्रतीक्षध्वं तथा कुरुत वानराः।।
एवमुक्ता महात्मानो वानरा वारणोपमाः।
उत्पेतुर्गगनं शीघ्रं गरुडानिलशीघ्रगाः।।
जाम्बवांश्च सुषेणश्च वेगदर्शी च वानरः।
ऋषभश्चैव कलशाञ्जलपूर्णानिथानयन्।।
नदीशतानां पञ्चानां जलं कुम्भेषु चाहरन्।

पूर्वात् समुद्रात् कलशं जलपूर्णमथानयत्।।
सुषेणः सत्त्वसंपन्नः सर्वरत्नविभूषितम्।
ऋषभो दक्षिणात्पूर्णं समुद्राज्जलमाहरत्।।
रक्तचंदनशाखाभिः संवृतं काञ्चनं घटम्।
गवयः पश्चिमात्तोयमाजहार महार्णवात्।।
रत्नकुम्भेन महता शीतं मारुतविक्रमः।
उत्तराच्च जलं शीघ्रं गरुडानिलविक्रमः।।
आजहार स धर्मात्मा नलः सर्वगुणान्वितः।। VI.131.48-57

भरत ने सुग्रीव से कहा, "प्रभो श्री राम के अभिषेक निमित्त जल लाने के लिए आप अपने दूतों को आज्ञा दीजिए।" तत्काल ही सुग्रीव ने चार श्रेष्ठ वानरों को सब प्रकार से रत्नविभूषित चार सोने के घड़े देकर कहा, "वानरों! तुम लोग कल प्रातः काल ही चारों समुद्रों और पाँचसौ नदियों के जल से भरे घड़ों के साथ उपस्थित रहकर आवश्यक आदेश की प्रतीक्षा करना।" मैं नहीं जानता, जिस समुद्र का उत्तर में उल्लेख हुआ है, वह था कौन सा? सुग्रीव के इस प्रकार आदेश देने पर हाथी के समान विशालकाय वानर, जो गरुड़ के समान शीघ्रगामी थे, तत्काल आकाश में उड़ चले। जाम्बवान, सुषेण, वेगदर्शी और ऋषभ– ये वानर चारों समुद्रों से और पाँच सौ नदियों के जल से भर कर बहुत कलश से ले आए। शक्तिशाली सुषेण सम्पूर्ण रत्नों से भरपूर स्वर्णमय कलश लेकर गए और उसमें पूर्व समुद्र का जल भर के ले आए। वह लाल चन्दन और कपूर से ढका हुआ था। वायु के समान वेगशाली गवय एक रत्ननिर्मित विशाल कलश पश्चिम महासागर के जल से भर कर लाये। गरुड़ और वायु के समान तीव्रगति वाले सर्वगुणसम्पन्न पवनसुत हनुमान उत्तरवर्त्ती महासागर से जल लाये। निस्सन्देह हनुमान अनेक चमत्कारी कार्य कर चुके थे। संजीवनी बूटी लाने के लिये भी कई बार उत्तर दिशा में जा चुके थे। उत्तर भारत में मानसरोवर के अतिरिक्त और कौन सा समुंद्र हो सकता है, मैं नहीं जानता। वानरों द्वारा लाये हुए जल को शत्रुघ्न ने श्री राम अभिषेक पुरोहित के लिये वसिष्ठ जी को समर्पित कर दिया। इस काव्य में यह पहला अवसर है, जब हम राजा के साथ रानी को भी अभिषिक्त देखते हैं, न सुग्रीव और न ही विभीषण के अभिषेक में हमे ऐसा देखने को मिलता है। ब्राह्मणों सहित वृद्ध वसिष्ट जी ने सीता सहित श्री राम को एक चौकी पर बैठाया। तत्पश्चात्, जैसा आठ वसुओं ने देवराज इन्द्र का अभिषेक कराया था, उसी प्रकार वसिष्ठ आदि वेदों में निपुण ऋषियों ने स्वच्छ एवं सुगन्धित जल द्वारा श्री राम का सीता सहित अभिषेक करवाया। सबसे पहले उन्होंने सम्पूर्ण औषधियों रसयुक्त जल से ऋत्विक ब्राह्मणों द्वारा, तत्पश्चात् सोलह कन्याओं द्वारा, तत्पश्चात् मन्त्रियों द्वारा अभिषेक करवाया। इसके उपरान्त अन्यान्य योद्धाओं, श्रेष्ठ व्यवासियों को भी अभिषेक का अवसर दिया गया। आकाश में खड़े हुए देवताओं और लोका पालों ने भी श्री राम का अभिषेक

किया। तदनन्तर ब्रह्मा जी का बनाया हुआ रत्नजटित, दिव्य, देदीप्यमान किरीट, जिसका प्रयोग सर्वप्रथम इक्ष्वाकु कुल जनक मनु और क्रमशः उनके वंशज राजाओं के लिये हुआ था, उसको रत्नजटित चौकी पर विधिपूर्वक रखा गया। तत्पश्चात् महर्षि वसिष्ठ ने अन्य ऋत्विक ब्राह्मणों के साथ उस किरीट और अन्यान्य आभूषणों से श्री राम को विभूषित किया। उस अवसर पर शत्रुघ्न ने उस पर सुन्दर श्वेत छत्र लगाया। एक ओर वानर राज सुग्रीव ने, दूसरी ओर राक्षस राज विभीषण ने श्वेत चँवर हाथ में लिया और चन्द्रमा के समान चमकीला चँवर डुलाना आरम्भ किया। उपहारों का भी आदान–प्रदान हुआ। देवराज इन्द्र की प्रेरणा से वायुदेव ने सौ सुवर्णमय कमलों से बनी हुई एक दीप्त माला और मणियों से विभूषित मुक्त हार राजा राम को भेंट किया। श्री राम ने भी अपनी ओर से बहुत कुछ दिया। पहले ब्राह्मणों को एक लाख घोड़े, उतनी ही दूध देने वाली गाय और सौ सांड दान में दिए। तीन करोड़ सुर्वण मुद्रायें तथा नाना प्रकार के बहुमूल्य आभूषण और वस्त्र भी ब्राह्मणों को बाँटे। यह वितरण नगर के सहस्त्रों स्थानों पर हुआ होगा। जैसे पूर्व में उल्लेख हो चुका है, उत्तम मणियों से युक्त मुक्तहार, जिसे वायुदेव ने भेंट किया था, श्री राम ने सीता के गले में डाल दिया। श्री राम की अनुमति से सीता ने वह मुक्त हार अपने गले से उतार कर हनुमान को भेंट कर दिया।

अब कवि समारोह समापन पर आता है। सब अतिथियों ने श्री राम की अनुमति से विदा ली। प्रधान एवं श्रेष्ठ वानरों का यथायोग्य सत्कार भी बहुमूल्य आभूषणों और वस्त्रों द्वारा किया गया। सब वानर बहुमूल्य उपहार लेकर प्रसन्नचित्त विदा हुए। विभीषण ने भी अपने कुल धन को प्राप्त करके प्रस्थान किया।

विभीषणोऽपि धर्मात्मा सह तैर्नैर्ऋतर्षभैः।
लब्ध्वा कुलधनं राजा लङ्कां प्रायाद्विभीषणः।। VI.131.90

धर्मात्मा विभीषण भी अपने कुल का धन (अर्थात लंका का राज्य, जो उनके कुल का वैभव था) पाकर अपने श्रेष्ठ निशाचरों के साथ लंकापुरी चले गए।

एक टीकाकार का मत है यहाँ कुल का अर्थ है, इक्ष्वाकु कुल से। यदि हम किंवदन्ती पर विश्वास करें, तो ऐसी मान्यता है कि श्री राम राम के महल में एक विशाल रंगनाथ की मूत्ति थी। वह उपहार रूप में विभीषण को दी गई। कुछ लोगों का ऐसा कहना है, किन्तु ग्रन्थ में इस बात का कोई आधार नहीं। युद्ध कांड के अन्त में दिए विवरण और उत्तर कांड के विवरण में थोड़ी भिन्नता है। उत्तर कांड के अनुसार, विभीषण अभिषेक के बाद अयोध्या में श्री राम के साथ छह महीने अथवा पूरे वर्ष ठहरे रहे। महर्षि अगस्त्य से भिन्न–भिन्न कथायें सुनीं। उन्होंने परन्तु, एक टीकाकर बड़ी चतुराई से कहता है कि युद्ध कांड में वर्णित विदाई का उद्देश्य है कि कांड की समाप्ति अच्छे ढंग से हो और यह किसी वास्तविक विदाई है। इम से युद्ध कांड के विवरण की

एक बात में परिवर्तन आ जाता है। इस परिवर्तन से बिल्कुल कुछ लाभ नहीं होता, जैसा कि हम देखेंगे।

ततोऽस्य हारं चन्द्राभं मुच्य कण्ठात् स राघवः।
वैदूर्यतरलं कण्ठे बबन्ध च हनूमतः।। VII.40.24

यहाँ यह कहा गया है कि श्री राम ने अपने कण्ठ से एक उज्ज्वल हार उतारा और उसे हनुमान के गले में डाल दिया। किन्तु युद्ध कांड के विवरण में श्री राम सीता को हार देते हैं और उनकी अनुमति से सीता इसे हनुमान को प्रदान करती हैं क्योंकि उनकी दृष्टि से हनुमान ही उस उपहार के लिए सब से उपयुक्त पात्र थे। श्री राम सीता से कहते हैं, "ऐसे व्यक्ति को चुनो, जिसमें ये श्रेष्ठ गुण विद्यमान हों।" हनुमान को ही चुना क्योंकि उनमें तेज, घृति, यश, चतुरता, शक्ति, विनय, नीति, पुरुषार्थ, पराक्रम ये सब गुण विद्यमान थे।

एक अंश की ओर मैं ध्यान दिलाना चाहता हूँ। यह उत्तर कांड में है।

कृतप्रसादास्तेनैवं राघवेण महात्मना।
जग्मुः स्वं स्वं गृहे सर्वे देही देहमिव त्यजन्।। VII.40.29

"महात्मा श्री राम के इस प्रकार कृपा एवं प्रसन्नतापूर्वक विदा देने पर वे सब वानर उदास हुए अपने–अपने घर गए, जैसे जीवात्मा उदास होकर शरीर छोड़ कर परलोक को जाती है।"

पूर्व की भाँति यहाँ भी एक उपमा का प्रयोग किया गया है। वह उपमा काफ़ी अभिव्यंजक है। श्री राम और सीता तथा अन्य श्रेष्ठ पुरुषों से विदा लेते समय प्रत्येक व्यक्ति का मन अत्यन्त उदास था, जैसा कि शरीर से आत्मा बिछुड़ने पर होता है। विरले ही प्रसन्नता पूर्वक अपना शरीर त्याग करते हैं। उस समय पूरे होश में होने पर भी व्यथा से गला रुंध जाता है। अतएव, कवि कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति ने जब श्री राम से विदा ली, तो ऐसा लगता था मानो जीवात्मा शरीर से विदा ले रहा हो।

इस प्रकार, अब अभिषेक समारोह का विवरण समाप्त हो गया। यह हम बड़ी प्रसन्नता की बात है कि व्याख्यानमाला की समाप्ति अभिषेक से हुई। मैं अपने प्रति सचमुच में निष्ठाहीन होऊँगा, यदि मैं बिना उस भावना को व्यक्त किये ही इस बिन्दु को समाप्त कर दूँ, जो सर्वोपरि मेरे अन्तरतम में है अर्थात् सच्चे अभिषेक का स्थान तो हमारे हृदय में ही है। श्री राम और सीता अभिषक्त होकर हमारे हृदय के सिंहासन पर सदा विराजमान रहें। वे हमारी चित्तवृत्तियों को नियंत्रित करके हमारे जीवन को व्यवस्थित करें। यदि जीवन के महत्वपूर्ण क्षणों में हम उनका स्मरण करें, तो हम कदापि मार्गच्युत नहीं हो सकते। मैं केवल एक भावुकतापूर्ण बिन्दु पर समाप्त करना नहीं चाहता, अपितु सचमुच मैं यह मानता हूँ कि इतने दिनों तक साथ–साथ 'रामायण' के अध्ययन के पश्चात्, हम यह दृढ़ निश्चय बनायें कि इस अध्ययन का

हमारे सम्पूर्ण जीवन और स्वभाव पर चिरस्थाई हितकारी प्रभाव बना रहे। हमने इस काव्य का अध्ययन केवल एक काव्य की अर्थात साहित्यिक दृष्टि से नहीं किया। हमने इसका अध्ययन अपने जीवन को पुनीत बनाने के साधन के रूप में किया है। यदि हम अन्य पात्रों की बात भी न करें, तो कम से कम श्री राम और सीता को प्रायः मानवीय गुणों की पूर्णता से सम्पन्न आदर्श नायक और नायिका माना जाता है। हमने इसका अध्ययन जीवन को ऊँचा उठाने के लिये किया है। यह भाव तो अत्यन्त सुन्दर है, किन्तु इसको सही परिप्रेक्ष्य में समझने के लिये एक शर्त है, जिसे अवश्य जोड़ना पड़ेगा। यह पूर्णता आरम्भ से ही विद्यमान नहीं थी। यह शनैः शनैः चरणक्रम से विकसित हुई। राम के सम्बन्ध में कुछ जानकारी हमें उनके जन्म से पूर्व ही मिलनी आरम्भ हो जाती है। जन्म से ही हम उनकी जीवन यात्रा में दिलचस्पी लेने लगते हैं। उनके जीवन में बड़ी–बड़ी घटनाएँ घटीं और उन्हें अनेक परीक्षाओं में से गुज़रना पड़ा, अनेक विपत्तियों का सामना करना पड़ा, उनके जीवन में अनेक उतार–चढ़ाव आए। उनके भाग्य में बड़े बड़े परिवर्तन आये। क्या ऐसा सोचना स्वाभाविक होगा कि उनके चरित्र पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा? क्या वे जैसे आरम्भ में थे, अन्त तक वैसे ही रहे? वास्तविक जीवन में ऐसा नहीं होता। जीवन ऐसा खेल नहीं है। मानव पग–पग पर सीखता है, प्रत्येक घटना–चक्र जीवन पर अपनी छाप छोड़ जाता है। विपत्ति एक प्रकार की शिक्षा देती है, समृद्धि दूसरे प्रकार की। जो कुछ भी घटता होता है, अवश्य ही उसकी एक स्थायी छाप हमारी प्रकृति पर पड़ जाती हैं अतः यही तर्कसंगत होगा कि हम श्री राम के सम्बन्ध में भी ऐसा ही सोचें कि वे अपनी पूर्णता की ओर क़दम–क़दम बढ़ाते चले। हम श्री राम और सीता के जीवन और उनकी अग्रगति से लाभ उठायेंगे, यदि हम उनके जीवन की प्रत्येक घटना, प्रत्येक प्रसंग पर ध्यान दें, यह देखने की इच्छा से कि किस–किस प्रसंग की प्रतिक्रिया क्या–क्या हुई, तो हमें लाभ होगा, अन्यथा हमें इस काव्य से कोई विशेष शिक्षा नहीं मिलेगी। तत्त्वतः यह महाकाव्य मानव प्रकृति का दस्तावेज़ है। महर्षि वाल्मीकि मानव प्रकृति के विशेषज्ञ हैं। वे सूक्ष्मातिसूक्ष्म मनोभावों के ज्ञाता थे। इसलिए वे धीरे–धीरे हमें साथ लेकर चलतें हैं। संवादों को सविस्तार लिपिबद्ध करते हैं। जब हम नायक और नायिका के उस पहलू पर ध्यान दें कि वे जीवन में अनेक कष्ट झेलते हुए भी और अपने सौभाग्य का भी आनन्द लेते हुए, जीवन के उतार–चढ़ाव से गुज़रते हुए, वे किस प्रकार लाभान्वित होते हैं, केवल तब ही हम 'रामायण' के अध्ययन से लाभ उठा सकते हैं। पुनः मैं अत्यन्त श्रद्धापूर्वक कहता हूँ कि हम कदापि श्री राम और सीता के हृदय से दूर न करें और प्रबल इच्छा से पूरे मनोयोग से उनेक अनकरणीय आदर्शों के रूप को अपनायें। तभी यह कहा जा सकता है कि यह समय जो हमने साथ–साथ आठ मास तक बिताया है, उसकी सार्थकता है, और इन आठ महीनों ने हमें प्रचुर आध्यात्मिक एवं बौद्धिक लाभ दिया है।